VHP 3.5

सङ्ग्रामवीरुत्पवनो मनोमातङ्गकेसरी ।
समस्तविद्यादयितः सर्वाश्चर्यगुणाकरः ॥ २२ ॥
सुरारिसागरक्षोभविलसन्मन्दराचलः ।
विलासपुष्पौघमधुः सौभाग्यकुसुमायुधः ॥ २३ ॥
लीलालतालास्यमरुत् साहसोत्साहकेशवः ।
सौजन्यकैरवशशी दुर्लीलावल्लिकानलः ॥ २४ ॥
तस्याऽस्ति सुभगा भार्या लीला नाम विलासिनी ।
सर्वसौभाग्यवलिता कमलेवोदिताऽवनौ ॥ २५ ॥

वह विद्वद्वृन्दका आश्रय था, संसाररूपी सागरमें उसके यशरूपी चन्द्रमाकी सदा छिटकी रहती थी, जैसे मानसरोवर हंसोंका आवासस्थान है, वैसे दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुणोंका आवास था, जैसे निर्मल (मेघमुक्त) ...लोंको विकसित कर देता है, वैसे ही वह कमलाको (राजलक्ष्मीको) ... करता था यानी उत्कर्षको पहुँचता था, जैसे वायु लताओंको कँपा देता है, वह संग्रामभूमिमें लतातुल्य अपने शत्रुओंका हृदय दहला देता था, अतएव ...गर्वित शत्रुके मनरूपी हाथीके मर्दनमें सिंहसदृश था [अथवा जैसे सिंह ... अपने चंगुलमें कर लेता है, वैसे ही वह अपने मनको अपने वशमें ...श था], वह सम्पूर्ण विद्याओंका प्यारा था और सम्पूर्ण चमत्कारमय ... आकर (खान) था । ...से समुद्रमथनके समय घूम रहे (नाच रहे) ...लने समुद्रको विक्षुब्ध (विलोडित) कर दिया था, वैसे ही उसने दैत्योंकी ... अनेक बार विक्षुब्ध कर दिया था (मथ डाला था), जैसे वसन्त ऋतु ...प्रकारके फूलोंकी जननी है, वैसे ही वह विविध विलासोंका जनक था और ...रतामें दूसरा कामदेव, जैसे वायु लताके मन्द-मन्द नर्तनका हेतु है, वैसे ... विविध लीलाओंके विलासका हेतु था, जैसे भगवान् श्रीहरिने अन्य लोगोंसे ... पृथिवीका उद्धार आदि कठिन कार्य किये थे, वैसे ही अन्य लोगोंसे ... कठिनाति-कठिन कार्य करनेमें वह कटिबद्ध रहता था, जैसे चन्द्रमा ...को विकसित करता है, वैसे ही वह सज्जनताको विकसित करता था और ...ग्नि तुच्छ लताओंको जला डालती है, वैसे ही वह दुष्टतारूपी विषलताओंका ...था ॥ १९–२४ ॥

...जा पद्मकी स्त्रीका नाम लीला था । वह वनितोचित सम्पूर्ण विलासोंमें दक्ष

सर्वानुवृत्तिललिता लीला मधुरभाषिणी ।
सानन्दमन्दचलिता द्वितीयेन्दूदयस्मिता ॥ २६ ॥
अलकालिमनोहारिवदनाम्भोजशालिनी ।
सिताङ्गी कर्णिकागौरी जङ्गमेव सरोजिनी ॥ २७ ॥
लताविलासकुन्दौघभासिनी रसशालिनी ।
प्रवालहस्ता पुष्पाभा मधुश्रीरिव देहिनी ॥ २८ ॥
अवदाततनुः पुण्या स्पर्शनाह्लादकारिणी ।
गङ्गेव गां गता देहवती हंसविलासिनी ॥ २९ ॥

और बड़ी सुन्दरी थी। वनिताओंके सम्पूर्ण सौभाग्य उसे प्राप्त थे, अतएव वह पृथिवीमें अवतीर्ण दूसरी लक्ष्मी थी। लीला पतिसेवाके जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण थी और थी बड़ी मधुरभाषिणी। उसका आनन्दपूर्वक मन्द-मन्द गमन था और था दूसरे चन्द्रमाके उदयके सदृश उज्ज्वल हास। उसका कमल-सा मुँह भ्रमर ऐसे अलकोंसे अतिमनोहर लगता था, उसका शरीर बड़ा गौर था और उसमें कानके आभूषणोंकी दीप्तिसे पीली छटा छटकती थी अतएव वह कर्णिकासे (कमलके बीचके हिस्सेसे) पीली तथा चलने-फिरनेवाली सफेद कमलिनी-सी प्रतीत होती थी। वह मूर्तिमती वसन्तशोभा-सी थी। जैसे वसन्तशोभा लताओंके विलासरूपी कुन्दनामक फूलोंके समूहसे देदीप्यमान रहती है, वैसे ही वह भी लताओंके विलासरूपी कुन्दनामक फूलोंके समूहके तुल्य शुभ्र दाँतोंसे देदीप्यमान थी, जैसे वसन्तशोभा रसशालिनी (फूलोंके रस शहदसे शोभित होनेवाली) होती है, वैसे ही वह भी रसशालिनी (अपने पतिपर अत्यधिक प्रेमसे शोभित होनेवाली) थी, जैसे वसन्तशोभा प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (प्रवाल—पल्लव—ही जिसके हाथ हैं और पुष्प ही जिसकी कान्ति है) होती है, वैसे ही वह भी प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (पल्लवके सदृश रक्त हाथवाली और फूलोंकी कान्तिकी नाईं कान्तिवाली) थी ॥ २८ ॥

जैसे गङ्गाजीका जल अतिनिर्मल होता है, वैसे ही उसकी देह निर्मल थी, जैसे ब्रह्मद्रवस्वरूप गङ्गाजलके स्पर्शसे आनन्द (जन्ममरणजनित क्लेशसे मुक्ति) होता है, वैसे ही उसके स्पर्शसे आनन्द होता था, गङ्गाजलके समान वह पवित्र थी और जैसे गङ्गाजी हंसविलासिनी (जिसमें हंस क्रीड़ा करते हैं) है, वैसे ही

तस्य भूतलपुष्पेषोः सकलाह्लाददायिनः ।
परिचर्यां चिरं कर्तुमन्या रतिरिवोदिता ॥ ३० ॥
उद्विग्ने थोद्विग्ना मुदिते मुदिता समाकुलाऽऽकुलिते ।
प्रतिबिम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मण्डपोपाख्याने राजवर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १८ ॥

वह भी हंसविलासिनी (हंसगति) थी, अतएव वह भूमिमें अवतीर्ण मूर्तिमती गङ्गाजी ही थी ॥ २९ ॥

सबको आनन्द देनेवाला राजा पद्म भूतलका कामदेव * था, उसकी चिरकाल तक सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए मानो वह दूसरी रति उत्पन्न हुई थी ॥ ३० ॥

पतिपरायणा लीला राजाके दुःखमें दुःखी होती थी, सुखमें सुखी होती थी, राजाके चिन्तायुक्त होनेपर चिन्तायुक्त होती थी, सचमुच वह राजाके प्रतिबिम्बके सदृश थी, परन्तु जब कभी राजा क्रुद्ध होते थे, तो वह केवल भयभीत ही होती थी, क्रुद्ध नहीं होती थी, एकमात्र इसी अंशमें उसमें प्रतिबिम्बतुल्यता न थी ॥३१॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

---

* राजा पद्म सौन्दर्यमें कामदेवके तुल्य था, पर कामदेव वियोगियोंको दुःख देता है, वह सभीको आनन्द देता था, इससे वह कामदेवसे विशिष्ट था ।

षोडशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

भूतलाप्सरसा सार्द्धमनन्यदयितापतिः ।
अकृत्रिमप्रेमरसं स रेमे कान्तया तया ॥ १ ॥
उद्यानवनगुल्मेषु तमालगहनेषु च ।
पुष्पमण्डपरम्येषु लतावलयसद्मसु ॥ २ ॥
पुष्पान्तःपुरशय्यासु पुष्पसंभारवीथिषु ।
वसन्तोद्यानदोलासु क्रीडापुष्करिणीषु च ॥ ३ ॥
चन्दनद्रुमशैलेषु सन्तानकतलेषु च ।
कदम्बनीपगेहेषु पारिभद्रोदरेषु च ॥ ४ ॥
विकसत्कुन्दमन्दारमकरन्दसुगन्धिषु ।
वसन्तवनजालेषु कूजत्कोकिलपक्षिषु ॥ ५ ॥

सोलहवाँ सर्ग

[कितने ही विषयोंका भोग क्यों न किया जाय, पर उनसे तृप्ति कदापि नहीं हो सकती और अन्तमें दुःख ही रहता है । यदि देवता भी चाहें कि विषयभोगसे तृप्ति हो और दुःख शेष न रहे, तो वे भी इस विषयमें सफल नहीं हो सकते औरोंकी बात ही क्या है ?]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला बड़ी पतिपरायणा नारी थी, पतिके सिवा अन्य किसीमें उसका प्रेम न था । उस अनन्यप्रिया नारीके पति राजा पद्मने भूतलकी अप्सरा अपनी प्रिया लीलाके साथ प्रेमपूर्वक नीचे कहे जानेवाले उद्यान आदि विविध स्थानोंमें खूब विहार किया । ऐसा विहार कि जिसमें बनावटी प्रेमकी गन्ध भी न थी । वाटिका-बगीचोंके निकुञ्जोंमें, तमालके घने वनोंमें, लताओंसे वेष्टित महलोंमें जो कि फूलोंसे आच्छादित होनेसे बड़े रमणीय लगते थे, अन्तःपुरमें सजी फूलोंकी सेजोंमें, विविध प्रकारके फूलोंसे सुशोभित गलियोंमें, वसन्त ऋतुमें बगीचोंमें डाले गये हिंडोलोंमें, जल-क्रीड़ाके लिए बने हुए पोखरोंमें, चन्दन-वृक्षोंसे अलङ्कृत पर्वतोंमें, सन्तानक वृक्षोंकी (एक प्रकारके कल्पवृक्षोंकी*), छायामें, कदम्ब वृक्षोंके झुरमुटरूपी घरोंमें, नीबकी सुखद छायामें, कोकिलकी

---

* उक्त कल्पवृक्ष राजा पद्मको अपने प्रभावसे या इन्द्रके प्रसादसे प्राप्त हुए थे ।

नानारण्यतृणानां च स्थलेषु मृदुदीप्तिषु ।
निर्झरेषु तरत्तारसीकरासारवर्षिषु ॥ ६ ॥
शैलानां मणिमाणिक्यशिलानां फलकेषु च ।
देवर्षिमुनिगेहेषु दूरपुण्याश्रमेषु च ॥ ७ ॥
कुमुद्वतीषु फुल्लासु स्मेरासु नलिनीषु च ।
वनस्थलीषु कृष्णासु फुल्लासु फलिनीषु च ॥ ८ ॥
सुरतैः सुरतारुण्यैः सुन्दरः सुन्दरेहितैः ।
ईहितैः पेशलान्योन्यघनप्रेमरसाधिकैः ॥ ९ ॥
प्रहेलिकाभिराख्यानैस्तथा चाऽक्षरमुष्टिभिः ।
अष्टापदैर्बहुद्यूतैस्तथा गूढचतुर्थकैः ॥ १० ॥
नाटिकाख्यायिकाभिश्च श्लोकैर्विन्दुमतिक्रमैः ।
देशकालविभागैश्च नगरग्रामचेष्टितैः ॥ ११ ॥
स्रग्दाममालावलितैर्नानाभरणयोजनैः ।
लीलाविलोलचलनैर्विचित्ररसभोजनैः ॥ १२ ॥

काकलीसे गुलजार और खिले हुए कुन्द और पारिजातके फूलोंकी भींनी सुगन्धसे मनको हरनेवाले वसन्त ऋतुके वनोंमें, अनेक वनोंके मुलायम तृणोंसे आच्छन्न मैदानोंमें, इधर-उधर छनक रहे बड़े-बड़े जलकणोंकी तेजवृष्टि करनेवाले झरनोंमें, अनेक पर्वतोंके मणि, माणिक्यमय शिलाखण्डोंमें, देवता और ऋषियोंके आवासभूत दूर-दूरके पवित्र आश्रमोंमें, चाँदनीसे संफुल्ल कुमुद्वतियोंमें (खिली कुईंसे भरे तालाबोंमें), सूर्यातपसे विकसित कमलिनियोंमें (कमलके तालाबोंमें), काले कालीनके समान मृदु दूर्वाङ्कुरोंसे आच्छन्न, भाँति भाँतिके फूलोंसे व्याप्त तथा विविध फलोंसे लदे वृक्षोंसे सुशोभित वनोंमें सुरतोंसे, विविध विषयोंके अभिलाषोंसे, आपसके निबिड़ प्रेम-रससे प्रचुरमात्रामें होनेवाले हावभावोंसे, ग्रामीण किस्से-कहानियोंसे, ऐतिहासिक उपाख्यानोंसे, पासा, चौपड़, शतरञ्ज आदि विविध प्रकारसे द्यूतोंसे, नाटिकाओं, आख्यायिकाओं और विद्वानोंकी ही समझमें आनेवाले (गूढ़ाशय) श्लोकोंकी रचनाओंसे, देश-कालके विभागसे, नगर और ग्रामजनोंकी चेष्टाओंके अनुकरणसे, विविध मालाओंके वेष्टनोंसे, अङ्गोंमें भाँति-भाँतिके आभरणोंके विन्याससे, विलास-पूर्वक चञ्चल गमनोंसे, विचित्ररसवाले भोजनोंसे, आर्द्र कुङ्कुम (केसर) और

आर्द्रकुङ्कुमकर्पूरताम्बूलीदलचर्वणैः ।
फुल्लपुष्पलतागुञ्जादेहगोपनखव्रणैः ॥ १३ ॥
समालम्भनलीलाभिर्मालाप्रहरणक्रमैः ।
गृहे कुसुमदोलाभिरन्योन्यं दोलनक्रमैः ॥ १४ ॥
नौयानयुग्महस्त्यश्वदान्तोष्ट्रादिगमागमैः ।
जलकेलिविलासेन परस्परसमुत्क्षणैः ॥ १५ ॥
नृत्यगीतकलालास्यतालताण्डवमण्डनैः ।
सङ्गीतकैः संकथनैर्वीणामुरजवादनैः ॥ १६ ॥
उद्यानेषु सरित्तीरवृक्षेषु वरवीथिषु ।
अन्तःपुरेषु हर्म्येषु फुल्लदोलावदोलनैः ॥ १७ ॥
सा तथा सुखसंवृद्धा तस्य प्रणयिनी प्रिया ।
एकदा चिन्तयामास सुभ्रूः सङ्कल्पशालिनी ॥ १८ ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियो भर्त्ता ममैष जगतीपतिः ।
यौवनोल्लासवान् श्रीमान् कथं स्यादजरामरः ॥ १९ ॥
भर्त्राऽनेन सहोत्तुङ्गस्तनी कुसुमसद्मसु ।
कथं स्वैरं चिरं कान्ता रमे युगशतान्यहम् ॥ २० ॥

कर्पूरसे युक्त ताम्बूलोंके चर्वणोंसे, फूलों, लताओं और गुञ्जाओंसे जिनमें देहका आच्छादन किया जाता है ऐसे नखक्षतोंसे, दौड़कर एक दूसरेको छूना आदि नाना क्रीड़ाओंसे, माला द्वारा परस्पर प्रहार करनेसे, घरमें पुष्पोंसे सुशोभित हिंडोलोंमें अन्योन्य झूलनेसे, नौकाविहार, हाथी, घोड़ों और शिक्षित ऊटोंकी सवारीसे, जलक्रीडासे, आपसमें एक दूसरेपर जल-प्रक्षेपसे, नृत्य, गीत, लास्य तथा ताण्डवसे विभूषित और वीणा, ढोल आदि वादनसे युक्त सङ्गीतकोंसे, गीत, कथा और आलापोंसे तथा उद्यानोंमें, नदीतीरके वृक्षोंमें, सुन्दर वीथियोंमें, अन्तःपुरमें और महलमें फूलोंसे सुसज्जित दोलाओं द्वारा झूलनेसे देवताओंकी तरुणताके सदृश तरुणतासे सुन्दर राजा पद्मने भूतलकी अप्सरा लीलाके साथ प्रेमपूर्वक विहार किया ॥ १–१७ ॥

इस प्रकार सुखमें पली हुई और राजा पद्मके प्राणोंसे भी प्रिय मृगाक्षी लीलाने एक समय विचार किया कि यह युवा और अत्यधिक सुन्दर पृथ्वीपति मेरा प्राणोंसे भी प्रिय पति है, यह कैसे अजर और अमर हो? विशालस्तनवाली मैं फूलोंकी सेजसे

तथा यते यत्नमतस्तपोजपयमेहितैः ।
रजनीशमुखो राजा यथा स्यादजरामरः ॥ २१ ॥
ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् विद्यावृद्धानहं द्विजान् ।
पृच्छामि तावन्मरणं कथं न स्यान्नृणामिति ॥ २२ ॥
इत्यानीयाऽथ संपूज्य द्विजान्पप्रच्छ सा नता ।
अमरत्वं कथं विप्रा भवेदिति पुनः पुनः ॥ २३ ॥
विप्रा ऊचुः
तपोजपयमैर्देवि समस्ताः सिद्धसिद्धयः ।
संप्राप्यन्तेऽमरत्वं तु न कदाचन लभ्यते ॥ २४ ॥
इत्याकर्ण्य द्विजमुखाच्चिन्तयामास सा पुनः ।
इदं स्वप्रज्ञयैवाऽऽशु भीता प्रियवियोगतः ॥ २५ ॥
मरणं भर्त्तुरग्रे मे यदि दैवाद्भविष्यति ।
तत्सर्वदुःखनिर्मुक्ता संस्थास्ये सुखमात्मनि ॥ २६ ॥
अथ वर्षसहस्रेण भर्त्ताऽऽदौ चेन्मरिष्यति ।
तत्करिष्ये तथा येन जीवो गेहान्न यास्यति ॥ २७ ॥

सुशोभित महलोंमें इसके साथ सैकड़ों युगोंतक अपनी इच्छाके अनुसार कैसे विहार करूँ ? आजसे लेकर तप, जप, यम-नियम आदि चेष्टाओंसे मैं वैसा प्रयत्न करती हूँ जैसे कि यह चन्द्रवदन राजा अजर और अमर हो जाय ॥ १८–२१ ॥

मैं ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी और विद्यावृद्ध ब्राह्मणोंसे पूछती हूँ कि मनुष्योंका मरण कैसे नहीं होगा, ऐसा विचार कर उसने ज्ञानी वृद्ध विद्वानोंको बुलाया और उनकी पूजा कर उनसे बड़े विनयसे बार बार पूछा—पूज्यवृन्द, मेरा और मेरे पतिका अमरत्व कैसे होगा ? ॥ २२, २३ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—देवि, तप, जप, यम-नियमोंसे सिद्धोंकी सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पर अमरत्व कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ २४ ॥

ब्राह्मणोंके मुखसे यह बात सुनकर अपने प्रियके वियोगसे भयभीत लीलाने अपनी बुद्धिसे ही फिर यह बात विचारी कि यदि दैवात् पतिसे पहले मेरा शरीर छूट गया, तो मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे निर्मुक्त होकर आत्मामें सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी । यदि मेरा पति हजारवर्षके बाद मुझसे पहले मर गया, तो मैं वैसा प्रयत्न करूंगी जैसे कि उसका जीव घरसे बाहर नहीं जा सकेगा ॥ २५–२७ ॥

तद्भ्रमद्भर्तृजीवेऽस्मिन्निजे शुद्धान्तमण्डपे ।
भर्त्रा विलोकिता नित्यं निवत्स्यामि यथासुखम् ॥ २८ ॥
अद्यैवाऽऽरभ्यैतदर्थं देवीं ज्ञप्तिं सरस्वतीम् ।
जपोपवासनियमैरातोषं पूजयाम्यहम् ॥ २९ ॥
इति निश्चित्य सा नाथमनुक्त्वैव वराङ्गना ।
यथाशास्त्रं चचारोग्रं तथा नियममास्थिता ॥ ३० ॥
त्रिरात्रस्य त्रिरात्रस्य पर्यन्ते कृतपारणा ।
देवद्विजगुरुप्राज्ञविद्वत्पूजापरायणा ॥ ३१ ॥
स्नानदानतपोध्याननित्योद्युक्तशरीरिका ।
सर्वास्तिक्यसदाचारकारिणी क्लेशहारिणी ॥ ३२ ॥

मेरे पतिका जीव जिसमें घूमता रहे, ऐसे अन्तःपुरके मण्डपमें सदा भर्ता द्वारा देखी जाती हुई मैं सुखपूर्वक निवास करूँगी ॥ २८ ॥

अपने इस सङ्कल्पकी सिद्धिके लिए आजसे ही मैं ज्ञानरूपा सरस्वती देवीका जप, तप आदिसे, जबतक वह प्रसन्न न हो, पूजन करती हूँ ॥ २९ ॥

ऐसा विचार करके वह सुन्दरी अपने पतिसे पूछे बिना ही विधिपूर्वक * उग्र तपस्या करने लगी ॥ ३० ॥

तीसरी-तीसरी रातके बाद वह सदा पारणा करती थी, देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् और ब्रह्मज्ञानी लोगोंकी पूजामें तत्पर रहती थी ॥ ३१ ॥

इस कर्मका फल अवश्य होगा, ऐसी आस्तिकबुद्धि और सदाचारसे सम्पन्न तथा क्लेशका निवारण करनेवाली लीलाने अपने शरीरको स्नान, दान, तपस्या और ध्यानमें सदा तत्पर कर दिया ॥ ३२ ॥

---

* या स्त्री भर्त्राऽननुज्ञाता उपवासव्रतं चरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता नरकमृच्छति ॥

(जो स्त्री पतिकी आज्ञाके बिना उपवास व्रत करती है, वह पतिकी आयुको हरती है और मर कर नरकमें गिरती है) इत्यादि स्मृतियों द्वारा स्त्रीका पतिकी आज्ञा प्राप्त किये बिना उपवासव्रत आदि निन्दित है, अतः उसे यथाशास्त्र (विधिपूर्वक) कैसे कहा ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा सदा भर्तृहितं चरेत् । व्रतोपवासनियमैरुपचारैश्च लौकिकैः (स्त्री प्रत्यक्षमें अथवा परोक्षमें व्रत, उपवास, नियम और लौकिक उपचारोंसे सदा पतिका हित करे) इस स्मृतिके अनुसार यह सिद्ध है कि उक्त शास्त्रमें कही गई निन्दा पतिहितसे अतिरिक्त अपने काम्य उपवासोंके लिए है, अतः कोई दोष नहीं है ।

यथाकालं यथोद्योगं यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।
तोषयामास भर्त्तारमपरिज्ञातसंस्थितिः ॥ ३३ ॥
त्रिरात्रशतमेवं सा बाला नियमशालिनी ।
अनारतं तपोनिष्ठामतिष्ठत् कष्टचेष्टया ॥ ३४ ॥
त्रिरात्राणां शते चाऽथ पूजिता प्रतिमानिता ।
तुष्टा भगवती गौरी वागीशा समुवाच ताम् ॥ ३५ ॥
सरस्वत्युवाच ।
निरन्तरेण तपसा भर्तृभक्त्यतिशालिना ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्से गृहाण वरमीप्सितम् ॥ ३६ ॥
राज्ञ्युवाच
जय जन्मजराज्वालादाहदोषशशिप्रभे ।
जय हार्दान्धकारौघनिवारणरविप्रभे ॥ ३७ ॥

वह पहले जैसे समयमें, जैसी लगनसे, जैसी शास्त्रकी विधिके अनुसार और जैसे क्रमसे पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती थी, उसमें किसी प्रकारका हेर फेर किये बिना पतिको सन्तुष्ट करती गई। लेकिन उसने पतिपर अपने उपवासका भेद प्रकट नहीं किया ॥ ३३ ॥

इस तरह नियमपूर्वक रह कर पतिपरायणा उस नारीने जबतक सौ त्रिरात्रव्रत पूर्ण नहीं हुए तबतक लगातार क्लेशके साथ तपस्या की। सौ त्रिरात्रव्रतोंकी पूर्ति होनेपर लीला द्वारा अर्घ्य, पाद्य, स्नान, गन्ध, पुष्प आदि बाहरी उपचारोंसे पूजित और ध्यान आदि भीतरी उपचारोंसे सत्कृत भगवती सरस्वतीने प्रसन्न होकर उससे कहा ॥ ३४, ३५ ॥

सरस्वतीने कहा—वत्से, तुम्हारी अविच्छिन्न (अटूट) और पतिभक्तिसे ओतप्रोत (सराबोर) तपश्चर्यासे मैं तुमपर अति प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें जिस वस्तुकी चाह हो, वह मुझसे लो।

रानीने कहा—भगवती, आप जन्म और जरारूपी अग्निकी ज्वालाओंसे उत्पन्न सन्तापरूपी रोगको दूर करनेके लिए शीतल चन्द्रकान्ति (चाँदनी) रूप हैं, आपकी जय हो यानी आपके चरणोंमें मेरा विनम्र प्रणाम है। माता, आप निबिड हृदयान्धकार (अज्ञान) रूपी अन्धकारका विनाश करनेमें सूर्य-प्रकाशके

अम्ब मातर्जगन्मातस्त्रायस्व कृपणामिमाम् ।
इदं वरद्वयं देहि यदहं प्रार्थये शुभे ॥ ३८ ॥
एकं तावद्द्विदेहस्य भर्तुर्जीवो ममाऽम्बिके ।
अस्मादेव हि मा यासीन्निजाऽन्तःपुरमण्डपात् ॥ ३९ ॥
द्वितीयं त्वां महादेवि प्रार्थयेऽहं यदा यदा ।
दर्शनाय वरार्थाय तदा मे देहि दर्शनम् ॥ ४० ॥
इत्याकर्ण्य जगन्माता तवाऽस्त्वेवमिति स्वयम् ।
उक्त्वाऽन्तर्द्धानमगमत् प्रोत्थायोर्मिरिवाऽर्णवे ॥ ४१ ॥
अथ सा राजमहिषी परितुष्टेष्टदेवता ।
श्रुतगीतेव हरिणी बभूवाऽऽनन्दधारिणी ॥ ४२ ॥
पक्षमासर्तुकटके दिनारे वर्षदण्डके ।
क्षणनाभौ स्पन्दमये कालचक्रे वहत्यथ ॥ ४३ ॥

तुल्य हैं। माँ, हे सारे जगत्की माँ, मैं बड़ी दीन-हीन हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। हे देवी, ये दो वर मुझे दीजिये, जिनकी मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ। माँ, उनमें से पहला वर तो यह कि जब मेरे पतिदेवका शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इसी अन्तःपुरके प्रसादसे बाहर न जाय। हे महादेवी, दूसरा यह कि जब जब वरदानके लिए आपके दर्शनोंकी मैं प्रार्थना करूँ, तब तब आप मुझे दर्शन दें ॥ ३६, ४० ॥

यह सुनकर जगत्की माँ देवी सरस्वती, जैसा तुम चाहती हो तुम्हारी इच्छानुसार वैसा ही हो, ऐसा स्वयं कह कर, जैसे समुद्रमें लहर उठ कर विलीन हो जाती है, वैसे ही अन्तर्हित हो गई ॥ ४१ ॥

इष्ट देवीके सन्तुष्ट होनेके उपरान्त वह राजमहिषी जैसे गीत सुननेसे हिरनी मारे खुशीके फूली नहीं समाती, वैसे ही मारे खुशीके आनन्दसे विभोर हो गई ॥ ४२ ॥

पक्ष (पखवाड़ा) जिसका नेमिकटक (अन्तिम गोलाकार हिस्सा) है, मास (महीना) जिसका मध्यकटक (बीचका गोलाकार हिस्सा) है और ऋतु जिसका नाभिकटक (बीचके भी बीचका गोलाकार हिस्सा) है, दिन जिसके अर हैं यानी पहियेमें लगी तिरछी सीकचें हैं और वर्ष जिसका अक्षदण्ड है और क्षण जिसकी

अन्तर्द्धिमाजगामाऽस्याः पत्युस्तच्चेतनं तनौ ।
संदृश्यमानमेवाऽऽशु शुष्कपत्ररसो यथा ॥ ४४ ॥
रणखण्डितदेहेऽस्मिन् मृतेऽन्तःपुरमण्डपे ।
निर्जला नलिनीवाऽसौ परां म्लानिमुपाययौ ॥ ४५ ॥
विषोष्णश्वसनध्वस्तसकलाधरपल्लवा ।
प्राप सा मरणावस्थां सशल्येव मृगी यथा ॥ ४६ ॥
प्राप सा तमसाऽन्धत्वं तस्मिन् मरणमागते ।
दीपज्वालालवे क्षीणे सद्मश्रीरिव भूषिता ॥ ४७ ॥
कार्श्यमाप क्षणेनाऽसौ बाला विरसतां गता ।
यथा स्रोतस्विनी स्रोतःक्षये क्षारविधूसरा ॥ ४८ ॥
क्षिप्रमाक्रन्दिनी क्षिप्रं मौनमूका वियोगिनी ।
बभूव चक्रवाकीव मानिनी मरणोन्मुखी ॥ ४९ ॥

नाभि (वीचका छेद) है, ऐसे वेगगामी कालरूपी चक्र (पहिये) के चलनेपर अर्थात् क्षण, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्षके क्रमसे काल बीतनेपर सूखे पत्तेके रसके समान उसके पतिकी चेतना देखते ही देखते शरीरमें अन्तर्हित हो गई ॥ ४३, ४४ ॥

रणभूमिमें शत्रुओंके प्रहारोंसे घायल राजा अन्तःपुरमें मर गया । राजाके मरनेपर रानी लीला जैसे जल न रहनेसे कमलिनी मुर्झा जाती है, वैसी ही अत्यन्त मुर्झा गई, म्लानवदन हो गई ॥ ४५ ॥

विषके तुल्य उष्ण निःश्वाससे उसका किसलयसदृश अधर कुम्हला गया, वह बेचारी बाणसे विद्ध होनेके कारण छटपटा रही हिरनीके समान मरणावस्थाको प्राप्त हो गई ॥ ४६ ॥

जैसे पहले दीपकके प्रकाशसे सुशोभित घर दीपकके बुत जानेपर अन्धकारसे व्याप्त हो जाता है, वैसे ही राजाके मर जानेपर रानी लीला अत्यन्त शोकाकुल हो गई ॥४७॥

जैसे प्रवाहके सूख जानेपर नदी क्षीण हो क्षारसे यानी रेहसे धूसर हो जाती है, वैसे ही पतिके नष्ट होनेपर वह सुन्दरी हतप्रभ हो क्षण भरमें कृश हो गई ॥ ४८ ॥

पहले पतिका सन्मान करनेवाली और पतिकी मृत्युसे मरनेको तयार वह वियो-

अथ तामतिमात्रविह्वलां सकृपाऽऽकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवाऽन्वकम्पत ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मण्डपोपाख्याने
राज्ञीपरिदेवनं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

——०——

सप्तदशः सर्गः

श्रीसरस्वत्युवाच

शवीभूतमिमं वत्से भर्तारं पुष्पपुञ्जके ।
आच्छाद्य स्थापयैनं त्वं पुनर्भर्त्तारमेष्यसि ॥ १ ॥
पुष्पाणि म्लानिमेष्यन्ति नो न चैष विनङ्क्ष्यति ।
भूयश्च तव भर्तृत्वमचिरेण करिष्यति ॥ २ ॥
एतदीयश्च जीवोऽसावाकाशविशदस्तव ।
न निर्गमिष्यति क्षिप्रमितोऽन्तःपुरमण्डपात् ॥ ३ ॥

गिनी बाला चकवीकी नाईं क्षणमें विलाप करती और क्षणमें मूक हो जाती थी ॥४९॥

तदुपरान्त जैसे तालाबके सूखनेसे व्याकुल हुई मछलीके ऊपर ग्रीष्मके अन्तमें हुई पहली वृष्टि कृपा करती है, वैसे ही पतिकी मृत्युसे अत्यन्त व्याकुल रानी लीलाके ऊपर आकाशवाणीने कृपा की, कारण कि पहले अनेक जन्मोंसे आराधित होनेके कारण वह उसके ऊपर कृपालु थी ॥ ५० ॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

——०——

सत्रहवाँ सर्ग

[अन्वय और व्यतिरेक द्वारा नूतन (वर्तमान) और प्राक्तन (पूर्वजन्मकी) सृष्टियोंकी, केवल मनोविलासरूप होनेसे, तुल्यताका प्रतिपादन]

सरस्वतीने कहा—वत्से, अपने पतिके शवको फूलोंके ढेरमें छिपाकर रक्खो । ऐसा करनेसे फिर तुम इस पतिको प्राप्त करोगी ॥ १ ॥

न तो फूल ही मुर्झाएँगे और न तुम्हारे पतिका यह शव ही विनष्ट होगा यानी सड़ेगा या सूखेगा । फिर यह थोड़े दिनोंमें तुम्हारा स्वामी बन जायगा ।

पट्पदश्रेणिनयना समाकर्ण्येति बन्धुभिः ।
सा समाश्वासिताऽऽगत्य पयोभिरिव पद्मिनी ॥ ४ ॥
पतिं संस्थाप्य तत्रैव पुष्पपूरप्रगोपितम् ।
किञ्चिदाश्वासिताऽतिष्ठद्दरिद्रेव निधानिनी ॥ ५ ॥
तस्मिन्नेव दिने सैषा तस्मिञ्छुद्धान्तमण्डपे ।
अर्द्धरात्रे परिजने सर्वस्मिन्निद्रया हृते ॥ ६ ॥
ज्ञप्तिं भगवतीं देवीं शुद्धध्यानमहाधिया ।
दुःखादाह्वाययामास सोवाच समुपेत्य ताम् ॥ ७ ॥
किं स्मृताऽस्मि त्वया वत्से धत्से किमिति शोकिताम् ।
संसारभ्रान्तयो भान्ति मृगतृष्णाम्बुवन्मुधा ॥ ८ ॥

और इसका जीव, जो कि आकाशकी नाईं निर्मल है, तुम्हारे अन्तःपुरके प्रासादसे शीघ्र बाहर नहीं निकलेगा ॥ २, ३ ॥

आकाशवाणीका उक्त वचन सुनकर जैसे जलके सूख जानेसे मुर्झा रही कमलिनीको नई वृष्टिका जल तसल्ली देता है, वैसे ही भ्रमरोंके सदृश नेत्रवाली रानी लीलाके पास आकर उसके बन्धु-बान्धवोंने उसे धैर्य दिया ॥ ४ ॥

फूलोंके ढेरमें प्रच्छन्न अपने पतिके शवको अन्तःपुरमें ही रखकर कुछ धैर्यको प्राप्त हुई रानी लीला निधिसे युक्त होनेपर भी निधिके अपने उपयोगमें न आनेके कारण भोग, ऐश्वर्यसे वञ्चित दरिद्रा-सी रही। भाव यह कि निधिके रहनेपर भी कारणवश उसके उपयोगमें न आनेके कारण जैसे निधानिनी दरिद्रा (भोगैश्वर्यसे वञ्चित) रहती है, वैसे ही पतिके रहनेपर भी निश्चेष्ट होनेके कारण उपयोगमें न आनेसे वह भोगैश्वर्यसे वञ्चित रही ॥ ५ ॥

लीलाने मारे क्लेशके उसी दिन अर्धरात्रिमें, जब कि सभी परिजन घोर निद्रामें सोये थे, उसी अन्तःपुरके प्रासादमें शुद्ध ध्यानसे युक्त अन्तःकरणसे ज्ञान-रूपिणी सरस्वती देवीका आवाहन किया। देवीने उसके पास आकर उससे कहा—वत्से, तुमने मेरा स्मरण क्यों किया और क्यों तुम इतनी शोकाकुल हो रही हो ? दुःखके कारण ये संसाररूपी भ्रम, मृगतृष्णामें जलकी नाईं, मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, यानी जैसे मृगतृष्णामें जलप्रतीति मिथ्या है, वैसे ही ये दुःखजनक संसाररूपी भ्रम मिथ्या हैं ॥ ६–८ ॥

लीलोवाच

क्व ममाऽवस्थितो भर्ता किं करोत्यथ कीदृशः ।
समीपं नय मां तस्य नैका शक्नोमि जीवितुम् ॥ ९ ॥

श्रीदेव्युवाच

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने ॥ १० ॥
तच्चिदाकाशकोशात्म चिदाकाशैकभावनात् ।
अविद्यमानमप्याशु दृश्यतेऽथाऽनुभूयते ॥ ११ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।
निमिषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि ॥ १२ ॥

लीलाने कहा—देवी, मेरे पति कहाँ हैं, क्या करते हैं और कैसे हैं, यानी सुखी हैं या दुःखी ? मुझे आप उनके समीप ले चलिये । मैं उनके बिना अकेले नहीं जी सकती ॥ ९ ॥

इस लोककी कल्पनाके समान परलोककी कल्पनाका भी अधिष्ठान केवल चित् ही है, यह दिखलानेके लिए देवी सरस्वती चिदाकाशको चित्ताकाश और भूताकाशसे पृथक्कर दिखलाती है—'चित्ता०' इत्यादिसे ।

सरस्वतीजीने कहा—सुन्दरी, एक वासनामय चित्ताकाश है, दूसरा शुद्ध चिदाकाश है और सुप्रसिद्ध व्यावहारिक भूताकाश तीसरा है । इन दोनोंसे सर्वथा शून्यको तुम चिदाकाश जानो यानी इन दोनोंकी सन्धिमें दोसे शून्य चिदाकाश स्पष्टरूपसे लक्षित होता है ॥ १० ॥

उक्त चिदाकाश ही अपना आवरण करनेवाले अज्ञानसे सङ्कलित होकर जब प्रतीत होता है, तब वही मिथ्याभूत जगत्-रूपसे शीघ्र दिखलाई देता है, वही दुःख आदिका अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं—'तच्चिदा०' इत्यादिसे ।

तुमने जो अपने पतिके रहनेका स्थान आदि पूछा है, वह वस्तुतः चिदाकाश-कोशरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । अतः चिदाकाशका एकाग्र मनसे जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विद्यमान न होता हुआ भी वह यहींसे शीघ्र दिखाई देता है और वहाँ जाकर उसका अनुभव भी किया जाता है ॥ ११ ॥

देवी उसके लिए चिदाकाशका परिचय कराती हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसङ्कल्पा स्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं तत्त्वं त्वं तदाप्नोष्यसंशयम् ॥ १३ ॥
अत्यन्ताभावसम्पत्त्या जगतश्चैतदाप्यते ।
नाऽन्यथा मद्वरेणाऽऽशु त्वं तु प्राप्स्यसि सुन्दरि ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा सा ययौ देवी दिव्यमात्मीयमास्पदम् ।
लीला तु लीलयैवाऽसीन्निर्विकल्पसमाधिभाक् ॥ १५ ॥
तत्तत्याज निमेषेण साऽन्तःकरणपञ्जरम् ।
स्वदेहं खमिवोड्डीना मुक्तनीडा विहङ्गमी ॥ १६ ॥

हे सुभगे, संवित्के एक पलकमें एक देशसे दूसरे देशको प्राप्त होनेपर संवित्का जो मध्य है, उसीको तुम चिदाकाश जानो * ॥ १२ ॥

अतः तुम्हारा चिदाकाशकी प्राप्ति ही चिदाकाशरूपसे स्थित पतिके समीपमें गमन है, क्योंकि उसीमें तुम्हारे पतिका परलोक कल्पित है, इस अभिप्रायसे देवी कहती हैं—'**तस्मिन्निरस्त०**' इत्यादिसे ।

भद्रे, यदि तुम सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका परित्याग कर उक्त चिदाकाशमें ही मनको एकाग्र करती हो, तो तुम सर्वात्मक उस प्राप्तव्य तत्त्वको अवश्य प्राप्त हो जाओगी ॥ १३ ॥

उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसी आशङ्का होनेपर उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाती हैं—'**अत्यन्त०**' इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, उक्त तत्त्व यद्यपि जगत्के अत्यन्ताभावकी प्रतीतिसे ही प्राप्त होता है, अन्यथा प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसी श्रुति है । फिर भी तुम मेरे वरसे उसे शीघ्र प्राप्त हो जाओगी ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कह कर सरस्वती देवी अपने दिव्य लोकको चली गई और लीलाको वरके प्रभावसे अनायास ही निर्विकल्पक समाधि लग गई ॥ १५ ॥

जैसे चिड़िया अपने घोंसलेको छोड़कर आकाशमें उड़ जाती है वैसे ही

---

* विस्तृत व्याख्यान—उ० प्र० ७।१९ में देखिये ।

† तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका विनाश होनेपर द्वैतका उदय न होना ही जगत्की अत्यन्ताभावसम्पत्ति है ।

ददर्श खस्था भर्तारं तस्मिन्नेवाऽऽलयाम्बरे ।
संस्थितं पृथिवीपालमास्थाने बहुराजनि ॥ १७ ॥
सिंहासने समारूढं जय जीवेति संस्तुतम् ।
प्रस्तुतं मण्डलानीककार्यमाहर्तुमादृतम् ॥ १८ ॥
पताकामञ्जरीकीर्णराजधानीगृहस्थितम् ।
पूर्वद्वारस्थितासंख्यमुनिविप्रर्षिमण्डलम् ॥ १९ ॥
दक्षिणद्वारगासङ्ख्यराजराजेशमण्डलम् ।
पश्चिमद्वारगासङ्ख्यललनालोकमण्डलम् ॥ २० ॥
उत्तरद्वारगासंख्यरथहस्त्यश्वसङ्कुलम् ।
एकभृत्यविनिर्णीतदक्षिणापथविग्रहम् ॥ २१ ॥
कर्णाटनाथरचितपूर्वदेशक्रियाक्रमम् ।
सुराष्ट्राधिपनिर्णीतसर्वम्लेच्छोत्तरापथम् ॥ २२ ॥

उसने लोहेके पिंजड़ेके समान दुर्भेद्य अन्तःकरणके साथ अपने स्थूल देहका त्याग कर दिया * ॥ १६ ॥

रानीने निर्विकल्प समाधि द्वारा चिदाकाशमें स्थित होकर अपने अन्तःपुरके प्रासादके उस आकाशमें ही अपने पति मृत महाराजको देखा । वह अपनी वासना और कर्मोंके अनुसार शरीर, घर आदि सम्पत्तिसे सम्पन्न था, अनेक राजाओंसे सुशोभित सभामण्डपमें सिंहासनपर आरूढ़ था, वन्दीगण 'आपकी जय हो', 'आप चिरञ्जीव हों' कहकर उसकी स्तुति कर रहे थे, वह उपस्थित राज्य और सेनाका कार्य करनेमें व्यापृत हो रहा था, पताकाओंसे व्याप्त राजधानीके जिस सुन्दर घरमें राजा बैठा था, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनि और श्रेष्ठ ब्राह्मण स्थित थे, दक्षिण दरवाजेपर असंख्य राजा-महाराज थे, पश्चिम दरवाजेपर असंख्य स्त्रियाँ थीं, उत्तर दरवाजेपर असंख्य रथ, हाथी और घोड़ोंकी भीड़ लगी थी । राजाने एक गुप्त चरकी जबानी दक्षिण देशके युद्धकी गति-विधिका निर्णय किया ॥ १७–२१ ॥

सब देशके राजा उसके अधीन थे, यह दर्शाते हैं—'कर्णाट०' इत्यादिसे ।

---

* यहाँ देहत्यागसे स्थिर चित्त द्वारा अभिमानका त्याग ही विवक्षित है । मरणके समान बाहर निर्गमन नहीं ।

मालदेशसमाक्रान्तसर्वपाश्चात्यतङ्गणम् ।
दक्षिणाब्धितटायातलङ्कादूतविनोदितम् ॥ २३ ॥
पूर्वाब्धितटमाहेन्द्रसिद्धोक्तगगनापगम् ।
उत्तराब्धितटायातदूतवर्णितगुह्यकम् ॥ २४ ॥
पश्चिमाब्धितटालोकवर्णितास्तमयक्रमम् ।
असङ्ख्यबद्धभूपालकलाकीर्णाखिलाजिरम् ॥ २५ ॥
यज्ञवाटपठद्विप्रजिततूर्याग्रनिस्वनम् ।
बन्दिकोलाहलोल्लासप्रतिश्रुद्वनकुञ्जरम् ॥ २६ ॥
गेयवाद्योद्यतध्वानप्रध्वनद्गगनान्तरम् ।
हयहस्तिरथाराजि रजोमेघघनाम्बरम् ॥ २७ ॥
पुष्पकर्पूरधूपाढ्यं गन्धामोदितपर्वतम् ।
सर्वमण्डलसंभाररचितानेकशासनम् ॥ २८ ॥

कर्णाटक देशाधिपतिने उसके पूर्वदेशकी व्यवहारमर्यादाको अक्षुण्ण बना रक्खा था, सुराष्ट्रदेशाधिपतिने उत्तरापथमें सम्पूर्ण म्लेच्छोंको उसके अधीन कर रक्खा था, मालदाधिपतिने उसके लिए पश्चिम देशोंको आक्रान्त कर रक्खा था, दक्षिण समुद्रके तटसे आया हुआ लङ्काका दूत उसका मनोविनोद कर रहा था, पूर्व सागरके तटवर्ती महेन्द्र पर्वतका सिद्ध उससे हजारों मुहानोंके विस्तारसे आश्चर्यमयी गङ्गाजीका वर्णन कर रहा था, उत्तर सागरके तटसे आया हुआ दूत गुह्यकोंका वृत्तान्त कह रहा था और जिस दूतने पश्चिम सागरका तट देखा था, वह अस्ताचलके रीति-रिवाजोंको कह रहा था ॥ २२–२५ ॥

कतार लगाकर खड़े हुए असंख्य राजाओंकी कान्तिसे उसका सारा आँगन जगमगा रहा था, उसकी यज्ञशालामें वेदमन्त्रोंका उच्चारण कर रहे ब्राह्मणोंने तुरही, रणसिंगा आदि उत्तम बाजेके शब्दको दबा दिया था, उसके वनगज बन्दियोंके तीव्र शोर-गुलकी प्रतिध्वनि कर रहे थे, उसकी सङ्गीतशालाके गायन और वादनके शब्दोंसे आकाश गूँज रहा था, चारों ओर घोड़े, हाथी और रथोंके ठट्ट लगे थे, उनके एवं पैदल चलनेवाली जनताके चलनेसे उड़ी हुई धूलरूपी बादलोंसे आकाश छा गया था । वह स्वयं पुष्प, कर्पूर और धूपसे युक्त था और उसके पर्वताकार प्रासाद सुगन्धिसे सराबोर थे । सम्पूर्ण मण्डलोंसे भेंटरूप धनको लाकर जो

यशःकर्पूरजलदसुशुभ्राम्बरपर्वतम् ।
रोदसीस्तम्भभूतैकस्वप्रतापजितार्ककम् ॥ २९ ॥
आरम्भमन्थरोदारकार्यसंव्यग्रभूमिपम् ।
नानानगरनिर्माणसोद्योगस्थपतीश्वरम् ॥ ३० ॥

पपाताऽथ महारम्भा सा तां नरपतेः सभाम् ।
व्योमात्मिका व्योममयीं मिहिकेवाऽम्बराटवीम् ॥ ३१ ॥
भ्रमन्तीं तत्र तामग्रे ददृशुस्ते न केचन ।
सङ्कल्पमात्ररचितां पुरुषाः कामिनीमिव ॥ ३२ ॥
तथा ते तां न ददृशुः सञ्चरन्तीं पुरोगताम् ।
अन्यसङ्कल्परचितामन्येन नगरीं यथा ॥ ३३ ॥
प्राक्तनानेव तान् सर्वान् स्वान् ददर्श सभागतान् ।
भूभृतेव सुसंप्राप्तान् नगरान्नगरान्तरम् ॥ ३४ ॥

राजकीय कोषको परिपूर्ण रखते हैं, उन भृत्योंके लिए उसने अनेक प्रकारके शासन बना रखे थे। उसके अपने यशरूपी कर्पूरके ढेरके तुल्य मेघरूपी अतिशुभ्र पर्वत अम्बरमें उत्पन्न हुए थे। स्वर्गलोक और भूलोकके स्तम्भभूत अपने अद्वितीय प्रतापमे उसने सूर्यको भी मात कर दिया था, उसके अनेक सामन्त आरम्भमें मन्दगतिसे चलनेवाले गुरुतर कार्य्योंमें व्यग्र थे और उसके शिल्पी लोग नाना नगरोंके निर्माणमें संलग्न थे। इस प्रकार विविध राजकार्योंमें व्यापृत राजाको लीलाने देखा ॥ २६–३० ॥

इसके अनन्तर जैसे कुहरा आकाशरूपी अरण्यभूमिमें गिरे, वैसे ही वासनामात्रशरीर होनेसे आकाशरूपिणी चिदाकाशनिष्ठारूप विपुल आरम्भवाली लीला वासनामय होनेके कारण आकाशरूप राजाकीय सभामें प्रविष्ट हुई ॥ ३१ ॥

वहाँ वह सबके आगे घूमती थी, परन्तु वहाँपर स्थित पुरुषोंने अपने आगे घूम रही केवल सङ्कल्पसे बनी लीलाको, सङ्कल्पसे कल्पित कामिनीकी नाईं, नहीं देखा ॥ ३२ ॥

जैसे दूसरेके मनोरथसे रचित नगरीको दूसरा नहीं देख सकता, वैसे ही अपने आगे-आगे घूम रही लीलाको किसीने भी नहीं देखा ॥ ३३ ॥

वहाँ लीलाने अपने उन्हीं पुराने सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जिन्हें

तद्देशांस्तत्समाचारांस्तथा तानेव बालकान् ।
ता एव बालवनितास्तांस्तानेव च मन्त्रिणः ॥ ३५ ॥
तानेव भूमिपालांश्च तांस्तानेव च पण्डितान् ।
तानेव नर्मसचिवान् भृत्यांस्तानेव तादृशान् ॥ ३६ ॥
अथाऽन्यानप्यपूर्वांश्च पण्डितान् सुहृदस्तथा ।
व्यवहारांस्तथाऽन्यांश्च पौरानन्यांस्तथैव च ॥ ३७ ॥
मध्याह्नकाले दिवसे घनदावाकुला दिशः ।
अन्तरिक्षं सचन्द्रार्कं साम्भोदपवनध्वनि ॥ ३८ ॥
महीरुहनदीशैलपुरपत्तनमण्डितम् ।
नानानगरविन्यासजङ्गलग्रामसङ्कुलम् ॥ ३९ ॥
द्विरष्टवर्षं भूपालं प्राक्तन्या जरसोज्झितम् ।
प्राक्तनीं जनतां सर्वां समस्तान् ग्रामवासिनः ॥ ४० ॥

वह पहले देखती थी, मानों वे सब-के-सब राजाके साथ ही एक नगरसे दूसरे नगरमें चले गये हों ॥ ३४ ॥

जो पहले जहाँपर बैठते थे वे उसी जगहपर बैठे थे, उन्हींके सदृश उनका आचरण था। लीलाने, जिन्हें वह पहले देखती थी, उन्हीं बालकोंको, उन्हीं युवतियोंको, उन्हीं मन्त्रियोंको, उन्हीं राजाओंको, उन्हीं विद्वानोंको, उन्हीं विदूषकोंको और उन्हीं अनुचरोंको, तथा उनसे मिलते-जुलते भृत्योंको देखा ॥ ३५, ३६ ॥

वासनामय स्वप्नकी नाईं वासनामय जगत्‌में सब पहलेके सदृश ही हों, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

इसके बाद उसने उनसे भिन्न कुछ नये पण्डितों और मित्रोंको देखा, उसे कुछ व्यवहार भी पहलेसे भिन्न दिखाई दिये, अनेक पुरवासी एवं अन्यान्य जन भी भिन्न थे ॥ ३७ ॥

उसने दिनमें दोपहरके समय घने जङ्गलोंसे व्याप्त दिशाएँ देखीं और देखा चन्द्रमा, तथा सूर्यसे युक्त आकाश, जिसमें बादलोंकी गड़गड़ाहट और वायुकी सनसनाहट हो रही थी, वह वृक्ष, नदी, पर्वत, नगर, ग्रामोंसे विभूषित था और उसमें अनेक जङ्गल थे, जिनमें विविध नगरोंकी रचना की गई थी ॥ ३८, ३९ ॥

वहाँपर उसने सोलह वर्षके राजाको देखा, जो पूर्वजन्मकी वृद्धावस्थासे निर्मुक्त था और पूर्वजन्मकी सम्पूर्ण जनताको तथा सब नगरवासियोंको

सा तानालोक्य ललना चिन्तापरवशाऽभवत् ।
तस्मिन्नगरवास्तव्याः किं ते सर्वे मृता इति ॥ ४१ ॥
पुनः प्रज्ञप्तिबोधेन प्राक्तनाऽन्तःपुरंगता ।
क्षणेन च ददर्शाऽत्र सार्द्धरात्रे तथैव तान् ॥ ४२ ॥
अथ सोत्थापयामास निद्राक्रान्तं सखीजनम् ।
आह चाऽतीव मे दुःखमास्थानं दीयतामिति ॥ ४३ ॥
भर्तुः सिंहासनस्याऽस्य पार्श्वे तिष्ठाम्यहं यदि ।
पश्यामि सभ्यसङ्घातं तत्प्रजीवामि नाऽन्यथा ॥ ४४ ॥
स राजपरिवारोऽथ तयेत्युक्ते यथाक्रमम् ।
आसीद्विनिद्रः संव्यग्रः सर्वः सर्वस्वकर्मणि ॥ ४५ ॥
पौरान् सभ्यान् समानेतुं ययुर्याष्टीकपङ्क्तयः ।
व्यवहारं कलयितुमुर्व्यामर्ककरा इव ॥ ४६ ॥
आस्थानभूमिं भृत्याश्च मार्जयामासुराद्दताः ।
प्रावृट्पयोदमलिनं खं शरद्वासरा इव ॥ ४७ ॥

देखा। उन्हें वासनामय नगरमें देखकर लीलाको चिन्ताने घेर लिया। उसे सन्देह हुआ कि क्या उस नगरमें रहनेवाले सभी मर गये हैं ? ॥ ४०, ४१ ॥

फिर वह सरस्वती देवीके प्रसादसे उत्पन्न प्रबोधसे एक क्षणमें अपने पहलेके अन्तःपुरमें आई। वहां आधी रातमें उसने अपने अनुचरोंको वैसे ही सोये देखा, जैसे कि वह उनको छोड़ गई थी ॥ ४२ ॥

तदुपरान्त उसने घोर निद्रामें सोई हुई अपनी सखियोंको जगाया और कहा कि मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए आप लोग मुझे सभास्थानमें ले जाइए ॥ ४३ ॥

यदि मैं राजाके सिंहासनके समीपमें बैठूँ और सदस्योंको देखूँ, तो मैं जीवित रह सकती हूँ अन्यथा मेरा मरण ही जानिये ॥ ४४ ॥

रानीके यों कहनेपर वह सारा-का-सारा राजपरिवार जाग उठा और यथा-योग्य अपने अपने काममें जुट गया। जैसे सूर्यकी किरणें लोगोंको अपने-अपने व्यवहारमें लगानेके लिए पृथिवीपर आती हैं, वैसे बेंतधारी भट नगरवासी सदस्योंको लेनेके लिए गये ॥ ४५, ४६ ॥

जैसे शरत् ऋतुके दिन वर्षाकालके बादलोंसे मलिन आकाशको स्वच्छ कर

अङ्गणं प्रति दीपौघास्तस्थुः पीततमोम्भसः ।
आश्चर्यदर्शनायेव संप्राप्ता ऋक्षपङ्क्तयः ॥ ४८ ॥
जनताः पूरयामासुः पूरैरजिरभूमिकाः ।
अब्धीन्प्रलयसंशुष्कान्पुरासर्ग इवाऽम्भसा ॥ ४९ ॥
आजग्मुर्मन्त्रिसामन्ताः स्वं स्वं स्थानमनिन्दिताः ।
त्रैलोक्ये पुनरुत्पन्ने लोकपाला यथा दिशः ॥ ५० ॥
ववुराकीर्णकर्पूरसान्द्रावश्यायशीतलाः ।
उत्फुल्लकुसुमोद्भ्रान्तमांसलामोदितानिलाः ॥ ५१ ॥
पर्यन्तेषु प्रतीहारास्तस्थुर्धवलवाससः ।
ऋष्यमूकार्कतापार्तमेघमाला इवाऽद्रिषु ॥ ५२ ॥
प्रभापीततमःपुञ्जाः पेतुः पुष्पोत्करा भुवि ।
चण्डमारुतविध्वस्तास्तारकानिकरा इव ॥ ५३ ॥

देते हैं, वैसे ही अपने कार्यमें दक्ष भृत्योंने सभामण्डपको खूब साफ-सुथरा कर दिया ॥ ४७ ॥

आश्चर्य देखनेके लिए आये हुए तारागणोंके समान अन्धकाररूपी जलको पी चुकीं दीपपङ्क्तियाँ आंगनमें जगमगा उठीं ॥ ४८ ॥

जैसे प्रलयकालमें सूखे हुए समुद्रोंको जीवोंकी सृष्टिसे पहले होनेवाली जल-सृष्टि प्रवाहसे पूर्ण कर देती है, वैसे ही जनताने राजाके आँगनको प्रवाहके समान आ रहे अपने संघसे भर दिया ॥ ४९ ॥

जैसे प्रलयके अनन्तर त्रैलोक्यके पुनः उत्पन्न होनेपर लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओंमें अधिष्ठित हो जाते हैं, वैसे ही निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण अपने-अपने स्थानपर आ डटे ॥ ५० ॥

चारों ओर बखेरे हुए कपूरके समान निविड़ तुषारके संसर्गसे शीतल और खूब खिले हुए फूलोंसे निकल रहे मकरन्दकी सुगन्धसे सुगन्धित वायु बहने लगी ॥५१॥

जैसे ऋष्यमूक पर्वतपर अपने पुत्र सुग्रीवके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए आये हुए सूर्यके सन्तापसे पीड़ित मेघपंक्तियाँ हिमालय आदि पर्वतोंमें आश्रय लेती हैं, वैसे ही सफेद वस्त्र पहने हुए प्रतीहार (द्वारपाल) सभामण्डपके प्रान्तोंमें (ओर छोरमें) खड़े हो गये ॥ ५२ ॥

जैसे प्रलयकालके प्रचण्ड वायुसे विध्वस्त होकर तारागण गिरते हैं, वैसे ही

आस्थानं पूरयामासुर्महीपालानुयायिनः ।
उत्फुल्लकमलोत्कीर्णं हंसा इव सरोवरम् ॥ ५४ ॥
सिंहासनसमीपस्थे हैमचित्रासने नवे ।
उपाविशदसौ लीला लीलेव स्मरचेतसि ॥ ५५ ॥
ददर्श तान्नृपान्सर्वान्पूर्वानेव यथास्थितान् ।
गुरूनार्यान्सखीन्सभ्यान् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ॥ ५६ ॥
सकलमेव हि पूर्ववदेव सा समवलोक्य मुदं परमां ययौ ।
नृपतिराष्ट्रजनं खलु जीवनाम्युदितया च बभौ शशिवच्छ्रिया ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सन्देहराष्ट्रवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अपनी कान्तिसे अन्धकारपटलका विनाश करनेवाले फूल तेजवायुके झोंकोंसे पृथिवीपर गिरने लगे ॥ ५३ ॥

जैसे हंस प्रफुल्ल कमलोंसे व्याप्त सरोवरको भर देते हैं, वैसे ही महाराजके अनुयायियोंने सभामण्डपको ठसाठस भर दिया ॥ ५४ ॥

जैसे कामदेवके चित्तमें रति बैठती है या जैसे कामदेवसे विकृत चित्तमें शृङ्गारचेष्टाएँ आसन जमाती हैं, वैसे ही रानी लीला सिंहासनके पासमें बिछाये हुए नूतन स्वर्णमय चित्रासनपर बैठ गई ॥ ५५ ॥

लीलाने पहलेकी नाईं यथायोग्य स्थानोंमें बैठे हुए, पहलेके ही सब राजाओं, गुरुओं, माननीयों, मित्रों, सदस्यों, सहचरों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवोंको देखा ॥ ५६ ॥

राजाके राष्ट्रके सभी लोगोंको यथापूर्व ही देखकर लीलाकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा और सबके जीवनका निश्चय होनेसे उदित हुई चन्द्रमाकी-सी कान्तिसे वह सुशोभित हो गई ॥ ५७ ॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्थं विनोदयामीदं दुःखदं चित्तमित्यलम् ।
बोधयित्वेङ्गितैर्भूपानास्थानादुत्थिताऽथ सा ॥ १ ॥
प्रविश्याऽन्तःपुरं भर्तुः पार्श्वेऽन्तःपुरमण्डपे ।
विवेश पुष्पगुप्तस्य चिन्तयामास चेतसा ॥ २ ॥
अहो विचित्रा मायेयमेतेऽस्मत्पुरमानवाः ।
बहिरन्तरवद्देशे तत्र चेह च संस्थिताः ॥ ३ ॥
तालीतमालहिन्तालमालिता गिरयोऽप्यमी ।
यथा तत्र तथेहाऽपि बत मायेयमातता ॥ ४ ॥
आदर्शेऽन्तर्बहिश्चैव यथा शैलोऽनुभूयते ।
बहिरन्तश्चिदादर्शे तथा सर्गोऽनुभूयते ॥ ५ ॥
तत्र भ्रान्तिमयः सर्गः कः स्यात्कः पारमार्थिकः ।
इति पृच्छामि वागीशामभ्यर्च्योक्तमसंशयम् ॥ ६ ॥

अठारहवाँ सर्ग

[समाधिमें देखी गई सृष्टि और पहलेकी सृष्टि दोनों दृश्य होनेके कारण समानरूपसे मिथ्या हैं चिन्मात्र ही सत्य हैं]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त दुःखदायी इस चित्तको इस प्रकार बहला रही हूँ, यों ईशारेसे राजाओंको अपना अभिप्राय समझा कर रानी लीला सभाभवनसे उठ गई। अन्तःपुरमें जाकर अन्तःपुरके प्रासादमें फूलोंसे आच्छन्न अपने पतिके पास पहुंची और विचार करने लगी—अहो, यह बड़ी विचित्र माया है, ये हमारे पुरवासी मनुष्य समाधिमें देखे गये प्रदेशमें और बाहर अवकाशयुक्त हमारे नगरमें भी स्थित हैं ॥ १, ३ ॥

ताल, तमाल आदि वृक्षोंसे व्याप्त ये पर्वत भी जैसे वहाँ दिखाई दे रहे थे, वैसे ही यहाँ भी दिखाई दे रहे हैं, आश्चर्य यह किसीने माया फैला रक्खी है ॥४॥

जैसे पर्वत दर्पणमें भीतर और बाहर भी प्रतीत होता है, वैसे ही चित्तरूपी आदर्शमें भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है ॥ ५ ॥

इनमें कौन भ्रान्तिमयी सृष्टि है तथा कौन वास्तविक सृष्टि है ? इस सन्देहको मैं सरस्वती देवीसे, उनकी पूजा कर, यों पूछती हूँ जैसे कि सन्देह बिलकुल न रहे ॥६॥

इति निश्चित्य तां देवीं पूजयामास सा तदा ।
ददर्श च पुरः प्राप्तां कुमारीरूपधारिणीम् ॥ ७ ॥
भद्रासनगतां देवीमुपविश्य पुरोगता ।
परमार्थमहाशक्तिं लीलाऽपृच्छद् भुवि स्थिता ॥ ८ ॥

लीलोवाच

अनुकम्प्यस्य नो देवि भजन्त्युद्वेगमुत्तमाः ।
त्वयैव किल सर्गादौ स्थापिता स्थितिरुत्तमा ॥ ९ ॥
तदिदं यत्पुरः प्रह्वा पृच्छामि परमेश्वरि ।
तद् ब्रूहि त्वत्कृतो नूनं सफलो मेऽस्त्वनुग्रहः ॥ १० ॥
अस्याऽऽदर्शो जगन्नाम्नः खादप्यधिकनिर्मलः ।
यस्य योजनकोटीनां कोट्योऽवयवो मनाक् ॥ ११ ॥
निःसंधितवचोज्योतिर्घनो मृदुसुशीतलः ।
अचेत्यचिदिति ख्यातो नाम्ना निर्भित्तिरग्रतः ॥ १२ ॥

ऐसा निश्चय करके लीलाने सरस्वती देवीकी पूजा की और तुरन्त ही सरस्वती देवीको कुमारीरूपमें अपने सामने उपस्थित देखा ॥ ७ ॥

सिंहासनपर बैठी हुई परमार्थ महाशक्तिरूप देवीके सन्मुख होकर लीलाने भूमिपर बैठकर देवीसे पूछा ॥ ८ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, उत्तम लोग अनुकम्पनीय पुरुषपर क्रुद्ध नहीं होते, आपने ही सृष्टिके आरम्भमें यह उत्तम नियम बनाया है ॥ ९ ॥

इसलिए हे परमेश्वरि, मैं आपके सन्मुख विनम्र होकर जो यह पूछती हूँ, उसे आप मुझसे कहिये, पहले आपने मेरे ऊपर जो वरदानरूप अनुग्रह किया है, वह सफल हो ॥ १० ॥

इस जगत् नामक प्रपञ्चका आदर्श (चिदादर्श) आकाशसे भी अधिक निर्मल है, करोड़ों-करोड़ों योजन जिसका एक छोटा-सा अवयव है ॥ ११ ॥

जिसमें वचन अखण्डितार्थ हैं यानी संसर्गरूपसे बोधक नहीं हैं ऐसा चिद्‌घन, मृदु, सम्पूर्ण तापका नाश करनेके कारण शीतल, आवरणशून्य और सम्पूर्ण व्यवहारोंमें सर्वप्रथम स्फुरित होनेवाला चैत्यभिन्न चित् कहा गया है ॥ १२ ॥

दिक्कालकलनाकाशप्रकाशनियतिक्रमाः ।
यत्रेमे प्रतिबिम्बन्ति परां परिणतिं गताः ॥ १३ ॥
त्रिजगत्प्रतिबिम्बश्रीर्बहिरन्तश्च संस्थिता ।
तत्र वै कृत्रिमा का स्यात्काऽसौ वा स्यादकृत्रिमा ॥ १४ ॥

श्रीदेव्युवाच

अकृत्रिमत्वं सर्गस्य कीदृशं वद सुन्दरि ।
कीदृशं कृत्रिमत्वं स्याद्यथावत्कथयेति मे ॥ १५ ॥

लीलोवाच

यथाऽहमिह तिष्ठामि त्वं च देवि स्थिताऽम्बिके ।
असावकृत्रिमः सर्ग इति देवेशि वेद्म्यहम् ॥ १६ ॥
यत्राऽधुना स भर्ता मे स्थितः सर्गः सकृत्रिमः ।
अहं मन्ये यतः शून्यो देशकालाद्यपूरकः ॥ १७ ॥

जिस आत्मादर्शमें दिशाएँ, काल, सब कार्योंकी उत्पत्ति, उत्पन्न हुए पदार्थोंकी आकाशमें अवकाशप्राप्ति, अवकाश मिलनेपर आलोक और नेत्र आदि द्वारा प्रकाश और प्रकाशित पदार्थोंका 'इससे यह कार्य यों उपपन्न हुआ और यह इस प्रकार व्यवहारके उपयुक्त है' इस प्रकारका नियतिक्रम ये सब देशतः और कालतः विस्तृत विकाररूप विलक्षणताको प्राप्त होकर प्रतिबिम्बकी नाईं भीतर प्रतीत होते हैं ॥१३॥

त्रिजगत्-रूप प्रतिबिम्बश्री बाहर और भीतर स्थित है, उन दोनोंमें से यानी आन्तर और बाह्यमें से कौन सृष्टि अकृत्रिम (सत्य) है और कौन कृत्रिम (मिथ्या) है ॥ १४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—हे सुन्दरी, सृष्टिकी अकृत्रिमता कैसी है और कृत्रिमता कैसी है, यह मुझसे भली भाँति कहो ॥ १५ ॥

लीलाने कहा—देवि, जैसे मैं यहाँपर बैठी हूँ और आप भी स्थित हैं, इसे मैं अकृत्रिम सृष्टि समझती हूँ तथा हे देवेशि, जहाँपर इस समय मेरे पति हैं, उस सृष्टिको मैं कृत्रिम समझती हूँ, क्योंकि वह मिथ्याभूत है, अपनी स्थितिके लिए अपर्याप्त देश, काल और व्यवहारकी पूर्ति नहीं करती। जैसे दर्पण आदिमें

श्रीदेव्युवाच

कृत्रिमोऽकृत्रिमात्सर्गान्न कदाचन जायते ।
नहि कारणतः कार्यमुदेत्यसदृशं क्वचित् ॥ १८ ॥

लीलोवाच

दृश्यते कारणात्कार्यं सुविलक्षणमम्बिके ।
अम्ब्वादातुमशक्ता मृद्धटस्तज्ज्ञस्तदास्पदम् ॥ १९ ॥

प्रतिबिम्बित और स्वप्नमें देखा गया पर्वत देश, काल और व्यवहारका पूरक नहीं है * ॥ १६, १७ ॥

तुम्हारे पतिकी जो वासनामय सृष्टि है, उसका कोई कारण है या नहीं? यदि उसे अकारण कहो, तो उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि सकारण मानो, तो वह कारण कृत्रिम है, या अकृत्रिम। कृत्रिम कारण मानो, तो यह सृष्टि उसकी कारण है या अन्य सृष्टि? अन्य सृष्टि तो कोई प्रसिद्ध है नहीं, अतः पहला पक्ष ही शेष रहा, ऐसी दशामें कृत्रिम सृष्टिका कारणभूत यह सर्ग भी कृत्रिम ही ठहरेगा, क्योंकि कहींपर भी भिन्न सत्तावाले कार्य और कारण नहीं देखे गये हैं, अतः इन दो सृष्टियोंमें परस्पर विलक्षणता नहीं है, इस आशयसे देवीजीने कहा—'**कृत्रिमो०**' इत्यादिसे।

श्रीदेवीजीने कहा—अकृत्रिम सृष्टिसे कृत्रिम सृष्टि कभी उत्पन्न नहीं होती, कहींपर भी कारणसे सर्वथा भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता ॥ १८ ॥

उक्त नियममें लीलाने व्यभिचारकी शङ्का कर कहा—'**दृश्यते**' इत्यादिसे।

लीलाने कहा—माता, कारणसे कार्य सर्वथा विलक्षण दिखाई देता है—मिट्टीका ढेला अपनेमें जल आदि धारण नहीं कर सकता, पर उससे उत्पन्न घड़ा जल धारण-समर्थ दिखलाई देता है, ऐसी परिस्थितिमें जैसे कार्य और कारणमें तुल्यसामर्थ्यका नियम नहीं है, वैसे ही समानसत्ताका भी नियम नहीं है, यह आशय है ॥ १९ ॥

* दर्पणमें प्रतिबिम्बित पर्वतकी स्थितिके लिए, दर्पणरूप देश पर्याप्त नहीं है, जितने समयमें पर्वतकी तादृश रूप-रेखा बनती है, वह काल उसके लिए पर्याप्त नहीं है और उससे आरोहण-अवरोहण आदि व्यवहार भी नहीं होता। वह अपनी स्थितिके लिए अपूर्ण अत्यन्त अल्प देश-काल-व्यवहारकी पूर्ति नहीं करता, वैसे ही वह सर्ग भी अपनी स्थितिके लिए अपर्याप्त अत्यन्त अल्प देश, काल और व्यवहारकी पूर्ति नहीं करता है, अतः मिथ्या है।

श्रीदेव्युवाच

संपद्यते हि यत्कार्यं कारणैः सहकारिभिः ।
मुख्यकारणवैचित्र्यं किञ्चित्तत्राऽवलोक्यते ॥ २० ॥
वद त्वद्भर्तृसर्गस्य किं पृथ्व्यादिषु कारणम् ।
तद्भूमण्डलतो भूतिर्जाता तत्र वरानने ॥ २१ ॥
गतं चेदित उड्डीय कुतः स्यादिह भूतलम् ।
सहकारीणि कानीव कारणान्यत्र कारणे ॥ २२ ॥
कारणानामभावेऽपि योदेति सहकारिता ।
तत्पूर्वकारणान्नाऽन्यत्सर्वेणेत्यनुभूयते ॥ २३ ॥

उपादान कारणकी विचित्रतासे या सहकारी और निमित्त कारणोंकी विलक्षणतासे मिट्टीके ढेले और घड़ेमें विलक्षणता भले ही हो, जिस वस्तुका एक ही उपादान और निमित्त कारण है उसमें दीपकसे अन्य दीपकके समान कारणसे विलक्षणता नहीं दिखलाई देती । प्रस्तुत दो सृष्टियां भी वैसी हैं, इस आशयसे देवी लीलाकी शङ्काका समाधान करती हैं—**'सम्पद्यते'** इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—जो कार्य उपादान और सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होता है, उसमें मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि असाधारण कारणोंसे कुछ वैलक्षण्य दिखाई देता है ॥२०॥

तुम्हारे पतिदेवकी जो वासनामय सृष्टि है, उसमें तो असाधारण कारणसे विलक्षणताकी कल्पना की नहीं जा सकती, क्योंकि दोनों समानरूपसे माया, काम, कर्म और वासनामूलक हैं, इस अभिप्रायसे कहती हैं—**'वद'** इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, प्रत्यक्ष दीख रही इस सृष्टिके अन्तर्गत पृथिवी आदिमें से तुम्हारे पतिकी सृष्टिका कारण क्या है ? उसे कहो, जिससे कि उसमें विलक्षणता आवे । भौतिक पदार्थोंकी भी जैसे इस भूमण्डलसे उत्पत्ति हुई है, वैसे ही उस भूमण्डलसे उत्पत्ति हुई है, अतः भौतिक पदार्थोंमें भी कोई विलक्षणता नहीं है ॥ २१ ॥

यहांकी भूमि आदिसे वहांकी भूमि आदिकी उत्पत्ति हो, ऐसी शङ्का होनेपर कहती हैं—**'गतम्'** इत्यादिसे ।

यदि भूतल आदि यहाँसे उड़कर वहाँ गया है, तो यहाँ भूतल कैसे रहेगा ? वहाँ गये बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है और इसको कारण माननेपर भी सहकारी कारण कौन हैं, अर्थात् कोई नहीं है ॥ २२ ॥

यहाँके सहकारी कारणोंके न रहनेपर भी वहाँ (समाधिमें दृष्ट सृष्टिमें)

लीलोवाच

स्मृतिः सा देवि मद्भर्तुस्तथा स्फारत्वमागता ।
स्मृतिस्तत्कारणं वेद्मि सर्गोऽयमिति निश्चयः ॥ २४ ॥

श्रीदेव्युवाच

स्मृतिराकाशरूपा च यथा तज्जस्तथैव ते ।
भर्त्तुः सर्गोऽनुभूतोऽपि स व्योमैव तथाऽबले ॥ २५ ॥

लीलोवाच

स्मृत्याकाशमयः सर्गो यथा भर्तुर्ममोदितः ।
तथैवेममहं मन्ये स सर्गोऽत्र निदर्शनम् ॥ २६ ॥

जो सामग्रीरूप सहकारिता उत्पन्न होती है, यानी यदि सहकारी कारण न होता, तो कार्यकी ही उत्पत्ति न होती; यों अन्यथानुपपत्त्या कल्पित होती है, वह पूर्व सृष्टिके कारण काम, कर्म, वासना और अविद्यासे भिन्न नहीं है, अतएव वैलक्षण्यकी सिद्धि नहीं होती, यह बात सबके अनुभवमें आती है ॥ २३ ॥

सत्यरूप इस सृष्टिके अनुभवसे जनित संस्कारसे पैदा हुए पुरोवर्ति विषयरहित स्मृतितुल्य स्वप्नके सदृश मेरे पतिकी सृष्टि हो, यों अन्य प्रकारसे लीला वैलक्षण्यकी शङ्का करती है—'स्मृतिः' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवी, मेरे पतिकी वह (पूर्वके अनुभवसे जनित संस्कारसे पैदा हुई) स्मृति ही इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुई कि वह स्मृति ही इस सृष्टिकी कारण है, उसीसे यह सर्ग हुआ है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, तब तो पहले जन्ममें देखी गई सृष्टिके संस्कार द्वारा तुम्हारे पतिकी सृष्टि हुई । संस्कारसे उत्पन्न ज्ञानको स्मृति कहते हैं, उसमें विषय सामने नहीं रहता, पुरोवर्ती विषयसे शून्य होनेके कारण स्मृति शून्यरूपा है, वैसे ही तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्यरूप ही ठहरी, क्योंकि वह भी स्मृतिके सदृश पूर्व सृष्टिके संस्कारसे जन्य है ॥ २५ ॥

उक्त बातपर विचार कर लीला जान गई, अतः देवीके आशयके अनुसार बोली—'स्मृत्या॰' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवी, जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टिको भी स्मृत्याकाशमय

श्रीदेव्युवाच

एवमेतदसत्सर्गो भर्तुस्तैर्भाति भासुरः ।
तथैवाऽयमिहाऽऽभाति पश्याम्येतदहं सुते ॥ २७ ॥

लीलोवाच

यथा पत्युरमूर्त्तोऽस्मात्सर्गात् सर्गो भ्रमात्मकः ।
जातस्तथा कथय मे जगद्भ्रमनिवृत्तये ॥ २८ ॥

श्रीदेव्युवाच

प्राक्स्मृतेर्भ्रान्तिमात्रात्मा सर्गोऽयमुदितो यथा ।
स्वप्नभ्रमात्मको भाति तथेदं कथ्यते शृणु ॥ २९ ॥
अस्ति क्वचिच्चिदाकाशे क्वचित्संसारमण्डपः ।
आकाशकाचदलवत्संस्थानाच्छादिताकृतिः ॥ ३० ॥

कहा है, वैसे ही मैं इस सर्गको भी स्मृत्याकाशमय समझती हूँ, इस सर्गकी स्मृत्याकाशमयतामें वह (समाधिमें दृष्ट) सर्ग दृष्टान्त है ॥ २६ ॥

लीलाकी बातका समर्थन करते हुए देवीने कहा—पुत्री, तुमने बहुत ठीक कहा है, वह असत् (मिथ्याभूत) सर्ग जैसे तुम्हारे पतिके उन-उन सर्गभावोंसे प्रकाशमान प्रतीत होता है, वैसे ही यहांपर यह सर्ग भी तत्-तत् सर्गोंसे प्रकाशमान प्रतीत होता है, वस्तुतः यह असत् है, यह मैं देखती हूँ ॥ २७ ॥

लीलाने कहा—माता, जैसे इस सृष्टिसे मेरे पतिकी भ्रमात्मक अमूर्त सृष्टि हुई, जगत्-भ्रमकी निवृत्तिके लिए, वैसा मुझसे कहिये ॥ २८ ॥

यह सृष्टि भी पूर्व सृष्टिके संस्कारोंसे जन्य भ्रान्तिरूप ही है, यों उक्त अर्थके उपपादनके लिए देवी मण्डपोपाख्यानके आरम्भकी प्रतिज्ञा करती हैं— 'प्राग्०' इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, जैसे पूर्व सृष्टिकी स्मृतिसे उत्पन्न केवल भ्रमस्वरूप स्वप्नभ्रम-तुल्य यह सृष्टि प्रतीत होती है, वैसा मैं कहती हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

चिदाकाशमें अज्ञानसे आच्छन्न भागमें तत्रापि स्रष्टाके अन्तःकरणके एक कोनेमें संसाररूपी जीर्ण मन्दिर है, जो आकाशरूपी काँचके टुकड़ेके समान नीले छत्राकार संस्थानसे आच्छादित है, जिसमें मेरुपर्वतरूपी स्तम्भमें लोकपालोंकी

मेरुस्तम्भस्थलोकेशपुरन्ध्रीशालभञ्जिकः ।
चतुर्दशापवरकस्त्रिगर्त्तो भानुदीपकः ॥ ३१ ॥
कोणस्थभूतवल्मीकव्याप्तपर्वतलोष्ठकः ।
अनेकपुत्रजरठप्रजेशब्राह्मणास्पदम् ॥ ३२ ॥
जीवौघकोशकाराढ्यो व्योमोर्ध्वतलकालिमा ।
नभोनिवाससिद्धौघमशकाहितघुंघुमः ॥ ३३ ॥
पयोदगृहधूमोग्रजालावलितकोणकः ।
वातमार्गमहावंशस्थितवैमानकीटकः ॥ ३४ ॥
सुरासुरादिदुर्वाललीलाकलकलाकुलः ।
लोकान्तरपुरग्रामभाण्डोपस्करनिर्भरः ॥ ३५ ॥
सरःस्रोतोऽब्धिसरसीजलोक्षितमहीतलः ।
पातालभूतलस्वर्गभागभासुरकोटरः ॥ ३६ ॥
तत्र कस्मिंश्चिदेकस्मिन् कोणेष्वम्बरकोटरे ।
शैललोष्ठतलेष्वेको गिरिग्रामकगर्त्तकः ॥ ३७ ॥

स्त्रियां प्रतिमाओंके तुल्य विराजमान हैं, चौदह भुवन जिसके अन्तर्गृह (कमरे) हैं, जिसके तीनों भुवनोंके मध्यभागरूप तीन गड्ढे हैं, सूर्य जिसका दीपक है ॥ ३०,३१ ॥

जिसमें कोनेमें स्थित पञ्चभूत रूपी दीमकोंके वल्मीक (वामी) सदृश नगरोंसे व्याप्त पर्वतरूपी मिट्टीके ढेले हैं और जो अनेक पुत्रोंसे युक्त वृद्ध ब्रह्माका निवासस्थान है, जो जीवरूप कोशकारनामक कीड़ों (विलनी) से संयुक्त, आकाशमें रहनेवाले सिद्धोंके समूहरूप मच्छरोंसे सदा 'घुं घुं' ऐसा शब्द करता रहता है, बादलरूपी गृह-धूम (घरोंके धुएँ) के पटलसे जिसका कोना व्याप्त रहता है, जिसमें वायुमार्गरूपी महावंशमें स्थित वैमानिक (विमानचारी) देवता आदि कीड़े हैं, जो सुर असुर आदिरूपी उद्धत बालकोंकी क्रीड़ाके कोलाहलसे सदा खूब शब्दायमान रहता है, भू आदि लोकोंके मध्यवर्ती नगर और ग्रामरूपी वर्तन आदि विविध सामग्रीसे परिपूर्ण है तालाव और स्रोतरूपी समुद्र और नादियोंके जलसे जिसका भूभाग सिञ्चित है और पाताल, भूलोक और स्वर्गलोकरूपी प्रकाशमान कोठरियोंसे युक्त है ॥ ३२–३६ ॥

उस संसाररूपी पुराने मन्दिरमें आकाशरूपी कमरेके किसी एक कोनेमें पर्वतरूपी मिट्टीके ढेलेके तले एक छोटासा पर्वतग्रामरूपी गड्ढा है ॥ ३७ ॥

तस्मिन्नदीशैलवनोपगूढे साग्निः सदारः सुतवानरोगः ।
गोक्षीरवान् राजभयाद्विमुक्तः सर्वातिथिर्धर्मपरोऽद्विजोऽभूत् ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये लीलोपाख्याने सकल-
जगद्भ्रान्तिप्रतिपादनं नामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
वसिष्ठस्यैव सदृशो न तु वासिष्ठचेष्टितः ॥ १ ॥
वसिष्ठ इति नाम्नाऽसौतस्याऽभूदिन्दुसुन्दरी ।
नाम्ना त्वरुन्धती भार्या भूमिव्योमन्यरुन्धती ॥ २ ॥

नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्राममें स्त्री पुत्रोंसे युक्त और नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण रहता था । उस धर्मात्मा ब्राह्मणके पास गऊ आदि दूध देनेवाले अनेक पशु थे । वह राजभयसे सर्वथा निर्मुक्त था और सम्पूर्ण वर्णाश्रमियोंका आतिथ्य सत्कार करता था ॥ ३८ ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

[राजा पद्मके इस सर्गका जन्म राजाके दर्शन, राज्यकी इच्छा और दृढ़ संकल्पसे हुआ, इसका पूर्वजन्मके वृत्तान्तसे वर्णन]

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, वह ब्राह्मण वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणोंसे वसिष्ठके सदृश था, पर इक्ष्वाकुकुलका पौरोहित्य और श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश आदि वसिष्ठकी चेष्टाओंसे रहित था ॥ १ ॥

उसका नाम वसिष्ठ ही था, उसकी चाँद-सी सुन्दर अरुन्धती नामकी पत्नी थी । वह थी भूमिरूपी आकाशकी दूसरी अरुन्धती ॥ २ ॥

वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
समैव साऽप्यरुन्धत्या न तु चेतनसत्तया ॥ ३ ॥
अकृत्रिमप्रेमरसा विलासालसगामिनी ।
साऽस्य संसारसर्वस्वमासीत्कुमुदहासिनी ॥ ४ ॥
स विप्रस्तस्य शैलस्य सानौ सरलशाद्वले ।
कदाचिदुपविष्टः सन् ददर्शाऽधो महीपतिम् ॥ ५ ॥
समग्रपरिवारेण यान्तमाखेटकेच्छया ।
महता सैन्यघोषेण मेरोरिव विभित्सया ॥ ६ ॥
चामरैः कीर्णचन्द्रांशु पताकाभिर्लतावनं ।
कुर्वाणं खं सितच्छत्रमण्डलैः रूप्यकुट्टिमम् ॥ ७ ॥
अश्वपादूत्खनत्क्ष्माजरेणुपूरावृताम्बरम् ।
हास्तिकोत्तम्भितकरवाताट्टालकगोपितम् ॥ ८ ॥

वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणोंसे वह भी अरुन्धतीके तुल्य थी, पर जीवस्वरूपसे (ब्रह्मरूपसे) स्थितिसे वह अरुन्धतीके तुल्य नहीं थी। भाव यह कि प्रसिद्ध वसिष्ठ और अरुन्धती तत्त्वज्ञानी होनेसे वे जीवन्मुक्त थे, किन्तु उक्त अरुन्धती और वसिष्ठको आगेके जन्ममें ज्ञान होनेवाला था, अतः वे उस समय अज्ञानी होनेके कारण बद्ध थे ॥ ३ ॥

उसका प्रेम अकृत्रिम था और था विलासपूर्वक मन्थरगमन तथा कमलके विकासकी नाईं मनोहर हास। वह सुन्दरी संसारमें उसकी सर्वस्व थी ॥ ४ ॥

वह ब्राह्मण कभी हरे दूर्वाङ्कुरोंसे आच्छन्न समथर भूमिवाले उस पर्वत शिखरपर बैठा था, उसने पर्वतके नीचे शिकार खेलनेकी इच्छासे सारे साज-बाजके साथ जा रहे राजाको देखा। उसकी सेनाका इतना बड़ा कोलाहल हो रहा था, जिससे मेरुपर्वतके विदारणकी शङ्का होती थी ॥ ५, ६ ॥

वह राजा अपने चँवरों और पताकाओंसे लताओंके वनको चन्द्रमाकी किरणोंसे व्याप्त कर रहा था, सफेद छातोंसे आकाशको चाँदीका फर्श बना रहा था, घोड़ोंकी नालोंसे खोदनेके योग्य भूमिसे उत्पन्न हुई धूलिके पटलसे उसने आकाशको ढक दिया था, पर वह स्वयं हाथियोंकी पीठपर रक्खी हुई सूर्यकी किरणों और वायुको रोकनेवाली सोने चाँदी और मोतियोंसे अलङ्कृत अम्बारियोंसे रक्षित था यानी अम्बारीमें स्थित होनेके कारण धूलिसे आवृत नहीं हुआ था ॥ ७, ८ ॥

महाकलकलावर्तद्रवद्दिग्भूतमण्डलम् ।
कचत्काञ्चनमाणिक्यहारकेयूरमण्डलम् ॥ ९ ॥
तमालोक्य महीपालमिदं चिन्तितवानसौ ।
अहो नु रम्या नृपता सर्वसौभाग्यभासिता ॥ १० ॥
पदातिरथहस्त्यश्वपताकाच्छत्रचामरैः ।
कदा स्यां दशदिक्कुञ्जपूरकोऽहं महीपतिः ॥ ११ ॥
कदा मे वायवः कुन्दमकरन्दसुगन्धयः ।
पास्यन्त्यन्तःपुरस्त्रीणां सुरतश्रमसीकरान् ॥ १२ ॥
कर्पूरेण पुरन्ध्रीणां पूर्णेन यशसा दिशाम् ।
इन्दूदयावदातानि कदा कुर्यां मुखान्यहम् ॥ १३ ॥
इत्थं ततःप्रभृत्येष विप्रः सङ्कल्पवानभूत् ।
स्वधर्मनिरतो नित्यं यावज्जीवमतन्द्रितः ॥ १४ ॥
हिमाशनिरिवाऽम्भोजं जर्जरीकर्तुमादृता ।
जले जर्जरितेवाऽथ जरा द्विजमुपाययौ ॥ १५ ॥

उसके सैन्यके कोलाहलसे दसों दिशाओंके मृग आदि प्राणियोंके झुण्ड दिग्भ्रम होनेके कारण जलकी भौंरीके तुल्य भाग रहे थे और उसके सुवर्ण और मणियोंके बने हुए हार, बाजूबन्द आदि आभरणोंकी कान्ति छिटक रही थी ॥ ९ ॥

उस राजाको देखकर उस ब्राह्मणके (वसिष्ठके) मनमें यह विचार आया कि अहा ! सम्पूर्ण सौभाग्योंसे उद्भासित नृपता (नृपति होना) बड़ी रमणीय है ॥ १० ॥

मैं कब पैदल सेना, रथ, हाथी, घोड़े, पताका, छत्र और चँवरोंसे दस दिशा-रूपी कुञ्जको पूर्ण करनेवाला राजा होऊँगा, कब कुन्दनामक फूलके मकरन्दसे सुगन्धित पवन मेरे अन्तःपुरकी स्त्रियोंके सुरतकालके श्रमसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंको पीवेंगे और मैं कब अपनी पतिव्रता रानियोंके मुखमण्डलको कर्पूरमिश्रित चन्दनसे और दिशाओंके मुखमण्डलको कर्पूरतुल्य अपने विपुल यशसे चन्द्रमाके उदयके तुल्य दीप्तिमय करूँगा ॥ ११–१३ ॥

तबसे नित्य अपने धर्ममें तत्पर आलस्यरहित वह ब्राह्मण जीवनभर इस प्रकारके सङ्कल्पसे युक्त हुआ । तदुपरान्त जैसे सरोवरके जलमें स्थित कमलको शिथिल करनेके लिए कटिबद्ध तुषाररूपी वज्र कमलको प्राप्त होता है, वैसे ही

आसन्नमरणस्याऽथ भार्या म्लानिमुपाययौ ।
तस्य शाम्यति पुष्पर्त्तौ लतेव ग्रीष्मभीतितः ॥ १६ ॥
मामथाऽऽराधितवती सा ततस्त्वमिवाऽङ्गना ।
अमरत्वं सुदुष्प्रापं बुद्ध्वेमं साऽवृणोद्वरम् ॥ १७ ॥
देवि स्वमण्डपादेव जीवो भर्तुर्मृतस्य मे ।
मा यासीदित्यतस्तस्याः स एवाऽङ्गीकृतो मया ॥ १८ ॥
अथ कालवशाद्विप्रः स पञ्चत्वमुपाययौ ।
तस्मिन्नेव गृहाकाशे जीवाकाशतया स्थितः ॥ १९ ॥
सम्पन्नः प्राक्तनानल्पसङ्कल्पवशतः स्वयम् ।
आकाशवपुरेवैष पतिः परमशक्तिमान् ॥ २० ॥
प्रभावजितभूपीठः प्रतापाक्रान्तविष्टपः ।
कृपापालितपातालस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ २१ ॥

शरीरशैथिल्ययुक्त वृद्धावस्था उस ब्राह्मणके शरीरको जर्जर बनानेके लिए उसके पास आई ॥ १४, १५ ॥

जैसे वसन्त ऋतुके बीतनेपर प्रचण्ड ग्रीष्मकालके सन्तापके भयसे लता मुर्झा जाती है, वैसे ही जब उसके मरनेका समय समीप आया तब उसकी पत्नीको बड़ा क्लेश हुआ ॥ १६ ॥

तदनन्तर उस सुन्दरीने तुम्हारी नाईं मेरी बड़ी आराधना की । अमरत्व प्राप्त होना कठिन है, यह जानकर उसने यह वर मांगा—हे देवि, मेरे मृत पतिका जीव मेरे घरसे बाहर नहीं ही जावे । चूँकि उसने वैसी प्रार्थना की थी, अतः मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १८, १८ ॥

तदुपरान्त काल पाकर उसका पति मर गया और उसी घरके आकाशमें जीवा-काशरूपसे * स्थित रहा ॥ १९ ॥

यद्यपि वह स्वयं आकाशरूप ही है तथापि पूर्वजन्मके दृढ़ संकल्पसे परम शक्तिमान् राजा बन गया । उसने अपने प्रभावसे पृथिवीपर विजय प्राप्त कर ली, प्रतापसे स्वर्गलोकको व्याप्त कर दिया, उसकी कृपासे पाताल लोकका पालन होता था, यों तीनों लोक उसके आयत्त हो गये ॥ २०,२१ ॥

---

* अन्तःकरणकी वासनाओंसे अवच्छिन्न ब्रह्म जीवाकाश है, तद्रूपसे ।

कल्पाग्निररिवृक्षाणां स्त्रीणां मकरकेतनः ।
मेरुर्विषयवायूनां साध्वब्जानां दिवाकरः ॥ २२ ॥
आदर्शः सर्वशास्त्राणामर्थिनां कल्पपादपः ।
पादपीठं द्विजाढ्याणां राका धर्मामृतत्विषः ॥ २३ ॥
स्वगृहाभ्यन्तराकाशे चित्ताकाशमयात्मनि ।
तस्मिन् द्विजे शवीभूते भूताकाशशरीरिणि ॥ २४ ॥
सा तस्य ब्राह्मणी भार्या शोकेनाऽत्यन्तकर्शिता ।
शुष्केव माषशिम्बीका हृदयेन द्विधाऽभवत् ॥ २५ ॥
भर्त्रा सह शवीभूता देहमुत्सृज्य दूरतः ।
आतिवाहिकदेहेन भर्त्तारं समुपाययौ ॥ २६ ॥
नदी निखातमिव तं भर्तारमनुसृत्य सा ।
आजगाम विशोकत्वं सा वासन्तीव मञ्जरी ॥ २७ ॥

वह शत्रुरूपी वृक्षोंके नाशके लिए प्रलयाग्नि था *, स्त्रियोंका मन हरनेके लिए कामदेव था, विषयरूपी वायुओंके लिए मेरु पर्वत था†, सज्जनरूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य था, जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिविम्बित होता है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्र उसमें प्रतिबिम्बित थे, याचकोंको मुँह-माँगा देनेके लिए वह कल्पवृक्ष था, उत्तम ब्राह्मणोंके लिए वह बैठनेका पीढ़ा था यानी वह सदा ब्राह्मणोंके चरणोंमें नतमस्तक रहता था और धर्मरूपी चन्द्रमाके लिए पूर्णिमा था ॥२२,२३॥

अपने घरके मध्यके आकाशमें वासनावच्छिन्न ब्रह्माकाशमय अतएव भूताकाशस्वरूप उस ब्राह्मणके मरनेपर उसकी पत्नी वह ब्राह्मणी शोकसे अत्यन्त कृश हो गई अतएव सूखी हुई उरदकी छीमीके समान उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये ॥ २४, २५ ॥

पतिके साथ मरी हुई वह ब्राह्मणी अपने देहका परित्याग कर परलोक पहुँचानेमें समर्थ मानस शरीरसे पतिके पास पहुँच गई ॥ २६ ॥

जैसे नदी नीची भूमिमें पहुँचती है, वैसे ही अपने पतिके पास पहुँचकर

---

* वनाग्निसे जले हुए वृक्षोंके फिर पनपनेकी आशा रहती है पर प्रलयाग्निसे विनष्टोंका फिर प्ररोह कदापि नहीं हो सकता, वैसे ही वह शत्रुओंका समूल नाश करनेवाला था ।

† जैसे वायु मेरुको विचलित नहीं कर सकते, प्रत्युत स्वयं टकरा कर रुक जाते हैं, वैसे ही वह विषयोंसे अप्रकम्प्य और विषयोंका विष्टम्भक था ।

तत्राऽस्य विप्रस्य गृहाणि सन्ति भूस्थावरादीनि धनानि सन्ति ।
अद्याऽष्टमं वासरमाप्तमृत्योर्जीवो गिरिग्रामककन्दरस्थः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने ब्राह्मणमरणं नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

स ते भर्ताऽद्य सम्पन्नो द्विजो भूपत्वमागतः ।
याऽसावरुन्धती नाम ब्राह्मणी सा त्वमङ्गने ॥ १ ॥
इहेमौ कुरुतो राज्यं तौ भवन्तौ सुदम्पती ।
चक्रवाकाविव नवौ भुवि जातौ शिवाविव ॥ २ ॥
एष ते कथितः सर्वः प्राक्तनः संसृतिक्रमः ।
भ्रन्तिमात्रकमाकाशमेवं जीवस्वरूपधृक् ॥ ३ ॥

वसन्त ऋतुमें उत्पन्न हुई मञ्जरीके समान वह शोकरहित (प्रफुल्लित) हो गई ॥२७॥

उस पर्वतग्राममें मरे हुए इस ब्राह्मणके घर हैं, भूमि, वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं, उसको मरे हुए आज आठवाँ दिन है और उसका जीव पर्वतके ग्रामके गृहमण्डपमें स्थित है ॥ २८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

—— ० ——

बीसवाँ सर्ग

[प्राक्तन जन्मके चरितोंके सुननेके उपरान्त भी ऐसा होना सम्भव नहीं है, यों सन्देहमें पड़ी हुई लीलाको दृष्टान्त और युक्तियोंसे देवीका प्रतिबोधन]

श्रीदेवीजीने कहा—हे सुन्दरी, वही ब्राह्मण आज राजा होकर तुम्हारा पति बना है और जो अरुन्धती नामकी ब्राह्मणी थी, वह तुम हो ॥ १ ॥

नूतन चक्रवाक और चक्रवाकीकी नाईं और पृथिवीमें उत्पन्न हुए शिव और पार्वतीकी नाईं सुन्दर दम्पती वे ही तुम दोनों यहाँपर राज्य करते हो ॥ २ ॥

पूर्वोक्त कथाका उपसंहार कर रहीं देवीजी समाधि दृष्ट सृष्टि और इस सृष्टिके

भ्रमादस्माच्चिदाकाशे भ्रमोऽयं प्रतिबिम्बितः ।
असत्य एव वा सत्यो भवतोर्भवभञ्जदः ॥ ४ ॥
तस्माद् भ्रान्तिमयः कः स्यात्को वा भ्रान्त्युज्झितो भवेत् ।
सर्गो निरर्गलानर्थबोधान्नाऽन्यो विजृम्भते ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य चिरं चारुविस्मयोत्फुल्ललोचना ।
भूत्वोवाच वचो लीला लीलालसपदाक्षरम् ॥ ६ ॥

लीलोवाच

देवि भोस्त्वद्वचो मिथ्या कथं सम्पन्नमीदृशम् ।
क्व विप्रजीवः स्वगृहे क्वेमे वयमिह स्थिताः ॥ ७ ॥

समान पहलेकी और सृष्टियां भी भ्रम ही हैं, ऐसा कहती हैं—'**एष**' इत्यादिसे ।

मैंने तुम्हारे पूर्वजन्मका सम्पूर्ण सृष्टिक्रम कहा, उसका ब्रह्मका जीवभावभ्रम ही मूल है, अतएव भ्रममूलक होनेसे वह भ्रान्तिमात्र ही है यानी ब्रह्मका जीवभाव भ्रमसे अतिरिक्त नहीं है ॥ ३ ॥

उत्तरोत्तर भ्रममें पूर्व-पूर्व भ्रम हेतु है, ऐसा दर्शाती हैं—'**भ्रमात्**' इत्यादिसे ।

इस पूर्व भ्रमसे चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित यह भ्रमरूप सर्ग स्वदृष्टिसे असत्य ही है अथवा अधिष्ठानदृष्टिसे सत्य है जो आप दोनोंके संसाररूपी भ्रमका नाशक है ॥४॥

यों भ्रमरूप होनेके कारण सभी सर्ग समान ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

उस भ्रमरूप पूर्वसृष्टिसे कौन सृष्टि भ्रान्तिरूप होगी और कौन भ्रान्तिसे शून्य होगी ? इसलिए भ्रान्तिमय सृष्टिसे दूसरी कोई सृष्टि नहीं होती है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, श्रीदेवीजीके उक्त वचन सुनकर रानी लीलाके सुन्दर विशाल नयन आश्चर्यसे विकसित हो गये, वह विलासपूर्वक मन्द-मन्द बोली ॥ ६ ॥

लीलाने कहा—आपका बचन तो सत्य है, वह इस प्रकार विरुद्ध कैसे हुआ ? कहां ब्राह्मणका जीव अपने घरमें है और कहां इतने बड़े विशाल प्रदेशमें हम लोग स्थित हैं यानी वे दम्पती हम कैसे हो सकते हैं ? ॥ ७ ॥

ताद्दग्लोकान्तरं सा भूस्ते शैलास्ता दिशो दश ।
कथं भान्ति गृहस्याऽन्तर्मद्भर्त्ता येष्ववस्थितः ॥ ८ ॥
मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपस्येव कोटरे ।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥ ९ ॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निर्गीर्णो भृङ्गसूनुना ।
स्वप्नाब्दगर्जितं श्रुत्वा चित्रं नृत्यन्ति बर्हिणः ॥ १० ॥
असमञ्जसमेवैतद् यथा सर्वेश्वरेश्वरि ।
तथा गृहान्तः पृथिवी शैलाश्चेत्यसमञ्जसम् ॥ ११ ॥
यथावदेतद्देवेशि कथयाऽमलया धिया ।
प्रसादानुगृहीते हि नोद्विजन्ते महौजसः ॥ १२ ॥

श्रीदेव्युवाच

नाऽहं मिथ्या वदामीदं यथावच्छृणु सुन्दरि ।
भेदनं नियतीनां हि क्रियते नाऽस्मदादिभिः ॥ १३ ॥
विभिद्यमानामन्येन स्थापयाम्यहमेव याम् ।
मर्यादां तां मया भिन्नां कोऽपरः पालयिष्यति ॥ १४ ॥

वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत, वे दसों दिशाएँ, जिनमें मेरे स्वामी स्थित हैं, कैसे घरके अन्दर प्रतीत हो सकती हैं ॥ ८ ॥

सरसोंके भीतर मदोन्मत्त ऐरावत हाथी बाँधा गया, परमाणुके भीतर मच्छरने सिंहोंके झुण्डके साथ युद्ध किया, कमलगट्टेके अन्दर मेरु स्थापित है और भँवरके बच्चेने उसे निगल लिया, स्वप्नके मेघकी गर्जनाको सुनकर मयूर बड़ा विचित्र नाच करते हैं, इत्यादि कहना जैसे असमञ्जस है, वैसे ही हे देवेशि, घरके अन्दर पृथ्वी लोक और पर्वत हैं, यह कहना भी असमञ्जस है ॥ ९–११ ॥

हे देवेशि, जिस प्रकारसे इसकी उपपत्ति हो, वैसा हमसे निर्मल बुद्धिसे कहिए, क्योंकि अपने प्रसादसे अनुगृहीत जनोंकी बड़े लोग कभी उपेक्षा नहीं करते ॥ १२ ॥

श्रीदेवीने कहा—सुन्दरी, मैं मिथ्या नहीं बोल रही हूँ, तुम इस विषयको भली-भाँति चित्त देकर सुनो, हम लोग वेदोक्त 'मिथ्या नहीं बोलना चाहिए' इत्यादि नियमोंका उलंघन नहीं करते ॥ १३ ॥

दूसरोंके द्वारा भिद्यमान (उलंघन किये जा रहे) जिस (वेदमर्यादा) का मैं

स ग्रामद्विजजीवात्मा तस्मिन्नेव स्वसद्मनि ।
व्योम्न्येवेदं महाराष्ट्रं व्योमात्मैव प्रपश्यति ॥ १५ ॥
प्राक्तनी सा स्मृतिर्लुप्ता युवयोरुदिताऽन्यथा ।
स्वप्ने जाग्रत्स्मृतिर्यद्वदेतन्मरणमङ्गने ॥ १६ ॥
यथा स्वप्ने त्रिभुवनं सङ्कल्पे त्रिजगद्यथा ।
यथा कथार्थसङ्ग्रामो मरुभूमौ जलं यथा ॥ १७ ॥
तस्य ब्राह्मणगेहस्य स शैलवनपत्तना ।
इयमन्तःस्थिता भूमिः सङ्कल्पादर्शयोरिव ॥ १८ ॥
असत्यैवेयमाभाति सत्येव घनसर्गता ।
तस्मात्सत्यावभासस्य चिद्व्योम्नः कोशकोटरे ॥ १९ ॥
असत्याद्यत्समुत्पन्नं स्मृत्या नाम तदप्यसत् ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां तरङ्गोऽपि न सद्यतः ॥ २० ॥

संस्थापन करती हूँ, यदि उसका मैं ही उल्लङ्घन करूँ तो उसका पालन कौन दूसरा करेगा ? ॥ १४ ॥

राजा बननेकी वासनासे उपहित चिदात्मारूप उक्त गाँवके ब्राह्मणका वह जीवात्मा उसी अपने निवास स्थानमें आकाशमें इस व्योमरूप महाराष्ट्रको देखता है ॥ १५ ॥

यदि वे ही हम दोनों हैं, तो हम लोगोंको उक्त वृत्तान्तका स्मरण क्यों नहीं होता और मरणका स्वरूप क्या है ? इसपर कहती हैं—'प्राक्तनी' इत्यादिसे ।

हे अङ्गने, जैसे जाग्रत्-स्मृति स्वप्नमें नष्ट हो जाती और अन्य स्मृति उदित होती है, वैसे ही तुम लोगोंकी पूर्व जन्मकी स्मृति नष्ट हो चुकी है और उससे विपरीत स्मृति उत्पन्न हुई है, यही मरण है ॥ १६, १७ ॥

जैसे स्वप्नमें त्रिभुवन है, जैसे सङ्कल्पमें तीनों जगत् हैं, जैसे कथाका अर्थरूप सङ्ग्राम है, जैसे मरुभूमिमें जल है और जैसे सङ्कल्प और दर्पणमें अन्दर स्थित भूमि है, वैसे ही उस ब्राह्मणके घरकी पर्वत, वन और नगरसे युक्त यह भूमि असत्य है ॥ १८ ॥

इसलिए सत्य, ज्ञान चिदाकाशके कोश-कोटरमें यह असत्यभूत घनसृष्टि पञ्चकोशके अन्तर्गत सत्य चिद्व्योमरूप निमित्तसे सत्य-सी प्रतीत होती है ॥१९॥

पूर्व सर्गके असत्य होनेपर भी इस सर्गमें क्या आया ? इसपर कहती हैं— 'असत्याद्' इत्यादिसे ।

इदं त्वदीयं सदनं तद्गेहाकाशकोशगम् ।
विद्धि मां त्वां च सर्वं च तच्चिद्व्योमैव केवलम् ॥ २१ ॥
स्वप्नसम्भ्रमसङ्कल्पस्वानुभूतिपरम्पराः ।
प्रमाणान्यत्र मुख्यानि संबोधाय प्रदीपवत् ॥ २२ ॥
स्थितो ब्राह्मणगेहान्तर्द्विजजीवस्तदम्बरे ।
ससमुद्रवना पृथ्वी स्थिताऽब्ज इव षट्पदः ॥ २३ ॥
तस्याः कस्मिंश्चिदेकस्मिन्पेलवे कोणकोटरे ।
इदं पत्तनदेहादि केशोण्डूक इवाऽम्बरे ॥ २४ ॥
तस्मिन्नस्मिन्पुरे तन्वि तदेव सदनं स्थितम् ।
तस्मात्किं त्रसरेण्वन्तर्जगद्वृन्दमिव स्थितम् ॥ २५ ॥

भद्रे, असत्यरूप कारणसे जो उत्पन्न होता है, वह स्मृतिरूप होनेके कारण असत्य ही है, क्योंकि मृगतृष्णासे कल्पित सरितामें तरङ्ग भी सत् नहीं होता ॥ २० ॥

हे भद्रे, उक्त गेहाकाशरूप कोशमें स्थित तुम्हारा यह घर, मैं, तुम और यह सब केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण प्रपञ्चके मिथ्या और केवल चिन्मात्रके परिशेषमें अनुभवसे सिद्ध दृष्टान्तके द्वारा अनुमान प्रमाण कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

स्वप्न, भ्रम और मनोरथके अपने-अपने अनुभव, दीपकके समान, यहाँपर बोध करनेके लिए मुख्य प्रमाण हैं ॥ २२ ॥

इस सृष्टिसे केवल गृहाकाश ही नहीं भरता यह बात नहीं है, किन्तु उसके एक देशमें स्थित जीवाकाशका एक देश भी नहीं भरता है, इसलिए यह मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—'स्थितः' इत्यादिसे ।

ब्राह्मणके घरके अन्दर ब्राह्मणका जीव है, उस जीवाकाशमें, कमलमें भ्रमरकी नाईं, समुद्र, नद-नदी और वनोंसे परिपूर्ण यह पृथिवी है ॥ २३ ॥

जैसे निर्मल आकाशमें कुण्डलके आकारके केशोंका भ्रम होता है वैसे ही उक्त पृथिवीके किसी एक निर्मल कोनेमें नगर, देह आदिकी प्रतीति होती है ॥ २४ ॥

जैसे गर्भसे खच्चरीके पेटका विनाश हो जाता है वैसे अनेक सर्गोंमें उत्पन्न होनेसे ब्राह्मणके उक्त घरके विनाशकी शङ्का नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहती हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

परमाणौ परमाणौ सन्ति वत्से चिदात्मनि।
अन्तरन्तर्जगन्तीति किन्त्वेतन्नाम शङ्क्यते ॥ २६ ॥

लीलोवाच

अष्टमे दिवसे विप्रः स मृतः परमेश्वरि।
गतो वर्षगणोऽस्माकं मातः कथमिदं भवेत् ॥ २७ ॥

श्रीदेव्युवाच

देशदैर्घ्यं यथा नाऽस्ति कालदैर्घ्यं तथाऽङ्गने।
नाऽस्त्येवेति यथान्यायं कथ्यमानं मया शृणु ॥ २८ ॥
यथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्गावभासनम्।
तथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम् ॥ २९ ॥

उस ब्राह्मणके घरके अन्दर इस सृष्टिके उत्पन्न होनेपर भी वह घर अभी ज्योंका त्यों बना ही है, विनष्ट नहीं हुआ। उस विप्रगृहके उदाहरणसे आश्चर्यके लिए कौन स्थान है, क्योंकि त्रिसरेणुके अन्दर भी जगत्-समुदाय स्थित-सा है। 'स्थित-सा' यह कथन मिथ्या होनेके कारण त्रिसरेणुके अन्दर जगत्का रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, यह दर्शानेके लिए है ॥ २५ ॥

आकाश आदि जगत्की सृष्टिमें पूर्वकालिक (आकाश आदि जगत्की सृष्टिके पूर्वकी) निरवकाशता विरोधिनी नहीं है, परमाणुसे अवच्छिन्न (अतिसूक्ष्म) चिदात्मामें भी जगतोंका सम्भव होनेसे असंभवकी शङ्का निरवकाश ही है, ऐसा कहती हैं—**'परमाणौ'** इत्यादिसे।

भद्रे, परमाणुरूप चिदात्मामें भीतर-भीतर अनेक जगत् विद्यमान हैं, फिर उक्त चिदात्मामें ब्राह्मणके घरकी असंभावना तुम क्यों करती हो ? ॥ २६ ॥

लीलाने कहा—हे देवी, आजसे आठ दिन पहले उस ब्राह्मणकी मृत्यु हुई थी और हमें उत्पन्न हुए अनेक वर्ष बीत चुके हैं, हे माँ, वे ही दम्पती हम हैं, यह कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥

श्रीदेवीने कहा—सुन्दरी, जैसे देशदैर्घ्य नहीं है, वैसे ही कालदैर्घ्य भी नहीं ही है, इस विषयको युक्तिपूर्वक तुमसे कहती हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥ २८ ॥

जैसे यह जगत्-सृष्टिकी प्रतीति कल्पनामात्र है, वैसे ही यह क्षण, कल्प आदिकी प्रतीति भी कल्पनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है। क्षण, कल्प आदिरूप

क्षणकल्पं जगत्सर्वं त्वत्तामत्तात्मजन्मनाम् ।
यथावत्प्रतिभासस्य वक्ष्ये क्रममिमं शृणु ॥ ३० ॥
अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्छनम् ।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रते ॥ ३१ ॥
तदैवोन्मेषमात्रेण व्योम्न्येव व्योमरूप्यपि ।
आधेयोऽयमिहाऽऽधारे स्थितोऽहमिति चेतसि ॥ ३२ ॥
हस्तपादादिमान् देहो ममाऽयमिति पश्यति ।
यदेव चेतसि वपुस्तदेवेदं स पश्यति ॥ ३३ ॥
एतस्याऽहं पितुः पुत्रो वर्षाण्येतानि सन्ति मे ।
इमे मे बान्धवा रम्या ममेदं रम्यमास्पदम् ॥ ३४ ॥
जातोऽहमभवं बालो वृद्धिं यातोऽहमीदृशः ।
बान्धवाश्चाऽस्य मे सर्वे तथैव विचरन्त्यमी ॥ ३५ ॥
चित्ताकाशघनैकत्वात् स्वेऽप्यन्येऽपि भवन्ति ते ।
एवं नामोदितेऽप्यस्य चित्ते संसारखण्डके ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण जगत् 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि अध्यासके अधीन स्वजन्मरूप भ्रमवाले पुरुषोंको ही प्रतीत होता है, उक्त प्रतीतिके क्रमको मैं तुमसे यथार्थरूपसे कहूँगी, तुम सुनो ॥ २९,३० ॥

पतिव्रते, जब जीव क्षण भर मिथ्याभूत मरण-मूर्छनाका अनुभव कर, पूर्वजन्मके पदार्थोंको भूल कर अन्य पदार्थोंको देखता है, तभी आकाशरूपी वह चिदाकाशमें, पलक भरमें, यह मैं आधेयस्वरूप हूँ और इस आधारमें स्थित हूँ, ऐसा स्मरण करता है यानी उसके चित्तमें उक्त संस्कार उद्भूत होता है॥ ३१,३२ ॥

और वह देखता है कि मेरा यह शरीर हस्त, पाद आदिसे सम्पन्न है। जैसा उसके चित्तमें संस्कार रहता है, वैसा ही वह अपने शरीरको देखता है ॥ ३३ ॥

इस पिताका मैं पुत्र हूँ, मुझे इतने वर्ष हो गये हैं, ये मेरे रमणीय भाई-बन्धु है और यह मेरा रमणीय घर है। मैं उत्पन्न हुआ, बालक हुआ, बढ़ा और अब ऐसा हूँ और ये सब मेरे बन्धु-बान्धव भी मेरे तुल्य ही उत्पन्न हुए, बालक हुए, बढ़े और अब मेरे सदृश ही विचरण करते हैं ॥ ३४,३५ ॥

बन्धु-बान्धव देहके सम्बन्धीरूपसे कल्पित है, अतः वे देहके सम्बन्धी

न किञ्चिदप्यभ्युदितं स्थितं व्योमैव निर्मलम् ।
स्वप्ने द्रष्टरि यद्वच्चित् तद्वद् दृश्ये चिदेव सा ॥ ३७ ॥
सर्वगैकतया यस्मात् सा स्वप्ने दृष्टदर्शना ।
यथा स्वप्ने तथोदेति परलोकदृगादिभिः ॥ ३८ ॥
परलोके यथोदेति तथैवेहाऽभ्युदेति सा ।
तत्स्वप्नपरलोकेहलोकानामसतां सताम् ॥ ३९ ॥
न मनागपि भेदोऽस्ति वीचीनामिव वारिणि ।
अतो जातमिदं विश्वमजातत्वादनाशि च ॥ ४० ॥

भले ही हों पर उनमें आत्मीयत्व कैसे ? इस शङ्कापर कहते हैं—'चित्ता'० इत्यादिसे ।

यद्यपि बन्धु-बान्धव वस्तुतः देहसम्बन्धी हैं, तथापि देहरूपताको प्राप्त हुए चित्ताकाश और आत्माकाशका अत्यन्त दृढ़ तादात्म्याध्यास होनेसे वे वस्तुतः परकीय होते हुए भी आत्मीय भी होते हैं, ऐसा होनेपर जीवके चित्तके संसारमें देहरूपताको प्राप्त होनेपर भी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल निर्मल आकाश ही स्थित है, जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टामें विद्यमान चित् ही रहती है, वैसे दृश्य-प्रपञ्चमें भी चित् ही है, भाव यह है कि जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुषमें विद्यमान चित् ही स्वप्नमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंके आकारको प्राप्त होती है, वैसे ही चित् ही दृश्य पदार्थोंके आकारमें प्रतीत होती है, चित्से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३६, ३७ ॥

चूँकि स्वप्नमें द्रष्टा और दृश्यरूपसे कल्पित विभिन्न पदार्थोंमें अदृश्यरूपसे व्याप्त चित् कल्पित द्रष्टा और दृश्यरूप विविध पदार्थोंका बाध होनेपर एकरस चित्-रूपसे पुनः दृष्टिगोचर होती है, अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ । वह चित् जैसे स्वप्नमें द्रष्टा, दृश्य आदिरूपमें उदित होती है, वैसे ही परलोकके द्रष्टाओं द्वारा देखी जाती हुई परलोकमें उदित होती है और जैसे परलोकमें उदित होती है, वैसे ही इस लोकमें भी उदित होती है । इसलिए वास्तवमें असत् किन्तु भ्रमवश सत्-से प्रतीत होनेवाले स्वप्न, परलोक और इस लोकमें तनिक भी भेद नहीं है, वे परस्पर ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि जलमें उत्पन्न हुई लहरें एक दूसरेसे अभिन्न रहती हैं । चूंकि यह विश्व जलमें लहरोंके समान चित्में भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उत्पन्न न होनेके कारण

स्वरूपत्वात्तु नाऽस्त्येव यच्च भाति चिदेव सा ।
यथैव चेत्यनिर्हीणा परमव्योमरूपिणी ॥ ४१ ॥
सचेत्याऽपि तथैवैषा परमव्योमरूपिणी ।
तस्माच्चेत्यमतो नाऽन्यद्वीचित्वादिव वारितः ॥ ४२ ॥
वीचित्वं च रसे नाऽस्ति शशशृङ्गवदेव हि ।
सैव चेत्यमिवाऽऽपन्ना स्वभावादच्युताऽप्यलम् ॥ ४३ ॥
तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्योऽर्थः कुतोऽतो द्रष्टृदृश्यधीः ।
निमिषेणैव जीवस्य मृतिमोहादनन्तरम् ॥ ४४ ॥
त्रिजगद्दृश्यसर्गश्रीः प्रतिभामुपगच्छति ।
यथादेशं यथाकालं यथारम्भं यथाक्रमम् ॥ ४५ ॥

यह अविनाशी है, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता, उसका नाश नहीं होता, यह अकाट्य नियम है ॥ ३८–४० ॥

इसका तात्त्विक रूप आत्मा ही है, अतएव जगद्रूपसे इसका अस्तित्व नहीं है और जिसका भान होता है, वह चैतन्य ही है। भाव यह है कि सम्पूर्ण प्रमाणोंसे अधिष्ठान चैतन्यका ही भान होता है, क्योंकि वही अज्ञात और अबाधित होनेसे प्रमाणोंके योग्य है, जड़ नहीं, क्योंकि उसमें (जड़में) आवरण कार्य न होनेसे प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका फल नहीं है। चेत्य (विषय) शून्य परमाकाशरूपिणी चित् जैसी है, चेत्ययुक्त परमाकाशरूपिणी चित् भी ठीक वैसी ही है। भाव यह है कि आरोपित चेत्यसे अधिष्ठानमें किसी किस्मका दूषण नहीं आता, अतएव जैसे जलसे वीचि भिन्न नहीं है, वैसे ही चित्से चेत्य अतिरिक्त नहीं है। जलमें वीचित्व शशशृङ्गके समान ही है। भाव यह कि रसतन्मात्र ही जलका यथार्थरूप है, उसमें वीचित्व नहीं है, क्योंकि उसका जीभसे ग्रहण नहीं होता, जो जलमें चक्षुसे वीचिके आकारका ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है, वह अन्य भूतोंके सम्बन्धरूप उपाधिसे उत्पन्न औपाधिक है, अतएव जलमें वीचित्व शशशृङ्गके समान असत् है, यह जो कहा वह ठीक ही है। वैसे ही यद्यपि चित् अपने स्वरूपसे सर्वथा अप्रच्युत है फिर भी चेत्यभावापन्न-सी प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दृश्य पदार्थ नहीं ही है। जब दृश्य पदार्थ नहीं है तब द्रष्टृ और दृश्य बुद्धि कैसे होगी ? दृष्टृ और द्रश्य परस्पर सापेक्ष हैं, जब दृश्य नहीं है, तो द्रष्टृ

यथोत्पादं यथामातृ यथापितृ यथौरसम् ।
यथावयो यथासंविद्यथास्थानं यथेहितम् ॥ ४६ ॥
यथाबन्धु यथाभृत्यं यथेहास्तमयोदयम् ।
अजात एव जातोऽहमिति चेतसि चिद्वपुः ॥ ४७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्धीन्द्रियादि च ।
झटित्येव मृतेरन्ते वपुः पश्यति यौवने ॥ ४८ ॥
एषा माता पिता ह्येष बालोऽभूवमहं त्विति ।
नाऽनुभूतोऽनुभूतो वा यः स्यात्स्मृतिमयः क्रमः ॥ ४९ ॥
पश्चादुदेत्यसौ तस्य पुष्पस्येव फलोदयः ।
निमिषेणैव मे कल्पो गत इत्यनुभूयते ॥ ५० ॥
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रे तथा ह्यभूत् ।
कान्ताविरहिणामेकं वासरं वत्सरायते ॥ ५१ ॥
मृतो जातोऽहमन्यो मे पितेति स्वप्नतास्विव ।
अभुक्तस्यैव भोगस्य भुक्तधीरुपजायते ॥

कैसे ? यह भाव है । मरणरूप अज्ञानके अनन्तर ही देश, काल, कर्म, क्रम, उत्पत्ति, माता, पिता, भाई-बन्धु, अवस्था, ज्ञान, स्थान, अभिलाषा, बन्धु-बान्धव, भृत्य, चेष्टा, सूर्योदय और सूर्यास्तके अनुसार त्रिजगत्‌रूपी दृश्यकी शोभा जीवकी बुद्धिमें आरूढ होती है । चित् उत्पन्न हुए बिना ही मैं उत्पन्न हुई यों विचार करती है और वासनाके अनुरूप देश, काल, कर्म, द्रव्य, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिको देखती है और मरनेके अनन्तर तुरन्त ही राक्षसयोनिमें, महादेवजीके वरदानसे, अपने शरीरको युवावस्थामें देखती है ॥ ४१–४८ ॥

यह मेरी माता है, यह पिता है, मैं बालक हुआ इत्यादि अनुभूत या अननुभूत जो स्मृतिमय क्रम है, वह इसका पीछे उत्पन्न होता है, जैसे कि फूलके पीछे फलका उदय होता है । और एक ही पलकमें मेरा कल्प बीत गया, ऐसा अनुभव करता है ॥ ४९, ५० ॥

राजा हरिश्चन्द्रकी एक रात बारह वर्षकी हुई थी, स्त्रीवियोगी पुरुषोंको एक दिन वर्षके समान मालूम होता है ॥ ५१ ॥

जैसे स्वप्नमें मैं मरा, उत्पन्न हुआ, यह दूसरा मेरा पिता है, ऐसी

भुक्तेऽप्यभुक्तधीर्दृष्टमित्यलङ्घितवादिषु ॥ ५२ ॥
शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभश्च मदस्वप्नादिसंविदि ॥ ५३ ॥
तैक्ष्ण्यं यथामरिचबीजकणे स्थितं स्वं
स्तम्भेषु चारचितपुत्रकजालमन्तः ।
दृश्यं त्वनन्यदिदमेवमजेऽस्ति शान्तं
तस्याऽस्ति बन्धनविमोक्षदृशः कुतः काः ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने परमार्थप्रतिपादनं नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

प्रतीति होती है, वैसे ही लोकमें भी मैं मरा, पुनः उत्पन्न हुआ, यह मेरा पिता है, जिस भोगका भोग नहीं किया, उसको मैंने भोग लिया, ऐसी बुद्धि और भुक्त-भोगोंमें मैंने इनका भोग नहीं किया, ऐसी प्रतीति मुग्ध लोगोंमें देखी जाती है ॥५२॥

अविद्यासे केवल असत्-प्रतीति ही नहीं होती, किन्तु सत्से विपरीत भान होना भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'शून्य०' इत्यादिसे ।

नशेमें और स्वप्नमें रिक्त स्थान भी समृद्ध-सा यानी लोगोंकी भीड़से ठसाठस भरा हुआ प्रतीत होता है, विपत्ति उत्सवके सदृश मालूम होती है और वञ्चना भी लाभ ज्ञात होती है ॥ ५३ ॥

जैसे मिर्चेके बीजके किनकेमें विद्यमान तीक्ष्णता डण्ठलोंमें अपने स्वरूपको व्यक्त किये बिना ही भीतर स्थित है, वैसे ही जिस अजमें स्वरूपभूत यह सम्पूर्ण विश्व उसकी सत्तासे ही विद्यमान है, उस आत्मामें बन्धन और मोक्षदृष्टि कहांसे होगी और कैसे होगी ? यानी किस निमित्तसे होगी और स्वरूपतः कैसे होगी ? वे सर्वथा असंभावित हैं, यह भाव है ॥ ५४ ॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

एकविंश सर्गः

श्रीदेव्युवाच

प्रतिभान्ति जगन्त्याशु मृतिमोहादनन्तरम् ।
जीवस्योन्मीलनादक्ष्णो रूपाणीवाऽखिलान्यलम् ॥ १ ॥
दिक्कालकलनाकाशधर्मकर्ममयानि च ।
परिस्फुरन्त्यनन्तानि कल्पान्तस्थैर्यवन्ति च ॥ २ ॥
नाऽनुभूतं न यद् दृष्टं तन्मयाकृतमित्यपि ।
तत्क्षणात्स्मृतितामेति स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ३ ॥
भ्रान्तिरेवमनन्तेयं चिद्व्योमव्योम्नि भासुरा ।
अपकुड्या जगन्नाम्नी नगरी कल्पनात्मिका ॥ ४ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

[विचारपूर्वक देखा जाय तो स्थूल सूक्ष्म है, सूक्ष्म अविद्या है और अविद्या भी चिन्मात्र ही है, यों देवी द्वारा लीलाका प्रतिबोधन]

श्रीदेवीजी विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेके लिए पूर्वोक्त अर्थका ही विस्तार करती हैं—'**प्रतिभान्ति**' इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—जैसे नेत्र खोलनेसे सम्पूर्ण रूपोंकी प्रतीति होती है, वैसे ही मृत्युरूप मोहके अनन्तर जीवको शीघ्र सम्पूर्ण जगतोंका पूर्णरूपसे भान होने लगता है ॥ १ ॥

देश-काल-सम्बन्धमय, आकाशमय (गन्धर्वनगर आदि), धर्ममय (स्वर्ग आदि), कर्ममय (घर आदि) और प्रलयपर्यन्त स्थिर रहनेवाले पृथिवी आदि अनन्त जगत् उसके सन्मुख आविर्भूत होते हैं ॥ २ ॥

मायिक स्मरणाभास और अनुभवाभासमें प्रसिद्ध स्मरण और अनुभवसे विलक्षणता दर्शाते हैं—'**नाऽनुभूतम्**' इत्यादिसे ।

जो वस्तु कभी अनुभूत नहीं है और जो दृष्टिगोचर नहीं हुई है, वह भी स्वप्नमें अपने मरणकी नाईं मुझसे अनुभूत है और दृष्ट है, इस प्रकार तुरन्त स्मरणमें आती है ॥ ३ ॥

मायाकाशमें प्रकाशमान, आवरणरहित यह जगत्-नामक कल्पनारूप नगरी निःसीम भ्रान्ति ही है ॥ ४ ॥

इदं जगदयं सर्गः स्मृतिरेवेति जृम्भते ।
दूरकल्पक्षणाभ्यासविपर्यासैकरूपिणी ॥ ५ ॥

नाऽनुभूताऽनुभूता च ज्ञप्तिरित्थं द्विरूपिणी ।
पूर्वकारणरिक्तैव चिद्रूपैव प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥

नाऽनुभूतेऽनुभूतत्वं संविदन्तरुदेत्यपि ।
स्वप्नभ्रमादावन्यस्मिन्पितरीव पितुः स्मृतिः ॥ ७ ॥

कदाचित्स्मृतितां त्यक्त्वा प्रतिभामात्रमेव सत् ।
भाति प्रथमसर्गेषु रूपेण तदनुक्रमात् ॥ ८ ॥

वासना ही यह जगत्, यह सृष्टि, इस प्रकार विलासको प्राप्त होती है। समीपमें स्थित और वर्तमान कालिकमें यह दूरस्थित और भूतकालीन है, यों देश और कालके विप्रकर्षरूपसे और सदातन और निष्क्रियमें क्षण, उनकी आवृत्तिरूप घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास और वर्ष आदिरूपसे विपर्यास (भ्रम) ही उक्त वासनाका केवल एकमात्र स्वरूप है ॥ ५ ॥

इस प्रकार ज्ञान अननुभूत और अनुभूतरूपसे दो प्रकारका है, वह पूर्वकारणोंसे रहित ही और चिद्रूप ही प्रवृत्त होता है ॥ ६ ॥

जो अनुभवमें नहीं आया है, उसमें अनुभूतत्वभ्रान्ति कहां देखी गई है ? इसपर कहते हैं—'नाऽनुभूते०' इत्यादिसे ।

अननुभूतमें (जो अनुभवमें आरूढ़ नहीं हुआ है, उसमें) इसका हमने अनुभव किया, ऐसी प्रतीति अन्तःकरणमें होती है, जैसे कि स्वप्न और भ्रमदशामें अन्यके पितामें ये मेरे पिता हैं, ऐसी स्मृति होती है ॥ ७ ॥

यदि कोई कहे कि संसार अनादिकालसे चला आ रहा है, इस अनादि संसारमें सब कुछ अनुभूत ही है, अतएव यह, जिसमें 'स एवायं यः पूर्वमनुभूतः पदार्थः' (जिस पदार्थका पहले अनुभव किया था, वही यह पदार्थ है) इत्याकारक तत्ताका लोप है, ऐसी स्मृति ही है, भ्रान्ति नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'कदाचित्' इत्यादिसे ।

कभी प्रजापतिकी प्रथम सृष्टियोंमें स्मृतित्वका त्याग कर केवल अनुभवरूपसे ही रहता है, उसके पश्चात् क्रमशः स्मृतिरूपसे प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

दृश्यं त्रिभुवनादीदमनुभूतं स्मृतौ स्थितम् ।
केषाञ्चित्तन्वि केषाञ्चिन्नाऽनुभूतं स्मृतौ स्थितम् ॥ ९ ॥
प्रतिभासत एवेदं केषाञ्चित्स्मरणं विना ।
चिदणूनां प्रजेशत्वं काकतालीयवद् यतः ॥ १० ॥
अत्यन्तविस्मृतं विश्वं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
ईप्सितानीप्सिते तत्र न स्तः केचनं[1] कस्यचित् ॥ ११ ॥

पूर्व अनुभूतका ही भान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा कहती हैं—'दृश्यम्' इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, तीनों भुवन आदि यह दृश्य प्रपञ्च किन्हीं लोगोंकी स्मृतिमें पहले अनुभवमें आरूढ़ होकर स्थित है और किन्हींकी स्मृतिमें पूर्वमें अनुभवमें आरूढ हुए बिना ही स्थित है ॥ ९ ॥

काकतालीयके समान किन्हीं चिदणुओंको पूर्वमें अननुभूत प्रजेशत्व, स्मरणके बिना ही, प्रतीत होता है। भाव यह है कि जैसे कौएका जाना और ताल-फलका गिरना, इन दोनोंका कार्यकारणभाव नहीं है, किन्तु काकगमन और फलपतन आकस्मिक है, वैसे ही कुछ चैतन्य परमाणुओंको मैं ब्रह्म हूँ, यह स्मरण पूर्वानुभवके बिना ही अवभासित होता है। उसको पूर्वजन्मके प्रजेशत्व (ब्रह्मत्व) का स्मरण होता है, यह तो कह ही नहीं सकते, क्योंकि 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' (तत्त्वज्ञान, सृष्टिकरणसामर्थ्य आदि ब्रह्माके स्वाभाविक धर्म हैं) इत्यादि स्मृतिसे ब्रह्मामें अवश्य ज्ञानोदय होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता ॥ १० ॥

वासनाओंकी राशि ही चित्त है, चूँकि संसार वासनाराशिरूप चित्तमय है, अतः चित्तके विनाशसे आत्यन्तिक निर्वासनारूप विस्मृति ही मोक्ष है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहती हैं—'अत्यन्त०' इत्यादिसे ।

विश्वका आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहलाता है। मोक्षमें किसीको भी प्रिय और अप्रिय कुछ नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (मुक्त पुरुषको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसी श्रुति है ॥ ११ ॥

१ 'केचन' के स्थानमें 'काचन' पाठ बहुधा उपलब्ध होता है। उक्त पाठमें ऐसा अर्थ करना चाहिए—विश्वका आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहा जाता है, उक्त अवस्थामें प्रिय और अप्रिय नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं वाव' ऐसी श्रुति है। क्यों नहीं होते,' ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहती

अत्यन्ताभावसम्पत्तिं विनाऽहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ॥ १२ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमः सर्पशब्दार्थासम्भवं स्थितम् ।
अनुत्पादमयं त्यक्त्वा शान्तोऽपि हि न शाम्यति ॥ १३ ॥
अर्धशान्तो न शान्तोऽसौ समेत्यर्थतया पुनः ।
उदेत्येकपिशाचान्ते पिशाचोऽन्यो ह्यधीमतः ॥ १४ ॥
संसारश्चाऽयमाभोगी परमेवेति निश्चयः ।
कारणाभावतो भाति यदिहाऽभातमेव तत् ॥ १५ ॥

अहन्ता और जगत्की मूलभूत अविद्याके बाधके बिना यह अनुत्पादमयी (नित्य) विमुक्तता उदित ही नहीं होती। कभी उत्पन्न न हुए और रज्जुरूपसे स्थित सर्पशब्द और सर्परूप अर्थके अभावको जाने बिना रज्जुमें सर्पका भ्रम शान्त होनेपर भी शान्त नहीं होता। भाव यह है कि रज्जुमें जो सर्पका भ्रम होता है, उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति तभी हो सकती है, जब कि सर्पशब्द और सर्परूप अर्थका आत्यन्तिक बाध हो जाय। अत्यन्त बाध न होनेसे कदाचित् उसका बाध होनेपर भी फिर वह उदित हो जाता है, आत्यन्तिक निवृत्ति ही उसका एकमात्र उपाय है ॥ १२,१३ ॥

यदि कोई कहे कि योगसे मनकी वृत्तिका शमन होनेसे ही वह शान्त हो जायगा, ज्ञानकी उसके लिए क्या आवश्यकता है, इसपर कहती हैं— **'अर्ध०'** इत्यादिसे।

जो विक्षेपरूप अंशकी शान्तिसे आधा शान्त हुआ यानी पूर्णतया निवृत्त नहीं हुआ, वह शान्त नहीं होता, क्योंकि समाधिसे व्युत्थान होनेपर वह फिर मूढ़ पुरुषको विक्षेपार्थरूपसे प्रतीत होता है, क्योंकि मूढ़ पुरुषको एक पिशाचकी निवृत्ति होनेपर दूसरा पिशाच दिखाई देता है ॥ १४ ॥

ज्ञानसे ही इस संसारसागरसे निस्तार हो सकता है, ऐसा कहती हैं— **'संसार०'** इत्यादिसे।

हैं—'काचन'। मोक्षावस्थामें जो चित् अवशिष्ट रहती है, वह किसकी है, विषयकी है या भोक्ताकी है ? जिसके कारण प्रिय और अप्रिय होंगे ? भगवती श्रुतिने भी कहा है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (जिस मोक्षदशामें इसका सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहां किसको किससे देखेगा) इत्यादि।

लीलोवाच

ब्राह्मणब्राह्मणीरूपे सर्गे कारणसंस्मृतिः ।
कथमभ्युत्थिता साऽस्य स्मरणीयमिदं विना ॥ १६ ॥

श्रीदेव्युवाच

पितामहस्मृतिस्तत्र कारणं तस्य न स्मृतिः ।
पूर्वं न सम्भवत्येव मुक्तत्वात् पूर्वजन्मनः ॥ १७ ॥
पूर्वं न सम्भवत्येव स्मरणीयमिति स्वयम् ।
पद्मजादित्वमायाति चैतन्यस्य तथास्थितेः ॥ १८ ॥

यह विशाल संसार परब्रह्म ही है, यह निश्चय है। अविद्याके बाधसे यदि यह प्रकाशित होता है, तो प्रकाशित ही रहता है यानी फिर उसके आवरण आदिकी शङ्का नहीं रहती है ॥ १५ ॥

जो पहले यह कहा था कि यह सर्ग ब्राह्मण-ब्राह्मणीके सर्गमें अभ्यस्त वासनाओंसे उत्पन्न है, उसमें लीला अनुपपत्तिकी आशङ्का करती है—**'ब्राह्मण०'** इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—देवी, ब्राह्मण और ब्राह्मणीरूप सर्गमें इस सर्गका कारणभूत संस्कार, पूर्वमें अनुत्पन्न स्मरणयोग्यके पूर्वानुभवके बिना, कैसे उत्पन्न हुआ? इस समय (राजसर्गमें) जो वस्तुएँ हैं, वे पहले (ब्राह्मण-ब्राह्मणीरूप सर्गमें) नहीं थीं, अतः उस समय उनका अनुभव हुआ यह नहीं कहा जा सकता। पूर्व अनुभव न होनेके कारण संस्काररूप वासना उस समय नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ १६ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, केवल संस्कार ही वासना नहीं है, आगे मैं संस्कारसे अतिरिक्त (अनादि अविद्याशक्तिरूप) भी वासना तुमसे कहूँगी। यदि संस्कारको भी तुम सृष्टिमें आवश्यक मानती हो, तो सर्वज्ञ ब्रह्माको भावी वस्तुओंका भी अनुभव हो सकता है, अतः उन्हींका संस्कार उक्त सर्गका कारण है, ऐसा मान लो। अपनी देहकी सृष्टि आदिमें तो उनका भी संस्कार कारण नहीं हो सकता है। यदि कहो कि उनसे पूर्व जो ब्रह्मा रहे, उनका संस्कार उनकी देहकी सृष्टिमें कारण है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्वकल्पकी समाप्तिमें ही मुक्त हो चुके ॥ १७ ॥

जिनका इस समय स्मरण हो रहा है, उन वस्तुओंके ब्राह्मणसृष्टिमें न

अभूवमहमित्यन्यः प्रजानाथः प्रजापतेः ।
काकतालीयवत् कश्चिद्भवति प्रतिभामयः ॥ १९ ॥
एवमभ्युदिते लोके न किञ्चिन्न कदाचन ।
क्वचिदभ्युदितं नाम केवलं चिन्नभः स्थितम् ॥ २० ॥
द्विविधायाः स्मृतेरस्याः कारणं परमं पदम् ।
कार्यकारणभावोऽसावेक एव चिदम्बरे ॥ २१ ॥
कार्यं च कारणं चैव कारणैः सहकारिभिः ।
कार्यकारणयोरैक्यात्तदभावान्न शाम्यति ॥ २२ ॥

रहनेसे भी उनके स्मरणका (संस्कारका) सम्भव नहीं है, ऐसा कहती हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे ।

पहले स्मरणयोग्य पदार्थ नहीं ही थे । पूर्वकल्पके ब्रह्माके शरीर आदिकी वासनासे युक्त मायोपहित चैतन्यकी ही तादृश आकारसे स्थिति होनेसे वही इस प्रकारके अपूर्व ब्रह्मा आदिके रूपसे विवर्तको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

पूर्व कल्पके ब्रह्माकी वासनासे युक्त अविद्याका अविद्याके अधिष्ठानभूत तत्त्वके ज्ञानसे बाध होनेपर जो होता है, उसे कहती हैं—'अभूवम्' इत्यादिसे ।

पूर्वकल्पके प्रजापतिसे अन्य मैं प्रजापति हुआ, इस प्रकार काकतालीयके समान (अकस्मात्) कोई प्रतिभामय (काल्पनिक यानी मनोमय) प्राणी (ब्रह्मा) उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

चूँकि ब्रह्मा स्वयं कल्पनामय है, अतएव उसका और उसकी सृष्टिका बाध होना युक्तियुक्त है, इस आशयसे कहती हैं—'एवम्०' इत्यादिसे ।

जगत्के इस प्रकार उदित होनेपर भी कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही स्थित है ॥ २० ॥

पूर्व अनुभवसे उत्पन्न संस्कारसे जनित अथवा अनादि अविद्याशक्तिरूप अन्य वासनासे उत्पन्न हिरण्यगर्भकी अथवा अन्य किसीकी स्मृतिरूप इस सृष्टिका कारण परमपद (मायाशबल ब्रह्म) है । शुद्ध ब्रह्ममें तो कार्यकारणभाव आदि भेदका गन्ध भी नहीं है, ऐसा कहती हैं—'कार्यम्' इत्यादिसे । चिदाकाशमें यह कार्यकारणभाव एक ही है यानी अभिन्न ही है । भाव यह कि शुद्ध चिद्में कार्य-कारणभावका गन्ध भी नहीं है ॥ २१ ॥

कार्य-कारणविकल्प अविचाररूप माया द्वारा किया गया है, विचार करनेपर

महाचिद्रूपमेव त्वं स्मरणं विद्धि वेदनम्।
कार्यकारणता तेन स शब्दो न च वास्तवः ॥ २३ ॥

उसका बाध हो जाता है, यह दर्शानेके लिए विचार करती हैं—**'कार्यम्'** इत्यादिसे।

कार्य (पट आदि) और कारण (तन्तु आदि) ताना, वाना आदि सहकारी कारणोंसे होंगे, क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें यदि वे उपकारक न होंगे, तो सहकारी कारण ही क्यों कहलायेंगे ? उपकाररूप कार्य भी वैसे ही सहकारी कारणोंसे होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। उक्त अनवस्था दोषवश उपकार न होनेसे कार्य-कारणभावका बाध होनेपर कार्यकारण-कल्पनाके अधिष्ठानभूत तन्तु आदिका अभेद शान्त नहीं होता, क्योंकि भेदका कारण कोई नहीं है ॥ २२ ॥

युक्तिसे ऐसा भले ही हो, पर यह बात अनुभवमें कैसे आरूढ़ हो सकती है, उसके लिए श्रीदेवीजी प्रत्यग्दृष्टिका व्युत्पादन करती हैं—**'महाचिद्रूप०'** इत्यादिसे।

'स्मर्यतेऽनेन इति स्मरणम्' इस व्युत्पत्तिसे स्मरण चित्संवलित व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण है, उसीको आप वेदन जानिये और वह मायाशबल ईश्वरका कार्य है। वहांपर मायोपाधि और अन्तःकरणोपाधिका भेद प्रतीत होनेपर उससे उपहित अधिष्ठानरूप सन्मात्रमें भी भेदकल्पना होनेसे कार्यके अस्तित्वका जन्म कारणसत्ताके अधीन है, इस भ्रमसे पूर्व अवस्थावाले सद्रूप कारणको यह उत्तरा-वस्थावाला कार्य है, ऐसा जो तुम जानती हो, वैसा जानना ठीक नहीं है, किन्तु माया और उसके कार्यकी उपेक्षा कर उन दोनोंमें अनुगत सन्मात्र महाचिद्रूपका ही स्मरण (वेदन) जानो। उस पूर्वोक्त लक्षणवाले प्रत्यग्दर्शनसे कार्यकारणता तो बाधित हो गई, बच गया केवल कार्य और कारण शब्द। वह भी इस दृष्टिसे देखनेपर वास्तव नहीं है। इस प्रत्यग्दृष्टिका स्वाराज्यसिद्धिमें खूब स्पष्टरूपसे उपपादन किया गया है—

पिण्डावस्थाघटत्वे मनसि कलयतो हेतुकार्यत्वधीः स्यात्
मृन्मात्रं यद्वदेकं स्फुटमभिमृशतो नैव हेतुर्न कार्यम्।
तद्वन्मायिप्रपञ्चौ झटिति कलयतो ब्रह्म विश्वस्य हेतुः
सन्मात्रं त्वेकरूपं पटु परिमृशतो नैव मायी न विश्वम् ॥

(जैसे मनमें मृत्पिण्ड और घटत्वका ग्रहण (ध्यान) कर रहे पुरुषकी हेतुत्व और कार्यत्व बुद्धि होती है, केवल मृत्-पिण्डका ही ध्यान कर रहे पुरुषकी दृष्टिमें न

एवं न किञ्चिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि ।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥ २४ ॥

लीलोवाच

अहो नु परमा दृष्टिर्दर्शिता देवि मे त्वया ।
रूपश्रीर्जागती प्रातःप्रभयेवेक्षणद्युतिः ॥ २५ ॥
इदानीमहमेतस्यां यावत्परिणता दृशि ।
नाऽभ्यासेन विना तावद्छिन्धीदं देवि कौतुकम् ॥ २६ ॥
यत्राऽसौ ब्राह्मणो गेहे ब्राह्मण्या सहितोऽभवत् ।
तं सर्गं तं गिरिग्रामं नय मां तं विलोकये ॥ २७ ॥

कार्य है और कारण है, वैसे ही मायावान् और प्रपञ्चका ध्यान कर रहे पुरुषकी दृष्टिमें ब्रह्म विश्वका हेतु है, यह प्रतीति होती है, एकरूप सन्मात्रका ध्यान कर रहे पुरुषकी दृष्टिमें न मायावान् है और न विश्व ही है ।)

वार्तिकमें भी कहा है—

'तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि ।
उक्तेऽर्थे संशयश्चेत् स्यात् प्रत्यग्दृष्ट्या निरीक्ष्यताम् ॥'

(इसलिए संसार प्रत्यगात्मामें संभावनामात्र है । उक्त अर्थके विषयमें यदि सन्देह हो तो प्रत्यक्-दृष्टिसे देखिये ।) इत्यादि ॥ २३ ॥

इस प्रकार प्रपञ्चाभाव अक्षुण्ण स्थित है, यों उपसंहार करती हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस तरह कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूपसे प्रतीत होता है, यह भी चित् ही है । केवल चिदाकाश स्वात्मभूत चिदाकाशमें स्थित है, क्योंकि 'स्वे महिम्नि स्थितः' (अपने स्वरूपमें स्थित है) ऐसी श्रुति है ॥२४॥

प्रत्यग्-दृष्टिसे प्रबुद्ध हुई लीलाने कहा—**'अहो'** इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवी, जैसे प्रातःकालकी प्रभा लोगोंको जगत्की स्फुटरूप शोभा दिखलाती है, वैसे ही आपने मुझे बड़ी श्रेष्ठ दृष्टि दिखलाई है । इस समय जब तक मैं अभ्यास न होनेके कारण इस दृष्टिमें दृढ़ व्युत्पत्ति प्राप्त न कर लूँ, तबतक आप मेरी इस उत्कण्ठाको नष्ट कीजिये ॥ २५, २६ ॥

हे देवी, जिस घरमें वह ब्राह्मण ब्राह्मणीके साथ हुआ था, उस सृष्टिमें, पर्वतीय ग्राममें मुझे ले चलिये, उसे मैं देखती हूँ ॥ २७ ॥

श्रीदेव्युवाच

अचेत्यचिद्रूपमयीं परमां पावनीं दृशम् ।
अवलम्ब्येममाकारमवमुच्य भवाऽमला ॥ २८ ॥
ततः प्राप्स्यस्यसन्देहं व्योमात्मानं नभःस्थितम् ।
भूमिष्ठनरसंकल्पो गगनान्तःपुरं यथा ॥ २९ ॥
एवं स्थिते तं पश्यावः सह सर्गमनर्गलम् ।
अयं तद्दर्शनद्वारे देहो हि परमार्गलम् ॥ ३० ॥

लीलोवाच

अमुना देवि देहेन जगदन्यदवाप्यते ।
न कस्मादत्र मे युक्तिं कथयाऽनुग्रहाग्रहात् ॥ ३१ ॥

श्रीदेव्युवाच

जगन्तीमान्यमूर्तानि मूर्तिमन्ति मुधाग्रहात् ।
भवद्भिरवबुद्धानि हेमानीवोर्मिकाधिया ॥ ३२ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—सुन्दरी, परम पवित्र जो चेत्यशून्य चिन्मय दृष्टि (कारण ब्रह्मरूपता) है, उसका अवलम्बन कर इस आकारका त्याग कर निर्मल होओ। भाव यह कि उसके अवलोकनके लिए समाधि द्वारा पहलेकी नाईं इस शरीरका भूल जाना परम आवश्यक है। तदनन्तर तुम मायाकाशरूप चिदाकाशमें स्थित उस सृष्टिको अवश्य प्राप्त होओगी जो कि भूमिमें स्थित मनुष्योंके सङ्कल्प (मनोरथ) की नाईं और आकाशके अन्तःपुरकी नाईं है ॥ २८, २९ ॥

तुम्हारे पूर्वोक्त प्रकारसे निर्मल होनेपर हम दोनों साथ-साथ किसी प्रकारके प्रतिबन्धसे शून्य उस सृष्टिको देखेंगे। उस सृष्टिके दर्शनरूप महलके द्वारमें यह शरीर बड़ा भारी प्रतिबन्धक है, इस शरीरके रहते उसका दर्शन कदापि नहीं हो सकता, यह भाव है ॥ ३० ॥

लीलाने कहा—हे देवी, इस शरीरसे दूसरी सृष्टि क्यों प्राप्त नहीं होती? इसमें क्या युक्ति है? इस बातको कृपाकर आप मुझसे कहिये ॥ ३१ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—वत्से, ये जगत् मायामय होनेके कारण अमूर्त हैं, लेकिन मिथ्याज्ञानसे आप लोग इन्हें मूर्तिमान् मान बैठे हैं जैसे कि सुवर्णको लोग अँगूठी समझ लेते हैं। जैसे अङ्गुलीयक (अँगूठी) का आकार धारण किये

हेम्न्यूर्मिका रूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते ।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नाऽस्ति च ब्रह्मणि ॥ ३३ ॥
जगदाकाशमेवेदं ब्रह्मैवेह तु दृश्यते ।
दृश्यते काचिदप्यत्र धूलिरम्बुनिधाविव ॥ ३४ ॥
अयं प्रपञ्चो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमद्वयम् ।
अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्तथा ॥ ३५ ॥
ब्रह्मैव पश्यति ब्रह्म नाऽब्रह्म ब्रह्म पश्यति ।
सर्गादिनाम्ना प्रथितः स्वभावोऽस्यैव चेदृशः ॥ ३६ ॥
न ब्रह्म जगतामस्ति कार्यकारणतोदयः ।
कारणानामभावेन सर्वेषां सहकारिणाम् ॥ ३७ ॥
यावदभ्यासयोगेन न शान्ता भेदधीस्तव ।
नूनं तावदतद्रूपा न ब्रह्म परिपश्यसि ॥ ३८ ॥

हुए सुवर्णमें अङ्गुलीयकत्व (अँगूठीपना) नहीं है वैसे ही जगत्का रूप धारण किये हुए ब्रह्ममें भी जगत् नहीं है। यह जगत् आकाश (शून्य) ही है, यहांपर जो कुछ दिखलाई देता है, वह ब्रह्म ही है, जैसे धूलिके विरोधी समुद्रमें प्रतिबिम्बरूप धूलि दिखलाई देती है वैसे ही ब्रह्ममें भ्रमवश माया दिखाई देती है ॥ ३२–३४ ॥

उक्त अर्थमें प्रमाणोंकी असंभावनाका मूलोच्छेद करनेके लिए दृढ़तर प्रमाणोंको दिखलाते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च झूठा है और सत्य है अद्वितीय आत्मरूप ब्रह्म । इस विषयमें उपनिषत् वाक्य, गुरुजन और अपना अनुभव प्रमाण है ॥ ३५ ॥

ब्रह्म ही ब्रह्मको देखता ब्रह्मसे भिन्न कदापि ब्रह्मको नहीं देख सकता, ब्रह्मकी ही इस प्रकारकी यह आवृत-सत्ता सृष्टिके नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुई है ॥ ३६ ॥

ब्रह्म और जगतोंकी कारणता और कार्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण सहकारी कारणोंका अभाव है ॥ ३७ ॥

अभ्यास न होनेके कारण जबतक तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, तबतक तुम निश्चय अब्रह्मरूप (ब्रह्मभिन्न देह आदिमें आत्मबुद्धि करनेके कारण देह आदिरूप) हो, अतएव तुम ब्रह्मको नहीं देख सकती ॥ ३८ ॥

तत्र रूढिमुपायाता य इमे त्वस्मदादयः ।
अभ्यासाद् ब्रह्मसंपत्तेः पश्यामस्ते हि तत्परम् ॥ ३९ ॥
सङ्कल्पनगरस्यैव ममाऽऽकाशमयं वपुः ।
ब्रह्मैव चाऽन्तः पश्यामि देहेनाऽनेन तत्पदम् ॥ ४० ॥
विशुद्धज्ञानदेहार्हास्तथैते पद्मजादयः ।
ब्रह्मात्मजगदादीनामंशे संस्थानमङ्गने ॥ ४१ ॥
तवाऽभ्यासं विना बाले नाऽऽकारो ब्रह्मतां गतः ।
स्थितः कलनरूपात्मा तेन तन्नाऽनुपश्यसि ॥ ४२ ॥
यत्र स्वसंकल्पपुरं स्वदेहेन न लभ्यते ।
तत्राऽन्यसङ्कल्पपुरं देहोऽन्यो लभते कथम् ॥ ४३ ॥

ब्रह्मज्ञानका बार-बार अभ्यास करनेके कारण उक्त अर्थमें (ब्रह्माद्वैतमें) जो अत्यन्त व्युत्पन्न हो गये हैं, ऐसे हम लोग उस परम पदका साक्षात्कार करते हैं ॥३९॥

मनोरथसे गढ़े गये नगरके समान मेरा शरीर आकाशमय (शुद्धचित्ताकाशमय) है, इस देहसे मैं ब्रह्मरूपी उस परम पदको अपने अन्तःकरणमें ही देखती हूँ ॥४०॥

भद्रे, जैसे मैं देखती हूँ, वैसे ही ये ब्रह्मा आदि भी विशुद्ध चित्तरूपी देहसे ब्रह्मदर्शनके योग्य हैं, वे ब्रह्मरूप जगत् और जगत्के व्यवहारोंकी ब्रह्मके एक देशमें स्थिति देखते हैं, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (उसका एक हिस्सा सम्पूर्ण भूत हैं और अमृत तीन भाग द्योतनात्मक स्वस्वरूपमें हैं) ऐसी श्रुति है ॥ ४१ ॥

यह देह केवल अन्य सृष्टिके दरवाजेपर जानेमें ही प्रतिबन्धक नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञानका भी प्रतिबन्धक है, ऐसा कहती हैं—'तवा०' इत्यादिसे ।

बेटी, अभ्यास न होनेके कारण ब्रह्मरूपताको प्राप्त न हुआ तुम्हारा आकार कलनस्वरूप (कलन यानी अन्तःकरणमें जो चिदाभास तत्स्वरूप) स्थित है, अतएव तुम प्रकरणप्राप्त ब्रह्मको और उक्त पर्वतीय ग्रामको नहीं देखती हो ॥४२॥

इस देहसे उसकी जो प्राप्ति नहीं होती, उसमें हेतु है, उसका संकल्पजन्य होना इस बातको कैमुतिक न्यायसे दृढ़ करती हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जब अपने सङ्कल्पसे (मनोरथसे) निर्मित नगर अपने शरीरसे प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरेके सङ्कल्पसे विरचित नगरको अन्य देह कैसे प्राप्त करेगी ? यानी यह संभव नहीं है ॥ ४३ ॥

तस्मादेनं परित्यज्य देहं चिद्व्योमरूपिणी ।
तद् द्रक्ष्यसि तदेवाऽऽशु कुरु कार्यविदांवरे ॥ ४४ ॥
संकल्पनगरं सत्यं यथासङ्कल्पितं प्रति ।
सदेहं वा विदेहं वा नेतरं प्रति किञ्चन ॥ ४५ ॥
आदिसर्गे जगद्भ्रान्तिर्यथेयं स्थितिमागता ।
तथा तदाप्रभृत्येवं नियतिः प्रौढ़िमागता ॥ ४६ ॥

लीलोवाच

त्वयोक्तं देवि गच्छावो ब्राह्मणब्राह्मणीजगत् ।
सहेतीदमिदं वच्मि कथं गन्तव्यम्ब हे ॥ ४७ ॥
इमं देहमिहाऽऽस्थाप्य शुद्धसत्त्वानुपातिना ।
चेतसा तं परं यामि लोकं त्वं कथं मेषि तत् ॥ ४८ ॥

हे कार्यज्ञोंमें श्रेष्ठ सुन्दरी, इसलिए इस देहका परित्याग कर तुम चिद्व्योम-रूपिणी हो जाओ । चिद्व्योमरूपिणी होकर तुम तुरन्त उसको देखोगी, अतएव तुम शीघ्र वही कार्य करो ॥ ४४ ॥

देहसे साध्य अथवा देहसे असाध्य जो सङ्कल्प नगरका व्यवहार उसके उपभोगके प्रति सङ्कल्पनगर सत्य है, यानी व्यवहारक्षम है । पर देहसे साध्य अथवा देहसे असाध्य अन्य किसी व्यवहारके लिए सत्य नहीं है ॥ ४५ ॥

ब्रह्माके सङ्कल्पसे उत्पन्न इस जगत्का हमारे सङ्कल्पसे जनित (साङ्कल्पिक) नगरसे कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सङ्कल्पजन्यत्व दोनोंमें समान ही है फिर उनमें परस्पर विलक्षणता कैसे हो गई ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अनादि नियतिरूप ईश्वरकी इच्छास्वरूप मायाशक्तिसे उनमें विलक्षणता हुई है, ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं—'आदि सर्गे' इत्यादिसे ।

प्रथम सृष्टिमें यह जगत्भ्रान्ति जैसी दृढ़ताको प्राप्त हुई थी, तभीसे लेकर यह ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति वैसे ही दृढ़ताको प्राप्त हुई है, भाव यह कि हमारे द्वारा संकल्पित नगर और ब्रह्मा द्वारा संकल्पित जगत्की विलक्षणतामें अनादि ईश्वरेच्छा-रूप मायाशक्ति ही हेतु है ॥ ४६ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जगत्में तुम और हम साथ ही जाते हैं, पर माता, मैं पूछती हूँ कि हम लोग साथ-साथ

श्रीदेव्युवाच

सङ्कल्पव्योमवृक्षस्ते यथा सन्नपि खात्मकः ।
न कुड्यात्मा न कुड्येन रोध्यते नाऽपि कुड्यहा ॥ ४९ ॥
शुद्धैकसत्त्वनिर्माणं चिद्रूपस्यैव तत्किल ।
प्रतिभानमतस्तस्मात् परस्माद्भिद्यते मनाक् ॥ ५० ॥
सोऽयमेतादृशो देहो नैनं संत्यज्य याम्यहम् ।
अनेनैव तमाप्नोमि देशं गन्धमिवाऽनिलः ॥ ५१ ॥
यथा जलं जलेनाऽग्निरग्निना वायुनाऽनिलः ।
मिलत्येवमतो देहो देहैरन्यैर्मनोमयैः ॥ ५२ ॥

कैसे जावेंगे । इस शरीरको यहाँपर रखकर शुद्ध सत्त्वका अनुसरण करनेवाले चित्तसे मैं उस आकाशमय सृष्टिमें जाऊँगी, पर आप अपनी इस देहसे वहाँ कैसे जावेंगी ? ॥ ४७, ४८ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, जैसे तुम्हारा सङ्कल्पमय आकाशवृक्ष साङ्कल्पिक सत्तासे सत् होता हुआ भी वास्तविक सत्तासे शून्यात्मक ही है, न वह आवरण करनेवाले कुड्य (भीत) आदिकी नाईं मूर्त्तिमान् है, न वह आवरणसे रोका जा सकता है और न आवरणभूत कुड्यका भेदक है, क्योंकि शून्यस्वरूप जो ठहरा । शुद्ध सत्त्वगुणका कार्य हमारा शरीर आदि चिद्रूपका ही वैसा (शरीराकार) प्रतिभान है, इस कारण परब्रह्मसे तनिक ही उसमें भेद है । जैसे जले हुए वस्त्रमें वस्त्राकार वस्तुतः उसका भस्म ही है वैसे ही अस्मद्देहाकार वस्तुतः ब्रह्म ही है, यह भाव है ॥ ४९, ५० ॥

मेरा यह शरीर इस प्रकारका है, अतएव तुम्हारी नाईं इसका परित्याग करके मैं नहीं जाती हूँ । जैसे वायु गन्धको प्राप्त होती है वैसे ही इसी देहसे मैं ब्राह्मण-ब्राह्मणीके उस प्रदेशको प्राप्त होऊँगी ॥ ५१ ॥

यदि ऐसी बात है तो मेरे पतिकी सङ्कल्पजनित सृष्टिसे इसका (मेरी देहका) संयोग कैसे हुआ, इसपर देवीजी कहती हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जल जलमें मिल जाता है, अग्नि अग्निसे मिल जाती है, वायु वायुसे मिल जाती है; वैसे ही यह तुम्हारी देह मनोमय देहोंसे और अन्य वस्तुओंसे मिल जाती है ॥ ५२ ॥

नहि पार्थिवतासंविदेत्यपार्थिवसंविदा ।
एकत्वं कल्पनाशैलशैलयोः क्वाऽऽहतिर्मिथः ॥ ५३ ॥
आतिवाहिक एवाऽयं त्वादृशैश्चित्तदेहकः ।
आधिभौतिकताबुद्ध्या गृहीतश्चिरभावनात् ॥ ५४ ॥
यथा स्वप्ने यथा दीर्घकालध्याने यथा भ्रमे ।
यथा च सति सङ्कल्पे यथा गन्धर्वपत्तने ॥ ५५ ॥
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति ।
तदाऽऽतिवाहिको भावः पुनरेष्यति देहके ॥ ५६ ॥

तब तो मेरा शरीर भी वस्तुतः मनोमात्र होनेसे आपके शरीरका सजातीय ही ठहरा, इसलिए आपके शरीरसे अभिन्न होकर या आपके शरीरसे संयुक्त होकर वहाँ क्यों नहीं जा सकता है ? इसपर कहती हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

पृथिवीका विकार पार्थिव कहलाता है, पार्थिवत्वसे जो जाना जाय वह पार्थिवत्वसंवित् है, यानी तुम्हारा शरीर वह अपार्थिव संवित् यानी उससे विरुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मेरे शरीरसे कदापि अभेद या संयोगको प्राप्त नहीं हो सकता । क्या काल्पनिक पर्वत और सत्य पर्वतका परस्पर आघात (टकराना) कहीं हो सकता है ? कहीं नहीं ॥ ५३ ॥

मेरा शरीर भी तो मानस ही है, इसके मानस होनेसे यह पार्थिव कैसे ? इसपर कहती हैं—'अतिवाहक' इत्यादिसे ।

तुम्हारा यह चित्तमय शरीर आतिवाहिक ही है । जैसे स्वप्नमें, दीर्घकालिक ध्यानमें, भ्रममें सङ्कल्प होनेपर और गन्धर्वनगरमें आतिवाहक चित्तमय पदार्थ आधिभौतिकरूपसे प्रतीत होता है, वैसे ही तुम्हारे सरीखे लोग आतिवाहक चित्तमय देहको चिरकालके अभ्याससे आधिभौतिक समझ बैठे हैं ॥ ५४,५५ ॥

तो कब इसके पार्थिवभावकी (पृथिवी विकारताकी) निवृत्ति होगी ? इस प्रश्नपर देवीजी कहती हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

जब समाधिके अभ्याससे तुम्हारी वासना अल्प हो जायगी, तब फिर आतिवाहिक भाव तुम्हारे शरीरमें प्राप्त होगा ॥ ५६ ॥

लीलोवाच

आतिवाहिकदेहत्वप्रत्यये घनतां गते ।
तामवाप्नोत्ययं देहो दशामाहो विनश्यति ॥ ५७ ॥

श्रीदेव्युवाच

यदस्ति नाम तत्रैव नाशानाशक्रमो भवेत् ।
वस्तुतो यच्च नाऽस्त्येव नाशः स्यात्तस्य कीदृशः ॥ ५८ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे नष्टे सत्यबोधवशात् सुते ।
सर्पो न नष्ट उन्नष्टो वेत्येवं कैव सा कथा ॥ ५९ ॥
यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते ।
तथाऽऽतिवाहिकज्ञानाद्दृश्यते नाऽऽधिभौतिकः ॥ ६० ॥

अन्य लोगोंके स्थूलदेहका नाश दिखलाई देता है, अतएव जीवन्मुक्तके शरीरका भी नाश ही संभावित है, उसके आतिवाहिक होनेकी संभावना नहीं है, इस आशयसे लीला पूछती है—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

समाधिके अभ्याससे जब 'हमारा शरीर आतिवाहिक (सूक्ष्म) है' यह प्रतीति दृढ़ हो जाती है, तब यह स्थूल देह उक्त सूक्ष्म दशाको (अतिवाहिकताको) प्राप्त होता है, अथवा विनष्ट हो जाता है ॥ ५७ ॥

तत्त्वज्ञानीका शरीर ज्ञानसे बाधित हो जाता है, अतः वह जले हुए वस्त्रके समान है ही नहीं । केवल पूर्वकालकी वासनामात्रसे वस्त्राभासकी नाईं प्रतीत होनेपर भी वासनाके और सूक्ष्म होनेपर उससे भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) को ही प्राप्त होता है, विनाशको प्राप्त नहीं होता, इस आशयसे देवीने उत्तर दिया—'यद्' इत्यादिसे ।

जो वस्तु है उसीमें नाश और नाशके अभावका क्रम होता है जो पदार्थ वास्तवमें है ही नहीं, उसका नाश कैसा ? ॥ ५८ ॥

बेटी, यथार्थज्ञान होनेसे रस्सीमें सर्पकी भ्रान्तिके निवृत्त होनेपर सर्पका विनाश नहीं हुआ और हुआ यह कथन क्या प्रयोजन रखता है यानी जब सर्प था ही नहीं तब उसके विनाश और अविनाशकी कथा काकदन्तगणनाके समान निष्फल है ॥ ५९ ॥

जैसे सत्यके परिज्ञानसे रज्जुमें सर्प नहीं दिखलाई देता वैसे आतिवाहिक शरीरके ज्ञानसे आधिभौतिक शरीर नहीं दिखाई देता ॥ ६० ॥

कल्पनाऽपि निवर्तेत कल्पिता यदि केनचित् ।
सा शिलासमुपास्तैव या नेहाऽस्ति कदाचन ॥ ६१ ॥
परं परे परापूर्णमिदं देहादिकं स्थितम् ।
इति सत्यं वयं भद्रे पश्यामो नाऽभिपश्यसि ॥ ६२ ॥
आदिसर्गे भवेच्चित्त्वं कल्पनाकल्पितं यदा ।
तदा ततःप्रभृत्येकसत्त्वं दृश्यमवेक्षते ॥ ६३ ॥

कल्पित दृश्य प्रपञ्च पहले था, ज्ञानसे उसकी समूल निवृत्ति हो गई है, इस प्रकारकी व्यवहार-कल्पना स्थूल दृष्टिसे ही होती है, तत्त्वदृष्टिसे तो उसकी भी संभावना नहीं है, ऐसा कहती हैं—'**कल्पना**' इत्यादिसे ।

कल्पना यदि किसीके द्वारा समर्थित हो, तो उसकी भी ज्ञानसे निवृत्ति हो जाती है, जो शिला है ही नहीं, उसका भी तो उपयोग किया ही गया है, काल्पनिक पदार्थोंका भी अज्ञानदशामें उपभोग देखा ही जाता है, ज्ञान होनेपर उनकी निवृत्ति हो जाती है, यह भाव है । गौड़पादाचार्यने भी कहा है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

(विकल्प—गुरु, शिष्य, शास्त्र आदि—निवृत्त हो जाता है, यदि वह किसीके द्वारा कल्पित हो । जैसे यह प्रपञ्च रज्जुसर्पके समान भ्रान्ति है वैसे ही शिष्य आदि भेद विकल्प भी भ्रम ही है, वह ज्ञानप्राप्तिसे पहले उपदेशके लिए उपात्त है, उपदेशार्थ यह वाद यानी शिष्य, शासक, शास्त्र आदि होता है, उपदेशके कार्यभूत ज्ञानके उत्पन्न होनेके उपरान्त तत्त्वके ज्ञात होनेपर द्वैत नहीं रहता) ॥६१॥

तब आप लोग अपने शरीरको कैसे देखते हैं, यह प्रश्न होनेपर देवीजी कहती हैं—'**परम्**' इत्यादिसे ।

परम ब्रह्मसे परिपूर्ण ये देह आदि पांच कोश, जो कि एक एकके अन्दर प्रविष्ट होकर स्थित हैं, वे अपनी उत्कृष्ट महिमामें स्थित परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा हम लोग विना किसी विघ्नबाधाके देखते हैं । हे भद्रे, तुम ऐसा नहीं देखती हो, क्योंकि तुम्हें अभी दृढ़ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है ॥ ६२ ॥

यदि शङ्का हो कि चित् तो अदृश्य है, यह दृश्य सत्त्वरूपताको कैसे प्राप्त हुई, तो इसपर कहते हैं—'**आदिसर्गे**' इत्यादिसे ।

लीलोवाच

एकस्मिन्नेव संशान्ते दिक्कालाद्यविभागिनि ।
विद्यमाने परे तत्त्वे कलनावसरः कुतः ॥ ६४ ॥

श्रीदेव्युवाच

कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथाऽम्भसि ।
सत्यत्वं च यथा स्वप्नसङ्कल्पनगरादिषु ॥ ६५ ॥
नाऽस्त्येव सत्यनुभवे तथा नाऽस्त्येव ब्रह्मणि ।
कल्पनाव्यतिरिक्तात्मतत्स्वभावादनामयात् ॥ ६६ ॥

लिङ्गात्माकी (हिरण्यगर्भकी) सृष्टिमें उसे दर्शनका विषय बना रही चितिका चित्त्व धर्म होता है । जब पञ्चीकरणके द्वारा कल्पनासे स्थूलरूपकी कल्पना हुई तब तभीसे लेकर एक अनुगत सत्त्व दृश्यके अनुरोधसे स्वयं भी दृश्यभूत अपनेको भ्रान्तिसे देखता है ॥ ६३ ॥

जो पहले यह कहा था कि कलन नामक प्रथम विकारके अधीन ही तो सम्पूर्ण कल्पना होती है, उस कलनामें ही लीला अनुपपत्तिकी शङ्का करती है— 'एकस्मिन्नेव' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—देवी, देश और काल आदिके विभागसे रहित नित्य-विद्यमान परतत्त्वमें (ब्रह्ममें) कलन (ईक्षण) नामक प्रथम विकारका अवसर ही कहाँ है ? भाव यह है कि पूर्वकालमें स्थित दूध उत्तरकालमें दहीके आकारमें परिणत होता है । दही होनेपर दूध विद्यमान नहीं रहता देश-काल सम्बन्धशून्य नित्य विद्यमान ब्रह्ममें कलनका अवसर ही नहीं है ॥ ६४ ॥

तुमने ऊपर जो दोष कहा है, वह विकारको सत्य माननेपर ही होता है, मिथ्या माननेपर नहीं होता, इस प्रकार लीला द्वारा उपस्थापित दोषका देवीजी परिहार करती हैं—'कटकत्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्णमें कटकत्व (वलयत्व) नहीं ही है, जैसे जलमें तरङ्गत्व नहीं ही है और जैसे स्वप्नके नगर और मनोरथसे कल्पित नगर आदिमें सत्यता नहीं ही हैं, वैसे ही सत्-चित् आनन्द ब्रह्ममें कल्पनासे अतिरिक्त स्वरूप एवं निर्दोष उसके स्वभावसे पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है ॥ ६५, ६६ ॥

यथा नाऽस्त्यम्बरे पांसुः परे नाऽस्ति तथा कला ।
अकलाकलनं शान्तमिदमेकमजं ततम् ॥ ६७ ॥
यदिदं भासते किञ्चित्तत्तस्यैव निरामयम् ।
कचनं काचकस्येव कान्तस्याऽतिमणेरिव ॥ ६८ ॥

लीलोवाच

एतावन्तं चिरं कालमेते देवि वयं वद ।
भ्रामिताः केन नामापि द्वैताद्वैतविकल्पनैः ॥ ६९ ॥

श्रीदेव्युवाच

अविचारेण तरले भ्रान्ताऽसि चिरमाकुला ।
अविचारः स्वभावोत्थः स विचाराद्विनश्यति ॥ ७० ॥
अविचारो विचारेण निमेषादेव नश्यति ।
एषा सत्तैव तेनाऽन्तरविद्यैषा न विद्यते ॥ ७१ ॥

जैसे आकाशमें धूलि नहीं है वैसे ही पर ब्रह्ममें कलन नामक प्रथम विकार नहीं हैं। विषयशून्य, शान्त, अविनाशी अद्वितीय ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है ॥ ६७ ॥

जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्मका विशुद्ध विकास है। पर जैसे श्रेष्ठ चन्द्रकान्त मणिकी भ्रमवश काचकी नाईं प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मके विशुद्ध विकासकी दृश्यरूपसे प्रतीति हो रही है ॥ ६८ ॥

अब लीला उक्त भ्रमका कारण पूछती है—'एतावन्तम्' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवि, कृपाकर आप बतलाइए कि हम लोगोंको इतने सुदीर्घ कालतक किसने द्वैत और अद्वैतके विविध विकल्पों द्वारा भ्रममें डाल रक्खा है? ॥६९॥

विचारसे बाध्य होनेके कारण विचारविरोधी अविचारशब्दसे वाच्य मोहने ही उक्त भ्रममें लोगोंको डाल रक्खा है, यों देवी उसका समाधान करती हैं—**'अविचारेण'** इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—चञ्चले, तुम अविचारसे व्याकुल होकर चिर कालसे भ्रान्त हो। अविचार स्वभावसे उत्पन्न है, विचारसे उसका विनाश होता है। विचारसे अविचार पलकभरमें ही निवृत्त हो जाता है। यह (अविचाररूप) अविद्या विचारसे वाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है, इसलिए अविद्याका अस्तित्व नहीं है ॥ ७०, ७१ ॥

तस्मान्नैवाऽविचारोऽस्ति नाऽविद्याऽस्ति न बन्धनम् ।
न मोक्षोऽस्ति निराबाधं शुद्धबोधमिदं जगत् ॥ ७२ ॥

एतावन्तं यदा कालं त्वयैतन्न विचारितम् ।
तदा न संप्रबुद्धा त्वं भ्रान्तैवाऽभव आकुला ॥ ७३ ॥

अद्यप्रभृति बुद्धाऽसि विमुक्ताऽसि विवेकिनी ।
वासनातानवं बीजं पतितं तव चेतसि ॥ ७४ ॥

आदावेव हि नोत्पन्नं दृश्यं संसारनामकम् ।
यदा तदा कथं तेन वास्यन्ते वासनाऽपि का ॥ ७५ ॥

अत्यन्ताभावसंपत्तौ द्रष्टृदृश्यदृशां मनः ।
एकध्याने परे रूढे निर्विकल्पसमाधिनि ॥ ७६ ॥

वासनाक्षयबीजेऽस्मिन् किञ्चिदङ्कुरिते हृदि ।
क्रमान्नोदयमेष्यन्ति रागद्वेषादिका दृशः ॥ ७७ ॥

इसलिए न तो अविचार है, न अविद्या है, न बन्धन है और बन्धन न होनेसे न मोक्ष ही है, इसलिए यह जगत् केवल अबाधित शुद्ध बोध ही है ॥ ७२ ॥

इतने काल तक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिए तुम्हें बोध नहीं हुआ, अतएव तुम ब्रह्ममें भ्रमशालिनी हो, इसीलिए व्याकुल हो ॥ ७३ ॥

ज्ञानसे द्वैतवासनाका बाध होनेपर तत्त्ववासनाका शेष रहना ही वासनाकी अल्पता है, वही मुक्तिका बीज है, वह अब तुम्हारे चित्तमें पड़ गया है, अतएव विवेकशालिनी तुम आजसे प्रबुद्ध हो और विमुक्त हो ॥ ७४ ॥

यदि कोई कहे कि फिर द्वैतवासनाका अङ्कुर हो जायगा, तो उसपर कहती हैं—'आदावेव' इत्यादिसे ।

संसारनामक यह दृश्य पहले ही जब उत्पन्न नहीं हुआ तब लोग उससे वासित कैसे होंगे ? और वासना भी क्या है ? भाव यह कि न वासना है और न जगत् ही है, फिर वासनासे द्वैतका प्ररोह कैसे ? ॥ ७५ ॥

एकध्यानरूप परम निर्विकल्पक समाधिके मनमें आरूढ होनेपर, द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका अत्यन्ताभाव होनेपर, हृदयमें इस वासनाक्षयरूप बीजके कुछ अङ्कुरित होनेपर राग, द्वेष आदि दृष्टियां क्रमशः उदयको प्राप्त नहीं होंगी और

संसारसम्भवश्चाऽयं निर्मूलत्वमुपैष्यति ।
निर्विकल्पसमाधानं प्रतिष्ठामलमेष्यति ॥ ७८ ॥
विगतकलनकालिमाकलङ्का गगनकलान्तरनिर्मलाम्बनेन ।
सकलकलनकार्यकारणान्तः कतिपयकालवशाद् भविष्यसीति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
लीलाविश्रान्त्युपदेशो नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

यथा स्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहो न वास्तवः ।
अनुभूतोऽप्ययं तद्वद्वासनातानवादसन् ॥ १ ॥

संसारकी उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी एवं निर्विकल्पक समाधि परम स्थिरताको प्राप्त होगी ॥ ७६,७८ ॥

इस प्रकार निर्विकल्प समाधिके स्थिर होनेसे कुछ समयके बाद मायाकाश और उसके कार्योंके अधिष्ठानस्वरूप निर्मल आत्माके अवलम्बनसे (साक्षात्कारसे) तुम भ्रान्तिज्ञानरूप कालिमासे रहित अतएव कलङ्कशून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी भ्रान्तियोंका, उनकी कार्यभूत वासनाओंका और उनकी कारण अविद्याका अवसान-भूत (बाधके अवधिरूप) मोक्षरूप हीं जाओगी ॥ ७९ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

[तुरीय अवस्था, जीवन्मुक्तकी स्थिति, वासनाओंके क्षयका उपाय और उसके अभ्यासका प्रतिपादन]

परिपक्व ज्ञान होनेसे पूर्व कही गई स्थूलदेहताकी निवृत्ति और आतिवाहिकताकी प्राप्तिको दृष्टान्तों द्वारा बतलानेके लिए देवीजी प्रस्तुत होती हैं— ‘यथा’ इत्यादिसे ।

यथा स्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहः प्रशाम्यति ।
वासनातानवात् तद्वज्जाग्रद्देहोऽपि शाम्यति ॥ २ ॥
स्वप्नसङ्कल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा ।
तथा जाग्रद्भावनाऽन्ते उदेत्येवाऽऽतिवाहिकः ॥ ३ ॥
स्वप्ने निर्वासनाबीजे यथोदेति सुषुप्तता ।
जाग्रत्यवासनाबीजे तथोदेति विमुक्तता ॥ ४ ॥
येयं तु जीवन्मुक्तानां वासना सा न वासना ।
शुद्धसत्त्वाभिधानं तत् सत्तासामान्यमुच्यते ॥ ५ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, यद्यपि स्वप्नावस्थामें स्वप्नके शरीरका अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है, इस परिज्ञानसे जैसे स्वप्नदेह वास्तविक नहीं रहती, मिथ्या ठहरती है, वैसे ही यद्यपि इस स्थूलदेहका पहले अनुभव होता है, तथापि वासनाओंका क्षय होनेसे यह स्थूल शरीर असत् (बाधित) हो जाता ॥ १ ॥

जैसे स्वप्नके ज्ञानसे स्वप्नदेह लापता हो जाती है, वैसे ही वासनाओंके क्षीण होनेसे जाग्रद्देह (स्थूलदेह) भी शान्त हो जाती है, नष्ट हो जाती है ॥ २ ॥

जैसे स्वप्नमें प्रतीयमान स्वप्नदेहका और मनोरथ द्वारा कल्पित कल्पनामय देहका विनाश होनेपर इस देहका (जाग्रद्देहका) भान होता है, वैसे ही जाग्रद्-भावनाका (स्थूलदेहमें अहंभावनाका) समूल उच्छेद हो जानेपर आतिवाहिक देहका उदय होता है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्नावस्थाके वासनारूपी बीजसे *निर्मुक्त होनेपर सुषुप्तिका उदय होता है यानी जबतक स्वप्नमें वासना रहेगी, तबतक सुषुप्तिका आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही जाग्रदवस्थाके वासनारूपी बीजोंसे शून्य होनेपर जीवन्मुक्तिका उदय होता है ॥ ४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जीवन्मुक्तोंमें भी वासना है ही, क्योंकि यदि उनमें वासना न होती, तो उनका भोजन आदि व्यवहार ही नहीं बनता, इसपर कहते हैं—'येयम्' इत्यादिसे ।

---

* श्लोकस्थ 'निर्भुक्तवासनाबीजे' का अर्थ जिसमें वासनारूपी बीज स्पष्ट नहीं है यानी तिरोहित है, ऐसा करना चाहिए, न कि जिसमें वासनारूपी बीज उच्छिन्न हो गया है, ऐसा अर्थ करना चाहिए; क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे सुषुप्तिके अनन्तर पुनः स्वप्नकी प्राप्ति नहीं होगी । ऐसे ही अवासनाबीजका अर्थ भी बाधित है सम्पूर्ण वासनारूपी बीज जिसमें ऐसा करना चाहिए ।

या सुप्तवासना निद्रा सा सुषुप्तिरिति स्मृता ।
यत्सुप्तवासनं जाग्रद् घनोऽसौ मोह उच्यते ॥ ६ ॥

प्रक्षीणवासना निद्रा तुर्यशब्देन कथ्यते ।
जाग्रत्यपि भवत्येव विदिते परमे पदे ॥ ७ ॥

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ॥
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ ८ ॥

शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम् ।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाऽम्बुताम् ॥ ९ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषोंकी जो वासना है, वह वासना नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण शुद्ध वासनाओंके बाधके अवधि भूत अधिष्ठानसत्त्वका ही शुद्धवासना ही यह नाम है, जैसे कि 'जला हुआ कपड़ा' यह भस्मका ही नाम है। वह सम्पूर्ण वासनाओंमें अनुगत (अनुस्यूत) सामान्य सत्ता ही शुद्ध वासनारूपसे कही जाती है, यह भाव है ॥ ५ ॥

मूर्छा और सुषुप्तिमें अवान्तरभेद दर्शाते हैं—'या' इत्यादिसे ।

जिस निद्रामें वासनाओंका उद्भव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसका नाम सुषुप्ति है, जिस जागरणमें वासनाओंका आविर्भाव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसको घन मोह (मूर्छा) कहते हैं। भाव यह कि अनुद्भूतवासना निद्रा सुषुप्ति है और अभिभूतवासन जागरण मोह यानी मूर्छा है ॥ ६ ॥

जिसमें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, ऐसी निद्रा 'तुर्य' शब्दसे कही जाती है, यहांपर 'निद्रा' पदकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि जागरणावस्थामें भी परम पदका ज्ञान होनेपर और ज्ञानसे समूल वासनाओंका विनाश होनेपर तुर्यावस्था होती ही है ॥ ७ ॥

जीवित पुरुषोंकी वह जीवनावस्था जिसमें कि वासनाओंका सर्वथा अभाव रहता है जीवन्मुक्ति कहलाती है, उसे अमुक्त (बद्ध) पुरुष नहीं जान पाते हैं ॥८॥

जैसे सूर्यके तापसे बर्फ जलरूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही शुद्ध वासनाओंके अवधि अधिष्ठानभूत सत्त्वमें संलग्न यानी समाधिके अभ्याससे चिरकालतक उसमें स्थित तथा क्षीणवासनावाला मन आतिवाहिकताको (सूक्ष्मताको) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

आतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः ।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत् ॥ १० ॥
यदा तेऽयमहंभावः स्वभ्यासाच्छान्तिमेष्यति ।
तदोदेष्यति ते स्फारा दृश्यान्ता बोधता स्वयम् ॥ ११ ॥
आतिवाहिकताज्ञानं स्थितिमेष्यति शाश्वतीम् ।
यदा तदा ह्यसङ्कल्पाँल्लोकान् द्रक्ष्यसि पावनान् ॥ १२ ॥
वासनातानवे तस्मात्कुरु यत्नमनिन्दिते ।
तस्मिन्प्रौढिमुपायाते जीवन्मुक्ता भविष्यसि ॥ १३ ॥
यावन्न पूरितस्त्वेष शीतलो बोधचन्द्रमाः ।
तावद्देहमवस्थाप्य लोकान्तरमवेक्ष्यताम् ॥ १४ ॥
मांसदेहो मांसदेहेनैव संश्लेषमेष्यति ।
न तु चित्तशरीरेण व्यवहारेषु कर्मसु ॥ १५ ॥

आतिवाहिकताको प्राप्त, व्युत्थानकालमें और व्यवहारकालमें भी आत्मज्ञान-सम्पन्न मन अन्यान्य सृष्टियोंके और अन्यान्य जन्मोंके चित्तोंसे और देव आदिके योग्य शरीरोंसे एकरूपमें मिल जाता है, जो मन आतिवाहकताको प्राप्त नहीं है और सदा ज्ञानसम्पन्न नहीं है, वह उनसे नहीं मिलता ॥ १० ॥

खूब अभ्यास करनेसे जब तुम्हारा यह अहंभाव (अहङ्कार) शान्त हो जायगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चिद्रूपता, जो कि दृश्य प्रपञ्चकी चरम अवधि-भूत है, उदित हो जायगी ॥ ११ ॥

जब तुम्हारा आतिवाहिकताज्ञान सर्वदाके लिए स्थायी हो जायगा, तब तुम सङ्कल्पसे अदूषित अतएव पवित्र लोकोंको देखोगी ॥ १२ ॥

भद्रे, इसलिए तुम वासनाओंका जैसे क्षय हो वैसा प्रयत्न करो। जब तुम्हारा वासनाक्षय चरम सीमाको प्राप्त हो जायगा, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी ॥१३॥

पूर्वोक्त पर्वतका जो छोटा-सा गाँव है, उसको देखनेकी इच्छासे प्रतिबद्ध चित्तमें बोधकी पूर्ति या वासनाओंके क्षयार्थ अभ्यास नहीं हो सकता है, इस आशयसे कहती हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जब तक तुम्हारा यह अतिशीतल (शान्तिप्रद) बोधरूपी चन्द्रमा पूर्ण नहीं होता, तब तक तुम इस देहको रखकर अन्यान्य लोकोंको देखो ॥ १४ ॥

मेरी देहका अवस्थापन किस लिए किया जाय, आपकी देहके संसर्गसे यह भी

यथानुभवमेवैतद् यथास्थितमुदाहृतम् ।
आबालसिद्धसंसिद्धं न नाम वरशापवत् ॥ १६ ॥
अवबोधघनाभ्यासाद्देहस्याऽस्यैव जायते ।
संसारवासनाकार्श्ये नूनं चित्तशरीरता ॥ १७ ॥
उदेष्यन्ती च सैवाऽत्र केनचिन्नोपलक्ष्यते ।
केवलं तु जनैर्देहो म्रियमाणोऽवलोक्यते ॥ १८ ॥

क्यों नहीं जा सकती ? इस शङ्कापर देवीजी कहती हैं—'**मांस०**' इत्यादिसे ।

व्यवहारोंमें अथवा गमन आदि कर्मोंमें मांसनिर्मित देह मांसनिर्मित देहसे ही संयोगको प्राप्त हो सकती है, मांसदेह चित्तशरीरसे कदापि सम्बन्धको प्राप्त नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

क्या वरदानकी नाईं या शापकी नाईं आपके वचनसे ही मेरा माँसमय शरीर आपके शरीरसे सम्बन्धको प्राप्त होगा ? इस शङ्कापर श्रीदेवीजी नहीं, ऐसा समाधान करती हैं—'**यथा०**' इत्यादिसे ।

अत्यन्त अनभिज्ञ बालकोंसे लेकर सिद्ध पुरुषों तक प्रसिद्ध सबके अनुभवसे सिद्ध यथास्थित अर्थका ही मैंने अनुवाद किया है, वर और शापकी नाईं किसी अपूर्व अर्थका जबरदस्ती प्रतिपादन नहीं किया है ॥ १६ ॥

यदि वस्तुका स्वभाव, जो कि लोकसिद्ध है, विपरीत नहीं हो सकता, तो वासनाओंके क्षीण होनेपर भी इस स्थूलदेहकी आतिवाहिकताकी सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसी शङ्का कर श्रीदेवीजी कहती हैं—'**अवबोध०**' इत्यादिसे ।

ज्ञानके प्रचुर अभ्याससे सांसारिक वासनाओंका विनाश होनेपर यही स्थूल देह चित्तशरीर यानी आतिवाहिकशरीर हो जाती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १७ ॥

जीवोंका परलोकगमन भी आतिवाहिक देहसे होता है, यह प्रसिद्ध है, मृत स्थूलदेहकी तो यहींपर स्थिति देखी जाती है, ऐसी अवस्थामें यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक ही कालमें एक ही जीवका आतिवाहिकभावसे जीवन हो और स्थूलभावसे मरण हो ? ऐसी शङ्का कर श्रीदेवीजी इसका समाधान करती हैं—'**उदेष्यन्ती**' इत्यादिसे ।

मरणकालमें इसी देहमें उदित होनेवाली उक्त आतिवाहिकताको न तो

देहस्त्वयं न म्रियते न च जीवति किञ्च ते।
के किल स्वप्नसङ्कल्पभ्रान्तौ मरणजीविते ॥ १९ ॥
जीवितं मरणं चैव सङ्कल्पपुरुषे यथा।
असत्यमेव भात्येवं तस्मिन् पुत्रि शरीरके ॥ २० ॥

लीलोवाच

तदेतदुपदिष्टं मे ज्ञानं देवि त्वयाऽमलम्।
यस्मिन् श्रुतिगते शान्तिमेति दृश्यविषूचिका ॥ २१ ॥

कोई मरनेवाला देखता है और न जीवित ही देखता है, क्योंकि 'तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामादाया०' (जैसे सुवर्णकार सुवर्णका टुकड़ा काटकर पहलेकी रचनासे नवीन अच्छीसे अच्छी दूसरी शक्ल बनाता है, वैसे ही परलोक जानेका इच्छुक यह आत्मा भी इस वर्तमान शरीरको नष्टकर, अचेतनताको प्राप्तकर पितृ-लोकगमनोपयोगी, गन्धर्वलोकगमनोपयोगी या देवसम्बन्धी या प्रजापतिलोक-प्रापक अथवा ब्रह्मप्रापक या अन्य भूतोंके सम्बन्धी दूसरे नूतन शरीरको बनाता है) ऐसी श्रुति है। उक्त श्रुतिके अनुसार पारलौकिक देहनिर्माणके लिए मर रहे पुरुषका अपने अज्ञानसे कल्पित देहारम्भक भूतोंके अंशोंसे संवलित होकर ही परलोकमें गमन होता है, अतः उन मात्राओंका भी, जो कि उसको नहीं दिखाई देतीं, आतिवाहिकभावसे विरोध नहीं है। अज्ञानसे कल्पित पञ्चभूतमात्रका अंश जो अज्ञानशरीर है, उसको और लोग मरता हुआ देखते हैं। यह अवास्तविक देह न तो मरती है और न जीती है। स्वप्न और सङ्कल्पके भ्रममें मरण और जीवन क्या हैं ? यानी उनमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है, वे भ्रममात्र हैं। इसलिए इस विषयमें विरोध है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ १८,१९ ॥

जैसे मनोरथसे कल्पित पुरुषमें जीवन और मरण असत्य ही है। भाव यह कि संकल्पकल्पित पुरुष ही जब वास्तिविक नहीं है, तब उसके मरण और जीवनकी वास्तविकताकी क्या कथा है ? वैसे ही बेटी, उस शरीरमें भी मरण और जीवन अवास्तविक ही प्रतीत होते हैं ॥ २० ॥

लीलाने कहा—देवी, आपने मुझे उस निर्मल ज्ञानका उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्रसे ही दृश्यरूपी महामारी शान्त हो जाती है। माँ, इस

अत्रोपकुरु मे ब्रूहि कोऽभ्यासः कीदृशोऽथवा ।
स कथं पोषमायाति पुष्टे तस्मिंश्च किं भवेत् ॥ २२ ॥
श्रीदेव्युवाच
यद्येन क्रियते किञ्चिद्येन येन यदा यदा ।
विनाऽभ्यासेन तन्नेह सिद्धिमेति कदाचन ॥ २३ ॥
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥
ये विरक्ता महात्मानो भोगभावनतानवम् ।
भावयन्त्यभवायाऽन्तर्भव्या भुवि जयन्ति ते ॥ २५ ॥

विषयमें मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये, कृपया यह बतलाइए कि वह अभ्यास कौन है (उसका क्या स्वरूप है) और कैसा है (उसका क्या लक्षण है) तथा किस प्रकार पुष्ट होता है और उसके पुष्ट होनेपर क्या होता है ? ॥ २१, २२ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—वत्से, जो भी प्राणी जब जब जिस किसी कार्यको करता है, अभ्यासके बिना वह कभी सिद्ध नहीं होता । भाव यह कि अभ्यासकी प्रत्येक कर्ममें आवश्यकता है ॥ २३ ॥

सर्वप्रथम देवीजी अभ्यासका स्वरूप बतलाती हैं—**'तच्चिन्तनम्'** इत्यादिसे ।

असंदिग्धरूपसे अपनी बुद्धिमें जमानेके लिए उसका चिन्तन करना, अन्य ज्ञाता पुरुषकी बुद्धिसे संवाद करनेके लिए उसकी चर्चा करना, परस्पर अज्ञात अंशके ज्ञानके लिए आपसमें उसका उपदेश देना, सदा उसीमें मनोयोगदेना, इसे विद्वान् लोग ज्ञानका अभ्यास कहते हैं * ॥ २४ ॥

दृढ़ वैराग्य आदि उसके लक्षण हैं, यह बात विरक्त पुरुषोंकी स्तुति द्वारा कहते हैं—**'ये विरक्ता'** इत्यादिसे ।

जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्तिके लिए अपने अन्तःकरणमें यत्नपूर्वक विषय-वासनाओंके क्षयकी भावना करते हैं (अपने अन्तःकरणमें विषयवासनाओंका जैसे विनाश हो, वैसा यत्न करते हैं), वे पृथिवीमें सर्वश्रेष्ठ हैं और उन्हींका जन्म सफल है ॥ २५ ॥

* उसका चिन्तन करने, उसकी चर्चा करने और आपसमें उसीका बोधन करनेसे असंभावनाकी निवृति होती है और सदा उसीमें परायण रहनेसे विपरीतभावनाकी निवृत्ति होती है, ये अभ्यासके फल हैं ॥

उदितोदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता ।
आनन्दस्पन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥ २६ ॥
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ २७ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नाऽस्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥ २८ ॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यास उदाहृतः ॥ २९ ॥
दृश्यासम्भवबोधेन विना द्वेषादितानवम् ।
तप इत्युच्यते तस्मान्न ज्ञानं तच्च दुःखतत् ॥ ३० ॥

उदारतारूपी (सम्पूर्णसामग्रीपरित्यागरूपी) सुन्दरतासे एवं वैराग्यरससे सम्पन्न अतएव सदा आनन्दकी वृष्टि करनेवाली बुद्धि जिन पुरुषोंमें उत्पन्न हुई है, वे सर्वश्रेष्ठ अभ्यासी (अभ्यासवाले) हैं ॥ २६ ॥

श्रवण आदिमें निरत होना भी ज्ञानाभ्यासका लक्षण है, ऐसा कहती हैं—'अत्यन्ता०' इत्यादिसे ।

जो लोग युक्तिसे यानी प्रमाणतत्त्वके निर्धारणके अनुकूल तथा प्रमेयतत्त्वके निर्धारणके अनुकूल युक्तिसे और अध्यात्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंसे ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुके अत्यन्ताभावकी प्राप्तिमें (बाधमें) यत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्या ॥ २७ ॥

कालोंमें दृश्यके बाधज्ञानकी आवृत्ति भी ब्रह्माभ्यास है, ऐसा कहती हैं—'सर्गादा०' इत्यादिसे ।

'यह जगत् है, यह मैं हूँ' इत्याकारक दृश्य सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः वह सदा नहीं ही है, यह ज्ञानाभ्यास कहा गया है ॥ २८ ॥

दृश्य प्रपञ्चके असंभवके ज्ञानसे राग, द्वेष आदिका विनाश होनेपर मननसे उत्पन्न विद्याकी वासनाके परिपाकसे उत्पन्न हुई जो आत्मरति (आत्मप्रेम) है, वह ब्रह्माभ्यास है ॥ २९ ॥

यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है, इस प्रकारके दृढ़ज्ञानसे राग आदिका विनाश होनेपर ही वह (आत्मरति) ज्ञानोपयोगिनी होती है, अतः उक्त राग आदिका

दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥ ३१ ॥
भवबहुलनिशानितान्तनिद्रासततविवेकविबोधवारिसेकैः ।
प्रगलति हिमशीतलैरशेषा शरदि महामिहिकेव चेतसीति ॥ ३२ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे विज्ञानाभ्यासवर्णनं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

चतुर्थो दिवसः

—❀—

उच्छेद होनेपर ही वह ब्रह्माभ्यास है, अन्यथा नहीं, ऐसा कहते हैं—'दृश्या०' इत्यादिसे ।

दृश्यके असंभवका ज्ञान हुए बिना उत्पन्न जो राग, द्वेष आदिका अपक्षय है, वह तप कहलाता है, अतएव वह ज्ञान नहीं है, वह तप वृथा द्वेष आदिके रोकनेसे उत्पन्न दुःखको ही बढ़ाता है ॥ ३० ॥

अभ्यासके हेतुओंका प्रतिपादन कर अब श्रीदेवीजी अभ्यासका फल दिखलाती हुई दो श्लोकोंसे सर्गका उपसंहार करती हैं—'दृश्या०' इत्यादिसे ।

चरमसाक्षात्काररूप ज्ञान और उसका ज्ञेय ब्रह्म भी दृश्यासंभवबोध (दृश्यका असंभव जिससे या जिसमें होता है, ऐसा बोध) कहा जाता है, उसके अभ्याससे मुक्ति होती है, इस प्रकारके अभ्यासका फल महान् अभ्युदय है ॥३१॥

वत्से, जैसे शरद् ऋतुमें हिमके समान शीतल ओसके सेकसे कुहरा बिलकुल विनष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्तमें पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यस्त, सम्पूर्ण तापों (त्रिविध तापों) की शान्तिके हेतु होनेसे बरफके समान शीतल विवेकबोधरूपी जलके निरन्तर सिञ्चनसे संसाररूपी कृष्णपक्षकी (अन्धेरी) रात्रिमें उत्पन्न हुई मोहरूपी गाढ नींद निवृत्त हो जाती है ॥ ३२ ॥

महर्षि वाल्मीकिजीके इतनी कथा कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य

त्रयोविंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति संकथनं कृत्वा तस्यां निशि वराङ्गने ।
सुप्ते परिजने नूनमथाऽन्तःपुरमण्डपे ॥ १ ॥
दृढाखिलार्गलद्वारगवाक्षे दक्षचेतसि ।
पुष्पप्रकरनिष्ठ्यूतमांसलामोदमन्थरे ॥ २ ॥
अम्लानमालावसनशवपार्श्वासनस्थिते ।
संकलामलपूर्णेन्दुवदनद्योतितास्पदे ॥ ३ ॥

भगवान् अस्ताचल शिखरकी ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियोंकी सभा वाल्मीकिजीको प्रणाम कर सायङ्कालके सन्ध्या-वन्दन आदि कृत्यके लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतनेपर सूर्यके उगते-उगते मुनि-मण्डली सभा-स्थानमें आ गई ॥ ३३ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

[पर्वत-ग्रामको देखनेकी इच्छासे समाधि द्वारा स्थूल देहका परित्याग कर देवीजी और लीलाका विशाल आकाशमें गमन-वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, वे दोनों उत्तम देवियाँ यानी सरस्वती और लीला उस रात्रिमें परस्पर प्रश्नोत्तर कर जब कि सब भृत्य सो गये थे, महलके दरवाजों और खिड़कियोंमें मजबूत और भाँति भाँतिके अर्गल लग गये थे, ड्योढियोंपर पहरेदार सावधान होकर पहरा दे रहे थे, फूलोंकी राशियोंसे निर्गत एवं घनीभूत सुगन्धिसे अन्तःपुर भर गया था, अम्लान मालारूपी वस्त्रोंसे आच्छन्न राजाके शवके समीपस्थ आसनमें बैठ गईं । उनके कलङ्कशून्य पूर्ण चन्द्रमाके तुल्य मुखमण्डलसे सारा अन्तःपुर जगमगा उठा । वे दोनों * समाधिस्थ

---

* देवी सरस्वतीका ज्ञान देह है, उसीसे वे विचरण कर सकती थीं, फिर उन्हें समाधिस्थ क्यों होना पड़ा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लीलाको समाधि सिखलानेके लिए वे समाधिस्थ हुई थीं उक्त योग गुरुके सिखाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, अतः लीलाको समाधिस्थ होनेमें सौकर्य हो, इसलिए देवीजीने समाधि ली ।

समाधिस्थानकं गत्वा तस्थतुर्निश्चलाङ्गिके ।
रत्नस्तम्भादिवोत्कीर्णे चित्रे भित्तावित्राऽर्पिते ॥ ४ ॥
सर्वास्तत्यजतुश्चिन्ताः सङ्कोचं समुपागते ।
दिवसान्त इवाऽब्जिन्यौ प्रसृतामोदलेखिके ॥ ५ ॥
बभूवतुर्भृशं शान्ते शुद्धे स्पन्दविवर्जिते ।
गिरौ शरदि निर्वात इव भ्रष्टाभ्रमालिके ॥ ६ ॥
निर्विकल्पसमाधानाज्जहतुर्बाह्यसंविदम् ।
यथा कल्पलते कान्ते पूर्वमृत्वन्तरे रसम् ॥ ७ ॥
अहं जगदिति भ्रान्तिदृश्यस्याऽऽदावनुद्भवः ।
यदा ताभ्यामवगतस्त्वत्यन्ताभावनात्मकः ॥ ८ ॥

हो इस प्रकार निश्चलतासे बैठ गईं कि प्रतीत होता था मानो वे रत्नके खम्भेमें खुदी हुई दो मूर्तियाँ हैं एवं दिवारमें लटकाये गये दो चित्र हैं । सम्पूर्ण इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे संकोचको (निवृत्तिको) प्राप्त हुई उन दोनोंकी सम्पूर्ण दुश्चिन्ताएँ गायब हो गईं, अतएव वे सायङ्कालके समयकी दो कमलिनियोंकी नाईं थीं, जिनके कि चारों ओर परिमल व्याप्त रहता है । शरद् ऋतुमें वायुशून्य पर्वतमें गिरी हुई दो मेघ पङ्क्तियाँ जैसे शुद्ध (सफेद), शान्त (शीतल) और कम्पनशून्य होती हैं, वैसे ही वे भी अत्यन्त शुद्ध, शान्त और स्पन्दनशून्य हुईं ॥ १–६ ॥

चूँकि उन्हें निर्विकल्पक समाधि लग गई थी, अतएव उनको देह आदि अनात्मवस्तुओंका प्रतिसन्धान नहीं रह गया था । जैसे सुन्दर दो कल्पलताएँ वसन्त आदि ऋतुके प्राप्त होनेपर पहलेके रसका त्याग करती हैं, कारण कि पुराने पत्तोंका सूखना आदि सभीको दिखलाई देता है, वैसे ही उन्होंने भी बाह्य ज्ञानका त्याग कर दिया था ॥ ७ ॥

दृश्यके आत्यन्तिक उपशमसे (विनाशसे) निर्विकल्पक समाधि होनेपर तत्त्वसाक्षात्कारसे समूल त्रैकालिक दृश्यबाध ही परिनिष्ठित हेतु है, ऐसा कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

पहले जब उन दोनोंको 'मैं जगत्' इस प्रकार भ्रान्तिरूप दृश्यकी अत्यन्ताभावरूप अनुत्पत्तिका ज्ञान हुआ, तब उन दोनोंका दृश्यरूपी यह पिशाच अत्यन्त विनष्ट हो गया ।

तदा दृश्यपिशाचोऽयमलमस्तंगतो द्वयोः ।
असत्त्वादेव चाऽस्माकं शशशृङ्गमिवाऽनघ ॥ ९ ॥
आदावेव हि यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
भातं वाऽभातमेवाऽतो मृगतृष्णाम्बुवज्जगत् ॥ १० ॥
स्वभावकेवलं शान्तं स्त्रीद्वयं तद् बभूव ह ।
चन्द्रार्कादिपदार्थौघैर्दूरमुक्तमिवाऽम्बरम् ॥ ११ ॥
तेनैव ज्ञानदेहेन चचार ज्ञप्तिदेवता ।
मानुषी त्विरेणाऽऽशु ध्यानज्ञानानुरूपिणा ॥ १२ ॥

जैसे समाधिमें त्रैकालिक दृश्यका बाध होता है, वैसा सभी कालमें त्रैकालिक दृश्यका बाध हम लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको संबोधन कर कहते हैं—'असत्त्वात्' इत्यादिसे ।

अनघ, असत् (मिथ्या) होनेके कारण ही हम लोंगोकी दृष्टिसे यह जगत् प्रतीत होनेपर मृगतृष्णामें जलकी नाईं और प्रतीत न होनेपर शशशृङ्गकी नाईं है, क्योंकि जो पदार्थ पहले नहीं था, वह वर्तमानकालमें भी नहीं है, यह स्पष्ट है ॥ ८,१० ॥

दृश्यका अस्त होनेपर वे कैसे रहीं, इस शङ्कापर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'स्वभाव०' इत्यादिसे ।

सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सम्पूर्ण पदार्थोंसे अत्यन्त शून्य केवलमात्र आकाश सृष्टिके आरम्भमें यानी वायुकी उत्पत्तिसे पूर्व और प्रलयकालके आनेपर (वायुपर्यन्त पदार्थोंका प्रलय होनेपर) जैसे केवलस्वभावसे स्थिर रहता है, वैसे ही वे दोनों अङ्गनाएँ दृश्य और दर्शनसे विमुक्त होकर शान्त और केवलस्वभाव हुईं ॥११॥

आगे सर्गमें कहे जानेवाले आकाशगमनमें देवी सरस्वती और लीलाके देहवैलक्षण्यको कहते हैं—'तेनैव' इत्यादिसे ।

ज्ञानदेवी सरस्वतीने पूर्वतन ज्ञानदेहसे ही आकाशमें विचरण किया और राजमहिषी लीलाने मानव-देहके अभिमानका परित्याग कर ध्यान और ज्ञानके अनुरूप दिव्यदेहका अवलम्बन कर आकाशमें विचरण किया ॥ १२ ॥

गेहान्तरेव प्रादेशमात्रमारुह्य संविदा ।
बभूवतुश्चिदाकाशरूपिण्यौ व्योमगाकृती ॥ १३ ॥
अथ ते ललने लीलालोले ललितलोचने ।
स्वभावाच्चेत्यसंवित्तेर्नभो दूरमितो गते ॥ १४ ॥
तत्रस्थे वाऽथ चिद्वृत्त्या पुप्लुवाते नभस्थलम् ।
कोटियोजनविस्तीर्णं दूराद् दूरतरान्तरम् ॥ १५ ॥
दृश्यानुसन्धाननिजस्वभावादाकाशदेहे अपि ते मिथोऽत्र ।
परस्पराकारविलोकनेन बभूवतुः स्नेहपरे वयस्ये ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाप्रज्ञा-देव्योर्ज्ञानदेहाकाशगमनं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

वह दूर आकाशमें गमनकी कल्पना अपने घरके मण्डपके वित्तेभर आकाशमें ही हुई न कि बाहर, ऐसा कहते हैं—'गेहान्तरेव' इत्यादिसे ।

सचमुच वे दोनों बहुत दूर गईं सो बात नहीं है, किन्तु उन्होंने उद्बुद्ध हुए पूर्वसङ्कल्प-संस्कार-ज्ञानसे विलस्तभर गृहाकाशमें ही चढ़कर सर्वगामी ज्ञानमें आरोहण और आकाशगमनके अनुरूप चिदाकाशमूर्तिका अवलम्बन किया * ॥ १३ ॥

उसके अनन्तर सुन्दरनयनवाली और वनितोचित विलासोंसे मनोहर वे दोनों ललनाएँ विषयज्ञानके स्वभावसे (विषयानुसार व्यवहारकल्पनाके कारण) यहांसे अत्यन्त दूर आकाशमें गईं ॥ १४ ॥

तदुपरान्त उसी घरमें स्थित होकर 'हम लोग आकाशमें संचरण करें' इत्याकारक चित्प्रधान मानस कल्पनावृत्तिसे दूरसे अतिदूर तथा करोड़ों योजन विस्तीर्ण आकाशमें उन्होंने संचरण किया । भाव यह कि लीला और सरस्वती पहले ही अपने मनमें 'हम लोग आकाशमार्गसे जावेंगे' यों सङ्कल्प करके समाधिस्थ हुई थीं। इसी कारण उन्हें समाधि अवस्थामें तदनुरूप चित्तदेहके प्राप्त होनेपर आकाशमें उड़नेका अनुभव होने लगा ॥ १५ ॥

चिदाकाशदेहकी प्राप्ति होनेपर भी चित्तमें स्थित पूर्वसङ्कल्पित दृश्यके अनु-

---

* इस विषयमें दो मत हैं—एक मत यह है कि योगी लोग समाधि द्वारा स्थूल देहसे बाहर निकल कर सूक्ष्म देहसे बाहर पर्यटन करते हैं। दूसरा मत यह कि योगी लोग देहसे

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

दूराद्दूरमभिप्लुत्य शनैरुच्चैः पदं गते ।
हस्तं हस्ते समालम्ब्य यान्त्यौ ददृशतुर्नभः ॥ १ ॥
एकार्णवमिवोच्छूनं गम्भीरं निर्मलान्तरम् ।
कोमलं कोमलमरुदासङ्गसुखभोगदम् ॥ २ ॥
आल्हादकमलं सौम्यं शून्यताम्भोनिमज्जनात् ।
अत्यन्तशुद्धं गम्भीरं प्रसन्नमपि सज्जनात् ॥ ३ ॥

सन्धानकी अनुपत्ति होती है। उक्त समाधिकालमें वे दोनों सङ्कल्प-संस्कारोंसे पूर्ण चित्तके साथ एकीभावको प्राप्त हो गई थीं, इस कारणसे वे पूर्वसङ्कल्पित दृश्यका दर्शन कर तृप्त हो गईं, इसीको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—'दृश्यानुसन्धान०' इत्यादिसे।

समाधि अवस्थामें आकाशदेहयुक्त भी वे दोनों ललनाएँ पूर्वसङ्कल्पित दृश्यके अनुसन्धानसे युक्त चित्तस्वरूपताको प्राप्त अपने स्वभावसे परस्पर अपने आकारके दर्शनसे स्नेहपूर्ण सखियां हुईं ॥ १६ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौवीसवाँ सर्ग

[जा रहीं ज्ञप्ति देवी और लीलाका असीम विश्वके वैचित्र्यके विलासोंसे परिपूर्ण आकाशरूप मार्गका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्र, एक-दूसरेका हाथ पकड़ कर जा रहीं धीरे धीरे ऊपर चढ़कर अत्यन्त दूर ऊर्ध्वस्थानमें गई हुईं उन दोनों सखियोंने आकाशको देखा।

आकाश तरङ्गित प्रलयकालके एकमात्र समुद्रके समान गंभीर, निर्मल और स्निग्ध (बाधाशून्य), मन्द, सुगन्ध और शीतल वायुके संसर्गसे सुखभोगका दाता, शून्यतारूपी जलमें अवगाहन करनेसे अत्यन्त आनन्ददायक अथवा जगत्-

---

बाहर नहीं निकलते, केवलमात्र स्थूलदेहके अभिमानका परित्याग और हृदयसे लेकर कण्ठतक विलस्तभर नाड़ीमें स्थित होकर या आरोहण कर सर्वव्यापी ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं उसी ज्ञानसे वे लोग स्वर्ग, मर्त्य, पाताल आदि लोकोंका दर्शन करते हैं।

भृङ्गस्थनिर्मलाम्भोदपीनोदरसुधालये ।
विशश्रमतुराशासु पूर्णचन्द्रोदरामले ॥ ४ ॥

सिद्धगन्धर्वमन्दारमालामोदमनोहरे ।
चन्द्रमण्डलनिष्क्रान्ते रेमाते मधुरानिले ॥ ५ ॥

सस्नतुर्भूरिघर्मान्ते तडिद्रक्ताब्जसङ्कुले ।
सरसीव जलापूरमन्थरे मेघमण्डले ॥ ६ ॥

भूतलौघमहाशैलमृणालाङ्कुरकोटिषु ।
दिक्षु बभ्रमतुः स्वैरं भ्रमर्यौ सरसीष्विव ॥ ७ ॥

धारागृहधिया धीरगङ्गानिर्झरधारिणि ।
भ्रेमतुर्वातविक्षुब्धमेघमण्डलमण्डपे ॥ ८ ॥

शून्यतारूप ब्रह्मजलमें पहले पहल निर्गमन करनेसे प्राणिरूपी भ्रमरोंको आह्लादित करनेवाला कमलरूप, शान्त, अत्यन्तस्वच्छ, गम्भीर और सज्जनके मनसे भी बढ़कर प्रसन्न था ॥ १–३ ॥

चन्द्रमाके मध्यके सदृश उज्ज्वल उन दोनोंने दिशाओंमें सुमेरु आदि पर्वतोंके शिखरोंमें स्थित शुभ्र मेघोंके विशाल कलेवरके भीतर विद्यमान महलोंमें विश्राम किया ॥ ४ ॥

कहींपर (चन्द्रमण्डलके समीपमें) चन्द्रमण्डलसे निकलकर उन दोनोंने सिद्ध और गन्धर्वोंके गलेमें पड़ी हुई मन्दारमालाओंकी अति सुगन्धिसे मनोहर, मन्द और सुगन्ध वायुमें विचरण किया, कहींपर प्रचुर आतप (घाम) का विनाश करनेवाले विजलीरूपी लाल कमलोंसे व्याप्त तथा जलसे पूर्ण होनेके कारण मन्दगामी मेघमण्डलमें स्नान किया जैसे कि लोग प्रचुर आतपका अन्त करनेवाले विजलीके तुल्य उज्ज्वल कमलोंसे पूर्ण तालाबमें स्नान करते हैं ॥ ५, ६ ॥

जैसे दो भँवरियाँ करोड़ों मृणालाङ्कुरोंसे व्याप्त कमलके तालाबोंमें भ्रमण करती हैं, वैसे ही उन्होंने भी विविध भूतलोंके हिमालय आदि पर्वतरूपी मृणालोंके (भसींडोंके) करोड़ों अङ्कुरोंसे युक्त दिशाओंमें भ्रमण किया ॥ ७ ॥

कहींपर आकाशगङ्गाके शीकरोंको धारण करनेवाले और वायुसे विकसित मेघमण्डलरूपी मण्डपमें धारागृहकी बुद्धिसे उन्होंने भ्रमण किया ॥ ८ ॥

ततो मधुरगामिन्यौ विश्राम्यन्त्यौ स्वशक्तितः।
शून्ये ददृशतुर्व्योममहारम्भातिमन्थरम् ॥ ९ ॥
अदृष्टपूर्वमन्योन्यं सर्वसंकटकोटरम् ।
अपूर्यमाणमाशून्यं जगत्कोटिशतैरपि ॥ १० ॥
उपर्युपर्युपर्युच्चैरन्यैरन्यैर्वृतं पृथक् ।
विचित्राभरणाकारैर्भूतलैः सुविमानकैः ॥ ११ ॥
परितः पूरितव्योम्नां मेर्वादिकुलभूभृताम् ।
पद्मरागतटोद्योतैः कल्पज्वालोपमोदरम् ॥ १२ ॥
मुक्ताशिखरभापूरैर्हिमवत्सानुसुन्दरम् ।
काञ्चनाद्रिस्थलार्चिर्भिः काञ्चनस्थलभासुरम् ॥ १३ ॥
महामरकताभाभिः शाद्वलस्थलनीलिमम् ।
द्रष्टृदृश्यक्षयासक्तजातध्वान्तोत्थकालिमम् ॥ १४ ॥

तदुपरान्त अपनी शक्तिके अनुसार धीरे-धीरे चलनेवाली एवं मध्य-मध्यमें विश्राम ले रहीं उन दोनों ललनाओंने शून्य देशमें महान् भुवनों और उनमें स्थित जनोंके निर्माणसे अत्यन्त पूर्ण आकाशमण्डलको देखा ॥ ९ ॥

यद्यपि सरस्वती देवीने उक्त आकाशमण्डलको पहले देखा था, तथापि दोनोंने परस्पर मिलकर पहले उसे नहीं देखा था। जितने प्राणियोंके हेतुभूत गर्भच्छिद्र हैं, वे सब उसीके अंश हैं, कोटि-कोटि जगतोंसे लगातार भरा जाता हुआ भी वह चारों ओर शून्य रहता है।

उन्होंने उसे ऊपर ऊपर अति सुन्दर विमानोंसे युक्त, विचित्र आभरणोंके सदृश और अलग-अलग बने हुए अनेक विशाल भुवनोंसे आवृत देखा ॥ ११ ॥

मेरु आदि सात कुलपर्वतोंके, जिन्होंने चारों ओरसे आकाशको भर रक्खा था, पद्मरागमणिके तटोंके प्रकाशोंसे उसका मध्यभाग उन्हें प्रलयकालकी अग्निके सदृश प्रतीत हुआ ॥ १२ ॥

उक्त पर्वतोंकी मुक्तामय चोटियोंके प्रभापुञ्जसे वह हिमालयकी चोटीके समान भला प्रतीत होता था और स्वर्णमय मेरु पर्वतके मैदानोंकी कान्तियोंसे वह स्वर्णमय मैदानके सदृश चमकता था। पूर्वोक्त पर्वतोंकी बड़ी-बड़ी मरकत-मणियोंकी (हरित्-मणियोंकी) आभाओंसे घासके हरे मैदानोंकी हरियालीके

पारिजातलतालोलविमानगणकेतनम् ।
अतो मञ्जरिकाकारमिव वैदूर्यभूतलम् ॥ १५ ॥
मनोवेगमहासिद्धजितवातगमागमम् ।
विमानगृहदेवस्त्रीगेयवाद्यसघुंघुमम् ॥ १६ ॥
त्रैलोक्यवरभूतौघसंचाराविरलान्तरम् ।
अन्योन्यादृष्टसंचारसुरासुरकुलाकुलम् ॥ १७ ॥
पर्यन्तस्थितकूष्माण्डरक्षःपैशाचमण्डलम् ।
वातस्कन्धमहावेगवहद्वैमानिकव्रजम् ॥ १८ ॥

सदृश हरियालीसे युक्त था, कहीं-कहींपर नयनवान् लोगोंकी दृष्टिका और नील, पीत आदि रूपोंका विनाश करनेके लिए कटिबद्ध गाढ़ अन्धकारसे अन्धकारित था ॥ १३, १४ ॥

वह पारिजातके वनोंके ऊपर उड़ रहे विमानोंका स्थानभूत वह कहींपर समीपमें स्थित लोगोंकी दृष्टिसे पारिजात वनकी मञ्जरी-सा ज्ञात होता था और दूरस्थित लोगोंकी दृष्टिसे वैडूर्यमणिसे बने हुए भूतलके तुल्य मालूम पड़ता था ॥ १५ ॥

कहींपर उसमें मनके समान वेगवाले महासिद्धोंने वायुके संचारके वेगको जीत लिया था यानी मनसे भी अधिक शीघ्र चलनेवाले सिद्धोंने अपने वेगसे वायुके वेगको नीचा दिखा दिया था और कहींपर विमानरूपी घरोंमें बैठी हुई अप्सराओंके गायन और वादनकी 'घुम्, घुम्' ऐसी ध्वनिसे पूर्ण था ॥ १६ ॥

कहींपर तीनों लोकोंके श्रेष्ठ-श्रेष्ठ प्राणियोंके ममनागमनसे ठसाठस भरा था और कहींपर देवता और दैत्योंके वृन्दसे, जिन्होंने कि आपसमें एक दूसरेके गमनागमनको नहीं देखा था, उसमें परस्पर टक्कर लगनेसे बड़ी घबराहट पैदा हो रही थी। कहीं उसके ओने-कोनेमें कूष्माण्ड, राक्षस, पिशाचोंकी मण्डली बैठी थी और कहींपर आवह, प्रवह आदि वायुके भेदोंके महान् वेगसे वैमानिकोंका (विमानसे चलनेवाले देवताओंका) दल बह रहा था यानी बड़ी तेजीसे भ्रमण कर रहा था। उसमें कहींपर विमानोंके शीघ्र चलनेकी ध्वनि (सरसराहट और घड़घड़ाहट) के दबनेसे बादलोंका शब्द सुनाई देता था, कहींपर सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रोंके घनसंचारसे (एक दूसरेसे सटकर गमनागमन करनेसे)

वहद्विमानसीत्कारश्रुतिग्राह्यघनध्वनि ।
ग्रहर्क्षघनसंचारात्प्रचलद्वातयन्त्रकम् ॥ १९ ॥
निकटातपदग्धाल्पसिद्धसिद्धोज्झितास्पदम् ।
अर्काश्वमुखवातास्तदग्धमुग्धविमानकम् ॥ २० ॥
लोकपालाप्सरोवृन्दसंचाराचारचञ्चलम् ।
देव्यन्तःपुरिकादग्धधूपधूमाम्बुदाम्बरम् ॥ २१ ॥
स्वस्वर्गाहूतदेवस्त्रीस्वाङ्गविभ्रष्टभूषणम् ।
सामान्यसिद्धसंघोग्रतेजःपुञ्जतमोबलम् ॥ २२ ॥
बलवत्सिद्धसंघट्टगमागमविघट्टितैः ।
घनैः सांशुकपार्श्वस्थहिमवन्मेरुमन्दरम् ॥ २३ ॥

वायुको रोकनेवाला ज्योतिश्चक्रनामक यन्त्र चल रहा था, कहींपर निकटवर्ती सूर्यके आतपकी उष्णतासे झुलसे हुए सिद्धोंने (एक प्रकारकी देव-योनिको सिद्ध कहते हैं), जो कि तपस्या, योग और रसायन आदिसे पूर्ण सिद्ध नहीं थे, अपना-अपना स्थान छोड़ दिया था, कहींपर सुन्दर विमान सूर्यके तीक्ष्ण आतपसे जल रहे थे और सूर्यके घोड़ोंके मुखपवनसे अस्त-व्यस्त हो रहे थे ॥ १७–२० ॥

कहींपर लोकपाल और अप्सराओंके पैरोंसे गमन और अन्यान्य अङ्गोंसे उनके तत्-तत् उचित आचरणोंसे चल वस्तुके तुल्य चञ्चल था, कहींपर देवियोंके अन्तःपुरमें जली हुई धूपके धूमसे उत्पन्न मेघरूपी वस्त्रसे आच्छन्न था, कहींपर उसमें इन्द्र, चन्द्र आदि द्वारा स्वर्गसे यानी स्वर्गशब्दवाच्य अपने-अपने लोकसे बुलाई गईं, अतएव औरोंकी उपेक्षा करके 'मैं पहले जाऊँ, मैं पहले पहुँचूं' इस अभिमानसे दौड़ रहीं देवियोंके अङ्गोंसे आभरण गिरे हुए थे, उन अप्सराओंको चाहनेवाले इन्द्र आदिके तुल्य अणिमा आदि विशेष सिद्धियोंसे शून्य अन्यान्य स्वर्गस्थ पुरुषोंके उग्र तेजको क्रोध, ईर्ष्या आदि द्वारा तिरोभूत करनेवाले तमोबल (तमोगुणकी प्रबलता) के तुल्य नीला था ॥ २१, २२ ॥

बलवान् सिद्धोंका परस्पर टकराकर (धक्का-धुक्कीके साथ) जो गमनागमन था, उससे मेघ चकनाचूर हो जाते थे, अतएव मानों उनके गमनागमनसे होनेवाले अपने विनाशके भयसे उन्होंने पासमें स्थित हिमालय आदि पर्वतोंके शिखरोंमें

काकोलूकैर्गृध्रभासै राशिभूतैश्चलैर्वृतम् ।
नृत्यद्भिर्डाकिनीसङ्घैस्तरङ्गैरिव वारिधिम् ॥ २४ ॥
प्रवृत्तैर्योगिनीसंघैः श्वकाकोष्ट्रखराननैः ।
निरर्थं योजनशतं गत्वाऽऽगच्छद्भिरावृतम् ॥ २५ ॥
लोकपालपुरोध्वान्तधूमधूम्रेऽभ्रमन्दिरे ।
सिद्धगन्धर्वमिथुनप्रारब्धसुरतोत्सवम् ॥ २६ ॥
स्वर्गगीतस्तवोन्मत्तमदनाक्रान्तमार्गगम् ।
अनारतवहद्धिष्ण्यचक्रलक्षितपक्षकम् ॥ २७ ॥

आश्रय ले लिया। मेघोंके पर्वतोंके शिखरोंमें जानेसे पर्वत ऐसे मालूम होते थे मानों उन्होंने वस्त्र पहन रक्खे हैं। अतएव कहींपर उसके पासमें स्थित हिमालय, मेरु, मन्दराचल आदि सवस्त्र-से प्रतीत होते थे ॥ २३ ॥

कहींपर जैसे चञ्चल लहरोंसे समुद्र व्याप्त होता है, वैसे ही समूहके समूह एक साथ उड़ रहे अतएव चञ्चल कौएँ, उल्लू, गीध, चातक आदि पक्षियों और नाच रही डाकिनियों (पिशाचयोनिविशेषों) से वह व्याप्त था ॥ २४ ॥

कहींपर कुत्ते, कौए, ऊँट और गदहेके तुल्य अनेक प्रकारके विलक्षण मुहवाली निष्प्रयोजन * सैकड़ों कोश जाकर लौट रहीं गमनागमनमें प्रवृत्त योगिनियोंसे आवृत्त था ॥ २५ ॥

कहींपर लोकपालोंके आगे ही स्थित †, अन्धकारके तुल्य दृष्टिके प्रसारको रोकनेवाले, धूमके तुल्य धुमैले, मेघरूपी मन्दिरमें सिद्ध-और गन्धर्वोंके जोड़े सुरत-क्रीड़ा कर रहे थे ॥ २६ ॥

कहींपर आकाशमार्गसे चलनेवाले देववृन्द स्वर्गमें गाये जा रहे उद्दीपन करनेवाले मनोहर गीतों और दिव्य स्तुतियोंसे उन्मत्त और कामपीड़ासे व्याप्त थे, कहींपर ग्रहनक्षत्रोंके गृहभूत ज्योतिश्चक्रके लगातार चलनेपर सूर्य आदिकी गतिसे शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षका कालविभाग उसमें दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २७ ॥

* योगिनियोंको अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं, अतः उन्हें अपने स्थानमें बैठे बैठे अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है, अतएव उनका दूरगमनप्रयास निरर्थक है।

† तत्-तत् दिशाओंके अधिनायक लोकपाल दिशाओंके अन्त तक रहते हैं, अतएव वह उनके सामने ही स्थित, फिर भी वे उस मेघमन्दिरके अधिक घन और काला होनेके कारण उनकी क्रीड़ाएँ नहीं देख सकते थे।

वातस्कन्धनिखातान्तर्वहत्त्रिपथगाजलम् ।
आश्चर्यालोकनव्यग्रसंचरत्त्रिदशार्भकम् ॥ २८ ॥
सदेहसंचरद्वज्रचक्रशूलासिशक्तिमत् ।
क्वचिन्निर्भित्तिभवनं गायन्नारदतुम्बुरु ॥ २९ ॥
मेघमार्गमहामेघमहारम्भाकुलं क्वचित् ।
चित्रन्यस्तसमाकारमूकल्पान्तवारिदम् ॥ ३० ॥
उत्पतत्कज्जलाद्रीन्द्रसुन्दराम्भोधरं क्वचित् ।
क्वचित्कनकनिष्पन्दकान्तततापान्तवारिदम् ॥ ३१ ॥
क्वचिद्दिग्दाहतापाढ्यमृष्यमूकाम्बुदांशुकम् ।
क्वचिन्निष्पवनाम्भोधिसंरम्भं शून्यताजलम् ॥ ३२ ॥
क्वचिद्वातनदीप्रौढविमानतृणपल्लवम् ।
क्वचिच्चलदलिव्रातपृष्ठत्वकान्तिनिर्मलम् ॥ ३३ ॥

कहींपर अनेक प्रकारके वायु-समूहोंमें से एक वायुसमूहरूप उक्त ज्योतिश्चक्रमें बनाये गये निखात (गड्ढे) के अन्दर गङ्गाजीका जल वह रहा था, कहींपर देवताओंके बालक अनेक प्रकारके आश्चर्यमय कौतुकोंके दर्शनमें व्यापृत होकर घूम रहे थे, कहींपर वज्र, चक्र, त्रिशूल, तलवार और शक्तिके अधिष्ठाता देवगण मूर्तिमान् होकर संचार कर रहे थे। कहींपर वह विना भीतके भवनोंसे परिपूर्ण था, कहींपर उसमें नारद और तुम्बुरु ऋषि गायन कर रहे थे, कहीं मेघोंके संचारप्रदेशमें पुष्करावर्तक आदि महामेघोंके प्रलयकालीन वृष्टिरूप महान् आरम्भसे उसमें हलचल मची थी और कहींपर तो प्रयलकालके मेघ चित्रमें लिखितके तुल्य निश्चेष्ट और गर्जनध्वनि-शून्य थे ॥ २८—३० ॥

कहींपर काजलके महान् पर्वतोंके तुल्य सुन्दर मेघ उड़ रहे थे, तो कहींपर सुवर्णके द्रवके समान मनोज्ञ सूर्यके तापको दूर करनेवाले मेघोंका जमघट था और कहींपर दिशाओंके दाहसे उत्पन्न सन्तापसे पूर्ण था। ऋष्यमूक पर्वतपर पूर्व-रामायणमें वर्णित प्रकारसे बरस रहे मेघ ही उसके वस्त्र थे। कहींपर शून्यता-रूपी जलसे पूर्ण वह निश्चल सागरके सदृश था। कहींपर उसमें वायु प्रवाहरूपी नदीमें बड़े बड़े वायुयान ही बहाये जा रहे तिनके और पत्तोंके सदृश दिखाई देते थे, कहींपर उड़ रहे भँवरोंकी पीठकी त्वचाकी कान्तिके तुल्य कान्तिवाला और

क्वचिन्मेरुनदीकल्पवातधूलिविधूसरम् ।
क्वचिद्विमानगीर्वाणप्रभाचित्रबलाङ्कम् ॥ ३४ ॥
क्वचिन्निरम्बरोन्नृत्तमातृमण्डलमालितम् ।
क्वचिन्नित्यं नवक्षीबक्षुब्धयोगीश्वरीगणम् ॥ ३५ ॥
क्वचिच्छान्तसमाधिस्थविश्रान्तमुनिमालितम् ।
समं दूरास्तसंरम्भसाधुचित्तमनोहरम् ॥ ३६ ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वसुरस्त्रीमण्डलं क्वचित् ।
क्वचित् स्तब्धपुरापूर्णं वहत्पुरवरं क्वचित् ॥ ३७ ॥
क्वचिद्रुद्रपुरापूर्णं क्वचिद्ब्रह्ममहापुरम् ।
क्वचिन्मायाकृतपुरं क्वचिदागामिपत्तनम् ॥ ३८ ॥
क्वचिद्भ्रमच्चन्द्रसरः क्वचित्स्तब्धमयं सरः ।
क्वचित्सरत्सिद्धगणं क्वचिदिन्दुकृतोदयम् ॥ ३९ ॥

निर्मल था और कहींपर वर्षाकालकी पर्वतीय नदियोंके सदृश (समान रङ्गवाले) वायुमें स्थित धूलिके प्रवाहोंसे वह मटमैला प्रतीत होता था, कहींपर विमानोंपर बैठे हुए देवताओंकी कान्तिसे उसकी रूपरेखा चित्रविचित्र (चितकबरी) हो रही थी ॥ ३१–३४ ॥

कहींपर निरन्तर नृत्त करनेवाले मातृमण्डलसे परिवृत था, तो कहींपर कभी नष्ट न होमेवाले, उन्मत्त और विक्षुब्ध योगीश्वरियोंके नौ गणोंसे युक्त था। कहीं शान्त, समाधिस्थ अतएव परमपदमें विश्रान्त (ब्रह्मनिष्ठ) मुनियोंसे परिवेष्टित था। कहींपर जिसने क्रोध आदिका अत्यन्त परित्याग कर दिया है, ऐसे साधु-महात्माके चित्तके समान मनोहर और सम * था ॥ ३५, ३६ ॥

कहींपर उसमें किन्नर, गन्धर्व और देवताओंकी पत्नियाँ गायन कर रही थीं, कहींपर वह अचल (स्थिर) नगरोंसे व्याप्त था, तो कहींपर उसमें चल रहे सुन्दर सुन्दर पुरोंकी (त्रिपुर आदिके सुन्दर पुरोंकी) प्रचुरता थी। कहीं-पर वह शिवजीके नगरोंसे परिपूर्ण था, तो कहींपर उसमें ब्रह्माजीके महान् नगर विराजमान थे। कहींपर उसमें माया द्वारा निर्मित नगर विद्यमान थे, तो कहींपर भविष्यमें बनाये जानेवाले थे, कहींपर चलता-फिरता चन्द्ररूपी सरोवर

* महात्माका चित्त भी सबपर सम होता है और वह भी सम यानी विषमतासे शून्य (निर्बाध) था।

क्वचित्सूर्योदयमयं क्वचिद्रात्रितमोमयम् ।
क्वचित्सन्ध्यांशुकपिलं क्वचिन्नीहारधूसरम् ॥ ४० ॥
क्वचिद्धिमाभ्रधवलं क्वचिद्वर्षत्पयोधरम् ।
क्वचित्स्थल इवाऽकाश एव विश्रान्तलोकपम् ॥ ४१ ॥
ऊर्ध्वाधोगमनव्यग्रसुरासुरगणं क्वचित् ।
पूर्वापरोत्तरायाम्यदिक्संचाराकुलं क्वचित् ॥ ४२ ॥
अपि योजनलक्षाणि क्वचिद् दुष्प्रापभूधरम् ।
अविनाशितमःपूर्णं दृषद्गर्भोपमं क्वचित् ॥ ४३ ॥
अविनाशिबृहत्तेजः क्वचिदर्कानलोपमम् ।
हिमानीजठराशीतं क्वचिच्चन्द्रादिसद्मसु ॥ ४४ ॥
क्वचिद्बृहत्पुरोवृत्तकल्पवृक्षलतावनम् ।
क्वचिद्दैत्यहतोत्तुङ्गप्रपतद्देवपत्तनम् ॥ ४५ ॥

विराजमान था तो कहींपर निश्चल (जो चलने फिरनेवाला नहीं है) सरकी छटा देखते ही बनती थी, कहींपर सिद्धगण घूम रहे थे, कहींपर चन्द्रोदयकी शोभा छटक रही थी तो कहींपर सूर्योदयका आनन्द अपना अनोखा समा बांध रहा था, कहींपर रात्रिके गाढ अन्धकारने अपनी निराली छटा दिखा रक्खी थी, कहींपर सन्ध्याकालीन किरणोंसे लाल हो रहा था, तो कहींपर कुहरेसे मलिन हो रहा था, कहींपर बरफके समान सफेद मेघोंसे शुभ्र था, तो कहीं पर पानी बरसा रहे मेघोंसे आच्छन्न था, कहींपर भूमिके तुल्य आकाशमें (आवरणशून्य प्रदेशमें) लोकपाल बैठे थे, तो कहींपर अनेक देवता और दैत्य ऊपर नीचे जानेमें व्यापृत थे और कहींपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओंमें संचार (भ्रमण) करनेवाले देव, दानव आदिसे ठसाठस भरा था ॥ ३७–४२ ॥

कहींपर लाखों कोशोंतक भी पर्वतोंका नामनिशान नहीं था और कहींपर (लोकालोक पर्वतके अगल-बगलमें) कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकारसे आवृत अतएव पत्थरके भीतरी हिस्सेके समान ठोस था, तो कहींपर उसमें महान् तेजका कभी विनाश नहीं होता था, अतएव उस भागमें वह सूर्य और अग्निके तुल्य तेजस्वी था, कहींपर चन्द्र आदि गृहोंमें बरफके चट्टानके मध्यभागकी नाईं चारों तरफ शीतल था। कहींपर दैत्योंके -भयसे उखाड़कर ले जा रहे देवताओंके

वैमानिकनिपातेन वह्निलेखाङ्कितं क्वचित् ।
क्वचित्केतुशतोत्पातमिथःसङ्घट्टपट्टितम् ॥ ४६ ॥
क्वचिच्छुभग्रहगणप्रगृहीताग्र्यमण्डलम् ।
क्वचिद्रात्रितमोव्याप्तं क्वचिद्दिवसभास्वरम् ॥ ४७ ॥
क्वचिदुद्गर्जदम्भोदं क्वचिन्मूकामलाम्बुदम् ।
वातावकीर्णशुक्लाभ्रखण्डपुष्पोत्तरं क्वचित् ॥ ४८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यमवदातमनन्तरम् ।
आनन्दमृदुशान्ताच्छं ज्ञस्येव हृदयं ततम् ॥ ४९ ॥
शुक्रवाहनभेकौघैः क्वचिद् गलकृतारवम् ।
शून्यतावारिवलितं क्षेत्रमाकाशवासिनाम् ॥ ५० ॥

अनुचरों द्वारा कल्पवृक्ष-लताका वन पुरस्कृत था, कहींपर दैत्यों द्वारा छिन्न-भिन्न देवताओंका उन्नत नगर गिर रहा था, तो कहींपर स्वर्गस्थ लोगोंके, पुण्यक्षयके पश्चात्, निपातसे आगकी रेखाकी नाईं अङ्कित था * । कहींपर वह सैकड़ों धूमकेतुओंके उदय और परस्पर संमर्दसे वस्त्रकी भाँति निबिड़ित (आच्छन्न) था, कहींपर सूर्य, चन्द्र आदि शुभग्रहोंसे उसका श्रेष्ठ उर्ध्वमण्डल आक्रान्त था, कहींपर वह रात्रिके अन्धकारसे आवृत था, कहींपर दिनके प्रकाशसे चमक रहा था, कहींपर उसमें जलपूर्ण मेघमण्डल अपना गर्जन-तर्जन दिखा रहा था, तो कहींपर जलशून्य निर्मल मेघ चुप लगाये थे, कहींपर उसमें स्थित शुभ्रमेघखण्डरूपी पुष्पशय्या वायु द्वारा इतस्ततः बखेर दी गई थी ॥ ४३–४८ ॥

कहींपर वह ज्ञानीजनके हृदयकी नाईं दृश्य पदार्थोंसे अत्यन्त शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी मेघके व्यवधानसे रहित, आनन्दरूप, कोमल, शान्त और धूलिकणोंसे विरहित था * ॥ ४९ ॥

मानो वह आकाशवासियोंका खेत था, जैसे खेतोंमें मेढक बोलते हैं और जल भरा रहता है, वैसे ही उसमें शुक्रशब्दसे उपलक्षणविधया उक्त आकाशचारियोंके वाहनरूपी मेढ़क कण्ठ द्वारा शब्द करते थे और शून्यतारूपी जलसे वह पूर्ण था ॥५०॥

* पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गस्थ लोग जब मर्त्यलोकमें गिरते हैं तो उनके गिरनेके समय उनके प्रचुर तेजसे आकाशमें आगकी सी तेज रेखा खिंच जाती है जैसे कि ऊँचे स्थानसे बड़े वेगसे जलती हुई लकड़ी फेंकी जाय, तो आगकी रेखा सी बन जाती है ।

* ज्ञानीके हृदयमें भी सम्पूर्ण विशेषण लगाने चाहिए । वह दृश्य पदार्थोंमें आसक्तिसे शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी आवरणसे रहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त और रजोगुणसे रहित होता है ।

मयूरहेमचूडादिपक्षिभिः क्वचिदावृतम् ।
विद्याधरीणां देवीनां वाहनैर्विहितास्पदैः ॥ ५१ ॥
क्वचिद्भ्रान्तरोन्नृत्यद्गुहमायूरमण्डलम् ।
क्वचिदग्निशुकैः श्यामं शाद्वलानामिव स्थलम् ॥ ५२ ॥
क्वचित् प्रेतेशमहिषमहिम्ना वामनाम्बुदम् ।
क्वचिदश्वैस्तृणग्रामशङ्काग्रस्तासिताम्बुदम् ॥ ५३ ॥
क्वचिद् देवपुरव्याप्तं क्वचिद्दैत्यपुरान्वितम् ।
अन्योन्याप्राप्यनगरं नगरन्ध्रकरानिलम् ॥ ५४ ॥
क्वचित् कुलाचलाकारनृत्यद्भैरवभासुरम् ।
क्वचित् सपक्षशैलेन्द्रसमनृत्यद्विनायकम् ॥ ५५ ॥
क्वचिद् घर्घरवातौघपक्षप्रोड्डीनपर्वतम् ।
क्वचिद् गन्धर्वनगरसुरस्त्रीवृन्दबन्धुरम ॥ ५६ ॥

कहींपर विद्याधरी देवियोंके वाहन मयूर, हेमचूड आदि पक्षियोंसे, जिन्होंने कि उसमें अपने-अपने घोंसले बना रक्खे थे, व्याप्त था। कहींपर मेघमण्डलके अन्दर कार्तिकेयके वाहन मयूरोंका झुण्ड उसमें नाच कर रहा था, कहींपर वह अग्निके वाहन शुकोंसे † हरी घासके मैदानके तुल्य हरा था। कहींपर उसमें यमराजके वाहन भैंसकी महिमासे (वृहत्कलेवररूप महिमासे) मेघ छोटा-सा प्रतीत होता था, कहींपर सूर्यके घोड़ोंने हरे घासकी आशङ्कासे काले-काले बादलोंको निगल डाला था। कहींपर देवताओंके नगरसे व्याप्त था, कहींपर दैत्योंके नगरोंका तांता लगा था, वे लोग एक दूसरेके नगरको नहीं पा सकते थे, क्योंकि उनके नगरोंके बीचमें पहाड़ोंमें भी छेद करनेमें समर्थ यानी अतिबलवान् वायुका आवास था। कहींपर कुलाचलोंके (मेरु आदि सात कुल पर्वतोंके) तुल्य विशाल-काय नाच रहे भैरवोंसे जगमगा रहा था, कहींपर पक्षयुक्त (परवाले) महान् पर्वतोंके तुल्य विनायक नृत्य कर रहे थे। कहींपर पर्वत घड़घड़ाहट और वायुके झोकोंके साथ परोंसे उड़ते थे, कहींपर गन्धर्वोंका नगर था, जिसमें झुण्डकी झुण्ड अप्सराएँ निवास करती थीं। कहींपर मेघ उड़ रहे पर्वतों द्वारा

† यद्यपि सर्वत्र अग्निका वाहन मेष ही प्रसिद्ध है, तथापि यहांके कथनसे अग्निका वाहन शुक भी है, ऐसा जानना चाहिए।

क्वचिद्वहद्गिरिध्वस्तवृक्षलक्षोच्छ्रिताम्बुदम् ।
क्वचिन्मायाकृताकाशनलिनीजलशीतलम् ॥ ५७ ॥
क्वचिदिन्दुकराकृष्टिशीतलाह्लादमारुतम् ।
क्वचित् तप्तानिलादग्धद्रुमपर्वतवारिदम् ॥ ५८ ॥
क्वचिदत्यन्तसंशान्तवातादेकान्तनिर्ध्वनि ।
क्वचित् पर्वततुल्याभ्रशिखाकूटशतोदयम् ॥ ५९ ॥
क्वचित् प्रावृड्भवोन्मत्तघनाभ्रवघर्घरम् ।
क्वचित् सुरासुरगणप्रवृत्तरणदुर्गमम् ॥ ६० ॥
क्वचिद् व्योमाब्जिनीहंसीस्वनाहूताब्जवाहनम् ।
क्वचिन्मन्दाकिनीतीरनलिनीलुण्ठकानिलम् ॥ ६१ ॥
स्वशरीरेण गङ्गादिसरितां सन्निधानतः ।
प्रोड्डीनमत्स्यमकरकुलीराम्बुजकूर्मकम् ॥ ६२ ॥
पातालगार्कजनितभूच्छायाकाकचोपनैः ।
कचित्कचिन्मण्डलेषु ग्रस्तचन्द्रार्कमण्डलम् ॥ ६३ ॥

छिन्न-भिन्न तथा लाखों वृक्षों द्वारा छातेके समान अपने ऊपर ताने गये थे, कहींपर वह माया द्वारा निर्मित आकाशकमलिनी (कमलयुक्त सरोवर) के जलसे शीतल था। कहींपर वायु चन्द्रकिरणोंके संसर्गसे शीतल और आह्लादकारी था, तो कहीं सूर्यकिरणोंसे तप्त वायुसे (लूसे) पर्वत, पेड़ और मेघ जल रहे थे। कहींपर वायुके अत्यन्त शान्त होनेके कारण बिलकुल सन्नाटा छाया था, कहींपर पहाड़ोंके समान विशालकाय मेघोंके सैकड़ों शिखरसमूह उदित हो रहे थे। कहींपर उसमें वर्षा ऋतुके उद्दाम और निबिड़ मेघमण्डलके गर्जनकी गड़गड़ाहट हो रही थी, कहींपर प्रवृत्त (हो रहे) देवासुरसंग्रामसे जाना बड़ा कठिन था। कहींपर आकाशकमलिनीमें रहनेवाली हंसी अपने मधुरस्वरसे ब्रह्माजीके वाहन हंसका आह्वान करती थी, कहींपर वायु मन्दाकिनीके तीरकी नलिनियोंकी सुगन्धि चुरा रहा था। गङ्गादि पुण्य नदियोंकी सन्निधि होनेसे मछली, मगर, केकड़े, वेतस (बेंतके वृक्ष), कछुएँ देवताओंका शरीर धारण कर उड़ते थे ॥ ५१—६२ ॥

भूगोलके चारोंओर सूर्यके घूमनेपर पृथिवीकी छाया भी घूमती है, जब सूर्य पातालमें जाता है, तब पृथिवीकी छाया ऊपरको फैलती है, काली होनेसे

क्वचित् सर्गानिलाधूतमायाकुसुमकाननम् ।
पतत्पुष्पहिमासारत्रसद्वैमानिकाङ्गनम् ॥ ६४ ॥
उदुम्बरोदरमशकक्रमभ्रमज्जगत्त्रयान्तरगतभूतसंचयम् ।
विलङ्घ्य तद्वरललने खमुच्चकैर्महीतलं पुनरपि गन्तुमुद्यते ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गगनवर्णनं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

नभःस्थलाद् गिरिग्रामं गच्छन्त्यौ कश्चिदेव ते ।
ज्ञप्तिचित्तस्थितं भूमितलं ददृशतुः स्त्रियौ ॥ १ ॥

वही काक ठहरी, उसके आक्रमणोंसे किन्हीं किन्हीं मण्डलोंमें चन्द्र और सूर्य मण्डलमें ग्रहण लगा था। कहींपर विमानचारी देवताओं द्वारा अपनी अङ्गनाओंके विस्मयके लिए रचित मायिक सृष्टिके वायुओं द्वारा मायानिर्मित फूलोंका वन हिलाया जाता था, अतएव गिर रहे पुष्परूपी हिमकी लगातार वृष्टिसे विमानचारी देवताओंकी अङ्गनाएँ भयभीत हो रही थीं ॥ ६३, ६४ ॥

इस प्रकार आकाशका वर्णन करनेपर लोगोंको आकाशचारियोंके वैभवमें राग न हो, इसलिए उन्हें तुच्छ करते हुए कहते हैं—'उदुम्बर०' इत्यादिसे ।

वे दोनों ललनाएँ गूलरके फलके अन्दरके छोटे-छोटे मशकोंकी नाईं जिसमें त्रिजगत्-मध्यवर्ती प्राणिवर्ग घूम रहा था, ऐसे आकाशको ऊपर तक लांघकर फिर पृथ्वीतलमें जानेके लिए उद्यत हुईं ॥ ६५ ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

[सरस्वती देवी और लीला द्वारा दृष्ट सात समुद्र और सात द्वीपोंसे परिवेष्टित, ब्रह्माण्डरूप आवरणसे युक्त अपूर्व भुवनका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्र, आकाश-मण्डलसे पर्वतग्रामको जा रहीं उन दोनों ललनाओंने अपूर्व भूमितलको, जो कि सरस्वतीके मनमें था यानी जिसको सरस्वती लीलाको दिखलाना चाहती थी, देखा ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डनरहृत्पद्मं दिगष्टकदलं बृहत् ।
गिरिकेसरसम्बाधं स्वामोदभरसुन्दरम् ॥ २ ॥

सरित्केसरिकानालमध्येऽवश्यायबिन्दुकम् ।
शर्वरीभ्रमरीभ्रान्तं भूतौघमशकाकुलम् ॥ ३ ॥

अन्तर्गुणगणाकीर्णं सुरन्ध्रैः सुपरिवृतम् ।
उह्यमानपयःपूरैर्दिवसालोककान्तिमत् ॥ ४ ॥

रसार्द्रं खेभ्रमद्धंसं रात्रिसङ्कोचभाजनम् ।
पातालपङ्कनिर्मग्ननागनाथमृणालकम् ॥ ५ ॥

उसी भूमितलका ब्रह्माण्डरूपी पुरुषके हृदयकमलरूपसे वर्णन करते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

वह महीतल ब्रह्माण्डरूपी पुरुषका विशाल हृदय कमल था, आठों दिशाएँ उसकी पँखुरियाँ थीं, पर्वतरूपी केसरोंसे ठसाठस भरा था, मनको आकर्षण करनेवाली सुगन्धिसे उसकी मनोहरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी । सरिताएँ ही उसकी अवान्तर शाखाएँ (केसरकी अवान्तरशाखाएँ) थीं, कारण कि वे केसररूप पर्वतोंसे निकली थीं, हिमकण ही उनके नालके बीचमें स्थित मधुबिन्दु थे, रात्रि उसकी भँवरी थी (रात्रिरूपी भँवरीसे मह भ्रमियुक्त था), असीम प्राणिवर्ग उसके मशक थे (प्राणिसंघरूप क्षुद्र पतिंगोंसे वह व्याकुल था) । भोग्य वस्तुओंके गुण उसके नालदण्डके भीतरके तन्तु थे, उनसे वह व्याप्त था, जल-प्रवाहको बहानेवाले पाताल आदि बिल उसके सुन्दर नालछिद्र थे, उनसे वह परिवृत था और था सूर्यके आतपसे अत्यन्त कान्तिवाला ॥ २–४ ॥

श्रृङ्गार आदि नौ रस उसके मकरन्द थे, उनसे वह सरस था, आकाशमें घूम रहा हंस (सूर्य) उसका हंस था, ब्रह्माकी रात्रिरूप रात्रिमें (प्रलयकालमें) संकोचको प्राप्त होता था*, पातालरूपी पङ्कमें निमग्न शेषनाग उसका मृणालदण्ड था ॥ ५ ॥

---

* कमलोंका रात्रिमें संकोचको प्राप्त होना प्रसिद्ध है, उक्त कमल प्रलयरूपी रात्रिमें संकोचको प्राप्त होता है ।

कदाचिदास्पदाम्भोधिकम्पकम्पितदिग्दलम् ।
अधोनालगतानन्तदैत्यदानवकण्टकम् ॥ ६ ॥
असुरस्त्रैणवल्लर्या संभोगसुकुमारया ।
प्राप्यं भूभृन्महावीजहृदयं भूतबीजया ॥ ७ ॥
जम्बूद्वीप इति ख्यातां विपुलां तत्र कर्णिकाम् ।
सरित्केसरिकानालां नगरग्रामकेसराम् ॥ ८ ॥
कुलशैलेश्वरोत्तुङ्गबीजसप्तकसुन्दरीम् ।
मध्यस्थोच्चमहामेरुबीजाक्रान्तनभस्थलीम् ॥ ९ ॥
सरःप्रालेयकणिकां वनजङ्गलधूलिकाम् ।
स्थलेष्वामण्डलान्तस्थजनजालालिमण्डलाम् ॥ १० ॥

कभी आश्रयभूत * महोदधिके कम्पनसे उक्त भुवनरूपी हृदयकमलकी पँखुरीरूप दसों दिशाएँ कम्पित हो जातीं थीं, नालके अधोभागमें स्थित अनन्त दैत्य-दानव ही उसके अनन्त कांटे थे, उसका मृणालकन्द सन्ततिरूपी प्राणियोंकी बीजभूत, संयोगसे सुकुमार, असुरोंके स्त्री-समूहरूपी मृणालकलिका आदि वल्लरी द्वारा प्राप्त करने योग्य महाबीज स्थानीय मेरु आदि पर्वतोंका हृदयके समान जीवनका हेतु था ॥ ६–७ ॥

उस भुवनरूप कमलमें उन्होंने विशालकर्णिकाको देखा, जो जम्बुद्वीप नामसे प्रसिद्ध थी । उसमें सरिताएँ ही केसरकी अवान्तर शाखाओंके नालदण्ड थे, नगर और ग्राम ही उसमें केसर थे। वह जम्बुद्वीपरूपी कर्णिका उत्तुङ्ग सात कुल पर्वतरूपी बीजोंसे (कमलगट्टोंसे) बड़ी भली लगती थी। मध्यवर्ती अत्यन्त उत्तुङ्ग महामेरुरूपी बीजसे (कमलगट्टेसे) आकाशको स्पर्श कर रही थी, सरोवर उसके ओसके बूँद थे। वन और जङ्गल उसके पराग थे तथा कर्णिकाके अगल बगलके स्थानोंमें चारों ओर मण्डलके मध्यमें रहनेवाला जनसमुदाय ही अलिवृन्द था ॥ ८–१० ॥

* 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (जो जलका शर—घनीभूत भाग—था, वह संहत होकर पृथ्वी हुआ) यह श्रुति इसमें प्रमाण है, तथा पुराणोंमें भी यह बात आई हुई है कि भगवान् वराहने पृथ्वीका उद्धार कर जलके ऊपर उसकी स्थापना की थी, इससे पृथ्वीका आश्रय महाम्भोधि कहा गया है ।

तां योजनशताकारैः प्रतिराकं प्रबोधिभिः ।
सागरैर्भ्रमरैर्व्याप्तां दिक्चतुष्टयशालिभिः ॥ ११ ॥
दिग्दलाष्टकविश्रान्तससुराम्भोधिषट्पदाम् ।
भ्रातृभिर्नवभिर्भूपैर्नवधा परिकल्पिताम् ॥ १२ ॥
लक्षयोजनविस्तीर्णामाकीर्णां च रजोलवैः ।
नानाजनपदव्यूहस्थिरावश्यायसीकराम् ॥ १३ ॥
द्वीपात्तु द्विगुणं मानं लवणार्णवलेखया ।
दधत्याऽऽवलितां बाह्ये प्रकोष्ठमिव कम्बुना ॥ १४ ॥
ततोऽपि द्विगुणं देहं दधत्यावलयाकृतिम् ।
जगद्भूतलताव्याप्तां शाकाख्यद्वीपलेखया ॥ १५ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्या च वेष्टिताम् ।
प्रत्यग्रक्षीरपूर्णाब्धिलेखया स्वादुशीतया ॥ १६ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्योपवेष्टिताम् ।
नानाजनालङ्कृतया कुशाख्यद्वीपलेखया ॥ १७ ॥

वह (जम्बूद्वीप नामक कर्णिका) प्रत्येक पूर्णिमामें उमड़नेवाले, चारों दिशाओंमें स्थित तथा सौ योजन विस्तीर्ण समुद्ररूपी भ्रमरोंसे व्याप्त थी। आठों दिशारूपी पँखुरियोंमें स्थित दिक्पालोंके सहित सागर उसके षट्पद थे। उसके भद्राश्व, केतुपाल आदि नौ भाइयोंने, जो कि राजा थे, नौ विभाग किये थे, तथा वह लाखों योजन विस्तीर्ण थी और थी रजःकणोंसे व्याप्त। अनेक जनपद (देश) समूह उसके स्थिर हिमकणके सीकर थे। वह जम्बूद्वीरूपी कर्णिका इस द्वीपसे * द्विगुणित परिमाणवाले क्षारसमुद्रसे, शङ्खवलयसे मणिबन्धकी नाईं, चारों ओर घिरी हुई थी। तदनन्तर उससे भी द्विगुण देहको धारण कर रही शाकनामक द्वीपरेखासे घिरी हुई जगद्रूप पदमलतासे व्याप्त थी, तदनन्तर उससे भी (शाकद्वीपसे भी) द्विगुण आकार धारण करनेवाली स्वादु और शीतल नवीन क्षीरसे पूर्ण समुद्ररेखासे यानी क्षीरसागरसे व्याप्त थी। तदनन्तर क्षीरसागरसे भी द्विगुण आकारको धारण कर रही

---

* 'द्वीपाद् द्विगुणम्' इत्यादि यद्यपि पौराणिक प्रक्रियासे विरुद्ध है, तथापि अन्य ब्रह्माण्डको लेकर वैसा कहा गया है या सृष्टिको मायिक सिद्ध करनेमें मुख्य तात्पर्य होनेके कारण वैसा कहा गया है, यह समझना चाहिए।

ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्या च वेष्टिताम् ।
दध्यब्धिलेखया नित्यसन्तर्पितसुरौघया ॥ १८ ॥
ततः क्रौञ्चाभिधद्वीपलेखयैवंप्रमाणया ।
वेष्टितां खातरचया नवां नृपपुरीमिव ॥ १९ ॥
ततोऽपि च घृताम्भोधिलेखयैवंप्रमाणया ।
ततोऽपि शाल्मलीद्वीपलेखया मलपूर्णया ॥ २० ॥
ततः सुरामहाम्भोधिलेखया पुष्पशुभ्रया ।
शेषस्य देहलतया हरिमूर्त्तिमिवाऽऽवृताम् ॥ २१ ॥
ततो गोमेदकद्वीपलेखयैवंप्रमाणया ।
इक्ष्वब्धिलेखयाऽप्येवं हिमवत्सानुशुद्धया ॥ २२ ॥
ततोऽपि पुष्करद्वीपलेखया द्विगुणस्थया ।
अन्तस्वादूदकाम्भोधिलेखयैवंप्रमाणया ॥ २३ ॥
ततो दशगुणेनाऽथ पातालतलगामिना ।
निखातवलयेनोच्चैः श्वभ्रसम्भाररूपिणा ॥ २४ ॥

अनेक जनोंसे अलङ्कृत कुशनामक द्वीपरेखासे वेष्टित थी। तदनन्तर कुशद्वीपसे भी द्विगुण आकारवाली दधिसमुद्रकी रेखासे, जो सतत देवताओंके समूहोंको तृप्त करती है, वेष्टित थी, तदनन्तर दधिसमुद्रसे भी द्विगुण परिमाणवाली क्रौञ्चनामक द्वीपरेखासे, परिखासे नवीन राजनगरीकी तरह, घिरी हुई थी। तदनन्तर क्रौञ्चद्वीपसे द्विगुण आकारवाली घृतसमुद्रकी रेखासे घिरी थी, तदतन्तर घृतसमुद्रसे द्विगुण एवं सुरासमुद्रसे परिवृत होनेके कारण पापपूर्ण शाल्मलीद्वीपरेखासे वेष्टित थी। तदनन्तर जैसे शेषनागकी देहरूपी लतासे भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति वेष्टित रहती है, वैसे ही पुष्पके समान अतिशुभ्र सुरासमुद्रकी रेखासे वेष्टित थी, तदनन्तर सुरासमुद्रसे परिमाणमें द्विगुण गोमेदक नामक द्वीपरेखासे (मणिप्रधान प्लक्षद्वीपरेखासे) परिवेष्टित थी, तदनन्तर उससे भी द्विगुण इक्षु-समुद्रकी रेखासे, जो हिमवान्के शिखरके समान शुद्ध थी, आवृत थी। तदनन्तर इक्षुसागरसे द्विगुण परिमाणवाले पुष्करद्वीपकी रेखासे घिरी हुई थी, तदनन्तर इससे भी द्विगुण परिमाणवाले स्वादुजलके समुद्रसे घिरी हुई थी ॥ ११–२३ ॥

तदनन्तर वह कर्णिका उक्त स्वादुजलसमुद्रसे दशगुण अधिक परिणामवाले पातालतलगामी गड्ढोंके समूहरूप निखातवलयसे (निम्नदेशरूप वलयसे),

पातालगामिमार्गेण वलितां भयदात्मना ।
एतस्मात् खलु सर्वस्मात् ततो दशगुणोच्चया ॥ २५ ॥
आव्योमसु चतुर्दिक्षु श्वभ्रसम्भारभीषया ।
अर्द्धोन्म्लानतमोरूपलग्ननीलोत्पलस्रजा ॥ २६ ॥
नानामाणिक्यशिखरकह्लारकुमुदाब्जया ।
लोकालोकाचलोत्तालविपुलोद्दाममालया ॥ २७ ॥
वलितां त्रिजगल्लक्ष्मीधम्मिल्लवलनामिव ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ २८ ॥
अज्ञातभूतसञ्चारनाम्नाऽरण्येन मालिताम् ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ २९ ॥
नभसेव चतुर्दिक्कं व्याप्तामतुलवारिणा ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३० ॥
मेर्वादिद्रावणोत्केन ज्वालाजालेन मालिताम् ।
एतस्मादथ सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३१ ॥

जो पातालमें जानेवालोंका महाभयप्रद मार्ग है, वेष्टित थी। तदनन्तर इससे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले चारों दिशाओंमें आकाशपर्यन्त गर्तोंके समूहसे भी अत्यन्त भयङ्कर, दूसरे अर्धभागमें उन्म्लान यानी सूर्यके प्रकाशके न मिलनेसे म्लानिको अप्राप्त तथा दूसरे यानी ऊपरके अर्धभागमें सूर्यके प्रकाशके संयोगसे अन्धकारके न रहनेके कारण म्लानप्राय अन्धकाररूपिणी नीलकमलोंकी पङ्क्तिसे खचित तथा विविध प्रकारके माणिक्योंके शिखररूपी रक्तकमल और श्वेतकमलोंसे युक्त लोकालोक-पर्वतरूपी अति उत्तुङ्ग विशाल और सौरभ्यादि गुणोंसे श्रेष्ठ मालासे परिवेष्टित थी अतएव तीनों जगतोंकी लक्ष्मीके लटकी रचनाकी नाईं सुशोभित हो रही थी। तदनन्तर इससे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले अज्ञातजीवसंचार नाम वाले अरण्यसे वह आवृत थी। अनन्तर अज्ञातभूतसंचार नामक जङ्गलसे भी दशगुण अधिक परि-माणवाले अपरिमित जलसे, आकाशके समान, चारों दिशाओंमें वह व्याप्त थी। तदनन्तर अपरिमित जलसे भी दशगुण अधिक परिणामवाले, मेरु आदि पर्वतोंको भी द्रवीभूत करनेमें (प्रलय करनेमें) समर्थ भीषण ज्वालाओंसे वेष्टित थी। तदनन्तर ज्वालाओंसे भी अधिक दशगुण परिमाणवाले मेरु आदि पर्वतोंके समूहको तृण

मेर्वाद्यचलसङ्घातं नयता तृणपांसुवत् ।
महताऽद्रीन्द्रविस्फोटकारिणा जवहारिणा ॥ ३२ ॥

निःशून्यत्वादशब्देन मरुता परितो वृतम् ।
एतस्मादथ सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३३ ॥

परितो वलितं व्योम्ना निःशून्येनैकरूपिणा ।
अथ योजनकोटीनां शतेन घनरूपिणा ॥
व्याप्तं ब्रह्माण्डकुड्येन हैमेनाऽपि द्विपर्वणा ॥ ३४ ॥

इति जलधिमहाद्रिलोकपालत्रिदशपुराम्बरभूतलैः परीतम् ।
जगदुदरमवेक्ष्य मानुषी द्राग्भुवि निजमन्दिरकोटरं ददर्श ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने भूलोकवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

———○———

मेरु आदि पर्वतोंके समूहोंके तिनके और धूलिकणके सदृश ले जा रहे यानी अतिसामर्थ्यवान्, बड़े-बड़े पर्वतोंमें विस्फोट पैदा करनेवाले, अन्य भूतोंके वेगको हरनेवाले, मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात न होनेके कारण शब्दरहित एवं बह रहे प्रलयकालके वायुसे चारों ओर परिवृत था । तदनन्तर पूर्वोक्त सबसे भी दशगुना बड़े केवल एक शून्यरूपी आकाशसे चारों ओर घिरा था । तदनन्तर सौ करोड़ योजन परिमाणवाली खूब घनी दोहरी सुवर्णमय ब्रह्माण्डकी दीवारोंसे व्याप्त था ॥ ३१—३४ ॥

इस प्रकार सागर, महापर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतलसे परिवेष्टित जगत्का मध्य देखकर लीलाने तुरन्त पृथिवीमें अपने मन्दिरका आधारभूत गिरिग्रामका अवकाश देखा ॥ ३५ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

———○———

षड्विंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति ते वरवर्णिन्यौ ततो ब्रह्माण्डमण्डलात् ।
निर्गत्याऽन्यदनुप्राप्ते यत्र तद्ब्राह्मणास्पदम् ॥ १ ॥
ततो ददृशतुः सद्म स्वमेवं सिद्धयोषितौ ।
अदृश्ये एव लोकस्य मण्डपं ब्राह्मणास्पदम् ॥ २ ॥
चिन्ताविधुरदासीकं बाष्पक्लिन्नाङ्गनामुखम् ।
विध्वस्तप्रायवदनं शीर्णपर्णाम्बुजोपमम् ॥ ३ ॥
नष्टोत्सवपुरप्रायमगस्त्यात्तमिवाऽर्णवम् ।
ग्रीष्मदग्धमिवोद्यानं विद्युद्दग्धमिव द्रुमम् ॥ ४ ॥
वातच्छिन्नमिवाऽम्भोदं हिमदग्धमिवाऽम्बुजम् ।
अल्पस्नेहदशं दीपमिवाऽऽलोकनभेदनम् ॥ ५ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग

[अपने घरमें अपने पुत्र आदि आत्मीयोंको देखकर और उनका विलाप सुनकर उनके ऊपर लीलाका अनुग्रह तथा जगत्‌के तत्त्वका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, वे दोनों ललनाएँ राजा पद्म जिसमें रहता था, उस ब्रह्माण्डमण्डलसे निकल कर दूसरे ब्रह्माण्डमण्डलमें, जिसमें उस वसिष्ठनामके ब्राह्मणका घर था, पूर्वोक्त रीतिसे पहुँचीं ॥ १ ॥

तदुपरान्त उन दोनों सिद्ध ललनाओंने अन्य लोगोंके दृष्टिगोचर हुए बिना ही ब्राह्मणका निवासभूत मण्डप अपना घर इस प्रकार देखा । गृहस्वामीके मर जानेके कारण उसमें दासियाँ शोकसे व्याकुल थीं, औरतोंके मुँह आँसुओंकी धाराओंसे सराबोर थे, आँसू और धूलिसे मलिन होने और आभूषण और तिलकसे शून्य होनेके कारण सबके मुँहपर घनी उदासी छाई थी; अतएव सबके मुँह उस कमलके तुल्य थे, जिसकी पँखुरियाँ झड़ गई हों । ब्राह्मणके आस्पदभूत उस ब्रह्माण्डके प्रायः सभी नगर उत्सवशून्य थे, अतएव वह महर्षि अगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्रके समान, ग्रीष्म ऋतुसे मुर्झाकर जर्जर हुए उद्यानकी नाईं और बिजली गिरनेसे जले हुए वृक्षके तुल्य आँखोंको चीरता था और वायुसे

आसन्नमृत्यु करुणाकुलवक्त्रकान्ति संशीर्णजीर्णतरुपर्णवनोपमानम् ॥
वृष्टिव्यपायपरिधूसरदेशरूक्षं जातं गृहेश्वरवियोगहतं गृहं तत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ सा निर्मलज्ञानचिराभ्यासेन सुन्दरी ।
सम्पन्ना सत्यसङ्कल्पा सत्यकामा च देववत् ॥ ७ ॥
चिन्तयामास मामेते देवीं चेमां स्वबन्धवः ।
पश्यन्तु तावत् सामान्यललनारूपधारणीम् ॥ ८ ॥
ततो गृहजनस्तत्र स ददर्शाऽङ्गनाद्वयम् ।
लक्ष्मीगौर्योर्युगमिव समुद्भासितमन्दिरम् ॥ ९ ॥
आपादविविधाम्लानमालावलनसुन्दरम् ।
वसन्तलक्ष्म्योर्युगलमिवाऽऽमोदितकाननम् ॥ १० ॥

छिन्न-भिन्न हुए मेघके समान, तुषारपातसे जले हुए कमलके समान एवं उस दीपके समान, जिसका कि तेल और बत्ती चुक गई हो, अदर्शनीय था ॥ २–५ ॥

वह घर गृहपतिके वियोगसे हतप्रभ हो गया था, उसकी मुखकान्ति करुणासे (शोकको बढ़ानेवाले एक प्रकारके भावसे) फीकी पड़ गई थी, अतएव वह आसन्न मृत्युवाले पुरुषकी नाईं दिखाई देता था। वह चिरकालकी अनावृष्टिसे धूलिधूसर देशकी नाईं रूखा था और था उस बनके समान विरूप जिसके वृक्षोंके पुराने सब पत्ते झड़ गये हों ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अब सुन्दरी लीला निर्मल ज्ञानका चिरकालतक अभ्यास करनेसे देवताओंकी नाईं सत्यसंकल्प और सत्य-मनोरथ हो गई थी। उसने संकल्प किया कि मुझे और देवी सरस्वतीको ये मेरे बन्धुबान्धव साधारण स्त्रीके वेषमें देखें। उसके यों संकल्प करनेके उपरान्त घरके लोगोंने वहांपर लक्ष्मी और पार्वतीके तुल्य दो अङ्गनाओंको देखा। उन्होंने अपनी कान्तिसे उस घरको जगमगा रक्खा था, सिरसे लेकर पैरतक भाँति-भाँतिकी अनेक अम्लान (न कुम्हलाई हुई) मालाओंके परिवेष्टनसे उनकी सहज सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थी, अतएव दो वसन्तलक्ष्मियोंके सदृश उन्होंने अपने सहज सौरभसे बन और उपवनोंको सुगन्धित कर दिया था। ये दो ललनाएँ क्या

सर्वौषधिवनग्रामं पूरयन्त्यौ रसायनैः ।
शीतलाह्लादसुखदं चन्द्रद्वयमिवोदितम् ॥ ११ ॥
लम्बालकलतालोललोचनालिविलोकनैः ।
किरत् कुवलयोन्मिश्रमालतीकुसुमोत्करान् ॥ १२ ॥
द्रुतहेमरसापूरसरित्सरणहारिणा ।
देहप्रभाप्रवाहेण कनकीकृतकाननम् ॥ १३ ॥
सहजाया वपुर्लक्ष्म्या लीलादोलाविलासिनः ।
ते एते च तरङ्गाढ्या निजलावण्यवारिधेः ॥ १४ ॥
विलोलबाहुलतिकायुगेनाऽरुणपाणिना ।
किरन्नवनवं हैमं कल्पवृक्षलतावनम् ॥ १५ ॥
पादैरमृदिताम्लानपुष्पकोमलपल्लवैः ।
स्थलाब्जदलमालाभैरस्पृशद्भूतलं पुनः ॥ १६ ॥

थीं अपनी चाँदनीरूप सुधासे सम्पूर्ण औषधियोंको पूर्ण कर रहे, शीतल तथा आह्लाद-सुख देनेवाले उदित हुए दो चन्द्रमा थे। वे दोनों लटक रहे अलकरूपी लताओंकी संनिधिमें चञ्चल होनेके कारण भ्रमररूपसे परिणत लोचनों द्वारा विलोकनोंसे नील कमलोंसे मिश्रित मालतीपुष्पोंके * पुञ्जोंको मानो बरसा रही थीं। पिघलाये गये सुवर्णके रसको बहानेवाली नदीके वेगके सदृश मनोहर अपने शरीरकी कान्तिके प्रवाहसे उन्होंने आस-पासके बनोंको सुवर्णमय बना दिया था॥ ७–१३ ॥

वे दोनों ललनाएँ क्या थीं, शरीरकी प्राकृतिक (स्वाभाविक) शोभारूपी लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए बनाये गये झूलेके समान विलास करनेवाले अपने सौन्दर्यरूपी समुद्रकी श्रेष्ठ तरङ्ग थीं। कमलकी नाईं लाल हाथोंसे युक्त चञ्चल दो भुजलताओंसे नूतन नूतन स्वर्णमय कल्पवृक्षलताओंके बनकी सृष्टि कर रही थीं। भाव यह कि उन दोनोंमें प्रत्येक भुजलताओं और उनके अग्रभागमें स्थित लाल हाथोंके हिलने-डुलनेके कारण प्रतिक्षण विन्यासभेदसे पहले कल्पित वनकी अपेक्षा नूतन कल्पवृक्षलतावनका निर्माण कर रही थी ॥ १४–१५ ॥

उनके चरण क्या थे, अमृदित (न मसले हुए) और अम्लान (न कुम्हलाये

* कटाक्षोंकी नीलसे मिश्रित शुभ्र छवि होती है, अतएव उनकी नील कमलोंसे मिश्रित मालतीके पुष्पोंके रूपसे उत्प्रेक्षा की गई है।

तालीतमालखण्डानां शुष्काणां शुचिशोचिषाम् ।
आलोकनामृतासेकैर्जनयद्बालपल्लवान् ॥ १७ ॥
नमोऽस्तु वनदेवीभ्यामित्युक्त्वा कुसुमाञ्जलिम् ।
तत्याज ज्येष्ठशर्माऽथ सार्द्धं गृहजनेन सः ॥ १८ ॥
पपात पादयोर्गेहे तयोर्वै कुसुमाञ्जलिः ।
प्रालेयसीकरासारः पद्मिन्या इव पद्मयोः ॥ १९ ॥

ज्येष्ठशर्मादय ऊचुः

जयतं वनदेव्यौ नो दुःखनाशार्थमागते ।
प्रायः परपरित्राणमेव कर्म निजं सताम् ॥ २० ॥
इति तद्वचनान्ते ते देव्यावूचतुरादरात् ।
आख्यात दुःखं येनाऽयं लक्ष्यते दुःखितो जनः ॥ २१ ॥
ज्येष्ठशर्मादयस्ते ते देव्यौ प्रति यथाक्रमम् ।
निजं तद् दुःखमाचख्युर्दम्पतिव्यसनात्मकम् ॥ २२ ॥

हुए) फूल और कोमल पल्लव थे और थे स्थलकमलकी पँखुरियोंकी माला । ऐसे कोमल और लाल चरणोंसे वे भूमितलका स्पर्श नहीं करती थीं ॥ १६ ॥

वे अपने दृष्टिपातरूप अमृतके सेकसे सूखे हुए अतएव सफेद रंग-के ताल और तमालके वृक्षोंके खण्डोंमें नूतन नूतन पल्लवोंको पैदा कर रही थीं ॥ १७ ॥

तदनन्तर ज्येष्ठशर्माने घरके अन्यान्य जनोंके साथ 'वनदेवियोंके लिए नमस्कार' कहकर पुष्पाञ्जलि छोड़ी ॥ १८ ॥

घरमें उनके पैरोंपर पुष्पाञ्जलि ऐसे गिरी जैसे कमलकी लताके कमलोंपर हिमजलके सीकरों (छोटे-छोटे बिन्दुओंकी) वृष्टि गिरती है ॥ १९ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदिने कहा—हे वन-देवियो, आप लोगोंकी जय हो, मालूम होता है कि आप दोनों हमारे दुःखको निवृत्त करनेके लिए आई हैं, क्योंकि प्रायः दूसरोंकी रक्षा करना ही सत्पुरुषोंका स्वभाव है ॥ २० ॥

ज्येष्ठशर्माके यह कहनेके बाद उन वन-देवियोंने बड़े आदरसे पूछा—आप लोग अपना दुःख कहिये, जिस दुःखसे ये सभी लोग दुःखी दिखाई देते हैं ॥ २१ ॥

ज्येष्ठशर्मादय ऊचुः

देव्यावभवतां स्निग्धाविह ब्राह्मणदम्पती ।
सर्वातिथी कुलकरौ स्तम्भभूतौ द्विजस्थितेः ॥ २३ ॥

तावद्य गृहमुत्सृज्य सपुत्रपशुबान्धवम् ।
स्वर्गं गतौ नः पितरौ तेन शून्यं जगत्त्रयम् ॥ २४ ॥

पक्षिणो गृहमारुह्य विक्षिपन्तः प्रतिक्षणम् ।
देहं शून्ये मृतं भक्त्या शोचन्ति मधुरैः स्वरैः ॥ २५ ॥

गुहागुरुगुरारावप्रलापलपनाकुलः ।
सरित्स्थूलाश्रुधाराभिः परिरोदिति पर्वतः ॥ २६ ॥

उन ज्येष्ठशर्मा आदि सबने क्रमशः उक्त वन-देवियोंसे ब्राह्मणदम्पतियोंका मरणरूप दुःख कहा ॥ २२ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदिने कहा—हे देवियों, इस स्थानमें अतिथिसत्कार करनेवाले ब्राह्मणदम्पती रहते थे, उनका आपसमें बड़ा स्नेह था, वे द्विजातियोंकी मर्यादाके स्तम्भके समान आधार थे और थे पुत्रपौत्र आदि सन्ततिके जनक । वे हमारे माता-पिता इस समय पुत्र, इष्ट-मित्र और पशुओंके सहित घरका त्यागकर स्वर्गमें चले गये हैं। इसी कारण हमें यह सारा जगत् शून्य दिखलाई देता है ॥ २३,२४ ॥

'पूर्णः पूर्णं जगत्पश्येत् कामुकः कामुकं जगत् । आर्तोऽप्यार्तिमयं विश्वं लुब्धो लुब्धं स्वचित्तवत् ॥' (पूर्ण पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को पूर्ण देखता है, कामी पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सारे जगत्को कामी देखता है, दुःखी पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को दुःखमय देखता है और लोभी पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को लोभी देखता है) इस न्यायके अनुसार उन्होंने कहा—'पक्षिणः' इत्यादिसे ।

हे देवियो, देखिये, पक्षी घरके ऊपर बैठकर प्रतिक्षण आकाशमें अपनी देहको पटकते हुए मृतकके प्रति भक्तिसे मधुर शब्दों द्वारा शोक प्रकाश करते हैं ॥२५॥

सब पर्वत दीर्घ गुर-गुर शब्दरूपी विलापसे पूर्ण गुहारूपी मुखोंसे युक्त और व्याकुल होकर नदीरूपी आँसूकी धाराओंसे रोते हैं ॥ २६ ॥

निर्जराक्रन्दकारिण्यो मुक्ताम्बरपयोधराः ।
तप्तनिःश्वासविध्वस्ताः परं कार्श्यमिता दिशः ॥ २७ ॥
क्षतविक्षतसर्वाङ्गः करुणाक्रन्दकर्कशः ।
उपवासरतो ग्रामो दीनो मृतिपरः स्थितः ॥ २८ ॥
दिवसं प्रति वृक्षाणामवश्यायाश्रुतिबिन्दवः ।
गुच्छलोचनकोशेभ्यस्तापोष्णा निपतन्त्यधः ॥ २९ ॥
प्रशान्तजनसंचारा रथ्या क्षारविधूसरा ।
विधवा विगतानन्दा संशून्यहृदया स्थिता ॥ ३० ॥
कोकिलालिप्रलापिन्यो वृष्टिबाष्पहता लताः ।
उष्णोष्णश्वसना देहं घ्नन्ति पल्लवपाणिभिः ॥ ३१ ॥
आत्मानं शतधा कर्त्तुं बृहच्छ्वभ्रशिलातले ।
निर्झराः प्रपतन्त्येते तापतप्तशरीरकाः ॥ ३२ ॥

दिक्पाल देवताओंके आलापरूप रोदन करनेवाली, तपे हुए निःश्वास वायुसे मलिन एवं जिनके मेघोंने (स्तनोंने) आकाशका (वस्त्रका) त्याग कर दिया है, ऐसी दिशारूपी अङ्गनाएँ अत्यन्त कृशताको प्राप्त हुई हैं ॥ २७ ॥

ग्रामवासी सम्पूर्ण लोगोंके सर्वाङ्ग मारे शोकके भूमिमें लोटने, छाती पीटने आदिसे क्षतविक्षत हो गये हैं, चारों ओर करुण रसका स्रोत बहानेवाले मुक्त-कण्ठ रुदनसे सब जर्जरित हो रहे हैं, कोई भी भोजनग्रहण नहीं करता, सभी दीन-हीन दशामें हैं और सभी मरनेके लिए प्रस्तुत हैं ॥ २८ ॥

प्रतिदिन वृक्षोंके गुच्छरूपी लोचनकोशोंसे ओसरूपी अश्रुबिन्दु शोकसे (धूपसे) गर्म होकर नीचे गिरते हैं ॥ २९ ॥

शान्त है जनोंका संचार जिनमें एवं रेहसे धूसर सड़कें आनन्दरहित एवं शून्य-हृदय विधवाके समान हैं ॥ ३० ॥

कोयल और भ्रमरोंके शब्दसे विलाप करनेवाली, वृष्टिरूपी बाष्पसे आहत और अत्यन्त उष्ण निःश्वासवाली लताएँ पल्लवरूपी हाथोंसे अपने शरीरको पीटती हैं ॥ ३१ ॥

ये झरने शोकसे अति सन्तप्त होकर बड़े भारी गर्तके शिलातलमें अपने सौ टुकड़े करनेके लिए गिर रहे हैं ॥ ३२ ॥

निःशङ्कया गतश्रीका मूका विलुलिताशयाः ।
अन्धेन तमसा पूर्णा गृहा गहनतां गताः ॥ ३३ ॥
उद्यानपुष्पखण्डेभ्यो रुदद्भ्यो भ्रमरारवैः ।
पूतिगन्धो विनिर्याति स्वामोदापरनामकः ॥ ३४ ॥
चैत्रद्रुमविलासिन्यो विरसाः प्रतिवासरम् ।
लताः कृशा विलीयन्ते सङ्कुचद्गुच्छलोचनाः ॥ ३५ ॥
प्रक्षेप्तुमम्बुधौ देहं प्रवृत्ता गन्तुमाकुलाः ।
कुल्याः कलकलालोलं दोलयन्त्यस्तनुं भुवि ॥ ३६ ॥
अशङ्कमशकापातस्पन्दमप्यतिचापलम् ।
कलयन्त्यः स्थिता वाप्यो निस्पन्दानन्दमात्मनि ॥ ३७ ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वविद्याधरसुराङ्गनम् ।
नूनमद्य नभो जातमस्मत्ताताभ्यलङ्कृतम् ॥ ३८ ॥

गाढ़ अन्धकार (शोक) से व्याप्त, हर्षकी चर्चासे शून्य एवं जिसके अन्दर स्थित बर्तन आदि सामग्री तहस-नहस है ऐसे घर निस्सन्देह गतश्री (शोभा-विहीन) होकर अरण्यरूपमें परिणत हो गये हैं ॥ ३३ ॥

भ्रमरोंके गुञ्जारसे रोदन कर रहे उद्यानके फूलोंसे सुन्दर आमोदनामक दुर्गन्ध निकल रहा है । भाव यह कि उद्यानोंके पुष्पोंसे यद्यपि सुन्दर सौरभ निकल रहा है फिर भी नासिकाको दुःखदायी होनेसे शोकार्त पुरुष दुर्गन्धि कह कर उसकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

वसन्त ऋतुके वृक्षोंको सुशोभित करनेवाली लताएँ दिन-प्रतिदिन विरस और कृश होकर गुच्छरूपी लोचनोंको संकुचित करती हुई शीर्ण-विशीर्ण हो रही हैं ॥ ३५ ॥

नहर और नदियाँ सागरमें अपने शरीरको डुबानेके लिए गमनाकुल होकर पृथिवीमें अपने शरीरको कलकलनिनादपूर्वक दोलायमान कर रही हैं ॥ ३६ ॥

ये बावड़ियाँ पहले लोगोंके स्नान, जल भरना आदि व्यवहारसे अत्यन्त चपलताको धारण करती थीं, किन्तु अब इनमें मच्छरके गिरनेसे होनेवाले स्पन्दकी भी संभावना नहीं है, यों निस्पन्दभावसे स्वस्वरूपमें समाधिनिष्ठ हुई जैसी स्थित है ॥ ३७ ॥

हे देवियो, जिस प्रदेशमें किन्नरियां, गन्धर्व, विद्याधर और देवताओंकी

तद् देव्यौ क्रियतां तावदस्माकं शोकनाशनम् ।
महतां दर्शनं नाम न कदाचन निष्फलम् ॥ ३९ ॥
इत्युक्तवन्तं सा पुत्रं मूर्ध्नि पस्पर्श पाणिना ।
पल्लवेनाऽऽनता नम्रं मूलग्रन्थिमिवाऽब्जिनी ॥ ४० ॥
तस्याः स्पर्शेन तेनाऽसौ दुःखदौर्भाग्यसङ्कटम् ।
जहौ प्रावृड्घनासङ्गाद् ग्रीष्मतापमिवाऽचलः ॥ ४१ ॥
सर्वो गृहजनः सोऽथ तयोर्देव्योर्विलोकनात् ।
लक्ष्मीवान् दुःखनिर्मुक्तो बभूवाऽमृतपो यथा ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

तयाऽस्य लीलया मात्रा पुत्रस्य ज्येष्ठशर्मणः ।
कस्मान्न दर्शनं दत्तं मोहं तावन्निराकुरु ॥ ४३ ॥

अङ्गनाएँ गायन कर रहीं हैं, उस स्वर्गप्रदेशको आज हमारे माता और पिताने अलङ्कृत किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३८ ॥

हे देवियो, हमारे शोकका विनाश कीजिये । महानुभावोंका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, इसलिए हमें आशा है कि आप अवश्य हमारे शोकका विनाश करेंगी ॥ ३९ ॥

जैसे कमलिनी जल सूख जानेपर नम्र होकर अपने पल्लवसे मूलग्रन्थिका (जड़का) स्पर्श करती है, वैसे ही पुत्रके ऐसा कहनेके पश्चात् लीलाने अपने हाथसे उसके मस्तकपर स्पर्श किया ॥ ४० ॥

जैसे वर्षा ऋतुके मेघोंके संसर्गसे पर्वत ग्रीष्म ऋतुके सन्तापका त्याग करता है, वैसे ही लीलाके उस स्पर्शसे ज्येष्ठशर्माने दुःख-दुर्भाग्यरूपी विपत्तिका त्याग किया ॥ ४१ ॥

उन देवियोंके दर्शनसे घरभरके सब लोग देवताओंकी नाईं दुःखरहित और लक्ष्मीवान् हो गये ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको यह शङ्का हुई कि लीला तो सत्यसङ्कल्प थी, अतएव उसने पहलेके (ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जन्मके) माताके शरीरसे ही पुत्रके आश्वासनके लिए दर्शन क्यों नहीं दिया ? उसी शङ्काको वे व्यक्त करते हैं—'तयाऽस्य' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, लीलादेवीने पुत्र ज्येष्ठशर्माको माताके

श्रीवसिष्ठ उवाच

बुद्धः पृथ्व्यादिबोधेन येन पृथ्व्यादिसङ्घकः ।
तस्य पिण्डात्मतां धत्ते व्योमैवाऽन्यस्य केवलम् ॥ ४४ ॥
असदेवाऽङ्ग सदिव भाति पृथ्व्यादिवेदनात् ।
यथा बालस्य वेतालो ना भाति तदवेदनात् ॥ ४५ ॥
यथा पृथ्व्यादिना भातमपृथ्व्यादि भवेत् क्षणात् ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानात् तथा जाग्रत्यपि स्फुटम् ॥ ४६ ॥

शरीरसे दर्शन क्यों नहीं दिया ? इस विषयमें मेरे मोहका (अज्ञानका) आप निराकरण कीजिये ॥ ४३ ॥

लीलाका पुत्रके घरमें आगमन 'प्रपञ्च मिथ्या है' इसकी परीक्षाके लिए हुआ था, पुत्रस्नेहप्रयुक्त तो हुआ नहीं था । पुत्र आदि संसारमें मिथ्यात्व ज्ञान होनेपर पुत्रस्नेह कहाँ रहा, अतः तत्त्वज्ञानके पश्चात् मूलाविद्याके बाधके अनन्तर वर्तमान शरीरसे अतिरिक्त भौतिक शरीर धारण करनेका कोई हेतु नहीं था। इसलिए लीलाने पूर्व शरीर धारण नहीं किया, यों उपपत्ति सहित उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'बुद्धः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुषने मिथ्या पृथिवी आदिका संघातरूप शरीर सत्य पृथिवी आदिके बोधसे सत्य जान लिया, उसकी दृष्टिमें वस्तुतः केवल अद्वितीय चिदाकाश ही भ्रान्तिसे पिण्डरूपताको धारण करता है। तत्त्वज्ञ पुरुषकी दृष्टिमें तो उसका हेतु अज्ञान न होनेसे केवल अद्वितीय चिदाकाश ही स्थित रहता है ॥ ४४ ॥

जैसे बालकको भ्रमसे पुरुष, पुरुषका ज्ञान न होनेसे, वेताल प्रतीत होता है, वैसे ही भ्रमवश पृथिवी आदिका ज्ञान होनेसे असत् ही पृथिवी आदि सत्-से प्रतीत होते हैं * ॥ ४५ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें पृथिवी आदिरूपसे प्रतीत पदार्थ यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान होनेपर क्षणभरमें अपृथिवी आदि रूप हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रदवस्थामें भी स्पष्ट है। भाव यह कि भ्रमवश जाग्रदवस्थामें पृथिवी आदिरूपसे प्रतीत पदार्थ ज्ञान होनेके उपरान्त तुरन्त अपृथिवी आदिरूप हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

* जैसे बालकको असत् ही वेताल, पुरुषमें वेतालबुद्धि होनेसे, सत् प्रतीत होता है, वैसे ही पृथिवी आदिके न होनेपर भी भ्रान्तिवश अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें पृथिवी आदिका बोध होनेसे असत् भी पृथिवी आदि सत्-से प्रतीत होते हैं ।

पृथ्व्यादि खतया बुद्धं खमित्येवाऽनुभूयते ।
तथाहि क्षुब्धधातूनां कुड्येषु ख इवोद्यमः ॥ ४७ ॥
स्वप्ने नगरमूर्वी वा शून्यं खातं च बुद्ध्यते ।
स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याऽप्यर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४८ ॥
खं पृथ्व्यादितया बुद्धं पृथ्व्यादि भवति क्षणात् ।
मूर्छायां परलोकोऽपि प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ४९ ॥
बालो व्योमैव वेतालं म्रियमाणोऽम्बरे वनम् ।
केशोण्डूकं खमन्यस्तु खमन्यो वेत्ति मौक्तिकम् ॥ ५० ॥
त्रस्तक्षीबार्द्धनिद्राश्च नौयानाश्च सदैव खे ।
वेतालवनवृक्षादि पश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ ५१ ॥
यथाभावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः ।
अभ्यासजनितं भाति नाऽस्त्येकं परमार्थतः ॥ ५२ ॥

पृथिवी आदि यदि आकाशरूपसे जाने जायँ, तो ये आकाश ही हैं, ऐसा अनुभव होता है। देखिये न, विक्षिप्त लोगोंका दरवाजेके सदृश प्रतीत होनेवाली स्फटिककी दीवारोंपर शून्यमें जैसा उद्यम दिखाई देता है यानी उन्हें दरवाजे समझकर वे घुसनेकी चेष्टा करते हैं ॥ ४७ ॥

स्वप्नावस्थामें नगर शून्यरूपसे प्रतीत होता है और सम पृथिवी गर्तरूपसे प्रतीत होती है। स्वप्नकी अङ्गना यद्यपि शून्य है, सत् नहीं है, तथापि वह मनुष्योंकी पादसंवाहन आदि क्रिया करती है। यदि आकाशकी पृथिवी आदिरूपसे प्रतीति हो गई, तो आकाश क्षणभरमें पृथिवी आदि हो जाता है। मूर्च्छावस्थामें किसी किसीको परलोक भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥ ४८, ४९ ॥

बालक आकाशको ही वेताल, मर रहा पुरुष आकाशमें वन, अन्य पुरुष उसे कुण्डलाकार केशोंका गोला रूप और दूसरा पुरुष उसको मोतियोंका समुदाय-रूप देखता है। भयभीत, पागल, आधा सोया और आधा जागा हुआ पुरुष तथा नौका द्वारा चलनेवाले पुरुष सदा ही आकाशमें वेताल, वन और वृक्ष आदि देखते हैं और तत्प्रयुक्त पलायन आदि कार्यका अनुभव करते हैं ॥ ५०, ५१ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि इन पदार्थोंका अपनी अपनी भावनाके अनुसार अभ्याससे उत्पन्न हुआ शरीर है, परमार्थतः कोई एक (नियत) शरीर नहीं है ॥५२॥

लीलया तु यथावस्तु बुद्धा पृथ्व्यादिनास्तिता ।
आकाशमेव संवित्त्या भाति भ्रान्तितयोदितम् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मात्मैकचिदाकाशमात्रबोधवतो मुनेः ।
पुत्रमित्रकलत्राणि कथं कानि कदा कुतः ॥ ५४ ॥
दृश्यमादावनुत्पन्नं यच्च भात्यजमेव तत् ।
सम्यग्ज्ञानवतामेवं रागद्वेषदृशौ कुतः ॥ ५५ ॥
हस्तः शिरसि यद्दत्तो लीलया ज्येष्ठशर्मणः ।
तत्प्रभावस्थितारम्भसंबोधायाश्रितेः फलम् ॥ ५६ ॥
बोधो हि चेतति यथैव तथाऽऽशु भाति
सूक्ष्मस्तु खादपि तथाऽतितरां विशुद्धः ।
सर्वत्र राघव स एव पदार्थजालं
स्वप्नेषु कल्पितपुरेष्वनुभूतमेतत् ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिद्धदर्शनहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

लीलाने तो भ्रान्तिरूपसे (मिथ्याप्रपञ्चरूपसे) उदित हुआ आकाश ही दृश्य पदार्थरूपसे प्रतीत होता है, यों पृथिवी आदिकी नास्तिता (अभाव) रूप यथार्थ वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर लिया था ॥ ५३ ॥

ब्रह्मरूप एक चिदाकाशमात्रके ज्ञानसे सम्पन्न मुनिके पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कौन, कैसे, कहांसे और कब होंगे ? ॥ ५४ ॥

दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ, जो प्रतीत होता है, वह अनादि अनन्त परब्रह्म ही है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञानवाले लोगोंकी राग-द्वेषदृष्टियां कैसे हो सकती हैं ॥५५॥

यदि लीलाका अपने पुत्र आदिपर स्नेह नहीं था, तो उसने उनके सिरपर हाथ कैसे फेरा ? इस शङ्कापर कहते हैं—'हस्तः' इत्यादिसे ।

ज्येष्ठशर्माके सिरपर लीलाने जो हाथ फेरा, वह पुत्रप्रेमका फल नहीं था, किन्तु ज्येष्ठशर्माके भावी कल्याणके लिए जिसमें पूर्वजन्मके पुण्य और उनका फल तत्त्वज्ञान स्थित है, ऐसी सर्वाधिष्ठानभूत चितिका ही विवर्तरूप फल था ॥ ५६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बोध जैसे ही पहले पदार्थोंका चिन्तन करता है, वैसे ही शीघ्र पदार्थ आभासित होते हैं । बोध स्वयं आकाशसे भी सूक्ष्म तथा

सप्तविंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्मिन् गिरितटे ग्रामे तस्य मण्डपकोटरे।
अन्तर्धिमाश्वाययतुस्तत्रस्थे एव ते स्त्रियौ ॥ १ ॥
अस्माकं वनदेवीभ्यां प्रसादः कृत इत्यथ।
शान्तदुःखे गृहजने स्वव्यापारपरे स्थिते ॥ २ ॥
मण्डपाकाशसंलीनां लीलामाह सरस्वती ।
व्योमरूपा व्योमरूपां स्मयात्तूष्णीमिव स्थिताम् ॥ ३ ॥
सङ्कल्पस्वप्नयोर्येषां यत्र संकथनं मिथः।
यथेहाऽर्थक्रियां धत्ते तयोः सा संकथा तथा ॥ ४ ॥

अत्यन्त शुद्ध है। बोध ही सर्वत्र पदार्थसंघ है, स्वप्नोंमें और कल्पित नगरोंमें यह बात शतशः अनुभूत है ॥ ५७ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

[आश्चर्यमग्न लीला द्वारा फिर अपने पतिके दर्शनकी अभिलाषा व्यक्त करना तथा सरस्वती देवीके उपदेशसे बोध प्राप्त कर अपने पूर्व जन्मोंका वर्णन करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस पर्वतशिखरके ग्राममें उस ब्राह्मणके घरके मण्डपाकाशमें ही वहांपर ज्येष्ठशर्मा आदिके सामने स्थित वे दोनों ललनाएँ शीघ्र अन्तर्हित हो गईं। हम लोगोंपर वनदेवियोंने अनुग्रह किया, ऐसा विचार कर ज्येष्ठशर्मा आदि घरके लोगोंका दुःख मिट गया और वे अपने गृहकृत्यमें संलग्न हो गये। तदुपरान्त गृहमण्डपाकाशमें अन्य लोगोंकी दृष्टिमें अन्तर्हित विस्मयसे चुपचाप-सी बैठी हुई व्योमरूपिणी लीलासे व्योमरूपा (शून्यरूप संकल्पशरीरवाली) सरस्वतीने कहा ॥१–३॥

लोकमें प्रसिद्ध है कि दूसरेके सङ्कल्पशरीरको दूसरा नहीं देख सकता, ऐसी अवस्थामें संकल्पशरीरधारिणी उन दोनोंका संवाद कैसे हो सकता है ?

पृथ्व्यादिनाडीप्राणादि ऋतेऽप्यभ्युदिता तयोः ।
सा संकथनसंवित्तिः स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ५ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

ज्ञेयं ज्ञातमशेषेण दृष्टादृष्टार्थसंविदः ।
ईदृशीयं ब्रह्मसत्ता किमन्यद्वद पृच्छसि ॥ ६ ॥

लीलोवाच

मृतस्य भर्तुर्जीवोऽसौ यत्र राज्यं करोति मे ।
तत्राऽहं किं न तैर्दृष्टा दृष्टाऽस्मीह सुतेन किम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी इस शङ्काको उनकी आकृतिसे भाँपकर स्वयं श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

लोकमें जिनका देवताके प्रसाद आदिसे उषा और अनिरुद्धकी नाईं समान ही परस्परसंवादी संकल्प या स्वप्न हुआ, उनका उस संकल्प और स्वप्नमें परस्पर संवाद जैसे संवादके अनन्तर होनेवाली क्रियारूपमें परिणत होता है, वैसे ही लीला और ज्ञप्तिदेवीका संवाद भी हुआ ॥ ४ ॥

जैसे स्वप्न और संकल्पमें पृथिवी आदि अधिभूत और नाड़ी, प्राण आदिसे उपलक्षित शरीरके बिना भी संवादकी प्रतीति होती है, वैसे ही अधिभूत (पृथिवी आदि) और अध्यात्म (नाड़ी, प्राण) आदिसे उपलक्षित शरीरके बिना भी उनकी वह संवादप्रतीति हुई ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी प्रसङ्गतः बीचमें आई हुई शङ्काका समाधान कर प्रस्तुत कथाको कहते हैं—'श्रीसरस्वत्युवाच' इत्यादिसे ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—भद्रे, तुमने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, द्रष्टव्य पदार्थ देख लिये हैं, इस प्रकारकी यह ब्रह्मसत्ता है । बताओ, अब और क्या तुम पूछती हो ? ॥ ६ ॥

लीलाने कहा—देवीजी, मेरे मृत पतिका जीव जहाँपर राज्य करता है, वहाँपर मुझे उन लोगोंने क्यों नहीं देखा, जैसा कि यहाँपर मेरे पुत्रने मुझे देखा ? इसका क्या कारण है ? ।

श्रीसरस्वत्युवाच

अभ्यासेन विना वत्से तदा ते द्वैतनिश्चयः ।
नूनमस्तं गतो नाऽभून्निःशेषं वरवर्णिनि ॥ ८ ॥
अद्वैतं यो न यातोऽसौ कथमद्वैतकर्मभिः ।
युज्यते तापसंस्थस्य च्छायाङ्गानुभवः कुतः ॥ ९ ॥
लीलाऽस्मीति विनाऽभ्यासं तव नाऽस्तं गतोऽभवत् ।
यदा भावस्तदा सत्यसङ्कल्पत्वमभून्न ते ॥ १० ॥
अद्याऽसि सत्यसङ्कल्पा संपन्ना तेन मां सुतः ।
संपश्यत्वित्यभिमतं फलितं तव सुन्दरि ॥ ११ ॥
इदानीं तस्य भर्तुस्त्वं समीपं यदि गच्छसि ।
तत्तेन व्यवहारस्ते पूर्ववत् संप्रवर्तते ॥ १२ ॥

लीलोवाच

इहैव मन्दिराकाशे पतिर्विप्रो ममाऽभवत् ।
इहैव स मृतो भूत्वा संपन्नो वसुधाधिपः ॥ १३ ॥

श्रीसरस्वतीजीने कहा—वत्से, उस समय अभ्यास न होनेके कारण तुम्हारा द्वैतज्ञान (प्रपञ्च सत्य है इत्याकारक ज्ञान) निश्शेष नष्ट नहीं हुआ था। जो पुरुष भेदक अविद्याके उच्छेदसे अद्वैतको प्राप्त नहीं हुआ है, उसका सत्यसंकल्पत्व आदि क्रियाओंसे कैसे सम्बन्ध हो सकता है? धूपमें बैठे हुए पुरुषको छायामें बैठे हुए पुरुषका शीतलताका अनुभव कैसे हो सकता है?॥ ७-९ ॥

हे सुन्दरी, जब अभ्यास न होनेके कारण मैं लीला-देह ही हूँ, ऐसा तुम्हारा दृढ़ संस्कार विनष्ट नहीं हुआ था, तब तुम्हारी सत्यसंकल्पता उत्पन्न नहीं हुई थी। आज तुम सत्यसङ्कल्प हो गई हो, इसलिए 'मुझे मेरा पुत्र देखे' तुम्हारा यह अभिलाष सफल हुआ है ॥ १०,११ ॥

इस समय यदि तुम अपने पतिके समीपमें जाओ, तो उसके साथ तुम्हारा सम्पूर्ण व्यवहार पहलेकी नाई (जब कि वह जीवित था उस समयके समान) होगा ॥ १२ ॥

यों प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश द्वारा सरस्वती देवीसे निर्दिष्ट अर्थमें लीलाकी असंभावनाकी शङ्का निवृत्त हो गई, अतएव वह मण्डपाकाशके अन्दर ही अपने

इहैव तस्य संसारे तस्मिन् भूमण्डलान्तरे ।
राजधानीपुरे तस्मिन् पुरन्ध्र्यस्मि व्यवस्थिता ॥ १४ ॥
इहैवाऽन्तःपुरे तस्मिन् स मृतो मम भूपतिः ।
इहैवाऽन्तःपुराकाशे तस्मिन्नेव पुरे नृपः ॥ १५ ॥
संपन्नो वसुधापीठे नानाजनपदेश्वरः ।
सर्वाजिवजवीभाव इहैवैवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
अस्मिन्नेव गृहाकाशे सर्वा ब्रह्माण्डभूमयः ।
स्थिताः समुद्गके मन्ये यथाऽन्तः सर्षपोत्कराः ॥ १७ ॥
सदाऽदूरमहं मन्ये तद्भर्तुर्मम मण्डलम् ।
क्वचित् पार्श्वे स्थितमिह यथा पश्यामि तत् कुरु ॥ १८ ॥

श्रीदेव्युवाच

भूतलारुन्धति सुते भर्तारस्तव संप्रति ।
त्रयो नामाऽथवाऽभूवन् बहवः शतसंमताः ॥ १९ ॥

पतिके दोनों परलोकोंकी तथा हजारों ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्तिका अनुवाद करती हुई फिर अपने पतिके मण्डलको दिखलानेकी प्रार्थना करती है—'इहैव' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—देवि, इसी मन्दिरके आकाशमें मेरे पतिदेव ब्राह्मण हुए, इसीमें मरे और फिर इसीमें उत्पन्न होकर राजा हुए ॥ १३ ॥

अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यही मन्दिराकाश है, इसमें उनकी राजधानीके नगरमें मैं उनकी (राजा पद्मकी) राजमहिषीरूपसे स्थित हूँ ॥ १४ ॥

यहींपर उस अन्तःपुरमें मेरे पतिदेव राजा पद्मकी मृत्यु हुई थी, इसी अन्तःपुराकाशमें उस नगरमें वे राजा हुए ॥ १५ ॥

वे पृथिवीतलमें अनेक नगरोंके अधिपति हो गये। पारमार्थिक ब्रह्ममें कल्पित मायिक चलन आदि विकार इस प्रकारसे इस मण्डपाकाशमें ही व्यवस्थित है। जैसे दोनेके अन्दर सरसोंकी राशि रहती है, वैसे ही इसी गृहाकाशमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डभूमियाँ स्थित हैं, ऐसा मैं मानती हूँ। कहीं पासमें स्थित अपने पतिके मण्डलको सदा अतिनिकटवर्ती समझती हूँ, उसे मैं यहाँपर जैसे देखूँ, वैसा उपाय आप कीजिये ॥ १६–१८ ॥

इस मण्डपाकाशमें केवल आधुनिक ही पदार्थ नहीं हैं, किन्तु अतीत,

नेदीयसां त्रयाणां तु द्विजस्ते भस्मतां गतः ।
राजा माल्यान्तरगतः संस्थितोऽन्तःपुरे शवः ॥ २० ॥
संसारमण्डले ह्यस्मिंस्तृतीयो वसुधाधिपः ।
महासंसारजलधिं पतितो भ्रमसागतः ॥ २१ ॥
भोगकल्लोलकलनाविकलो मलचेतनः ।
जाड्यजर्जरचिद्वृत्तिः संसाराम्भोधिकच्छपः ॥ २२ ॥
चित्राणि राजकार्याणि कुर्वन्नप्याकुलान्यपि ।
सुप्तः स्थितो जडतया न जागर्ति भवभ्रमे ॥ २३ ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।
इत्यनर्थमहारज्ज्वा वलितोऽवशतां गतः ॥ २४ ॥

आगामी सभी पदार्थ हैं। उन पदार्थोंमें तुम्हारे अनेक जन्मोंके अनेक पतियोंके शरीर हैं, सबका दर्शन एक साथ होना तो असम्भव है, उनमें से तुम्हें कौन-सा दिखलाऊँ, इस अभिप्रायसे देवीजीने कहा—'भूतला०' इत्यादिसे।

श्रीदेवीजी ने कहा—हे पुत्रि, हे भूतलकी अरुन्धती, इस समय तुम्हारे तीन पति हुए अथवा सैकड़ों पति हुए। अत्यन्त संनिकट तीन पतियोंमें से वसिष्ठ ब्राह्मणरूप पति तो जलकर भस्म हो गया है और पद्मराजारूप पति फूल-मालाओंकी राशिसे ढका हुआ शवरूपसे अन्तःपुरमें स्थित है ॥ १९–२० ॥

इस संसारमण्डपमें तीसरा तुम्हारा पति वसुधाधिप है, वह संसाररूपी महासागरमें प्रविष्ट होकर भ्रमको प्राप्त हो गया है ॥ २१ ॥

भोगरूपी बड़ी-बड़ी लहरोंकी कल्पनाओं द्वारा विक्षिप्त हो गया है, इसी कारण उसकी बुद्धि मलिन हो गई है। बुद्धिकी मलिनतासे बुद्धिके अन्दर प्रतिबिम्बित उसकी चित्तवृत्ति भी प्रायः शिथिल हो गई है, वह संसाररूपी सागरका कछुआ बन गया है ॥ २२ ॥

अनेकानेक कठिनतर राजकार्योंको करता हुआ भी वह इस संसाररूपी भ्रममें सोया पड़ा है, जड़ होनेके कारण जागता नहीं है ॥ २३ ॥

मैं राजा हूँ, मै भाँति भाँतिके भोगोंका भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, इस प्रकारकी अज्ञानरूप बड़ी रस्सीसे वेष्टित होकर अस्वतन्त्रताको प्राप्त हो गया है ॥ २४ ॥

तत्कस्य वद भर्तुस्त्वां समीपं वरवर्णिनि ।
वात्या वनान्तरं गन्धलेखामिव वनान्नये ॥ २५ ॥
अन्य एव हि संसारः सोऽन्यो ब्रह्माण्डमण्डपः ।
अन्या एव तता वत्से व्यवहारपरम्पराः ॥ २६ ॥
संसारमण्डलानीह तानि पार्श्वे स्थितान्यपि ।
दूरं योजनकोटीनां कोटयस्तेष्विहाऽन्तरम् ॥ २७ ॥
आकाशमात्रमेतेषामिदं पश्य वपुः पुनः ।
मेरुमन्दरकोटीनां कोटयस्तेष्ववस्थिताः ॥ २८ ॥
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलम् ।
महाचितेः स्फुरन्त्यर्करुचीव त्रसरेणवः ॥ २९ ॥
महारम्भगुरूण्येवमपि ब्रह्माण्डकानि हि ।
तुलया धानकामात्रमपि तानि भवन्ति नो ॥ ३० ॥

हे सुन्दरी, कहो, तुम्हें उन तीनोंमें से, जैसे आँधी सुगन्धपरम्पराको एक वनसे दूसरे वनमें ले जाती है, वैसे ही किस पतिके समीप ले जाऊँ ? ॥ २५ ॥

वत्से, वह अन्य ही संसार है, अन्य ही ब्रह्माण्डमण्डप है, वहाँ अन्य ही विविध व्यवहार होते हैं ॥ २६ ॥

यद्यपि वे पूर्वोक्त संसारमण्डल इस मण्डपाकाशमें अधिष्ठानभूत चिद्दृष्टिसे पासमें ही स्थित हैं, तथापि सांसारिक दृष्टिसे उनमें कोटि-कोटि योजन दूरीका अन्तर (व्यवधान) है ॥ २७ ॥

परमार्थदृष्टिसे कहती हैं—इन संसारमण्डलोंका पारमार्थिक स्वरूप तो मण्डपके मध्यमें स्थित केवल चिदाकाश ही है, यह तुम पुनः पुनः अनुभव करो। इन संसारमण्डलोंमें एक नहीं कोटि कोटि मेरु और मन्दर पर्वत स्थित हैं ॥ २८ ॥

जैसे झरोखे आदिसे घरके अन्दर गई हुई सूर्यकिरणोंमें त्रिसरेणु स्फुरित होते हैं, वैसे ही महाचैतन्यके परमाणुमें विभिन्न विविध सृष्टियाँ निर्बाधरूपसे स्फुरित होती हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार (पूर्वदर्शित ब्रह्माण्डके समान ही) वे ब्रह्माण्ड भी यद्यपि बड़े-बड़े द्वीप, समुद्र, भुवन आदिसे विशाल ही हैं, तथापि चिद्दृष्टिरूप तुलासे उन्हें देखा जाय, तो वे वटबीजोंके बराबर भी नहीं होते हैं ॥ ३० ॥

नानारत्नामलोद्योतो वनवद्भाति खे यथा ।
पृथ्व्यादिभूतरहिता जगच्चिद् भाति चिन्तया ॥ ३१ ॥
कचति ज्ञप्तिरेवेदं जगदित्यादिनाऽऽत्मनि ।
न तु पृथ्व्यादि सम्पन्नं सर्गादावेव किञ्चन ॥ ३२ ॥
यथा तरङ्गः सरसि भूत्वा भूत्वा पुनर्भवेत् ।
विचित्राकारकालाङ्गदेशा ज्ञप्तावलं तथा ॥ ३३ ॥

लीलोवाच

एवमेतज्जगन्मातर्मया स्मृतमिहाऽधुना ।
ममेदं राजसं जन्म न तमो न च सात्त्विकम् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मणस्त्ववतीर्णाया अष्टौ जन्मशतानि मे ।
नानायोनीन्यतीतानि पश्यामीवाऽधुना पुनः ॥ ३५ ॥

जैसे आकाशमें भ्रमवश वनकी नाईं विविध प्रकारके रत्नोंका निर्मल प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही वस्तुतः पृथिवी आदि भेदसे रहित ही चित् अविद्याजनित दृढ़ वासनासे जगद्रूप प्रतीत होती है ॥ ३१ ॥

भ्रान्तिसे जगत्की प्रतीति होनेपर भी वस्तुभूत आत्मामें कभी भी कुछ भी नहीं हुआ, ऐसा कहती हैं—'कचति' इत्यादिसे ।

चित्का ही भ्रमवश इस जगत् आदिरूपसे विकास होता है । यतः सृष्टिके आदिमें ही पृथिवी आदि कुछ नहीं हुआ, अतः उससे आत्मामें कभी कुछ भी ह्रास, वृद्धि आदि विकार नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

जैसे तालाबमें लहरें हो होकर पुनः होती हैं, वैसे ही विचित्र आकारवाले काल, कालके अवयव दिन, रात्रि आदि, ब्रह्माण्ड एवं उनके अवयव भुवन आदि देश महाचितिमें हो होकर पुनः होते हैं ॥ ३३ ॥

लीलाने कहा—हे जगन्-माता, जैसा आप कहती हैं, यह बात ठीक वैसी है । मुझे इस समय स्मरण हुआ है कि यहांपर यह मेरा जन्म राजस है, तामस या सात्त्विक नहीं है । इस जन्ममें दुःख और परितापकी प्रचुरता है और 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' (रजोगुणप्रचुर लोग मध्यलोकमें रहते हैं) ऐसी स्मृति भी है, इससे निश्चय है कि मेरा यह जन्म राजस है ॥ ३४ ॥

इस कल्पके आरम्भमें जब अन्तःकरणरूप उपाधिकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर

संसारमण्डले देवि कस्मिंश्चिदभवं पुरा ।
लोकान्तराब्जभ्रमरी विद्याधरवराङ्गना ॥ ३६ ॥
दुर्वासनाकलुषिता ततोऽहं मानुषी स्थिता ।
संसारमण्डलेऽन्यस्मिन् पन्नगेश्वरकामिनी ॥ ३७ ॥
कदम्बकुन्दजम्बीरकरञ्जवनवासिनी ।
पत्राम्बरधरा श्यामा शवर्यहमथाऽभवम् ॥ ३८ ॥
वनवासनया मुग्धा संपन्नाऽहमथोद्धता ।
गुलुच्छनयना पत्रहस्ता वनविलासिनी ॥ ३९ ॥
पुण्याश्रमलता साऽहं मुनिसङ्गपवित्रिता ।
वनाग्निदग्धा तस्यैव कन्याऽभूवं महामुनेः ॥ ४० ॥
अस्त्रीत्वफलदातॄणां कर्मणां परिणामतः ।
राजाऽहमभवं श्रीमान् सुराष्ट्रेषु समाः शतम् ॥ ४१ ॥

उसमें प्रतिबिम्बरूपसे मैं अवतीर्ण हुई तबसे आजतक मेरे विभिन्न योनियोंमें ८०० सौ जन्म बीत चुके हैं, उन्हें मैं आज पुनः साक्षात् देख-सी रही हूँ यानी स्पष्टरूपसे उनका स्मरण कर रही हूँ ॥ ३५ ॥

हे देवि, पहले किसी दूसरे संसारमण्डलमें विद्याधरलोकरूप कमलकी भँवरी मैं विद्याधरराजकी पत्नी हुई । तदुपरान्त दुर्वासनाओंसे कलुषित हृदयवाली मैं मानुषी हुई, तदनन्तर दूसरे संसारमण्डलमें मैं पन्नगराजकी कामिनी हुई । तदनन्तर मैं कदम्ब, कुन्द, जामुन और करञ्जोंके वनमें रहनेवाली, वृक्षोंके पत्तोंके वस्त्र पहनने-वाली, काली भिल्लिन हुई ॥ ३६–३८ ॥

तदनन्तर वनकी वासनासे मूढ़ हुई यानी धर्ममर्यादाको न जाननेवाली अतएव दुष्कर्मोंके संचयसे उद्धत हुई मैं फूलोंके गुच्छेरूप नेत्रवाली, पत्तेरूपी हाथवाली, वनमें विलास करनेवाली पुण्य आश्रमकी गुलुच्छलता हुई, तदनन्तर मुनियोंके संसर्गसे पवित्र होकर मैं वनाग्निसे जलकर उन्हीं (पहले जिनके आश्रममें लता हुई थी) महामुनिकी कन्या हो गई ॥ ३९, ४० ॥

तदुपरान्त पुरुषत्वरूप फल देनेवाले जो कर्म मैंने किये थे, उन पहले जन्मोंमें सञ्चित कर्मोंके फलस्वरूप मैं सौराष्ट्र देशमें पूरे सौ वर्षोंतक श्रीमान् राजा

तालीनां तलकच्छेषु राजदुष्कृतदोषतः ।
नकुली नववर्षाणि कुष्ठनष्टाङ्गिकाऽभवम् ॥ ४२ ॥
वर्षाण्यष्टौ सुराष्ट्रेषु देवि गोत्वं कृतं मया ।
मोहाद् दुर्जनदुष्टाज्ञबालगोपाललीलया ॥ ४३ ॥
विहङ्गया वैरविन्यस्ता वागुरा विपिनावनौ ।
क्लेशेन महता च्छिन्ना अधमा वासना इव ॥ ४४ ॥
कर्णिकाक्रोडशय्यासु विश्रान्तमलिना सह ।
पद्मकुड्मलकोशेषु भुक्तकिञ्जल्कया रहः ॥ ४५ ॥
भ्रान्तमुत्तुङ्गशृङ्गासु हरिण्या हारिनेत्रया ।
वनस्थलीषु रम्यासु किराताहतमर्मया ॥ ४६ ॥
दृष्टं नष्टासु दिक्ष्वब्धिकल्लोलैरुह्यमानया ।
मत्स्याम्बुकच्छपाच्छोडे मोघमाननताडनम् ॥ ४७ ॥

हुई । तदुपरान्त राजाके परद्रव्यहरण आदि दुष्कर्मोंसे तालीवृक्षके तले स्थित किसी जलाशय प्रदेशमें नौ वर्ष तक कुष्ठ और विकलाङ्ग नकुली हुई ॥४१,४२॥

हे देवि, तदनन्तर मैंने आठ वर्ष सुराष्ट्र देशमें दुष्ट तथा अज्ञ ग्वालोंकी ताड़न, अनुधावन आदि क्रीड़ाके साथ गऊ योनिमें जन्म लेकर बिताये । उक्त गोयोनिमें जन्मका अनुभव करनेमें मेरा अज्ञान ही कारण हुआ ॥ ४३ ॥

तदुपरान्त मैं पक्षियोनिको प्राप्त हुई । पक्षियोनिमें मैंने अकारण वैरसे ही व्याधों द्वारा बिछाये गये जालोंको दुष्ट द्वैतवासनाओंके समान बड़े क्लेशसे छिन्न-भिन्न किया । तदनन्तर मैं भ्रमरी हुई, मैंने कमलके मुकुलोंके (कलियोंके) मध्यमें भरपेट केसर खाकर कर्णिकाके (कमलके छातोंके) मध्यरूप शय्यामें भ्रमरके साथ एकान्तमें विश्राम किया । तदुपरान्त मैं मनोहर नेत्रवाली हरिणी हुई । हरिणी-योनिमें मैंने किरातों द्वारा मर्माहत होकर ऊँचे ऊँचे शिखरोंसे युक्त रमणीय वन-स्थलियोंमें भ्रमण किया ॥ ४४–४६ ॥

तदुपरान्त मैं मत्सी हुई । मत्स्ययोनिमें समुद्रके बड़े-बड़े कल्लोलों द्वारा बहाई जा रही मैं दिग्भ्रम होनेपर जब मछुओंके फन्देमें आ गई, तो मैंने मछुओं द्वारा लट्ठी आदिसे अपने मुँहपर किये गये प्रहारोंको बड़ी-बड़ी लहरों और कछुओंकी पीठकी हड्डीपर गिरनेसे व्यर्थ होते देखा ॥ ४७ ॥

पीतं चर्मण्वतीतीरे गायन्त्या मधुरस्वरम् ।
पुलिन्द्या सुरतान्तेषु नालिकेररसासवम् ॥ ४८ ॥

सारसीसरसालिन्या सीत्कारमधुरस्वरम् ।
सारसः सुरतैः स्वैरं सामन्तश्चारु रञ्जितः ॥ ४९ ॥

तालीतमालकुञ्जेषु तरलाननेत्रया ।
क्षीबप्रेक्षणविक्षोभैः कृतं कान्तावलोकनम् ॥ ५० ॥

कनकस्यन्दसन्दोहसुन्दरैरङ्गपञ्जरैः ।
स्वर्गेऽप्सरोम्बुजिन्याऽऽशु तोपिताः सुरषट्पदाः ॥ ५१ ॥

मणिकाञ्चनमाणिक्यमुक्तानिकरभूतले ।
कल्पद्रूमवने मेरौ यूना सह रतं कृतम् ॥ ५२ ॥

कल्लोलाकुलकच्छासु लसद्गुच्छलतासु च ।
वेलावनगुहास्वब्धेश्चिरं कूर्मतया स्थितम् ॥ ५३ ॥

तदनन्तर मैं पुलिन्दी हुई । उक्त जन्ममें चर्मण्वती नदीके किनारे मधुर स्वर गायन कर रही मैं सुरतके पश्चात् नारियलोंके रसका आसव पीती थी ॥ ४८ ॥

तदुपरान्त मैं सारसी हुई । कमलिनीमें प्रेमयुक्त भ्रमरीकी नाईं निश्चल रहती हुई मैंने सुरतकालके सीत्कारसे मधुरस्वरपूर्वक यथेच्छ सुरतोंसे सारसराज अपने पति सारसको खूब प्रसन्न किया ॥ ४९ ॥

तदनन्तर चञ्चलवदन और चञ्चलनयनवाली मैंने ताली और तमालोंके निकुञ्जोंमें मदयुक्त कटाक्ष दर्शनसे उत्पन्न कामोद्दीपनसे पतिका अवलोकन किया ॥५०॥

तदुपरान्त मैं अप्सरा हुई । स्वर्गमें भी मुझ अप्सरारूपी कमलिनीने भ्रमर-रूपी देवताओंको स्वर्णके द्रव (रस) के संघातके तुल्य मनोहर अङ्गरूपी पिंजरोंसे आलिङ्गन अधरपान आदि द्वारा खूब सन्तुष्ट किया ॥ ५५ ॥

उसी अप्सराके जन्ममें मणि, सुवर्ण, माणिक्य, मोतियोंसे जड़ी भूमिवाले कल्प-वृक्षोंके वनोंसे पूर्ण मेरुपर्वतमें युवकोंके साथ रमण किया ॥ ५२ ॥

तदनन्तर समुद्रकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे आकुल, जलप्राय प्रदेशोंसे युक्त, फूलोंके गुच्छोंसे शोभित लताओंसे वेष्टित समुद्रके तटवर्ती वनोंकी गुफाओंमें चिरकालतक मैं कच्छपीरूपसे रही ॥ ५३ ॥

तरत्तारतरङ्गासु दोलनं सरसालिनाम् ।
चलच्छदपटालीषु राजहंस्यं मया कृतम् ॥ ५४ ॥

शाल्मलीदललोलानामान्दोलनदरिद्रताम् ।
मशकस्य मयाऽऽलोक्य दीनं मशकया स्थितम् ॥ ५५ ॥

तरत्तारतरङ्गासु चञ्चद्वीच्यग्रचुम्बनैः ।
भ्रान्तं शैलस्रवन्तीषु जलवञ्जुललीलया ॥ ५६ ॥

गन्धमादनमन्दारमन्दिरे मदनातुराः ।
पतिताः पादयोः पूर्वं विद्याधरकुमारकाः ॥ ५७ ॥

चञ्चल लहरियोंसे परिपूर्ण सरोवरोंमें मैंने अपने चञ्चल वस्त्रकी नाईं शुभ्र पक्षोंकी पङ्क्तियोंपर कमलके भ्रमसे बैठे हुए भ्रमरोंके झूलनेके साधन राजहंसीत्वका अनुभव किया यानी मैं राजहंसी बनी मेरे वस्त्रके समान शुभ्र चञ्चल परोंपर कमलके भ्रमसे बैठे हुए भँवरोंने झूला खेला ॥ ५४ ॥

झूल रहे एक सेंमरके पत्तेमें चञ्चल हुए अनेक मच्छरोंमें से एक मच्छर वहांसे गिर गया, फिर वहां न बैठ सकने कारण वह बेचारा झूला खेलनेसे वञ्चित रहा, उसकी वह दयनीय अवस्था देखकर, यद्यपि मैं हँसी थी तथापि उस मच्छरकी दयनीयदशाके संस्कारसे ही मैं मरी अतएव मच्छर बनकर दीन-हीन दशामें मुझे रहना पड़ा, क्योंकि प्राणी जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए प्राण त्याग करता है, उसकी वासनासे वासित होकर वह उसी भावको प्राप्त होता है, ऐसा भगवान्‌का वचन है ॥ ५५ ॥

तदुपरान्त मैंने जलवेतस्‌की लीलासे यानी जलवेतस्‌की योनिमें बड़ी-बड़ी लहरियोंसे व्याप्त पर्वतीय नदियोंमें चपल तरङ्गोंके अग्रभागके चुम्बन द्वारा भ्रमण किया ॥ ५६ ॥

स्थावरपर्यन्त अधम योनियोंमें जन्म कहकर अब उत्तम जन्मोंको भी कहती है—'**गन्धमादन०**' इत्यादिसे ।

पहले मैंने गन्धमादन पर्वतमें स्थित मन्दारवृक्षोंके निकुञ्जमें कामपीड़ित विद्याधरके कुमारोंको अपने चरणोंपर गिराया था, कामपीड़ित विद्याधर कुमारोंने मेरा अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय किया था ॥ ५७ ॥

कीर्णकर्पूरपूरेषु तल्पेषु व्यसनातुरा ।
चिरं विलुलिताऽस्मीन्दुविम्बेष्विव शशिप्रभा ॥ ५८ ॥

योनिष्वनेकविधदुःखशतान्वितासु भ्रान्तं मयोन्नमनसन्नमनाकुलाङ्ग्या ।
संसारदीर्घसरितश्चलया लहर्या दुर्वारवातहरिणीसरणक्रमेण ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाजन्मान्तरवर्णनं नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः शर्गः

श्रीराम उवाच

वज्राङ्गसाराद् ब्राह्माण्डकुड्यानिविडमण्डलात् ।
कोटियोजनसंपुष्टात् कथं ते निर्गते बले ॥ १ ॥

वहांपर भी दुःखप्रचुरता दर्शाती हैं—'कीर्णं' इत्यादिसे ।

जैसे चन्द्रकान्ति (चाँदनी) चन्द्रबिम्बमें लोट-पोट लेती है, वैसे ही उक्त विद्याधर कुमारोंके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित होकर मैं कर्पूरके चूर्णसे भरपूर शय्याओंमें चिरकाल तक लेटी रही ॥ ५८ ॥

तराजूके पलड़ेकी नाईं ऊर्ध्वगति (ऊपर उठना) और अधोगति (नीचे गिरना) से व्याकुलचित्त एवं संसाररूपी विशाल नदीकी चञ्चल तरङ्गरूप मैंने वातहरिणीके (वातप्रमीनामक एक प्रकारकी हरिण जातिके) दुर्वारगमनक्रमसे* भाँति-भाँतिके सैकड़ों दुःखोंसे युक्त अनेक योनियोंमें भ्रमण किया ॥ ५९ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[दृष्ट प्रपञ्चके असत्य होनेसे चिदाकाशकी सत्यता और पर्वत तथा गिरिग्रामका विस्तारसे वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, वज्रके समान दृढ़, पूर्वोक्त रीतिसे अनेक करोड़ योजन भलीभाँति पुष्ट मध्यभागवाले अत्यन्त निबिड़ ब्रह्माण्डकी दीवारसे

---

* ऐसी प्रसिद्धि है कि वातप्रमी मृग स्वभावतः वायुकी गतिके अनुसार सम-विषम प्रदेशोंमें दौड़ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

क्व ब्रह्माण्डं क्व तद्भित्तिः क्वाऽत्राऽसौ वज्रसारता ॥
किलाऽवश्यं स्थिते देव्यावन्तःपुरवराम्बरे ॥ २ ॥
तस्मिन्नेव गिरिग्रामे तस्मिन्नेवाऽऽलयाम्बरे ।
ब्राह्मणः स वसिष्ठाख्य आस्वादयति राजताम् ॥ ३ ॥
तमेव मण्डपाकाशकोणकं शून्यमात्रकम् ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तं भूतलं सोऽनुभूतवान् ॥ ४ ॥
आकाशात्मनि भूपीठं तस्मिंस्तद्राजपत्तनम् ।
राजसद्माऽनुभवति स च सा चाऽप्यरुन्धती ॥ ५ ॥
लीलाभिधाना सा जाता तया च ज्ञप्तिरर्चिता ।
ज्ञप्त्या सह समुल्लङ्घ्य खमाश्चर्यमनोहरम् ॥ ६ ॥

वे अबलाएँ कैसे निकलीं। भाव यह कि स्वप्नमें मिथ्याभूत दीवार भी गमनकी प्रतिरोधक देखी गई है, अतः उस प्रकारकी दृढ़ और घन दीवारसे निकलना असंभव प्रतीत होता है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कहां ब्रह्माण्ड है, कहां उसकी दीवार है और कहां उसमें वज्रके तुल्य कठोरता है ? राजमहिषी लीला और सरस्वती देवी दोनों ही वस्तुतः उसी अन्तःपुरके आकाशमें स्थित थीं ॥ २ ॥

उसी पर्वतग्राममें उसी गृहाकाशमें पूर्वोक्त वसिष्ठनामक ब्राह्मण विदूरथ होकर राज्यके ऐश्वर्यका भोग करता है ॥ ३ ॥

उसने राजा पद्म बनकर उसी मण्डपाकाशके कोनेको, जो कि केवल शून्य-मात्र है, चार सागरोंसे परिवेष्टित भूतल समझा ॥ ४ ॥

वह वसिष्ठ और वह अरुन्धती दोनों उस शून्यस्वरूप मण्डपाकाशमें चारों समुद्र पर्यन्त पृथिवी, उसमें राजधानीरूप नगर और राजधानीमें राजप्रसाद का अनुभव करते हैं * ॥ ५ ॥

वह अरुन्धती ही लीलानामकी राजमहिषी हुई, उसने सरस्वती देवीकी

---

* वसिष्ठ नामका ब्राह्मण और अरुन्धती ही विदूरथकी वासनासे उत्पन्न पद्म और लीलाकी अन्तरात्मताको प्राप्त हुए थे। लीलाकी अन्तरात्मताको प्राप्त अरुन्धती अनुभव करती है, यह मानकर वर्तमानकालका निर्देश उपपन्न होता है।

प्रादेशमात्रे नभसि सा तत्रैव गृहोदरे ।
ब्रह्माण्डान्तरमासाद्य गिरिग्रामकमन्दिरे ॥ ७ ॥
ब्रह्माण्डात् परिनिर्गत्य स्वगृहे स्थितिमाययौ ।
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं प्राप्य यथा तल्पगतः पुमान् ॥ ८ ॥
प्रतिभासात्रमेवैतत् सर्वमाकाशमात्रकम् ।
न ब्रह्माण्डं न संसारो न कुड्यादि न दूरता ॥ ९ ॥
स्वचित्तमेव कचति तयोस्ताद्दङ्मनोहरम् ।
वासनामात्रसोल्लेखं क्व ब्रह्माण्डं क्व संसृतिः ॥ १० ॥
निरावरणमेवेदं ज्ञस्याकाशमनन्तकम् ।
किञ्चित् स्वचित्तेनोन्नीतं स्पन्दयुक्त्येव मारुतः ॥ ११ ॥
चिदाकाशमजं शान्तं सर्वत्रैव हि सर्वदा ।
चित्त्वाज्जगदिवाऽऽभाति स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ १२ ॥

उपासना की । तदनन्तर वह सरस्वती देवीके साथ अद्भुत दर्शनसे रमणीय आकाशको लाँघ कर गृहोदरवर्ती विलस्तभर आकाशमें ही दूसरे ब्रह्माण्डको प्राप्त हुई और तदनन्तर पहले ब्रह्माण्डसे उसमें आकर गिरिग्राममन्दिररूप अपने घरमें आई । जैसे कि शय्यामें सोया हुआ पुरुष एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नको प्राप्त करता है, शय्यामें ही विविध देशोंमें विविध स्वरूपोंसे भ्रमण करता है ॥ ६–८ ॥

आकाशरूप यह सब भ्रान्तिमात्र ही है, न ब्रह्माण्ड है, न संसार है, न दीवार आदि है और न दूरी है ॥ ९ ॥

उनका अपना चित्त ही केवल वासनामात्रसे तत्-तत् विविध पदार्थोंके व्यवहारका स्वरूप धारणकर वैसा प्रथित होता है । कहां ब्रह्माण्ड है और कहां संसार है ? ॥ १० ॥

निरावरण और निस्सीम इस चिदाकाशकी ही उन्होंने अपने चित्तसे कुछ (ब्रह्माण्डरूप) कल्पना की । जैसे आकाश ही स्पन्दके सम्बन्धसे वायुरूपसे कल्पित होता है, वैसे ही उन्होंने चिदाकाशकी ही अपने चित्तसे ब्रह्माण्डरूपसे कल्पना की ॥ ११ ॥

सभी जगह सदा अनादि अविनाशी चिदाकाश ही व्याप्त है । जिसे उसका

येन बुद्धं तु तस्यैतदाकाशादपि शून्यकम् ।
न बुद्धं येन तस्यैतद्वज्रसाराचलोपमम् ॥ १३ ॥
गृह एव यथा स्वप्ने नगरं भाति भासुरम् ।
तथैतदसदेवाऽन्तश्चिद्धातौ भाति भास्वरम् ॥ १४ ॥
यथा मरौ जलं बुद्धं कटकत्वं च हेमनि ।
असत् सदिव भातीदं तथा दृश्यत्वमात्मनि ॥ १५ ॥
एवमाकथयन्त्यौ ते ललने ललिताकृती ।
गृहात् निर्ययतुर्बाह्यं चारुचङ्क्रमणक्रमैः ॥ १६ ॥
अदृश्ये ग्रामलोकेन प्रेक्षमाणे पुरो गिरिम् ।
चुम्बिताकाशकुहरं संस्पृष्टादित्यमण्डलम् ॥ १७ ॥
नानावर्णाखिलोत्फुल्लविचित्रवननिर्मलम् ।
नानानिर्झरनिर्ह्रादकूजद्वनविहङ्गमम् ॥ १८ ॥

ज्ञान नहीं है, उसकी दृष्टिमें वह स्वयं चित् होनेसे अपनेमें अपनेसे ही जगत्-सा प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

जिसने उसको जान लिया, उसकी दृष्टिमें यह जगत आकाशसे भी शून्य है और जिसने नहीं जाना, उसकी दृष्टिमें यह जगत् वज्रके समान कठोर पर्वतके तुल्य है ॥ १३ ॥

जैसे स्वप्नमें, घर में ही देदीप्यमान नगरकी प्रतीति होती है, वैसे ही असद् ही यह जगत् चिदाकाशमें प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

जैसे मरुभूमिमें असत् जलकी प्रतीति होती है, जैसे सुवर्णमें अविद्यमान कटकत्वकी प्रतीति होती है, वैसे ही असत् यह दृश्य प्रपञ्च आत्मामें सत्-सा प्रतीत होता है ॥ १५ ॥

ऐसा कहती हुई वे दोनों सुन्दर ललनाएँ सुन्दर गतिसे घरके बाहर निकलीं ॥ १६ ॥

उन्हें ग्रामवासी नहीं देख पाते थे और वे सामनेके पर्वतको देख रही थीं । वह उत्तुङ्ग पर्वत गगनचुम्बी था, सूर्यमण्डलको स्पर्श करता था, रँग-बिरँगके सम्पूर्ण फूले हुए विचित्र वनोंसे निर्मल था तथा उसमें अनेक झरनोंका कलकल निनाद हो रहा था और वनविहङ्गम चहचहा रहे थे। उसमें ऊँचे ऊँचे वृक्षोंकी

विचित्रमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराम्बुदमण्डलम् ।
स्वभ्रमच्छगुलुच्छाग्रविश्रान्तखगसारसम् ॥ १९ ॥
सारवञ्जुलविस्तारगुप्ताखिलसरित्तटम् ।
असमाप्तशिलाश्वभ्रलतावर्त्तनमारुतम् ॥ २० ॥
पुष्पाग्रपिहिताकाशकोशकुड्यकवारिदम् ।
पतद्दीर्घसरित्स्रोतःस्फुरन्मुक्ताकलापकम् ॥ २१ ॥
चलद्वृक्षवनव्यूहवातवेल्लिसरित्तटम् ।
नानावनाकुलोपान्तच्छायासततशीतलम् ॥ २२ ॥
अथ ते ललने तत्र तदा ददृशतुः स्वयम् ।
तं गिरिग्रामकं व्योम्नः स्वर्गखण्डमिव च्युतम् ॥ २३ ॥
रटत्प्रणालीपटलं पूर्णपुष्करिणीगणम् ।
द्विजैः कुचकुचैः कूजत्स्वलीलाश्वभ्रकच्छकम् ॥ २४ ॥

मञ्जरियोंके पुञ्जोंसे पिञ्जर (ललाई या भूरापन लिये हुए पीलेपनसे युक्त) अतएव रँग-विरँगके मेघमण्डल थे, इसलिए वह सुन्दर मेघोंसे युक्त था, उसमें गुलुच्छलताओंकी डालियोंमें पक्षी और सारस बसेरा ले रहे थे। बड़े मजबूत जलवेंतसोंकी झाड़ियोंसे नदियोंके तट सुरक्षित (गिरनेसे बचे) थे, चट्टानोंके गड्ढेमें पैदा हुई लताओंको, जिन्होंने भली भाँति वृक्षोंका अवलम्बन नहीं किया था, वायु खूब हिला रहा था, नचा रहा था। शिखरके वृक्षोंने, जिनकी आगे-आगेकी टहनियाँ फूलोंसे व्याप्त थीं, आकाशकी दीवारके सदृश बादलोंको ढक रक्खा था। वेगसे बह रही विशाल नदीका स्रोत ही उसकी मुक्तामाला था। उस पर्वतके नदीतट हिल रहे वृक्षोंके वृन्दोंसे युक्त वन-समूहसे व्याप्त थे, अतएव सदा वायुसे वेष्टित रहते थे, उसका प्रान्तभाग विविध वनोंसे व्याप्त था, अतएव छायासे सदा ठण्डक रहती थी ॥ १७–२२ ॥

पर्वतका वर्णन कर पर्वतग्रामका वर्णन करते हैं—'अथ' इत्यादिसे।

तदनन्तर उन दोनों ललनाओंने उस समय वहीं स्वयं पर्वतग्रामको देखा, वह आकाशसे गिरे स्वर्गके एक भागके समान रमणीय था, उसमें रहटोंके चलनेका शब्द हो रहा था, जहाँ तहाँ कमलोंसे युक्त अनेक पोखरे बने थे, पक्षियोंके कलरवसे सारा नगर गुलजार था और उसमें क्रीड़ाके लिए बने हुए उत्तम निम्नस्थान और जलप्रदेश थे ॥ २४ ॥

गच्छद्गोवृन्दहुङ्कारकरालाखिलकुञ्जकम् ।
कुञ्जगुल्मकखण्डाढ्यं सच्छायघनशाद्वलम् ॥ २५ ॥
दुष्प्रवेशार्ककिरणं दृषन्नीहारधूसरम् ।
उदग्रमञ्जरीपुञ्जजटालम्बिशिखान्तरम् ॥ २६ ॥
शिलाकुहरवाःस्फालप्रोच्चलन्मुक्तनिर्झरैः ।
स्मारिताचलनिर्धूतक्षीरोदकजलश्रियम् ॥ २७ ॥
फलमाल्यमहाभारभासुरैरजिरद्रुमैः ।
आनीय पुष्पसम्भारं तिष्ठद्भिरिव सङ्कुलम् ॥ २८ ॥
तरत्तरङ्गझाङ्कारकारिमारुतकम्पितैः ।
कीर्णपुष्पसमाघृष्टं द्रुमैरपि रसाकुलैः ॥ २९ ॥
अशङ्कितशिलाकूटस्रवदब्विन्दुटङ्कृतैः ।
किञ्चित्कृतरवं गुप्तैरशङ्कैः शङ्कितैः खगैः ॥ ३० ॥

गोचरभूमिमें चल रहीं गौओंके रांभनेसे उसके सम्पूर्ण निकुञ्ज शब्दायमान हो रहे थे, और कुञ्जों, झाड़ियों, छायादार सघन हरीघासके मैदानोंसे वह युक्त था ॥२५॥

उसमें सूर्यकी किरणोंका प्रवेश बड़ी कठिनाईसे होता था, वह शिलाओं तथा नीहारसे भस्मलिप्तकी नाईं धूसर था। ऊँची ऊँची मञ्जरियोंसे जटाकी नाईं लम्बायमान उसकी कतिपय शिखाएँ थीं ॥ २६ ॥

चट्टानोंके मध्यमें जलके टकरानेसे जिनमें मोतीके सदृश बिन्दु उछल रहे थे ऐसे झरनोंने उसमें मन्दराचलसे मथे जाते हुए क्षीरसागरके जलकी शोभाका स्मरण करा रखा था ॥ २७ ॥

फल और फूलोंसे लदे होनेके कारण बड़े अच्छे प्रतीत होनेवाले आँगनके वृक्षोंसे वह व्याप्त था। वे वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानो पुष्पराशिको लाकर खड़े हो रहे हों ॥२८॥

उसमें चञ्चल तरङ्गोंको मुखरित करनेवाले पवनों द्वारा हिलाये गये, मकरन्दसे व्याप्त वृक्ष भी अतिथियोंपर फूल बरसाते थे फिर प्रेमपूर्ण अतिथि सत्कार करनेवाले मनुष्योंसे वह अधिष्ठित था इसमें कहना ही क्या है ? ॥ २९ ॥

बराबर पाषाणोंसे गिर रहीं जलकी बूँदोंकी टङ्कारध्वनिसे, गुलेल और धनुषके शब्दके तुल्य होनेके कारण, भयके योग्य न होनेपर भी भयभीत अतएव छिपेहुए पक्षियोंने उसमें कुछ कलरव कर रक्खा था ॥ ३० ॥

उत्फाललहरीश्रान्तसीकरास्वादनाकुलैः ।
नद्याम्बुडुपरावर्त्तवृत्तिभिर्विहगैर्वृतम् ॥ ३१ ॥
उत्तालतालविश्रान्तकाकालोकनशङ्कितैः ।
बालैः प्रगोपितामिक्षाखण्डं जीर्णस्वभुक्तकैः ॥ ३२ ॥
पुष्पशेखरसंभारवसनग्रामबालकम् ।
खर्जूरनिम्बजम्बीरगहनोपान्तशीतलम् ॥ ३३ ॥
क्षौमाग्रहस्ताम्बरया मञ्जरीपूर्णकर्णया ।
क्षुत्क्षीणया क्रान्तरथ्यं ग्रामकीटककान्तया ॥ ३४ ॥
सरित्तरङ्गसङ्घट्टसंरावाश्रुतसंकथम् ।
कर्मजाड्यघनत्रासवाञ्छितैकान्तसंस्थितम् ॥ ३५ ॥

वह नदीमें उत्तुङ्ग लहरोंमें बैठे हुए और तरङ्गके जलबिन्दुओंके आस्वादनसे शान्तचित्त एवं नक्षत्रोंके परिवर्तनके समान परिवर्तनवाले हंसोंसे परिवृत था ॥ ३१ ॥

ऊँचे ऊँचे ताल वृक्षोंपर बैठे हुए कौओंको देखकर ये हमारे कलेवेको खा न जायँ, इस प्रकार शङ्कित हुए बालकों द्वारा प्रातःकालका खाना पच जानेके बाद हम इसे खावेंगे इस बुद्धिसे उसमें आमिक्षा (छेना) छिपाई गई थी ॥ ३२ ॥

उस नगरमें बालकोंने फूलोंके ही मुकुट आदि सिरके आभूषण और वस्त्र पहने थे, उस नगरके आस पास खजूर, नीब, जम्बीरके निबिड़ वन थे, अतएव वह सदा शीतल रहता था ॥ ३३ ॥

उस नगरमें रहनेवाली भिल आदि दरिद्रोंकी स्त्रियोंका वर्णन करते हैं—'क्षौमा०' इत्यादिसे ।

उसमें दरिद्र, नीच और आलसी लोगोंकी स्त्रियां अलसीकी शाखाओंको ही, सुलभ होनेके कारण, वस्त्ररूपमें पहननेवाली, बौरोंका कर्णफूल पहनी हुई एवं भूख और प्याससे कृश होकर गलियोंमें घूमती थीं ॥ ३४ ॥

नदियोंकी लहरोंके आपसमें टकरानेके शब्दसे लोगोंका आलाप नहीं सुनाई पड़ता था, शिल्प आदि कार्य करनेकी दक्षता न होनेके कारण भयभीत मूर्ख और आलसी लोग एकान्तमें बैठा रहना चाहते थे ॥ ३५ ॥

दधिलिप्तास्यहस्तांसैः स्निग्धपुष्पलताधरैः ।
नग्नैर्गोमयपङ्काङ्कैर्बालैराकुलचत्वरम् ॥ ३६ ॥
तीरशाद्वलवल्लीनां दोलां दोलनकारिभिः ।
तरङ्गैर्वाह्यमानस्य लेखिकाङ्कितसैकतम् ॥ ३७ ॥
दधिक्षीरघनामोदमत्तमन्थरमक्षिकम् ।
कामभुक्तार्थतोद्वाष्पजर्जराबलबालकम् ॥ ३८ ॥
गोमयासिक्तवलयकरनारीकृतक्रुधम् ।
धम्मिल्लवलनाव्यग्रत्रस्तस्त्रीविहसज्जनम् ॥ ३९ ॥
दान्तपुष्पच्छदोत्सन्नपतत्ककुदवायसम् ।
गृहरथ्यागणद्वारकीर्णक्रूरकुरण्टकम् ॥ ४० ॥
गृहपार्श्वस्थितश्वभ्रकुञ्जैः कुसुमितप्रभैः ।
प्रत्यहं प्रातरागुल्फमाकीर्णकुसुमाजिरम् ॥ ४१ ॥

दहीसे मुँह, हाथ और कन्धोंको पोते हुए, कोमल कोमल छोटी लताओंको लिये हुए, गोबर और कीचड़में सने हुए बालकोंसे उक्त नगरके चौतरे भरे थे ॥ ३६ ॥

उसमें बालूमय तटभूमि नदीके तटवर्ती सिवारकी लताओंको झूलेके समान हिलनेवाले तरङ्गोंसे बहाये जाते हुए जलकी रेखाओंसे अङ्कित थी ॥ ३७ ॥

उसमें दही और दूधकी घन सुगन्धसे उन्मत्त होकर मक्खियाँ मन्थरगति थीं और अपनी अभिलषित वस्तु खानेके लिए रो रहे बेचारे पराधीन बालकोंका मुँह आँसुओंकी धाराओंसे जर्जरित हो रहा था ॥ ३८ ॥

दासियोंके हाथके कङ्कण गोबरसे सने हुए थे, अतएव उनपर गुस्सा होकर खुले हुए केशोंको बाँधनेमें लगी हुई स्त्रियोंको देखकर लोग उनकी हँसी कर रहे थे ॥ ३९ ॥

उसमें पहाड़ी कौए शान्त मुनियों द्वारा डंडे और ढेले आदिसे उड़ानेसे कहीं उन्हें चोट न लग जाय इस कारण फूलों अथवा पत्तों द्वारा उड़ाये जानेपर भी पूजाके अक्षत खानेके लिए फिर फिर उड़ रहे थे। घरों और गलियोंके दरवाजोंपर उसमें कठिन पीली कटैयाके पेड़ बखेरे थे ॥ ४० ॥

घरके समीपके गर्तोंको कुञ्जोंसे, जो प्रफुल्लित और शोभायमान थीं, प्रतिदिन प्रातःकाल टँकनों तक आँगनोंमें फूल बरसाये गये थे ॥ ४१ ॥

चरच्चमरसारङ्गजालजङ्गलखण्डकम् ।
गुञ्जानिकुञ्जसंजातशष्पसुप्तमृगार्भकम् ॥ ४२ ॥
एकान्तसुप्तवत्सैककर्णस्पन्दास्तमक्षिकम् ।
गोपोच्छिष्टीकृतदधिस्वसृक्किस्पन्दिमक्षिकम् ॥ ४३ ॥
समस्तसद्मसंक्षीणमक्षिकाक्षिप्तमाक्षिकम् ।
फुल्लाशोकद्रुमोद्यानकृतलाक्षिकमन्दिरम् ॥ ४४ ॥
सीकरासारमरुता नित्यार्द्रविचकद्रुमम् ।
कदम्बमुकुलप्रोतसमस्तच्छादनतृणम् ॥ ४५ ॥
प्रतिकृत्तलताफुल्लकेतकोत्करपाण्डुरम् ।
वहत्प्रणालपटलीरणद्गुरुगुरारवम् ॥ ४६ ॥

उसके जंगल घास चर रहे भाँति-भाँतिके मृग और पक्षियोंसे पूर्ण थे, गुञ्जा-फलके निकुञ्जोंमें जमे हुए घासके हरे-हरे तिनकोंमें मृगोंके बच्चे सोये थे* ॥४२॥

एकान्त स्थानमें सोये हुए बछड़ेके एक कानके कम्पनसे मक्खियाँ उड़ रही थीं, गोपों (द्वारा गौओंको पालनेवाले अहीर आदि द्वारा) उच्छिष्ट यानी जूठा छोड़े हुए दहीमें और मुँहके आसपास मक्खियाँ भनभना रही थीं ॥ ४३ ॥

उस गाँवके सम्पूर्ण घरोंमें मधुमक्खियोंका क्षय करके मधु संचित किया गया था, फूले हुए अशोकके वनोंमें लाहसे रँगे हुए सुन्दर क्रीड़ामन्दिर बने हुए थे ॥४४॥

सीकरोंकी (छोटे-छोटे जलकणोंकी) झड़ी लगानेवाले वायुसे नित्य आर्द्र होनेके कारण सभी वृक्ष प्रफुल्ल थे, फूलोंके भारसे लदे थे, कदम्बोंकी कलियोंसे उसके सम्पूर्ण छादन तृण ओतप्रोत थे ॥ ४५ ॥

केतकीके फूलनेमें जो लताएँ बाधक थीं, उन लताओंके काट डालनेके कारण निर्बाधरूपसे फूले हुए केतकियोंके समूहसे सारा गाँव सफेद हो रहा था। उस ग्रामके किसी किसी प्रदेशमें जलकी नाली द्वारा जल गुरू-गुरू शब्द करता हुआ बहता था ॥ ४६ ॥

* यहाँपर गाँवका वर्णन चल रहा है। 'गाँव' शब्द गाँवकी सीमा और भूमिके सहित गाँवका वाचक है, इसलिए उसके अन्तर्गत गोचरभूमि, जंगल, निकुञ्ज आदिका वर्णन करनेपर भी कोई विरोध नहीं है।

वातायनगुहानिर्यत्सौधविश्रान्तवारिदम् ।
पूर्णपुष्करिणीपङ्क्तिपूर्णराजपृथूत्तरम् ॥ ४७ ॥
नीरन्ध्रविटपिच्छायाशीतलामलशाद्वलम् ।
सर्वशष्पाग्रवार्बिन्दुप्रतिबिम्बिततारकम् ॥ ४८ ॥
अनारतपतत्फुल्लहिमवर्षसितालयम् ।
विचित्रमञ्जरीपुष्पपत्रसत्फलपादपम् ॥ ४९ ॥
गृहकक्षान्तरालीनमेघसुप्तचिरण्टिकम् ।
सौधस्थमेघविद्युद्भिरनादेयप्रदीपकम् ॥ ५० ॥
कन्दरानिलभाङ्कारघनघुंघुममण्डपम् ।
चरच्चकोरहारीतहरिणीहारिमन्दिरम् ॥ ५१ ॥
उन्निद्रकन्दलोद्वान्तमांसलामोदमन्थरैः ।
मरुद्भिर्मन्दमावातुमारब्धैर्लोलपल्लवम् ॥ ५२ ॥

मेघमण्डल उसके झरोखोंसे निकलकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंमें विश्राम लेते थे। जलसे लबालब भरे हुए अनेक पोखरोंमें पूर्ण चन्द्रमाके समान खिले हुए कमलोंसे उसकी शोभाकी सीमा न रह गई थी। उसमें सघन वृक्षोंकी छायासे शीतल साफ सुथरे हरे मैदान थे और सम्पूर्ण हरी-हरी घासके सिरों-पर जो ओसकी बूँदे थीं, उनमें तारोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। लगातार गिर रहे खिले फूलोंकी वृष्टिसे और हिमवृष्टिसे उस ग्रामके सब मकान सफेद हो गये थे। उस ग्रामके सब वृक्ष भाँति-भाँतिकी मञ्जरियों, फूलों, पत्तों और सुन्दर फलोंसे लदे थे। उसमें घरकी कोठरीके अन्दर छिपे हुए बादलोंमें युवतियां सोती थीं और अट्टालिकाओंमें स्थित मेघकी बिजलीसे लोगोंको दीपक जलानेकी आवश्यकता न रहती थी, क्योंकि दीपककी आवश्यकता बिजलीसे पूरी हो जाती थी ॥ ४७—५० ॥

उस गांव में सब घर गुफाओंकी वायुके झंकारसे मेघकी नाईं गरजते थे, घरोंके आसपास चकोर, हारीत और हरिण घूमते थे, अतएव वे बड़े मनोहर लगते थे। खिले हुए कन्दल-पुष्पोंसे निःसृत प्रचुर सुगन्धिसे परिपूर्ण मन्द-मन्द बहनेके लिए उद्यत वायु द्वारा उसके वृक्ष और लताओंके पल्लव चञ्चल थे। सुग्गा, मैना और लवाकी बोलीरूपी क्रीड़ामें ललनाएँ तल्लीन थीं। चक्रवाक,

लावकालापलीलायामालीनललनागणम् ।
कोककोकिलकाकोलकोलाहलसमाकुलम् ॥ ५३ ॥
शालतालतमालाब्जनीलतत्फलमालिनम् ।
वल्लीवलयविन्यासविलासवलितद्रुमम् ॥ ५४ ॥
आलोलपल्लवलतावलितायनाना-
मुत्फुल्लकन्दलशिलीन्ध्रसुगन्धितानाम् ।
तालीतमालदलताण्डवमण्डपाना-
मारामफुल्लकुसुमद्रुमशीतलानाम् ॥ ५५ ॥
साराववारिचलनाकुलगोकुलाना-
मानीलसस्यकुसुमस्थलशोभितानाम् ।
तीरद्रुमप्रकरगुप्तसरिद्रयाणां
नीरन्ध्रपुष्पितलताग्रवितानकानाम् ॥ ५६ ॥
उद्यानकुन्दमकरन्दसुगन्धितानां
गन्धान्धषट्पदकुलान्तरिताम्बुजानाम् ।
सौन्दर्यतर्जितपुरन्दरमन्दिराणां
राजीवराजिरजसाऽऽरुणिताम्बराणाम् ॥ ५७ ॥

कोयल, पहाड़ी कौओंके कोलाहलका चारों ओर समां बँधा था। साल, ताड, तमाल और कमल तथा उनके नीले फलोंका, जिधर देखो उधर, ताँता बँधा था। वहांपर वृक्ष लताओंके वलयाकार वेष्टनसे परिवेष्टित थे॥ ५१—५४ ॥

उक्त गिरिग्रामके मन्दिरोंकी शोभाका पूर्णरूपसे वर्णन कौन कर सकता है? वे चञ्चल पल्लववाली असंख्य लताओंके सन्तानके आश्रय थे, खिले हुए कन्दलके फूलोंकी सुगन्धिसे सराबोर थे, उनके मण्डपोंमें ताली, तमाल आदिके पत्ते नाचते थे, बागमें खिले हुए फूलोंके वृक्षोंसे उनमें बड़ी ठण्डक रहती थी, उनकी गौएँ रँभाती हुई जलमें तैरनेमें आकुल थीं, उनके आसपास चारों ओरके लहलहाते हुए हरे-हरे धानके खेतों और फूलोंके बगीचोंसे उनकी शोभा कहीं अधिक बढ़ गई थी, तटके वृक्षोंकी कतारसे नदीका प्रवाह छिप गया था, फूली हुई सघन लताओंके अग्रभाग ही उनके वितान (चँदवे) थे, बगीचोंके कुन्द-पुष्पोंके मकरन्दकी (पुष्परसकी) भीनी-भीनी सुगन्धसे वे सुगन्धित थे, सुगन्धिसे अन्धे बने हुए भ्रमरोंने गिरिग्रामके घरोंके आस-पासके कमलोंको

रंहोवहद्गिरिनदीरवघर्घराणां
कुन्दावदातजलदद्युतिभासुराणाम् ।
सौधस्थितोल्लसितफुल्ललतालयानां
लीलावलोलकलकण्ठविहङ्गमानाम् ॥ ५८ ॥
उल्लासिकौसुमदलास्तरणस्थयूना-
मापादमावलितमाल्यविलासिनीनाम् ।
सर्वत्र सुन्दरनवाङ्कुरदन्तुराणां
शोभोल्लसद्वरलताकुलमार्गणानाम् ॥ ५९ ॥
सञ्जातकोमललतोत्पलसङ्कुलानां
तिष्ठत्पयोदपटसंवलितालयानाम् ।
नीहारहारहरितस्थलविश्रुतानां
सौधस्थमेघतडिदाकुलिताङ्गनानाम् ॥ ६० ॥
नीलोत्पलोल्लसितसौरभसुन्दराणां
हुङ्कारहारिहरितोन्मुखगोकुलानाम् ।

आच्छन्न कर दिया था, उन घरोंने अपनी सुन्दरतासे इन्द्रभवनको नीचा दिखा दिया था, कमलोंके परागसे उन्होंने आकाशको सुनहला बना दिया था, उनमें वेगसे बह रही गिरिनदीका घर-घर शब्द सदा बना रहता था, कुन्दपुष्पके समान सफेद मेघोंकी छविसे वे देदीप्यमान हो रहे थे, अटारियोंपर आरूढ़ फूली हुई विशाल लताओंके वे आश्रय थे, उन घरोंमें परस्पर क्रीड़ासे चञ्चल मधुर ध्वनिवाले पक्षियोंका आवास था, तुरन्त खिले हुए पुष्पोंकी पँखुरियोंसे युवकोंकी शय्या पूर्ण थी, स्त्रियां पैरके अँगूठे तक लटकी हुई मालाएँ पहने थीं, सभी जगह सुन्दर-सुन्दर नूतन अङ्कुर उगे थे, जिनसे वे घर दन्तुलसे (जिसके छोटे-छोटे दाँत निकले हों ऐसे) प्रतीत होते थे, अत्यन्त सुशोभित सुन्दर लताओंसे सरकण्डे घिरे थे, उगी हुई कोमल-कोमल लताओं और कमलोंकी उनमें भरमार थी, स्थिर मेघरूपी वस्त्रोंसे घरोंके कमरे आच्छादित (वितान-युक्त) थे, ओसकी बूँदरूपी मोतियोंकी लरोंसे युक्त हरी घासके मैदानोंसे जहां तहां उनकी बड़ी ख्याति थी, अटारियोंमें रुके हुए मेघकी बिजलीसे उन घरोंकी स्त्रियां आकुल हो रही थीं, नील कमलोंसे निर्गत सुगन्धिसे उनकी सुन्दरता

विश्रब्धमुग्धमृगसारगृहाजिराणा-
मुन्नृत्यबर्हिघनसीकरनिर्झराणाम् ॥ ६१ ॥
सौगन्ध्यमत्तपवनाहतविक्लवानां
वप्रौषधिज्वलनविस्मृतदीपकानाम् ।
कोलाहलाकुलकुलायकुलाकुलानां
कुल्याकुलाकलकलाश्रुतसंकथानाम् ॥ ६२ ॥
मुक्ताफलप्रकरसुन्दरबिन्दुपात-
शीताखिलद्रुमलतातृणपल्लवानाम् ।
लक्ष्मीमनस्तमितपुष्पविकाशभाजां
शक्नोति कः कलयितुं गिरिमन्दिराणाम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गिरिग्रामवर्णनं नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

कहीं अधिक बढ़ गई थी, वहांकी गौएँ रंभानेसे बड़ी भली लगनेवाली और हरी घासको चरनेमें संलग्न थीं, घरके आँगनमें सुन्दर मृग निश्शङ्क आ जा रहे थे, उक्त घर निबिड़ जलबिन्दुओंकी वृष्टि करनेवाले झरनोंसे युक्त थे, अतएव वृष्टिकी भ्रान्तिसे उनमें मयूर अपना नृत्य करते थे, वे सुगन्धिसे मत्तकी नाईं भ्रान्त पवनसे ताडित अतएव विकलताको प्राप्त हुए थे, दीवारोंमें उगी हुई ओषधिरूपी (ज्योतिर्लतारूपी) अग्निसे वे घर दीपकोंको भूल गये थे, ओषधियोंसे ही उनमें दीपकोंका काम चल जाता था, पक्षियोंके कलरवसे परिपूर्ण अनेक घोंसलोंसे वे घर व्याप्त थे, सैकड़ों झरनोंके अविरत कलरवसे लोगोंकी बोल-चाल छिप गई थी, मोतियोंकी लरीके समान सुन्दर बिन्दुओंके गिरनेसे उनके सम्पूर्ण वृक्ष, लता, तृण और पल्लव शीतल थे और उनमें फूलोंका विकाश कभी बन्द नहीं होता था ऐसे गिरिग्रामके मन्दिरोंकी शोभाका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ५५—६३ ॥

अट्ठाईसवां सर्ग समाप्त

एकोनत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तत्र ते पेततुर्देव्यौ ग्रामेऽन्तःशीतलात्मनि ।
भोगमोक्षश्रियौ शान्ते पुंसीव विदितात्मनि ॥ १ ॥
कालेनैतावता लीला तेनाऽभ्यासेन साऽभवत् ।
शुद्धज्ञानैकदेहत्वात् त्रिकालामलदर्शिनी ॥ २ ॥
अथ सस्मार सर्वास्ताः प्राक्तनीः संसृतेर्गतीः ।
सा स्वयं स्वरसेनैव प्राग्जन्ममरणादिकाः ॥ ३ ॥

लीलोवाच

देवि देशमिमं दृष्ट्वा त्वत्प्रसादात् स्मराम्यहम् ।
इह तत्प्राक्तनं सर्वं चेष्टितं चेष्टितान्तरम् ॥ ४ ॥
इहाऽभूवमहं जीर्णा शिरालाङ्गी कृशा सिता ।
ब्राह्मणी शुष्कदर्भाग्रभेदरूक्षकरोदरा ॥ ५ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

[लीलाके पूर्व जन्मोंके चरितोंकी प्रत्यभिज्ञाका वर्णन तथा लोकोंकी राशियोंसे मण्डित आकाशमें गमनवर्णन]

जैसे आत्मज्ञानी अतएव शान्त पुरुषमें भोगश्री और मोक्षश्री प्राप्त होती है, वैसे ही सुशीतल सुरम्य उस गिरिग्राममें वे दोनों देवियां पहुँचीं। इतने समयमें उक्त अभ्याससे लीला केवल शुद्ध ज्ञानरूप देहवाली होनेके कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीनों कालोंको भली भांति देखनेवाली हो गई थी। तदनन्तर उसे संसारकी प्राक्तन जन्ममरणरूप सम्पूर्ण गतियोंका अनायास ही स्मरण होने लगा ॥ १–३ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, इस देशको देखकर आपके प्रसादसे मैं यहांपर अनेक पूर्व-जन्मोंकी सब विविध चेष्टाओंका स्मरण करती हूँ ॥ ४ ॥

पहले मैं यहांपर बूढ़ी ब्राह्मणी हुई थी। मेरा सारा शरीर नसोंसे व्याप्त और कृश था। केश सफेद थे। सूखे हुए कुशोंकी नोकोंसे छिदनेके कारण मेरी हथेली जर्जरित थी। मैं अपने पतिदेवके कुलकी वृद्धि करनेवाली भार्या,

भर्तुः कुलकरी भार्या दोहमन्थानशालिनी ।
माता सकलपुत्राणामतिथीनां प्रियङ्करी ॥ ६ ॥
देवद्विजसतां भक्ता सिक्ताङ्गी घृतगोरसैः ।
भर्जनीचरुकुम्भादिभाण्डोपस्करशोधिनी ॥ ७ ॥
नित्यमन्नलवाक्तैककाचकम्बुप्रकोष्ठका ।
जामातृदुहितृभ्रातृपितृमातृप्रपूजनी ॥ ८ ॥
आदेहं सद्मभृत्यैव प्रक्षीणदिनयामिनी ।
वाचं चिरं चिरमिति वादिन्यनिशमाकुला ॥ ९ ॥
काऽहं क इव संसार इति स्वप्नेऽप्यसंकथा ।
जाया श्रोत्रियमूढस्य तादृशस्यैव दुर्धियः ॥१०॥
एकनिष्ठा समिच्छाकगोमयेन्धनसञ्चये ।
म्लानकम्बलसंवीतशिरालकृशगात्रिका ॥११॥
तर्णकीकर्णजाहस्थकृमिनिष्कासतत्परा ।
गृहशाकायनासेकसत्वराहूतकर्परा ॥१२॥

बहुतसे बच्चोंकी माता और अतिथियोंका सत्कार करनेवाली गृहिणी थी। देवता और सन्त महात्माओंकी भक्त थी। मेरा शरीर घी और दही-दूधसे लथपथ रहता था। मैं भात पकानेकी बटलोही, यज्ञ-चरुको पकानेके पात्र, अन्यान्य पात्रों और सामग्रीको मांज, धो-पोछकर साफ-सुथरा रखती थी। मेरा प्रकोष्ठ (पहुँचा) सदा अन्नसे सनी हुई एक कांचकी चूड़ीसे युक्त रहता था। मैं जवाई, बेटी, भाई, पिता और माताकी सदा पूजा-अर्चा करती थी। देहपात होने तक घरके ही काम-धाममें मेरे दिन रात बीतते थे। मैं पुत्र, बहू और नौकर-चाकरोंसे शीघ्र काम करनेके लिए तुमने बहुत देरीमें स्नान किया, तुमने क्यों देरी लगाई, तुम क्यों विलम्ब कर रहे हो इत्यादि वचन कहती रहती थी और स्वयं कार्यमें व्यग्र रहती थी। मैं कौन हूँ और यह संसार कहां तक सचा है ? इस बातका कभी स्वप्नमें भी मैंने विचार नहीं किया था। मेरे पतिदेव भी मेरी नाईं घरमें अत्यन्त आसक्त थे, उनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हुई थी, वे कोरे श्रोत्रिय थे। मैं समिध, शाक और कण्डोंके संग्रहमें नित्य दत्तचित्त रहती थी। मेरा शिराओंसे (नसोंसे) भरा दुबला-पतला

नीलनीरतरङ्गान्ततृणतर्पिततर्णिका ।
प्रतिक्षणं गृहद्वारकृतलेपनवर्णका ॥१३॥
नीत्यर्थं गृहभृत्यानामादीनकृतवाच्यता ।
मर्यादानियमादब्धेर्वेलेवाऽनिशमच्युता ॥१४॥
जीर्णपर्णसवर्णैककर्णदोलाधिरूढया ।
काष्ठताड्यजराभीतजीववृत्त्येव चिह्निता ॥१५॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा सञ्चरन्ती सा शिखरिग्रामकोटरे ।
सञ्चरन्त्या सरस्वत्या दर्शयामास सस्मयम् ॥१६॥

शरीर मैले कम्बलसे ढका रहता था। मैं कभी बछियाकी कनपटीके कीड़े निकालनेमें तत्पर रहती तो कभी घरके पासके शाकके खेतोंको सींचनेके लिए सींचनेवाले नौकरोंको पुकारती थी, कभी जलकी लहरोंकी अन्तिम सीमारूप तटोंमें उगे हुए हरी-हरी घासके तिनकोंसे बछियोंकी तृप्ति करती थी। प्रतिक्षण घरके दरवाजेपर लेपन और ऐपन दिया करती थी॥ ५–१३॥

घरके नौकर-चाकरोंको विनय, सदाचार आदि सिखलानेके लिए कुछ दीनता-के साथ 'ऐसे लोगोंके घरमें इस तरहके अविनीत नौकर-चाकर कैसे रहते हैं' ऐसा लोग कहेंगे, यों जन-निन्दाका दिग्दर्शन कराया करती थी। मर्यादाके नियमरूप समुद्रकी वेलासदृश मैं स्वयं कभी भी अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होती थी, यों अपने चरित्रसे भी उन्हें शिक्षा दिया करती थी॥ १४॥

ब्राह्मणीजन्ममें इस तरह चिरकालसे कार्यमें व्यापृत लीलाकी बुढ़ापेके आक्रमणसे कानमें बहिरापन, शिरःकम्पन, कूबड़ापन, लाठी लेकर चलनेकी नौबत आनेपर जो दशा हुई, उसका वह वर्णन करती है—'जीर्ण०' इत्यादिसे।

मैं यहांपर पुराने पत्तेके समान वर्णवाले शरीरका जो एक कान, शिरके कम्पनसे झूलनेके कारण, वही ठहरा झूला, उसमें चढ़ी हुई-सी, टेकनेकी लट्ठीके उठानेपर उससे ताड़न करनेके योग्य-सी, बुढ़ापेसे भयभीत-सी, अन्तिम जीवन-वृत्तिसे चिह्नित-सी हुई॥ १५॥

श्रीवसिष्ठने कहा—यह कहकर पर्वतग्रामके मध्यमें भ्रमण कर रही लीलाने घूम रही सरस्वती देवीको विस्मय पूर्वक दिखलाया—

इयं मे पाटलाखण्डमण्डितापुष्पवाटिका ।
इयं मे पुष्पितोद्यानमण्डपाशोकवाटिका ॥१७॥
इयं पुष्करिणी तीरद्रुमग्रन्थिततर्णका ।
इयं सा कर्णिकानाम्नी तर्णिका मुक्तपर्णिका ॥१८॥
इयं सा मेऽलसाकीर्णा वराकी जलहारिका ।
अद्याऽष्टमं दिनं बाष्पक्लिन्नाक्षी परिरोदिति ॥१९॥
इह देवि मया भुक्तमिहोषितमिह स्थितं ।
इह सुप्तमिहाऽऽपीतमिह दत्तमिहाऽऽहृतं ॥२०॥
एष मे ज्येष्ठशर्माख्यः पुत्रो रोदिति मन्दिरे ।
एषा मे जङ्गले धेनुर्दोग्ध्री चरति शाद्वलम् ॥२१॥
गृहे वसन्तदाहाय रूक्षक्षारविधूसरम् ।
स्वदेहमिव पञ्चाक्षं पश्येमं प्रघणं मम ॥२२॥
तुम्बीलताभिरुग्राभिः पुष्टाभिरिव वेष्टितं ।
महानसस्थानमिदं मम देहमिवाऽपरम् ॥२३॥

हे देवि, पाटल वृक्षोंसे अत्यन्त सुशोभित यह मेरी पुष्पवाटिका है । यह मेरी उद्यानमण्डपकी अशोकवाटिका खिली हुई है। यह पोखरा है, जिसके तटके पेड़ोंमें बछड़े बँधे हैं । यह कर्णिका नामकी मेरी बछिया है, इसने मेरे वियोगदुःखसे घास छोड़ दी है। यह बेचारी मेरी पनहारिन है, मेरे वियोग-दुःखसे इसे अपना काम करनेकी फुरती नहीं है, यह धूलिसे पूर्ण है । आज पूरे आठ दिन हो गये हैं, इसकी आँखका पानी नहीं सूखा, बेचारी लगातार रोती है॥ १६–१९ ॥

हे देवि, यहांपर मैंने भोजन किया। यहांपर निवास किया, यहांपर मैं बैठी, यहां सोई, यहां जल पिया, यहां दिया और यहां फल, अन्न आदि लाई । यह मेरा ज्येष्ठशर्मा नामका पुत्र घरमें रो रहा है। यह मेरी दुधार गऊ जंगलमें हरी घास चर रही है । वसन्तके आरम्भमें होली जलानेके लिए बनाया गया, भस्मसे विधूसर, पांच खिड़कियोंवाला यह बरामदा पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त मेरी देहके समान मेरा प्रिय है, इसे देखो । मानो स्वयं चढ़ाकर पाली हुई तितलौकी-की लताओंसे छतमें वेष्टित बड़ी बड़ी नसोंसे वेष्ठित मेरे शरीरके सदृश यह रसोई घर है ॥ २०–२३ ॥

एते रोदनताम्राक्षा बन्धवो भुवि बन्धनम् ।
अङ्गदार्पितरुद्राक्षा आहरन्त्यनलेन्धनम् ॥ २४ ॥
अनारतं शिलाकच्छे गुच्छाच्छोटनकारिभिः ।
तरङ्गैः स्थगिताकारं स्पृष्टतीरलतादलैः ॥ २५ ॥
सीकराकीर्णपर्यन्तशाद्वलस्थलसल्लतैः ।
शिलाफलहकास्फालफेनिलोत्पलसीकरैः ॥ २६ ॥
तुषारीकृतमध्याह्नदिवाकरकरोत्करैः ।
फुल्लपुष्पोत्करासारप्रणादोत्कतटद्रुमैः ॥ २७ ॥
विद्रुमैरिव संक्रान्तफुल्लकिंशुककान्तिभिः ।
व्याप्तया पुष्पराशीनां समुल्लासनकारिभिः ॥ २८ ॥
उह्यमानफलापूरसुव्यग्रग्रामबालया ।
महाकलकलावर्त्तमत्तया ग्रामकुल्यया ॥ २९ ॥
वेष्टितस्तरलास्फालजलधौततलोपलः ।
घनपत्रतरुच्छन्नच्छायासततशीतलः ॥ ३० ॥

संसारमें मेरे बन्धनरूप-से बन्धुबान्धव, अग्नि और काष्ठ ला रहे हैं, सदा रोनेके कारण इन बेचारोंकी आँखें लाल हो गई हैं और बाजूबन्दोंमें ये रुद्राक्ष धारण किये हैं ॥ २४ ॥

यह गृहमण्डप दिखाई देता है, जो कि शिलामय तटभूमिमें फूलोंके गुच्छोंको सदा टक्कर देनेवाली, तटवर्ती लताओंके पत्तोंको छूनेवाली, आस पासके हरे मैदानों तथा सुन्दर लताओंको सीकरोंसे व्याप्त करनेवाली एवं शिलापर टक्कर लगनेसे फेनयुक्त और नीलकमलके गन्धसे सुवासित जलकणोंसे पूर्ण लहरोंसे ढका हुआ है, मध्याह्नके सूर्यकी किरणराशियोंको भी बर्फके सदृश शीतल करनेवाले, फूले हुए फूलोंकी राशिपर मँडरानेवाले भ्रमरोंके गुंजारसे उत्कण्ठित ऐसे बीच बीचमें संनिविष्ट फूले हुए पलाशवृक्षोंकी छविसे युक्त अतएव मूंगोंके वृक्षोंके तुल्य प्रतीत होनेवाले एवं पुष्पराशिका विकास करनेवाले तटवर्ती वृक्षोंसे व्याप्त ग्रामीण नहरसे, जिसमें प्रवाहमें बह रहे आम आदि फलोंको लेनेमें ग्रामीण लड़कियाँ अतिव्यग्र हैं, जो प्रचुर कलकल-शब्द करनेवाली जलभौंरियोंसे मदमत्त-सी प्रतीत होती है, घिरा हुआ है, बड़ी तेजीसे बहनेवाले जलसे जिसके पत्थर धुले हुए हैं, सघन पत्तेवाले वृक्षोंकी निविड़ छायासे

अयमालक्ष्यते फुल्ललतावलनसुन्दरः ।
दलद्गुलुच्छकाच्छन्नगवाक्षो गृहमण्डपः ॥ ३१ ॥
अत्र मे संस्थितो भर्ता जीवाकाशतयाऽऽकृतिः ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तमेखलाया भुवः पतिः ॥ ३२ ॥
आ स्मृतं पूर्वमेतेन किलाऽऽसीदभिवाञ्छितम् ।
शीघ्रं स्यामेव राजेति तीव्रसंवेगधर्मिणा ॥ ३३ ॥
दिनैरष्टभिरेवाऽसौ तेन राज्यं समृद्धिमत् ।
चिरकालप्रत्ययदं प्राप्तवान् परमेश्वरि ॥ ३४ ॥
अत्राऽसौ भर्तृजीवो मे स्थितो व्योम्नि गृहे नृपः ।
अदृश्यः खे यथा वायुरामोदो वाऽनिले यथा ॥ ३५ ॥
इहैवाऽङ्गुष्ठमात्रान्ते तद्व्योम्न्येव पदं स्थितम् ।
मद्भर्तृराज्यं समवगतं योजनकोटिभाक् ॥ ३६ ॥
आवां खमेव खस्थं च भर्तृराज्यं ममेश्वरि ।
पूर्णं सहस्रैः शैलानां महामायेयमातता ॥ ३७ ॥

जो सदा शीतल है, फूली हुई लताओंके परिवेष्टनसे बड़ा भला प्रतीत होता है और खिल रही गुलुच्छलतासे जिसकी खिड़कियाँ आच्छन्न हैं ॥ २५–३१ ॥

इसमें मेरे पतिदेव जीवाकाश होनेके कारण निष्क्रिय होते हुए भी चार-सागरपर्यन्त पृथिवीके स्वामी बन कर रहते थे। हाँ, मुझे स्मरण हुआ कि दृढ़ संकल्पवाले इन्होंने पहले मैं शीघ्र ही राजा होऊँ, ऐसी अभिलाषा की थी, इसलिए हे देवी, आठ ही दिनोंमें इन्होंने समृद्धिशाली राज्य प्राप्त किया, जो कि चिरकालकी प्रतीति देनेवाला था ॥ ३२–३४ ॥

जैसे आकाशमें वायु अदृश्य होकर रहता है और जैसे वायुमें सुगन्धि अदृश्य होकर रहती है वैसे ही इस घरके आकाशमें यह मेरे पतिका जीव राजा रहता है ॥ ३५ ॥

यहीं अङ्गुष्ठमात्र गृहाकाशमें ही स्थित परमार्थ वस्तुको (परब्रह्मको) भ्रमसे मैंने करोड़ो योजन विस्तृत मेरे पतिका राज्य समझा ॥ ३६ ॥

हे देवी; हम दोनों चिदाकाश ही हैं, मेरे पतिदेवका राज्य जो कि हजारों पहाड़ोंसे पूर्ण है, आकाशमें स्थित है, यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है ॥ ३७ ॥

तद्देवि भर्तृनगरं पुनर्गन्तुं ममेप्सितम् ।
तदेहि तत्र गच्छावः किं दूरं व्यवसायिनाम् ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा प्रणता देवीं सा प्रविश्याऽऽशु मण्डपं ।
विहङ्गीव तया साकं पुप्लुवेऽसिनिभं नभः ॥ ३९ ॥
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं सौम्यैकार्णवसुन्दरं ।
नारायणाङ्गसदृशं भृङ्गपृष्ठामलच्छवि ॥ ४० ॥
मेघमार्गमतिक्रम्य वातस्कन्धवनिं तथा ।
सौरमार्गमथाऽऽक्रम्य चन्द्रमार्गमतीत्य च ॥ ४१ ॥
ध्रुवमार्गोत्तरं गत्वा साध्यानां मार्गमेत्य च ।
सिद्धानां समतीत्योर्वीमुल्लङ्घ्य स्वर्गमण्डलं ॥ ४२ ॥
ब्रह्मलोकोत्तरं गत्वा तुषितानां च मण्डलम् ।
गोलोकं शिवलोकं च पितृलोकमतीत्य च ॥ ४३ ॥
विदेहानां सदेहानां लोकमुत्तीर्य दूरगम् ।
दूराद् दूरमथो गत्वा किंचिद्बुद्धा बभूव सा ॥ ४४ ॥

हे देवि, पतिके नगरमें पुनः जानेकी मेरी इच्छा है, इसलिए आइये वहां चले । उद्योगियोंके लिए क्या दूर है ? ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, देवीसे यह कहकर नतमस्तक हुई लीला झटपट गृहमण्डपमें प्रवेशकर देवीके साथ चिड़ियाकी नाईं तलवारके तुल्य नीले आकाशमें उड़ी । पीसे हुए अञ्जनके ढेरके सदृश श्याम, निश्चल सागरके समान मनोहर, भगवान् श्रीविष्णुकी अङ्गकान्तिके तुल्य श्यामल, भँवरेकी पीठके सदृश निर्मल कान्तिवाले आकाशको लाँघकर, प्रवह, आवह आदि उनचास वायुओंके लोकको अतिक्रान्त कर, तदनन्तर सूर्यमार्ग और चन्द्रमार्गका उल्लङ्घन कर, ध्रुवलोकके ऊपर पहुँचकर, साध्योंके लोकमें जाकर, सिद्धोंके लोकको लाँघकर, स्वर्गमण्डलसे ऊपर चढ़कर, ब्रह्मलोकमें जाकर तुषितों (नित्यसन्तुष्टों) के लोकमें (वैकुण्ठमें) पहुँचकर, तदनन्तर क्रमशः गोलोक, शिवलोक और पितृलोकका अतिक्रमण कर, विदेह और सदेह मुक्तोंके अतिदूरवर्ती लोकको पार कर अत्यन्त दूर जाकर लीला कुछ प्रबुद्ध हुई ॥३९–४४॥

पश्चादालोकयामास समतीतं नभस्थलम् ।
यावन्न किञ्चिचन्द्रार्कताराद्यालक्ष्यते ह्यधः ॥ ४५ ॥
तमस्तिमितगम्भीरमाशाकुहरपूरकम् ।
एकार्णवोदरप्रख्यं शिलोदरघनं स्थितम् ॥ ४६ ॥

लीलोवाच

तद्देवि भास्करादीनां क्वाऽधस्तेजो गतं वद ।
शिलाजठरनिष्पन्दं मुष्टिग्राह्यं तमः कुतः ॥ ४७ ॥

श्रीदेव्युवाच

एतावतीमिमां व्योम्नः पदवीमागताऽसि भोः ।
अर्कादीन्यपि तेजांसि यतो दृश्यन्त एव नो ॥ ४८ ॥
यथा महान्धकूपाधः खद्योतो नाऽवलोक्यते ।
पृष्ठगेन तथेहाऽतो नाऽधः सूर्योऽवलोक्यते ॥ ४९ ॥

लीलोवाच

अहो नु पदवीं दूरमावामेतामुपागते ।
सूर्योऽप्यधोऽणुकणवन्न मनागपि लक्ष्यते ॥ ५० ॥

दूर जाकर जब नीचे चन्द्रमा, तारा आदि कुछ भी नहीं दिखाई देते थे, दिशारूपी गर्तोंको भरनेवाला एकमात्र सागरके सदृश, पत्थरके मध्यभागके समान ठोस, निश्चल और गम्भीर अन्धकार ही अन्धकार था, तब उसने पीछे अतीत आकाशस्थलको देखा ॥ ४५,४६ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, सूर्य आदिका तेज नीचे कहाँ चला गया, पत्थरके मध्यभागके समान निविड़ अतएव मुट्ठिमें लेने योग्य यह अन्धकार कहाँसे आ गया है ? कृपया यह मुझसे कहिये ॥४७॥

श्रीदेवीने कहा—भद्रे, तुम इतने दूर आकाशमार्गमें आ गई हो, जहाँसे सूर्य आदि तेज नहीं ही दिखाई देते हैं। जैसे बड़े भारी अन्धे कुएँके नीचे विद्यमान जुगनूँ बहुत दूर ऊपर बैठे हुए पुरुष को नहीं दिखाई देता है वैसे ही यहाँसे बहुत नीचे स्थित सूर्य भी नहीं दिखाई देता ॥४८,४९॥

लीलाने कहा—देवीजी, ओ हो ! क्या हम लोग इतने दूर मार्गमें आ गये हैं, जिससे सूर्यतक परमाणुके समान नीचे तनिक भी नहीं दिखाई देता है ॥५०॥

इत उत्तरमन्या स्यात् पदवी का नु कीदृशी ।
कथं च मातरेतव्या कथ्यतामिति देवि मे ॥ ५१ ॥

श्रीदेव्युवाच

इत उत्तरमग्रे ते ब्रह्माण्डपुटकर्परम् ।
यस्य चन्द्रादयो नाम धूलिलेशाः समुत्थिताः ॥ ५२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति प्रकथयन्त्यौ ते प्राप्ते ब्रह्माण्डकर्परम् ।
भ्रमर्याविव शैलस्य कुड्यं निविडमण्डपम् ॥ ५३ ॥
अक्लेशेनैव ते तस्मान्निर्गते गगनादिव ।
निश्चयस्थं हि यद्वस्तु तद्वज्रगुरु नेतरत् ॥ ५४ ॥
निरावरणविज्ञाना सा ददर्श ततस्ततम् ।
जलाद्यावरणं पारे ब्रह्माण्डस्याऽतिभासुरम् ॥ ५५ ॥
ब्रह्माण्डाद्दशगुणतस्तोयं तत्र व्यवस्थितं ।
आस्थितं वेष्टयित्वा तु त्वगिवाऽक्षोटपृष्ठगा ॥ ५६ ॥

माँ, इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? हे देवि, यह सब आप मुझसे कहिये ॥५१॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, इसके बाद आगे ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरके कपालमें तुमको जाना है, चन्द्रमा आदि जिस ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरके कपालके धूलिकण-से उत्पन्न हुए हैं ॥५२॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वतके छिद्ररहित (ठोस) भागको प्राप्त होती हैं, वैसे ही इस प्रकार आपसमें प्रश्नोत्तर कर रहीं वे दोनों ललनाएँ ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरवाले खप्परपर पहुँचीं ॥ ५३ ॥

वे वहाँसे, जैसे कोई आकाशसे निकले वैसे ही अनायास निकलीं। जो वस्तु सत्यताके अध्यवसायमें स्थित हो यानी यह वस्तु सत्य है ऐसे अध्यवसायसे युक्त हो, वह वज्रके समान ठोस होती है और जो उक्त अध्यवसायसे युक्त नहीं है वह मिथ्यात्वबुद्धिसे बाधित हो जाती है। लीलाका विज्ञान आवरणशून्य था, अतएव उसने ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरवाले कपालके बाद ब्रह्माण्डके आर पार अत्यन्त भास्वर जलादि आवरणको व्याप्त देखा ॥५४,५५॥

ब्रह्माण्डसे दसगुना जल वहाँपर है, वह जैसे अखरोटके ऊपर उसका बाहरी

तस्माद्दशगुणो वह्निस्तस्माद्दशगुणोऽनिलः ।
ततो दशगुणं व्योम ततः परममम्बरम् ॥ ५७ ॥
तस्मिन् परमके व्योम्नि मध्याद्यन्तविकल्पनाः ।
न काश्चन समुद्यन्ति वन्ध्यापुत्रकथा इव ॥ ५८ ॥
केवलं विततं शान्तं तदनादि गतभ्रमम् ।
आद्यन्तमध्यरहितं महत्यात्मनि तिष्ठति ॥ ५९ ॥
आकल्पमुत्तमबलेन शिला पतेच्चेत्
तस्मिन्बलात् पतगराडपि चोत्पतेच्चेत् ।
तद्योजनं न लभते विमलेऽम्बरेऽन्त-
र्माकल्पमेकजवगोऽप्यथ मारुतोऽपि ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने परमाकाशवर्णनं नाम एकोनत्रिंशशः सर्गः ॥ २९ ॥

छिलका उसे व्याप्त करके रहता है, वैसे ही ब्रह्माण्डको व्याप्त करके स्थित है। उसके बाद उससे दसगुनी अग्नि है, उसके बाद उससे दसगुना वायु था, उसके अनन्तर उससे दसगुना आकाश है तदनन्तर शुद्ध चिदाकाश है ॥५६,५७॥

उस परमाकाशमें वन्ध्यापुत्रके वृत्तान्तोंकी नाईं, आदि, मध्य और अन्तकी कल्पनाएँ कुछ भी उदित नहीं होतीं यानी वह अपरिच्छिन्न है। वह अद्वितीय, असीम, शान्त, कारणरहित, भ्रमशून्य, आदि, अन्त और मध्यरहित है एवं अपनी महिमामें स्थित है ॥५८,५९॥

यदि उस निर्मल चिदाकाशमें कल्पपर्यन्त बड़े भारी वेगसे ऊपरसे पत्थर नीचेको गिरे और नीचेसे गरुड़ ऊपरको बड़े वेगसे कल्पपर्यन्त उड़े और उनके बीचमें उनका संन्धान करनेमें समर्थ वायु एकवेगसे दाएँ-बाएँ दोनों ओरसे बहे, तो वह भी उनसे मिल नहीं सकता फिर चारों ओरसे उसके अन्त पानेकी तो बात ही क्या है ? वह चारों ओरसे असीम और अपरिच्छिन्न है ॥६०॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

पृथिव्यप्तेजसां तत्र नभस्वन्नभसोरपि ।
यथोत्तरं दशगुणानतीत्याऽऽवरणान् क्षणात् ॥ १ ॥
ददर्श परमाकाशं तत्प्रमाणविवर्जितं ।
तथा ततं जगदिदं यथा तत्राण्डमात्रकं ॥ २ ॥
तद्दशावरणान्सर्गान् ब्रह्माण्डेषु ददर्श सा ।
कोटिशः स्फुरितान् व्योम्नि त्रसरेणूनिवाऽऽतपे ॥ ३ ॥
महाकाशमहाम्भोधौ महाशून्यत्ववारिणि ।
महाचिद्द्रवभावोत्थान् बुद्बुदानर्बुदप्रभान् ॥ ४ ॥
कांश्चिदापततोऽधस्तात् कांश्चिचोपरि गच्छतः ।
कांश्चित्तिर्यग्गतीनन्यान् स्थितांस्तब्धान् स्वसंविदा ॥ ५ ॥

तीसवाँ सर्ग

[जैसे ब्रह्माण्डका पहले वर्णन किया गया है वैसे ही और उसी प्रकारके विचित्र करोड़ों ब्रह्माण्डोंको चिदाकाशमें परमाणुके तुल्य लीलाने देखा इसका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाशके उत्तरोत्तर दसगुने बड़े आवरणोंको एक क्षणमें लाँघकर लीलाने पूर्वोक्त परिमाणरहित अविद्याशबलित चिदाकाश देखा, उक्त आकाशमें जैसे यह ब्रह्माण्डरूप जगत् विस्तृत है वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंको भी उसने विस्तृत देखा ॥ १–२ ॥

जैसे आकाशमें, धूपमें, करोड़ों त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही लीलाने सब ब्रह्माण्डोंमें वैसे आवरणवाली करोड़ों सृष्टियोंको, जो कि स्वप्रकाश अधिष्ठान चैतन्यसे भासित थीं, देखा ॥३॥

अविद्यारूप जलसे परिपूर्ण महाकाशरूपी महासागरमें महाचैतन्यके स्फुरण-रूप द्रवीभावसे उत्पन्न असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्बुदोंको लीलाने देखा ॥ ३, ४ ॥

इस प्रकारके हजारों करोड़ ब्रह्माण्ड हैं, क्योंकि प्रधान यानी अधिष्ठान चैतन्य सर्वगामी है, इसलिए वे तिरछे, ऊपर, नीचे, सब जगह स्थित हैं, इस पुराणवचनके अनुसार कहते हैं—'कांश्चिदा०' इत्यादिसे ।

यत्र यत्रोदिता संविद्येषां येषां यथा यथा ।
तत्र तत्रोदितं रूपं तेषां तेषां तथा तथा ॥ ६ ॥
नेहैव तत्र नामोर्ध्वं नाऽधो न च गमागमाः ।
अन्यदेव पदं किञ्चित्तस्माद्देहागमं हि तत् ॥ ७ ॥
उत्पद्योत्पद्यते तत्र स्वयं संवित्स्वभावतः ।
स्वसङ्कल्पैः शमं याति बालसङ्कल्पजालवत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

किमधः स्यात् किमूर्ध्वं स्यात् किंतिर्यक् तत्र भासुरे ।
इति ब्रूहि मम ब्रह्मन्निहैव यदि न स्थितं ॥ ९ ॥

उसने तत्-तत् ब्रह्माण्डोंके अभिमानी जीवोंके ज्ञानानुसार उनमें से कुछको नीचे गिरते हुए, कुछको ऊपर उड़ते हुए, कुछको तिरछे चलते हुए और कुछको निश्चलरूपसे स्थित देखा। जिन-जिनकी जहां-जहांपर जैसी भावना हुई, उन-उनकी दृष्टिमें वहां-वहांपर वैसा-वैसा रूप उदित हुआ। यह अनुभव करनेवालोंकी दृष्टिसे कहा गया है, वास्तवमें चिदाकाशमें और ब्रह्माण्डमें भी कुछ नहीं है, न तो ऊपरका प्रदेश है, न नीचेका प्रदेश है और न ब्रह्माण्डोंके गमन-आगमन ही हैं, किन्तु वाणी और मनका अगोचर दिग्विभाग आदि सब द्वैतोंसे रहित दूसरी ही वस्तु है, इसलिए जो ब्रह्माण्डोंका वर्णन किया है, वह अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिके अभिप्रायसे किया है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ५–७ ॥

स्वयं संवित् ही अविद्यासे उत्पन्न अपने संकल्पोंसे, बालकोंके संकल्पोंकी नाईं उत्पन्न-सी होती है और उत्पन्न होकर शान्त-सी होती है ॥ ८ ॥

यदि अधिष्ठानतत्त्वमें दिग्विभाग नहीं है, तो अध्यस्तमें भी नहीं होगा, क्योंकि अध्यस्त केवल अधिष्ठान-दिशामें स्थित रहता है, ऐसा नियम है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—किमधः' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यदि अधिष्ठानतत्त्वमें ही पहले ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् नहीं था, तो कल्पना द्वारा प्रतीत हो रहे जगत्में क्या नीचे होगा, क्या ऊपर होगा और क्या तिरछा होगा अर्थात् अधिष्ठानमें कल्पित जगत्में अधः, ऊर्ध्व और तिर्यक्का संभव कैसे है? ब्रह्मन्, यह आप कृपापूर्वक मुझे समझाइये ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

ससर्वावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा ॥ १० ॥
अस्वातन्त्र्यात् प्रधावन्ति पदार्थाः सर्व एव यत् ।
ब्रह्माण्डे पार्थिवो भागस्तदधस्तूर्ध्वमन्यथा ॥ ११ ॥

यह जगत् मायिक है, अतः मायिक प्रपञ्चमें इस प्रकारके नियमका व्यभिचार दोषावह नहीं है, इस अभिप्रायसे पहले श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'ससर्वा०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसे आकाशमें भ्रमवश केशोंका कुण्डलाकार गोला दिखलाई पड़ता है वैसे ही अज्ञानसे दूषित दृष्टिवाले पुरुषको असीम महान् चिदाकाशमें सम्पूर्ण आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

अथवा सब वस्तुएँ ईश्वरेच्छाधीन हैं, इसलिए पूर्वोक्त नियमका उल्लङ्घन दोषाधायक नहीं है, इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'अस्वातन्त्र्यात्' इत्यादिसे ।

अस्वतन्त्र होनेके कारण सभी पदार्थ वेगसे इधर-उधर भाग रहे हैं। उनमें परस्पर आकर्षण होनेके कारण वे गिरते नहीं हैं। भाव यह है कि जैसे कदम्बके फूलके केसरोंकी आधारभूत जो कर्णिका है, उसकी अपेक्षासे ही उनके मूलदेशकी कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डोंमें जितने पदार्थ हैं, उन सबकी पृथिवी मूलदेश मानी जाती है। यहांपर ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि वास्तविक अधोदेशका अस्तित्व न होनेसे फलकी डंठीसे गिरे हुए फलके गुरु (वजनदार) होनेसे नीचे गिरनेमें कोई हेतु नहीं होगा, क्योंकि गुरुत्व विषयोंका कोई अन्य गुण नहीं है, जैसे विषयोंमें अपनी-अपनी इन्द्रियकी आकर्षणशक्ति है, वैसे ही पृथिवी आदिकी अपने अंशोंसे आकर्षणशक्ति ही गुरुत्व है। अतएव बाह्य दिग्विभाग न होनेके कारण अत्यन्त गुरुतम ब्रह्माण्ड नहीं गिरते हैं और न उनके आवरणभूत जल आदिसे उनका विश्लेषण ही होता है। इसलिए अधिष्ठान चैतन्यमें दिग् विभागकी आवश्यकता ही नहीं है, इस आशयसे दूसरा समाधान करते हैं—'ब्रह्माण्डे' इत्यादिसे। ब्रह्माण्डमें महापृथिवीरूप जो ब्रह्माण्डका भाग है वह सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंके नीचे है और उससे अन्य आकाशभाग ऊपर है, ऐसी कल्पना है ॥ ११ ॥

पिपीलिकानां महतां व्योम्नि वर्त्तुललोष्ठके ।
दशदिक्कमधः पादाः पृष्ठमूर्ध्वमुदाहृतम् ॥ १२ ॥
वृक्षवल्मीकजालेन केषाञ्चिद्भूदि भूतलम् ।
ससुरानरदैत्येन वेष्टितं व्योम निर्मलम् ॥ १३ ॥
संभूतं सह भूतेन सग्रामपुरपर्वतम् ।
इदं कल्पनभूतेन पक्वाक्षोटमिव त्वचा ॥ १४ ॥
यथा विन्ध्यवनाभोगे प्रस्फुरन्ति करणेवः ।
तथा तस्मिन् पराभोगे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ॥ १५ ॥
तस्मिन् सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
तच्च सर्वमयो नित्यं तथा तदणुकं प्रति ॥ १६ ॥

वह प्रकार ज्योतिश्चक्रके आधारभूत खगोलसे भूगोलको चारोंसे वेष्टित माननेवाले ज्योतिषशास्त्रकारोंको भी मान्य है, यह दर्शानेके लिए उनके द्वारा उदाहृत दृष्टान्त कहते हैं—'पिपीलिकानाम्' इत्यादिसे ।

जैसे गोल पत्थर या ढेलेमें चीटियाँ चिपकी रहती हैं, जिस ओर चींटियोंके पैर होते हैं वह नीचेका भाग है और जिधर पीठ रहती है वह ऊपरका भाग है, वैसे ही दसों दिशाओंमें संलग्न लोगोंके पैर नीचेको ही होते हैं और पीठ ऊपरको होती है, यह सब सूर्यसिद्धान्तमें कहा गया है ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका समाधान कर प्रस्तुत ब्रह्माण्डोंकी विचित्रताका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'वृक्ष०' इत्यादिसे ।

किन्हीं ब्रह्माण्डोंके अन्दरकी भूमि वृक्षों और वामियोंसे व्याप्त है । उनमें मनुष्योंका नाम-निशान नहीं है और निर्मल आकाश देवताओं, नरभिन्न और नरतुल किंपुरुषों और दैत्योंसे आक्रान्त है । जैसे पका हुआ अखरोटका फल त्वचासे (छालसे) वेष्टित रहता है वैसे ही कुछ ब्रह्माण्ड तुरन्त कल्पनात्मक चार प्रकारके प्राणियोंके साथ ही ग्राम, नगर, पर्वतोंसे युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं ॥ १३,१४ ॥

जैसे विन्ध्याचलके विशाल वनमें हाथी पैदा होते हैं, वैसे ही परमात्माके मायाशबल स्थानमें ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

जैसे ब्रह्माण्ड चिदाकाशके सामने अणुवत् सूक्ष्म है वैसे ही किसी दूसरे पदार्थके सामने चिदाकाश भी क्यों न परमाणुतुल्य सूक्ष्म हो ? इस शङ्कापर कहते हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ ।
अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरङ्गकाः ॥ १७ ॥
अन्तःशून्याः स्थिताः केचित् सङ्कल्पक्षयरात्रयः ।
तरङ्गा इव तोयेऽब्धौ प्रोह्यन्ते शून्यतार्णवे ॥ १८ ॥
केषाचिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घरारवः ।
न श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातः स्वभावेन रसाकुलैः ॥ १९ ॥
अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्भते ।
सर्गः संसिक्तबीजानां कोशेऽङ्कुरकला यथा ॥ २० ॥

स्थितिकालमें सम्पूर्ण पदार्थ चिदाकाशमें रहते हैं, सृष्टिकालमें उससे उत्पन्न होते हैं, प्रलयमें सब उसीमें लीन हो जाते हैं, ऐसी परिस्थितिमें सब दिशाओंमें सब कालोंमें और सब वस्तुओंमें वही है, उससे अतिरिक्त कोई नहीं है। वही नित्य सर्वमय आत्मा है, इस प्रकारका वह किसके प्रति अणु होगा ? किसीके प्रति भी वह अणु नहीं हो सकता है, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

शुद्ध बोधरूप तथा परम प्रकाशके सागर चिदाकाशमें ब्रह्माण्डनामक लहरें नित्य उठकर विलीन होती हैं ॥ १७ ॥

उनमें कुछ ब्रह्माण्ड अव्याकृत ही भीतर हैं, ऐसा कहते हैं—'अन्तः' इत्यादिसे ।

पूर्व कल्पके सम्पूर्ण सङ्कल्पोंके बीज लिङ्गरूप उपाधिका क्षय होनेपर अन्धकारस्वरूप रात्रियोंके समान अव्याकृत कुछ ब्रह्माण्ड भीतर स्थित हैं। जलमें तरङ्गोंकी नाईं शून्यतारूप सागरमें उनकी प्रकर्षसे तर्कना होती है। 'कैसे असत्‌से सत् उत्पन्न होगा ।' इत्यर्थक श्रुतिमें उक्त युक्तिसे वे हैं, ऐसी तर्कना की जाती है, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

किन्हीं ब्रह्माण्डोंके भीतर प्रलयमें समाप्त होनेवाला घर-घर शब्द प्रवृत्त है, स्वाभाविक अज्ञानसे विषयोंमें प्रीतिसे व्याकुल हुए अन्य लोगोंने न उसे कभी सुना और न जाना ही, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञानसे विषयोंमें जो प्रीति होती है उससे आकुल हैं ॥ १९ ॥

अन्य ब्रह्माण्डोंमें प्राथमिक कल्प, युग आदिके आरम्भमें प्रथम उत्पन्न प्राणियों द्वारा दूषित न होनेके कारण शुद्ध भुवनोंमें जैसे जलसे सींचे हुए बीजोंके कोषमें सफेद अङ्कुर निकलता है वैसे ही सृष्टि होती है ॥ २० ॥

महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्यार्चिर्विद्युतोऽद्रयः ।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव ॥ २१ ॥
आकल्पं निपतन्त्येव केचिदप्राप्तभूमयः ।
यावद्विशीर्य जायन्ते तथा संविन्मयाः किल ॥ २२ ॥
स्तब्धा इव स्थिताः केचित् केशोण्डूकमिवाऽम्बरे ।
वायोः स्पन्दा इवाऽऽभान्ति तथा प्रोदितसंविदः ॥ २३ ॥
आचाराद्वेदशास्त्राणामाद्य एवाऽन्यथोदिते ।
आरम्भोऽपि तथाऽन्येषामनित्यः संस्थितः क्रमः ॥ २४ ॥

किन्हीं ब्रह्माण्डोंमें महाप्रलयकी प्राप्ति होनेपर जैसे सन्ताप लगनेसे हिमकण गलते हैं, वैसे ही सूर्य, वह्नि और बिजलियाँ पहले भुवनोंको जलाकर स्वयं गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आधार भूमिको न पाकर कल्पपर्यन्त गिरते ही रहते हैं, जबतक कि बिलकुल चूरचूर होकर फिर न पैदा हों ॥ २१,२२ ॥

शङ्का—पहले आप ब्रह्माण्डोंके पतनका असम्भव कह चुके हैं, उसकी क्या गति होगी ?

समाधान—वे ब्रह्माण्डपतन संविन्मय हैं। ऐसे ब्रह्माण्डोंमें पतनका कोई विरोध नहीं हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आकाशमें केशोंके गोलेकी नाईं निश्चलसे स्थित हैं और स्पन्दात्मक वासनासे उत्पन्न हुए कुछ ब्रह्माण्ड वायुके स्पन्दनकी नाईं प्रतीत होते हैं ॥ २३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ब्रह्माने पूर्व सृष्टिके अनुसार ही ब्रह्माण्डोंकी रचना की) यह श्रुति सम्पूर्ण सृष्टियोंकी एकरूपताका वर्णन करती है, उससे विरुद्ध सृष्टियोंकी विलक्षणताका प्रतिपादन कैसे करते हैं ? इसपर कहते हैं—'आचाराद्' इत्यादिसे ।

उक्त श्रुति पूर्व कल्पमें जैसी ब्रह्माकी सृष्टि थी वैसी ही दूसरी, तीसरी आदि सृष्टियाँ होती हैं, ऐसा प्रतिपादन करती है। वेद-शास्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले पूर्व जन्मके कर्म-ज्ञानके अनुष्ठानरूप सदाचारसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए ब्रह्माका पहलेकी सृष्टिके अन्य सृष्टिकर्ताओंकी सृष्टिसे विलक्षणरूपसे उदित होनेपर आगेके कल्पोंकी सृष्टियोंका आरम्भ भी पूर्वकी नाईं हो, लेकिन अन्य सृष्टिकर्ताओंका सृष्टिकी अपेक्षा इसका क्रम अनियत ही ठहरा। इस प्रकार सृष्टियोंकी विलक्षणता सिद्ध हुई ॥२४॥

केचिद्ब्रह्मादिपुरुषाः केचिद्विष्ण्वादिसर्गपाः ।
केचिच्चाऽन्यप्रजानाथाः केचिन्निर्नाथजन्तवः ॥ २५ ॥
केचिद्विचित्रसर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः ।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवर्जिताः ॥ २६ ॥
केचिच्छिलाङ्गनिष्पिण्डाः केचित् कृमिमयान्तराः ।
केचिद्देवमया एव केचिन्नरमयान्तराः ॥ २७ ॥
केचिन्नित्यान्धकाराढ्यास्तथा शीलितजन्तवः ।
केचिन्नित्यप्रकाशाढ्यास्तथा शीलितजन्तवः ॥ २८ ॥
केचिन्मशकसम्पूर्णा उदुम्बरफलश्रियः ।
नित्यं शून्यान्तराः केचिच्छून्यस्पन्दात्मजन्तवः ॥ २९ ॥

'परम पिता परमेश्वरको अपनी-अपनी तपस्यासे प्रसन्न कर आपसमें एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, शिव परस्परसे उत्पन्न होते हैं', इस प्रकार पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी कल्पके भेदसे परस्परसे उत्पत्ति कही गई है। जिस कल्पमें जो उत्पादक होगा, उसकी प्रधानता होनेपर उनके गुणोंके भेदसे कभी सत्त्वगुणकी प्रधानता होगी, कभी रजोगुणकी और कभी तमोगुणकी प्रधानता होगी, यों सत्त्व आदि गुणोंकी प्रधानताके कारण भी सृष्टिमें विचित्रताका होना अनिवार्य है, इस आशयसे कहते हैं—**'केचित्'** इत्यादिसे।

कुछ ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मा ही सृष्टिकर्ता हैं, कुछके विष्णु ही अधिपति हैं, कुछके रुद्र, भैरव, दुर्गा, विनायक आदि अध्यक्ष हैं, क्योंकि उनके माहात्म्यका वर्णन करनेवाले पुराणोंमें वे भी ब्रह्माके नियन्ता कहे गये हैं। कुछ ब्रह्माण्डोंमें मृग, पक्षी आदि जन्तु किसीके नियन्त्रणके बिना ही स्वच्छन्द रहते हैं ॥ २५ ॥

कुछ ब्रह्माण्ड विचित्र सृष्टि और विचित्र अधिपतिवाले हैं, कुछ ब्रह्माण्ड, प्राणियोंके कर्म और वासनाओंके विलक्षण होनेसे एवं सृष्टिकर्ताओंकी इच्छा और ज्ञानके विचित्र होनेसे, पशु-पक्षियोंसे ही भरे हैं, कुछ ब्रह्माण्ड केवल एकमात्र समुद्रसे भरे हैं, कुछ जीव-जन्तुओंसे शून्य हैं, कुछ ब्रह्माण्ड शिलाके तुल्य निविड़ हैं, कुछके अन्दर कीड़े ही कीड़े हैं, कुछमें देवताओंका ही आवास है और कुछमें मनुष्य ही प्रचुरमात्रामें रहते हैं, कुछ कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकारसे आवृत हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि उल्लुओंका

सर्गेण तादृशेनाऽन्ये पूर्णा येऽन्तर्धियामिह ।
कल्पनामपि नाऽऽयान्ति व्योमपूर्णाचलो यथा ॥ ३० ॥
तादृगम्बरमेतेषां महाकाशं ततं स्थितम् ।
आजीवितं प्रगच्छद्भिर्विष्णवाद्यैर्यन्न मीयते ॥ ३१ ॥
प्रत्येकस्याऽण्डगोलस्य स्थितः कटकरत्नवत् ।
भूताकृष्टिकरो भावः पार्थिवः स्वस्वभावतः ॥ ३२ ॥
यः सर्वविभवोऽस्माकं धियां न विषयं ततः ।
तज्जगत्कथने शक्तिर्न ममाऽस्ति महामते ॥ ३३ ॥

अँधेरेमें दर्शनव्यवहार देखा जाता है; कुछ सदा प्रकाशसे पूर्ण हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्ट होते हैं। कुछ गूलरके फलकी तरह मच्छरोंसे परिपूर्ण हैं, कुछ ब्रह्माण्डोंका मध्यभाग सदा शून्य रहता है, कुछके जीव गतिशून्य हैं ॥२६–२९॥

पूर्वोक्त प्रकारकी सृष्टिसे पूर्ण कुछ दूसरे ब्रह्माण्ड आकाशसे पूर्ण पर्वतकी नाईं योगियोंकी सविकल्पकज्ञानविषयताको भी प्राप्त नहीं होते ॥ ३० ॥

आकाशसे पूर्ण पर्वतके समान आकाश शून्यस्वभाव है और महाकाश तो वैसा विस्तृत है कि यदि विष्णु आदि अपनी आयुभर यह कितना बड़ा है, यह जाननेके लिए दौड़ें तो भी उसकी इयत्ता नहीं जान सकते ॥ ३१ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि भले ही अनन्त ब्रह्माण्ड हों और वे परस्पर विलक्षण भी हों, लेकिन उनके बाहरस्थित जलादि आवरणका उनको धारण न करनेके कारण उनका विश्लेषण क्यों नहीं होता, ऐसी शङ्का कर पूर्वोक्त आकर्षण-शक्तिका अवलम्बन कर उनका विश्लेषण नहीं होता, ऐसा समाधान करते हैं—'प्रत्येकस्य' इत्यादिसे ।

अपने स्वभावसे ही प्रत्येक ब्रह्माण्डगोलककी भूतोंको आकृष्ट करनेवाली एक प्रकारकी शक्ति वलयमें जड़े हुए रत्नके समान चारों ओरसे व्याप्त कर स्थित हैं, इस कारण उनका विश्लेषण नहीं होता ॥ ३२ ॥

अपनी अशक्तिख्यापनके बहाने जगद्विस्तारवर्णनका उपसंहार करते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

महामते, जगत्के वर्णनके विषयमें हमारी बुद्धिका जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके हैं। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धिका विषय नहीं है। उसके वर्णनमें हमारी शक्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

भीमान्धकारगहने सुमहत्यरण्ये नृत्यन्त्यदर्शितपरस्परमेव मत्ताः ।
यक्षा यथा प्रवितते परमाम्बरेऽन्तरेवं स्फुरन्ति सुबहूनि महाजगन्ति ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो-
पाख्याने विचित्रब्रह्माण्डकोटिवर्णनं नाम
त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमाकलयन्त्यौ ते निर्गत्य जगतो निजात् ।
अन्तःपुरं ददृशतुर्झटित्येव विनिर्गते ॥ १ ॥

मुझमें अन्यान्य जगत्के वर्णनकी शक्ति न होनेसे इतने ही जगत् हैं, ऐसा नहीं सोचना चाहिए किन्तु अन्य लोगों द्वारा अदृष्ट (अज्ञात) अनन्त जगत् हैं, क्योंकि मायामें अनन्त जगतोंकी सृष्टि करनेकी असीम सामर्थ्य है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'भीमा०' इत्यादिसे ।

भीषण अन्धकारसे व्याप्त बड़े भारी अरण्यमें जैसे मदोन्मत्त भूतगण परस्पर एक दूसरेके स्वरूपको देखे बिना नाच करते हैं, वैसे ही अविद्यासे आवृत ब्रह्ममें बहुतसे महाजगत् स्फुरित होते हैं ॥ ३४ ॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकतीसवाँ सर्ग

[फिर लीलाके अन्तःपुरको देखनेकी इच्छा, अन्यान्य ब्रह्माण्डोंके प्रेक्षण, शूरवीरोंके चिह्नोंसे—कवच, शिरस्त्राण आदिसे—सन्नद्ध सेनाके निरीक्षणका वर्णन]

अपने पूर्वजन्मके संसारसे निकलकर पूर्वोक्त रीतिसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी विचित्रताको देखती हुई वे उनमें से किसी ब्रह्माण्डमें झटपट प्रविष्ट हुई वहां उन्होंने अन्तःपुरको देखा, वहां वे चिरकालतक नहीं रहीं, तुरन्त ही निकल आईं ॥१॥

स्थितं पुष्पभरापूर्णं महाराजमहाशवम् ।
शवपार्श्वोपविष्टान्तश्चित्तलीलाशरीरकम् ॥ २ ॥
घनरात्रितयाऽल्पाल्पमहानिद्राजनाकुलम् ।
धूपचन्दनकर्पूरकुङ्कुमामोदमन्थरम् ॥ ३ ॥
तमालोक्याऽपरं भर्तुः संसारं गन्तुमादृता ।
पपात लीला सङ्कल्पदेहेनाऽत्रैव तन्नभः ॥ ४ ॥
विवेश भर्तुः सङ्कल्पसंसारं किञ्चिदाततम् ।
संसारावरणं भित्वा भित्वा ब्रह्माण्डकर्परम् ॥ ५ ॥
प्राप सार्द्धं तया देव्या पुनरावरणान्वितम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपं स्फारं तं प्रविश्य तथा जवात् ॥ ६ ॥
ददर्श भर्तुः सङ्कल्पजगज्जम्बालपल्वलम् ।
सिंहीव शैलकुहरं तमोजलदपङ्किलम् ॥ ७ ॥
देव्यौ विविशतुस्तत्ते व्योम व्योमात्मिके जगत् ।
ब्रह्माण्डेऽन्तर्यथा पक्वं मृदु बिल्वं पिपीलिके ॥ ८ ॥

उस अन्तःपुरमें पुष्पराशिसे परिपूर्ण महाराजका महान् शव रक्खा था, शवके पास समाधिमें आरूढ चित्तवाला लीलाका शरीर बैठा था, शोकके कारण रात्रिके बहुत दीर्घ होनेसे उसमें लोग थोड़ी-थोड़ी सुषुप्तिसे (गाढ़ निद्रासे) युक्त थे, धूप, चन्दन, कपूर और कुङ्कुमकी सुगन्धिसे वह भरा था ॥ २–४ ॥

उसको देखकर पतिके दूसरे संसारको जानेकी लीलाको इच्छा हुई, लीला संकल्पमात्र देहसे अन्तःपुरमें ही स्थित पूर्वोक्त मण्डपाकाशमें पहुँची। संसाररूप आवरणको तोड़कर और ब्रह्माण्डके खप्परको फोड़कर कुछ विस्तृत पतिके संकल्पसंसारमें प्रविष्ट हुई ॥ ४,५ ॥

वह उक्त देवीके साथ फिर आवरणोंसे युक्त विस्तीर्ण ब्रह्माण्डमण्डपमें वेगसे पहुँची और उसमें प्रवेश कर जैसे सिंहिनी अन्धकार और मेघोंसे पङ्कयुक्तकी नाईं स्थित पर्वतकी गुफाको देखती है वैसे ही उसने अपने पतिदेवके सङ्कल्पजगत्‌को, जो कीचड़से भरी हुई तलैयाके समान था, देखा ॥ ६,७ ॥

चिदाकाशमय उन दोनों देवियोंने ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती शून्यात्मक जगत्‌में, जैसे दो चींटियाँ पके हुए अतएव कोमल बिल्वफलमें प्रवेश करती हैं, वैसे प्रवेश किया ॥ ८ ॥

तत्र लोकान्तराण्यद्रीनन्तरिक्षमतीत्य ते ।
प्रापतुर्भूतलं शैलमण्डलाम्भोधिसङ्कुलम् ॥ ९ ॥
मेरुणाऽलङ्कृतं जम्बूद्वीपं नवदलोदरम् ।
गत्वाऽथ भारते वर्षे लीलानाथस्य मण्डलम् ॥ १० ॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिन्मण्डले मण्डितावनौ ।
चक्रेऽवस्कन्दनं कश्चित् सामन्तोद्रिक्तभूमिपः ॥ ११ ॥
तेन संग्रामसंरम्भे प्रेक्षार्थं समुपागतैः ।
त्रैलोक्यभूतैस्तद्व्योम बभूवात्यन्तसङ्कटम् ॥ १२ ॥
अशङ्कितागते तत्ते देव्यौ ददृशतुर्नभः ।
नभश्चरगणाक्रान्तमम्बुदैरिव मालितम् ॥ १३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वगणविद्याधरान्वितम् ।
शूरग्रहणसंरब्धस्वर्गलोकाप्सरोवृतम् ॥ १४ ॥
रक्तमांसोन्मुखोन्मत्तभूतरक्षःपिशाचकम् ।
पुष्पवृष्टिभिरापूर्णहस्तविद्याधराङ्गनम् ॥ १५ ॥

वहाँपर अन्यान्य लोकों, अनेकों पर्वतों और आकाशको लाँघकर वे विविध पर्वतों और समुद्रोंसे परिपूर्ण भूमितलमें प्राप्त हुईं । तदनन्तर मेरुपर्वतसे अत्यन्त सुशोभित और नौ खण्डोंमें विभक्त जम्बूद्वीपमें जाकर भारतवर्षमें लीलाके स्वामीके राज्यमें पहुँचीं ॥ ९, १० ॥

इसी समय पृथिवीके भूषणस्वरूप उस राज्यमें किसी एक राजाने (सिन्धुराजने), अपने सहायभूत सामन्तोंसे जिसकी शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी, आक्रमण किया था ॥ ११ ॥

उक्त सिन्धुराजके साथ संग्राम छिड़नेपर उक्त संग्रामको देखनेके लिए आये हुए तीनों लोकोंके जीवोंकी आकाशमें बड़ी भीड़ लगी थी ॥ १२ ॥

भय-शङ्का रहित होकर आई हुईं उन देवियोंने आकाशचारी सिद्ध गन्धर्वोंसे आक्रान्त उस आकाशको मेघमण्डलसे घिरा हुआ-सा देखा । वह सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधरगणसे युक्त था, शूर-वीर पुरुषोंके ग्रहणमें उतावली करनेवाली स्वर्गलोककी अप्सराओंसे आवृत था, उसमें उन्मत्त भूत, राक्षस और पिशाच रुधिर और मांसके लिए ताकमें बैठे थे, उसमें ऐसी पुष्पवृष्टि हो रही थी कि

वेतालयक्षकूष्माण्डैर्द्वन्द्वालोकनसादरैः ।
आयुधापातरक्षार्थं गृहीताद्रितटैर्वृतम् ॥ १६ ॥
अस्त्रमार्गनभोभागविद्रवद्भूतमण्डलम् ।
आहोपुरुषिकाक्षुब्धप्रेक्षकामोदनोद्भटम् ॥ १७ ॥
आसन्नभीमसंग्रामकिंवदन्तीपरस्परम् ।
लीलाहासविलासोत्कसुन्दरीधृतचामरम् ॥ १८ ॥
धर्माप्रेक्ष्यप्रयुक्ताग्र्यमुनिस्वस्त्ययनस्तवम् ।
सम्पन्नानेकलोकेशवनितावसरस्तवम् ॥ १९ ॥
स्वर्गार्हशूरानयनव्यग्रेन्द्रभटभासुरम् ।
शूरार्थालङ्कृतोत्तुङ्गलोकपालाख्यवारणम् ॥ २० ॥
आगच्छच्छूरसन्मानोन्मुखगन्धर्वचारणम् ।
शूरोन्मुखामरस्त्रैणकटाक्षेक्षितसद्भटम् ॥ २१ ॥

उससे विद्याधरोंकी स्त्रियोंके हाथ भर गये थे, युद्धदर्शनमें अत्यन्त अभिलाषावाले अस्त्रशस्त्रोंके आघातसे अपना बचाव करनेके लिए पर्वतके तटोंपर बैठे हुए वेताल (एक प्रकारके भूत), यक्ष और कूष्माण्डोंसे वह परिवृत था, अस्त्रोंके मार्गभूत समीपवर्ती आकाशभागसे, स्वरक्षार्थ, सम्पूर्ण भूतगण उसमें भाग रहे थे, पौरुषाभिमानसे क्षुब्ध योद्धागण दर्शकोंका आमोद-प्रमोद कर रहे थे ॥ १३–१७ ॥

सब लोग परस्पर निकटवर्ती भीषण संग्रामकी चर्चा कर रहे थे, क्रीड़ामें हास और विलासोंमें उत्कण्ठित सुन्दरियोंने अपने हाथोंमें चँवर ले रक्खे थे ॥१८॥

अत्यन्त धर्मात्मा होनेसे अन्य लोगोंके दृष्टिगोचर न हो सकनेवाले, योग-बलसे श्रेष्ठ मुनियों द्वारा देवताओंके स्तोत्र जगत्की शान्तिके लिए वहां पढ़े जा रहे थे, अनेक लोकपालों द्वारा अप्सराओंसे सम्बन्ध रखनेवाली अवसरोचित स्तुतियाँ की जा रही थीं, भाव यह कि अप्सराएँ हमें छोड़कर नूतन योग्य कान्तोंका अनुसरण न करें, यों लोकपाल उनकी स्तुति कर रहे हैं। स्वर्गमें स्थान पाने योग्य शूरवीर पुरुषोंको लानेमें व्यग्र इन्द्रके भटोंसे वह चमक रहा था, उसमें शूरवीर पुरुषोंके लिए ऊँचे ऊँचे लोकपाल नामक यानी ऐरावत आदि हाथी सजाए गये थे, स्वर्गकी ओर आ रहे रणभूमिमें आहत शूरोंके आगत-स्वागतरूप सम्मानमें गन्धर्व और चारण कटिबद्ध थे, वहां शूरवीर पुरुषोंपर

वीरदोर्दण्डकाश्लेषलम्पटस्त्रीगणाकरम् ।
शुक्लेन शूरयशसा चन्द्रीकृतदिवाकरम् ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छूरशब्देन कीदृशः प्रोच्यते भटः ।
स्वर्गालङ्करणं कः स्यात् को वा डिम्भाहवो भवेत् ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

शास्त्रोक्ताचारयुक्तस्य प्रभोरर्थेन यो रणे ।
मृतो वाऽथ जयी वा स्यात् स शूरः शूरलोकभाक् ॥ २४ ॥
अन्यथा प्राणिकृत्ताङ्गो रणे यो मृतिमाप्नुयात् ।
डिम्भाहवहतः प्रोक्तः स नरो नरकास्पदम् ॥ २५ ॥

आकृष्ट होनेवाली अप्सराएँ कटाक्षोंसे अच्छे-अच्छे योद्धाओंको देखती थीं, वह वीर पुरुषोंके बाहु-दण्डोंका आलिङ्गन करनेमें लुब्ध सहस्रों स्त्रियोंसे भरा था, शूर पुरुषोंके शुभ्र यशने वहांपर सूर्यको चन्द्रमा बना दिया था, भाव यह कि यशकी शीतलतासे उष्णताके दब जानेसे सूर्य चन्द्र-सा मालूम होता था ॥१९–२२॥

प्रसंगवश शूर आदिके लक्षणको जाननेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, शूरशब्द कैसे भटका वाचक है ? कौन भट स्वर्गका अलङ्कार है और कौन डिम्भाहव भट है ? यद्यपि यहांपर डिम्भाहव भट कहींपर न तो उक्त ही और न किसी प्रकार सूचित ही है तथापि यहांपर उसके लक्षणके प्रश्नको, स्वर्गालङ्कारभूत शूरसे भिन्न होनेके कारण, प्रासङ्गिक जानना चाहिए ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, शास्त्रोंमें प्रतिपादित सदाचारसे युक्त प्रभुके लिए रणभूमिमें जो युद्ध करता है, वह चाहे रणमें मृत्युको प्राप्त हो, चाहे विजयी हो, वह शूर है और शूरोचित लोकका भाजन है ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त विधिसे विपरीत यानी असदाचारी प्रभुके लिए जिसने प्राणियोंका अङ्गच्छेदन किया है, वह यदि रणमें मृत्युको प्राप्त हो, तो वह डिम्भाहवमें मारा गया कहलाता है और वह नरकगामी होता है ॥ २५ ॥

अयथाशास्त्रसञ्चारवृत्तेरर्थेन युध्यते ।
यो नरस्तस्य सङ्ग्रामे मृतस्य निरयोऽक्षयः ॥ २६ ॥
यथासंभवशास्त्रार्थलोकाचारानुवृत्तिमान् ।
युध्यते तादृशश्चैव भक्तः शूरः स उच्यते ॥ २७ ॥
गोरर्थे ब्राह्मणस्याऽर्थे मित्रस्याऽर्थे च सन्मते ।
शरणागतयत्नेन स मृतः स्वर्गभूषणम् ॥ २८ ॥
परिपाल्य स्वदेशैकपालने यः स्थितः सदा ।
राजा मृतास्तदर्थं ये ते वीरा वीरलोकिनः ॥ २९ ॥
प्रजोपद्रवनिष्ठस्य राज्ञोऽराज्ञोऽथवा प्रभोः ।
अर्थेन ये मृता युद्धे ते वै निरयगामिनः ॥ ३० ॥

उक्त अर्थको ही विशेषरूपसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'अयथाशास्त्र०' इत्यादिसे ।

जिस स्वामीका आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, उसके लिए जो पुरुष रणभूमिमें युद्ध करता है, वह यदि संग्राम-भूमिमें मरे, तो उसको शाश्वत नरककी प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

जो यथासंभव शास्त्रप्रतिपादित विधिके अनुकूल और लोकाचारके अनुकूल आचरण करनेवाला होकर रणमें युद्ध करता है और वैसे ही सदाचारी स्वामीका भक्त हो, वह शूर कहलाता है ॥ २७ ॥

सुमते, गऊके रक्षण लिए, ब्राह्मणके रक्षण लिए, मित्रके रक्षण लिए, शरणागतके रक्षणके लिए युद्धरूप उपाय द्वारा जो मृत्युको प्राप्त होता है, वह स्वर्गालङ्कार है ॥ २८ ॥

अवश्य परिपालनीय (रक्षणीय) अपने देशकी मुख्यवृत्तिसे रक्षणमें जो राजा सदा उद्यमी है, उसकी विजयके लिए जो युद्ध करते हैं, वे वीर हैं और उन्हें वीरोंका लोक प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रजाओंके प्रति सदा कुछ न कुछ उपद्रव करनेवाले राजा अथवा राजासे भिन्न जमींदार आदि प्रभुके लिए जो युद्धमें मरते हैं, वे निस्सन्देह नरकगामी होते हैं ॥ ३० ॥

ये हि राज्ञामराज्ञां वाऽप्ययथाशास्त्रकारिणाम् ।
रणे म्रियन्ते छिन्नाङ्गास्ते वै निरयगामिनः ॥ ३१ ॥
धर्म्यं यथा तथा युद्धं यदि स्यात्तर्हि संस्थितिः ।
नाशयेयुरलं मत्ताः परलोकभयोज्झिताः ॥ ३२ ॥
यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्ग इत्यवशोक्तयः ।
धर्मे योद्धा भवेच्छूर इत्येवं शास्त्रनिश्चयः ॥ ३३ ॥
सदाचारवतामर्थे खड्गधारां सहन्ति ये ।
ते शूरा इति कथ्यन्ते शेषा डिम्भाहवाहताः ॥ ३४ ॥

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवालेका आश्रय लेना ही नरकका हेतु है, उसपर यदि वह प्रजाओंके प्रति उपद्रव करनेवाला हो, तो उसका आश्रय लेना नरकका हेतु है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशयसे फिर पूर्वोक्त बातको कहते हैं—'ये हि' इत्यादिसे ।

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवाले और प्रजाको प्रपीड़ित करनेवाले राजाओं अथवा राजाओंसे भिन्न मालिकोंकी विजयके लिए जो रणमें छिन्न-भिन्नशरीर होकर मरते हैं, वे निश्चय नरकगामी होते हैं ॥ ३१ ॥

धार्मिक स्वामीका आश्रित होनेपर भी यदि अधर्मसे युद्ध करता हुआ भट मारा जाय, तो उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'धर्म्यम्' इत्यादिसे ।

यदि धर्मपूर्वक युद्ध हो, तो युद्धमें मृत योद्धाकी स्वर्गमें स्थिति होती है । यदि अधर्म्य युद्धसे मारे गये पुरुषको स्वर्ग प्राप्त हो, तब तो मत्त पुरुष परलोकके भयसे रहित होकर अत्यन्त अधर्म्य युद्धसे भी दूसरे लोगोंको नष्ट कर डालें ॥ ३२ ॥

यदि ऐसी बात है, तो 'परप्राणान् निजप्राणैः पणीकृत्योद्यतायुधः । यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्गस्तत्र पदे पदे ॥' (अपने प्राणोंसे दूसरेके प्राणोंकी बाजी लगाकर शस्त्रको उठाकर शूर जहां जहां भी मारा जाय, वहां उसे पद पदपर स्वर्ग है) इत्यादि साधारण लोकप्रवादोंकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—'यत्र यत्र' इत्यादिसे ।

'शूर जहां-जहांपर भी मारा जाय, वहां उसे पद पदपर स्वर्ग है' इत्यादि अवश लोगोंकी उक्तियाँ हैं, किन्तु धर्मके लिए युद्ध करनेवाला पुरुष शूर है, शास्त्रका तो यही निश्चय है ॥ ३३ ॥

जो लोग शास्त्रप्रतिपादित आचरणवाले प्रभुओंके लिए खड्गकी धारको सहते हैं, वे शूर कहे जाते हैं, शेष लोग डिम्भाहवमें मारे गये कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

तेषामथ रणे व्योम्नि तिष्ठन्त्युत्कण्ठिताशयाः ।
शूरीभूतमहासत्त्वदयितोक्तिसुराङ्गनाः ॥ ३५ ॥
विद्याधरीमधुरमन्थरगीतिगर्भं
मन्दारमाल्यवलनाकुलकामिनीकम् ।
विश्रान्तकान्तसुरसिद्धविमानपङ्क्ति
व्योमोत्सवोच्चरितशोभमिवोल्ललास ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने युद्धप्रेक्षिकास्थिताम्बरवर्णनं नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ वीरवरोत्कण्ठनृत्यदप्सरसि स्थिता ।
लीलाऽवलोकयामास व्योम्नि विद्यान्विताऽवनौ ॥ १ ॥

उनके लिए रणभूमिमें और आकाशमें शूरताको प्राप्त महाबलशालीको प्रिय कहनेवाली सुराङ्गनाएँ उत्कण्ठित होकर खड़ी रहती हैं ॥ ३५ ॥

विद्याधरोंकी अङ्गनाओंके मधुर और मन्द मन्द गायनसे गुलजार, मदारके फूलोंकी मालाओंके गूँथनेमें व्यग्र कामिनियोंसे युक्त और जिसमें देवता और सिद्धोंके सुन्दर सुन्दर विमानोंकी पङ्क्ति विश्राम ले रही थी, ऐसा आकाश, उत्सवके लिए बहुत बढ़ी चढ़ी शोभासे युक्त-सा अत्यन्त शोभित था ।

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवां सर्ग

[सङ्कल्पमय विमानमें बैठी हुई सरस्वतीदेवी तथा लीला द्वारा देखी गई लड़नेके लिए उत्सुक शस्त्र-अस्त्रसे सुसज्जित दो सेनाओंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे सौम्य, तदनन्तर शूरवीर प्रियके लिए उत्कण्ठापूर्वक नृत्य कर रहीं अप्सराओंसे पूर्ण आकाशमें स्थित सरस्वतीदेवीसे युक्त लीलाने पृथिवीमें अपने पतिदेवसे अपने राष्ट्रमण्डलमें सुरक्षित, चतुरङ्गिणी

स्वराष्ट्रमण्डले भर्तृपालिते बलमालिते ।
कस्मिंश्चिद्विततारण्ये द्वितीयाकाशभीषणे ॥ २ ॥
सेनाद्वितयमाक्षुब्धं सौम्याब्धिद्वितयोपमम् ।
महारम्भघनं मत्तं स्थितं राजद्वयान्वितम् ॥ ३ ॥
युद्धसज्जं सुसन्नद्धमिद्धमग्निमिवाऽद्भुतम् ।
पूर्वप्रहारसम्पातप्रेक्षाक्षुब्धाक्षिलक्षितम् ॥ ४ ॥
उद्यतामलनिस्त्रिंशधारासारवहज्जनम् ।
कचत्परश्वधप्रासभिन्दिपालर्ष्टिमुद्गरम् ॥ ५ ॥
गुरुत्मत्पक्षविक्षुब्धवनसंघातकम्पितम् ।
उद्यद्दिनकरालोकचञ्चत्कनककङ्कटम् ॥ ६ ॥
परस्परमुखालोककोपप्रोद्दामितायुधम् ।
अन्योन्यबद्धदृष्टित्वाच्चित्रं भित्ताविवाऽर्पितम् ॥ ७ ॥
लेखामर्यादया दीर्घबद्धया स्थापितस्थिति ।
अनिवार्यमहासैन्यझाङ्काराश्रुतसंकथम् ॥ ८ ॥

सेनासे परिवृत, सिंह, भालू, विच्छू, राक्षस आदिका आवास होनेके कारण दूसरे आकाशकी नाईं भीषण किसी विशाल वनमें दो महासागरोंके तुल्य परस्पर सब प्रकारसे क्षुब्ध दो सेनाओंको देखा। वे मत्त सेनाएँ महान् कार्योद्योगोंसे युक्त थीं, दोनों पक्षोंके दो राजा उनमें विद्यमान थे, युद्धके लिए वे सुसज्जित थीं, कवच, शिरस्त्राण, हरवा हथियारसे लैस थीं, अतः देदीप्यमान अग्निकी नाईं वे बड़ी अद्भुत प्रतीत होती थीं, पहले प्रहार-पातको देखनेके लिए क्षुब्ध असंख्य नेत्र उन्हें देख रहे थे, दोनों सेनाओंमें प्रहारके लिए उठाई गई चमचमाती हुई तलवार धाराएँ ही ठहरीं मानो जलधाराएँ उन्हें लोग सह रहे थे, कुल्हाड़े, बर्छे, बन्दूक, तोप और मुग्दर आदि अस्त्रशस्त्र चमचमा रहे थे, गरुड़के परोंसे विक्षुब्ध वनसंघातके समान दोनों सेनाएँ चञ्चल थीं, उनमें उदयकालके सूर्यके सुनहले आलोक (आताप) के समान सोनेके कवच देदीप्यमान हो रहे थे, भट और प्रतिभट द्वारा एक दूसरेके मुखदर्शनसे उत्पन्न हुए कोपसे परस्पर अस्त्र-शस्त्र उठाये गये थे, भट और प्रतिभट एक दूसरेके ऊपर टकटकी लगाकर देखनेके कारण भीतमें लिखे गये चित्रसे मालूम होते थे, खूब लम्बी खींची हुई दो सेनाओंके बीचकी रेखारूपी मर्यादासे (सीमासे) दोनों सेनाओंकी स्थिति नियत कर दी

पूर्वप्रहारस्मयतश्चिरं संशान्तदुन्दुभि ।
निबद्धयोधसंस्थाननिखिलानीकमन्थरम् ॥ ९ ॥
धनुर्द्वितयमात्रात्मशून्यमध्यैकसेतुना ।
विभक्तं कल्पवातेन मत्तमेकार्णवं यथा ॥ १० ॥
काये सङ्कटसंरम्भचिन्तापरवशेश्वरम् ।
विरटद्भेककण्ठत्वभङ्गुरातुरहृद्गुहम् ॥ ११ ॥
प्राणसर्वस्वसंत्यागसोद्योगासंख्यसैनिकम् ।
कर्णाकृष्टशरौघौघत्यागोन्मुखधनुर्धरम् ॥ १२ ॥
प्रहारपातसम्प्रेक्षानिष्पन्दासंख्यसैनिकम् ।
अन्योन्योत्कण्ठकाठिन्यभरभ्रुकुटिसङ्कटम् ॥ १३ ॥
परस्परसुसङ्घट्टकटुटङ्कारकङ्कटम् ।
वीरयोधमुखादग्धभीरुप्रेप्सितकोटरम् ॥ १४ ॥

गई थी, बड़ी भारी दो सेनाओंमें एकत्रित भटोंके अनिवार्य हल्ले गुल्लेके कारण लोगोंको परस्पर आलाप नहीं सुनाई देता था, राजाकी आज्ञाके बिना पहले वार न हो, इस शङ्काके कारण बहुत देरी तक दोनों सेनाओंमें रणदुन्दुभी शान्त थी, प्रायः अपने-अपने स्थानमें श्रेणीबद्ध योद्धारूपी प्रधान अवयववाली सम्पूर्ण सहायक सेनाओंसे दोनों सेनाएँ परिपूर्ण थीं, जैसे प्रलयकालके महावायुसे विक्षुब्ध एकमात्र समुद्र दो विभागोंमें विभक्त होता है, वैसे ही वे दोनों सेनाएँ केवल दो धनुष परिमाणके जनशून्य मध्यभागरूपी एक पुलसे विभक्त थीं, उसमें दोनों पक्षोंके राजा अपने शरीरपर वेगसे उपस्थित हुए संकटकी चिन्तासे ग्रस्त थे, दोनों सेनाओंमें डरपोक लोगोंकी हृदयरूपी गुफा बोल रहे मेढ़कके कण्ठकी त्वचाकी नाईं फरफरा रही थी, दोनों पक्षोंमें असंख्य सैनिक प्राणरूपी सर्वस्वका त्याग करनेके लिए उद्यत थे, कानतक खींचे गये बाण समूहरूपी प्रवाहको छोड़नेके लिए धनुर्धारी तत्पर थे, प्रहार करनेकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें असंख्य सैनिक चित्रवत् निश्चल खड़े थे, परस्पर भट और प्रतिभटमें युद्धकी उत्कण्ठासे उत्पन्न अतिशय क्रोधसे बँधी हुई भ्रुकुटियोंसे दोनों सेनाएँ दुष्प्रेक्ष्य हो गई थीं, भट और प्रतिभटके परस्पर अभिघातसे कवचोंकी कर्णकटु टंकारध्वनि हो रही थी, वीर योद्धाओंकी

मिथःसंस्थानकालोकमात्रासंदिग्धजीवितम् ।
समस्ताङ्गरुहासक्तप्रांशुवृद्धेभमानवम् ॥ १५ ॥
पूर्वप्रहारसंप्रेक्षाव्यग्रप्राणतया तया ।
संशान्तकल्लोलरवं निद्रामुद्रपुरोपमम् ॥ १६ ॥
संशान्तशङ्खसङ्घाततूर्यनिर्ह्रादुन्दुभि ।
भूतलाकाशसंलीनसर्वपांसुपयोधरम् ॥ १७ ॥
पलायनपरैः पश्चात्त्यक्तमङ्गलमण्डलम् ।
प्रसारिमकरव्यूहमत्स्यसंख्याब्धिभासुरम् ॥ १८ ॥
पताकामञ्जरीपुञ्जविजिताकाशतारकम् ।
हास्तिकोत्तम्भितकरकाननीकृतखान्तरम् ॥ १९ ॥
तरत्तरलभापूरसपक्षसकलायुधम् ।
धमद्धमितिशब्दैश्च श्वासोत्थैर्ध्मातखान्तरम् ॥ २० ॥

मुखाग्निसे जले हुए-से अतएव काले मुखवाले डरपोक लोग छिपनेके लिए पहाड़ोंकी खोह ढूँढ़ रहे थे, परस्पर युद्धके दर्शनपर्यन्त जिनका जीवन निश्चित था, दोनों पक्षोंमें हाथी और मनुष्य खड़े हुए रोंगटोंसे व्याप्त होनेके कारण ऊपरकी ओर ऊँचे और अगल-बगल बढ़े हुए थे, प्रथम प्रहारकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें व्यग्र चित्त होनेसे दोनों सेनाओंमें कोलाहलका शब्द शान्त था, अतएव वे जिसके नरनारी गाढ़ नींदमें सोये हैं, ऐसे नगरके तुल्य प्रतीत होती थीं, शङ्खों, तुरहियों और दुन्दुभियोंका शब्द शान्त था, सब धूलिकण और बादल क्रमशः भूमितल और आकाशमें लीन थे, भागनेमें तत्पर डरपोक लोगोंने सेनाके अलङ्काररूपी शूरवीरोंको पीछे छोड़ दिया था, बड़े-बड़े मगरोंका और मछलियोंका जिसमें युद्ध हो रहा हो, ऐसे सागरकी नाईं उन सेनाओंकी छवि छिटक रही थी, पताकाओंमें लगी हुई चमकदार झालरोंने आकाशके तारोंको जीत लिया था, झुण्डके झुण्ड हाथियों द्वारा ऊपर उठाई गई सूँड़ोंने आकाशके मध्यको वन बना डाला था ॥ १–१९ ॥

आकाशमें तैर रहीं चञ्चल प्रकाशराशियोंसे सकल शस्त्र-अस्त्र पूँछसे युक्त-से हो रहे थे, दुन्दुभी आदिके 'धम्, धम्' शब्दोंसे और मुखवायुसे होनेवाले शङ्ख आदिके शब्दोंसे दोनों सेनाओंका आकाशमण्डल शब्दायमान था ॥ २० ॥

चक्रव्यूहकराक्रान्तदुर्वृत्तसुरभासुरम् ।
गरुडव्यूहसंरम्भविद्रवन्नागसञ्चयम् ॥ २१ ॥
श्येनव्यूहविभिन्नाग्रसन्निवेशोत्तमध्वनि ।
अन्योन्यास्फोटनिःशेषप्रपतद्भूरिवृन्दकम् ॥ २२ ॥
विविधव्यूहविन्यासवान्तवीरवरारवम् ।
करप्रतोलनोल्लासमत्तमुद्गरमण्डलम् ॥ २३ ॥
कृष्णायुधांशुजलदश्यामीकृतदिवाकरम् ।
अनिलाधूतपल्यूलसूत्कृताभशरध्वनि ॥ २४ ॥
अनेककल्पकल्पाग्रसवृन्दमिव संस्थितम् ।
प्रलयानिलसंक्षुब्धमेकार्णवमिवोत्थितम् ॥ २५ ॥
सद्यश्छिन्नं महामेरोः पक्षद्वयमिव स्फुरत् ।
क्षुब्धमारुतनिर्धूतमिव कज्जलपर्वतम् ॥ २६ ॥

अब दोनों सेनाओंके प्रवेशमार्गके भेदसे विभिन्न व्यूहरचनाका वर्णन करते हैं—'चक्र०' इत्यादिसे ।

कहींपर चक्राकार व्यूहका निर्माण करनेवाले पुरुषोंसे, दुर्दान्त दैत्योंपर आक्रमण किये हुए देवताओंकी नाईं, दोनों सेनाएँ देदीप्यमान थीं, कहींपर उनमें गरुड़व्यूहके निर्माणसे सर्पोंके समूह (श्लेषवश हाथियोंके झुण्ड) वेगके साथ भाग रहे थे, श्येनके व्यूहसे प्रतिपक्षियोंका सेनाशिविर दो भागोंमें विभक्त किया गया थ, अतएव दोनों सेनाओंमें गगनभेदी कलकलशब्द हो रहा था, कहींपर परस्पर बाहुओंमें जोरकी टक्कर लगनेके कारण वेगसे सबके सब समूह भूमिमें गिर रहे थे, कहींपर व्यूहरचनासे आगे निकले हुए वीरोंके विविध सुन्दर शब्द हो रहे थे, कहींपर हाथों द्वारा उठानेसे उत्पन्न हुए उल्लाससे मत्तकी नाईं मुद्गर नाच रहे थे, कहींपर काले-काले शस्त्रास्त्रोंके किरणोंसे मानो उत्पन्न हुए मेघोंने सूर्यको तिरोहित कर दिया था, कहींपर वायु द्वारा कँपाये गये पल्यूलोंके (एक प्रकारकी घासके) सूत्कारके (वायुके संघर्षसे उत्पन्न सूत् इत्याकारक शब्दके) समान बाणोंकी ध्वनि हो रही थी, प्रलय करनेमें समर्थ अनेक पुष्करावर्त आदि मेघोंसे मानो दोनों सेनाएँ अग्रभागमें संघीभूत होकर स्थित थीं, वे दोनों सेनाएँ प्रलयके वायुसे विक्षुब्ध एकमात्र सागरके समान उदित हुई थीं, तुरन्त कटे

पातालकुहरात् क्षुब्धमन्धकारमिवोत्थितम् ।
लोकालोकमिवोन्मत्तनृत्यलोललसत्तटम् ॥
महानरकसङ्घातं भित्त्वाऽवनिमिवोत्थितम् ॥ २७ ॥
आलोलकुन्तमुसलासिपरश्वधांशु-
श्यामायमानदिवसातपवारिपूरैः ।
एकार्णवं भुवनकोशमिवाऽचिरेण
कर्तुं समुद्यतमगाधमनन्तपूरैः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आहवारम्भणं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् युद्धमेतन्मे समासेन मनाग्वद ।
श्रुतिराह्लाद्यते श्रोतुर्यस्मादेताभिरुक्तिभिः ॥ १ ॥

हुए, अतएव फड़फड़ाते हुए महामेरुके दो परोंके समान थीं, अत्यन्त शोभायुक्त वायुसे कँपाये गये कज्जल पर्वतके समान थीं, पातालरूपी गर्तसे निकले हुए क्षुब्ध अन्धकारकी नाईं थीं, उन्मत्त नृत्यसे चञ्चल और देदीप्यमान तटवाले लोकालोक पर्वतकी नाईं थीं और पृथिवीको तोड़कर उदित हुए महानरकोंके संघातकी नाईं थीं ॥ २१-२७ ॥

मानो वे दोनों सेनाएँ चञ्चल बर्छे, मूसल, तलवार और कुल्हाड़ोंके किरणोंसे काले-से प्रतीत हो रहे दिवसातपरूपी जलके प्रवाहसे सम्पूर्ण भुवनकोषको एकमात्र अगाध सागर बनानेके लिए उद्यत थीं ॥ २८ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैतीसवाँ सर्ग

[संकल्पजनित विमानमें स्थित सरस्वती और लीला द्वारा देखे गये दोनों सेनाओंके संग्रामका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, इस युद्धका कुछ संक्षेपसे मुझसे वर्णन कीजिए, क्योंकि इन उक्तियोंसे श्रोताके कानोंको बड़ा आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तत्रैव ते देव्यौ संग्रामं तमवेक्षितुम् ।
विमाने कल्पिते कान्ते रुद्धे रुरुहतुः स्थिरे ॥ २ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र लीलेशः प्रतिपक्षतः ।
तमुत्सोढुमशक्तः सन् मुखव्यतिकरे रणे ॥ ३ ॥
प्रलयार्णवकल्लोल इवोत्पत्योद्भये भटे ।
जहौ सानाविव शिलां भटस्योरसि मुद्गरम् ॥ ४ ॥
अथ प्रवृत्तः प्रसभं प्रलयार्णवरंहसा ।
सेनयोः शस्त्रसंपातः किरन्ननलविद्युतः ॥ ५ ॥
तरत्तरलधाराग्ररेखाङ्कितनभस्तलः ।
ध्वनत्कणकणाशब्दमध्यलक्षितटाङ्कृतिः ॥ ६ ॥
धीरहुङ्कारमिश्रोष्मघर्घरारवघस्मरः ।
प्रवृत्तशरधाराग्रभास्करार्चिर्वितानकः ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामचन्द्रजी, तदुपरान्त वे देवियाँ उस संग्रामको देखनेके लिए वहींपर रोके गये मनसे कल्पित सुन्दर स्थिर विमानपर चढ़ीं ॥ २ ॥

इसी बीचमें उन दोनों सेनाओंकी परस्पर मुठभेड़ होनेपर शत्रुकी सेनासे प्रलयकालीन सागरके कल्लोलकी नाईं निर्भय भट निकला। कोई उसके प्रहार करनेकी इच्छा करनेपर लीलाके पूर्वजन्मके पति राजा विदूरथने, उसके व्यवहारको सहन करनेमें असमर्थ होकर, पर्वतके शिखरपर पत्थरके समान उसकी छातीपर मुद्गरसे प्रहार किया ॥ ३,४ ॥

तदुपरान्त दोनों सेनाओंमें प्रलयकालके सागरके वेगसे अग्निकी (अग्नि-सदृश शस्त्रास्त्रोंकी) और बिजलीकी (बिजुलीकी तरह शस्त्रोंकी कान्तिकी) वृष्टि करता हुआ शस्त्रसंपात होने लगा ॥ ५ ॥

ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि आकाशमें तैर रहे अस्त्र-शस्त्रोंकी चञ्चल धारके अग्रभागसे आकाशमण्डल रेखाङ्कित-सा प्रतीत होता था, उसमें हो रहे कण-कण शब्दके बीचमें धनुषोंके टंकारका शब्द सुनाई देता था, वीरोंके हुंकारसे मिलनेके कारण अधिकाधिक गम्भीर होता हुआ उसका शब्द ग्रीष्म ऋतुके अन्तके मेघके गर्जनशब्दको अपनेमें छिपा देता था, धनुषोंसे छूटी हुई बाणधाराके अग्रभागमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी किरणें उसमें वितानका काम दे रही थीं, बाण और तलवारके

नदत्कङ्कटटङ्कारप्रोड्डीनकणपावकः ।
परस्पराहतिच्छिन्नहेतिखण्डखगाम्बरः ॥ ८ ॥
वीरदोर्द्रुमसञ्चारवद्वनभस्थलः ।
कोदण्डचक्रकेङ्कारद्रवद्वैमानिकाङ्गनः ॥ ९ ॥
महाहलहलारावभृङ्गीकृतघनध्वनिः ।
निर्विकल्पसमाधिस्थ इवैकघनतावशात् ॥ १० ॥
नाराचासारधाराग्रलूनशूरशिरस्करः ।
परस्परांससङ्घट्टरणत्कङ्कटसङ्कटः ॥ ११ ॥
हुङ्कारहतहेत्युग्रसङ्घट्टकटुटाङ्कृतः ।
तरद्धारातरङ्गाभ्रदन्तुराशेषदिङ्मुखः ॥ १२ ॥
हेतिसंघट्टविक्षोभमुष्टिग्राह्यझणज्झणः ।
चिरमास्फोटकास्फोटलुठच्चटचटारवः ॥ १३ ॥

वारोंसे बज रहे कवचोंसे टंकारके साथ आगकी चिनगारियाँ उड़ती थीं, रण-स्थलके आकाशमें परस्पर आघातसे छिन्न-भिन्न हुए तलवार आदि शस्त्रोंके टुकड़े पक्षियोंकी भाँति उड़ रहे थे, वीरोंकी भुजारूपी वृक्षोंके इतस्ततः संचारसे युद्ध भूमिका नभस्तल ऐसा प्रतीत होता था, मानो उसमें चलने फिरनेवाले वन घूम रहे हों। उसमें धनुषोंकी राशियोंके टङ्कारसे देवाङ्गनाएँ मारे भयके भाग रही थीं, उसने बड़े भारी कोलाहलशब्दसे मेघके शब्दको भँवरेकी गुँजार-सा छोटा कर दिया था, जैसे परमात्मभावापन्न होनेसे निर्विकल्पसमाधिस्थ पुरुष बाह्यशब्द आदिका अनुभव नहीं करता है, वैसे ही वह रणसंरम्भ भी बाह्यशब्द आदिका अनुभव नहीं करता था, [कहा भी है—योगी समाधिमें जबतक बाह्यशब्द आदिका अनुभव करता है तबतक वह सविकल्प समाधि है उसके बाद यानी जब बाह्यशब्द आदिका अनुभव नहीं करता, वह निर्विकल्प समाधि है] ॥८–१०॥

उसमें अर्द्धचन्द्राकार नोकवाले बाणोंकी लगातार वृष्टिसे शूरवीरोंके सिर और हाथ काटे गये थे, परस्परके कन्धोंकी टक्करसे बज रहे कवचोंसे वह युद्धस्थल डरावना था, शस्त्रोंके भीषण संघट्टसे उत्पन्न कर्णकटु टंकारध्वनि वीरोंके हुँकारसे मन्द पड़ गई थी—तिरस्कृत हो गई थी, खड्गधारा तरङ्गरूपी मेघोंसे उस युद्धभूमिके सभी दिङ्मुख दन्तुरसे (कुछ ऊँचे-से) मालूम पड़ते थे, उस घमासान युद्धमें

प्रवहत्खड्गसीत्कारज्वलत्कणसणध्वनि ।
सरच्छरभराध्वान्तशरत्खरखरारवः ॥ १४ ॥
धगद्धगितिविच्छिन्नकण्ठोत्थप्राणलोहितः ।
छिन्नबाहुशिरःखड्गखण्डनिर्विवराम्बरः ॥ १५ ॥
कङ्कटोत्थस्फुरद्वह्निसटास्पृष्टशिरोरुहः ।
रणत्पतदसिव्रातमत्तपीनझणज्झणः ॥ १६ ॥
कुन्तकुण्ठितमातङ्गतरङ्गोत्तुङ्गलोहितः ।
दन्तिदन्तविनिष्पेषतारचीत्कारकर्कशः ॥ १७ ॥
महामुसलसम्पातपिष्टकष्टोद्धुरस्वरः ।
तरच्छूरशिरःपद्मप्रकाराच्छादिताम्बरः ॥ १८ ॥
व्योमन्यस्तभुजाहीन्द्रः पूर्णधूलिमयाम्बुदः ।
छिन्नहेतिनरारब्धकेशाकेशिप्रतिक्रियः ॥ १९ ॥

तलवारके प्रहारसे शत्रुको क्रोध होनेपर उसके सरको काटनेके लिए प्रवृत्त हुए हाथको सिरके न मिलनेसे झग्-झग् शब्द मुष्टिमें पकड़नेके योग्य-सा होता था, वहांपर चिरकालतक बाहुओंपर ताल ठोंकनेवाले शूरवीर लोगोंके ताल ठोंकनेसे चट-चट शब्द मानो गिर पड़ते थे, वहांपर शीघ्रतासे म्यानसे निकल रही तलवारोंका लोहेकी म्यानके संघर्षसे उत्पन्न हुए सीत्कारशब्दसे युक्त जल रहे स्फुलिङ्गोंकी सण् सण् ध्वनि होती थी, तेजीसे लक्ष्यदेशकी ओर जा रहे लक्ष्य-देशमें जाकर फैलनेवाले शरोंकी उसमें खर-खर ध्वनि हो रही थी, वीरोंके कटे हुए कण्ठोंसे धग् धग् शब्दके साथ प्राण और खून निकल रहा था, कटे हुए बाहुओं, सिरों और तलवारके टुकड़ोंसे आकाश पट गया था, कवचमें टक्कर लगनेसे निर्गत दीप्त अग्निकी जटातुल्य ज्वालाएँ वीरोंके केशोंका स्पर्श कर रही थीं, परस्पर टक्कर लगनेसे बज रहीं और कटकर गिर रहीं तलवारोंका जो झण-झण शब्द हो रहा था, उसने शूरोंके चित्तको प्रफुल्लित और शरीरको रणोत्साहसे दुगुना बना दिया था, बर्छोंसे छिन्न-भिन्न हाथियोंकी देहसे उत्तरङ्गित रक्त प्रवाह बहता था, हाथियोंके दाँतोंके टूटनेसे हुए दीर्घतम चीत्कारशब्दसे वह अत्यन्त भीषण प्रतीत होता था, महामुसलके प्रहारसे चूर-चूर हुए लोगोंकी कष्टमय कातर हाहाकार ध्वनि हो रही थी, कटकर आकाशमें तैर रहे शूरोंके सिररूपी पद्मोंके समूहसे आकाश बिलकुल आच्छन्न था, कटकर आकाशमें फेंकी गयीं वीरभुजाएँ ही

नखानखिनिकृत्ताक्षिकर्णनासौष्ठकन्धरः ।
छिन्नायुधमहामल्लहेलोल्लालनलब्धभूः ॥ २० ॥
पतत्समदमातङ्गकम्पितोर्वीलुठद्रयः ।
रणद्रथरयोत्पन्नक्षरद्रक्तसरित्पथः ॥ २१ ॥
रजोरचितनीहारः कचत्प्रवहदायुधः ।
एकीकृतघनक्षोभसैन्यसागरगर्जितः ॥ २२ ॥
मत्तहासविलासेन मृत्युना परिचर्वितः ।
गर्वितादीन्द्रनागेन्द्रखर्वितामभोदगर्जितः ॥ २३ ॥
वृक्षश्वभ्रतटीच्छिन्नचक्रशक्त्यृष्टिमुद्गरः ।
शरोर्णातन्तुनीरन्ध्रवृष्टियोधाद्रिमेखलः ॥ २४ ॥
मेघविश्रान्तविच्छिन्नपताकापटचामरः ।
यन्त्रपाषाणचक्रौघदूरविद्रुतखेचरः ॥ २५ ॥

उसमें सर्पराज थे और चारों ओर आच्छन्न धूलिमय ही मेघ थे, जिनके अस्त्र-शस्त्र कट गये थे, ऐसे पुरुषों द्वारा अस्त्र-शस्त्रके काटनेका बदला चुकानेके लिए केशाकेशि युद्ध हो रहा था, परस्पर द्वारा परस्परके नखोंसे आँखें, नाक, कान, ओठ और कन्धे नोचे जा रहे थे, जिन महामल्लोंके अस्त्र कट चुके थे, वे क्रीडापूर्वक बाहुयुद्धसे विजय प्राप्त कर रहे थे, शस्त्रोंकी चोटसे गिर रहे मदोन्मत्त हाथियोंसे कंपाये गये घायल होनेके कारण दौड़नेमें समर्थ लोग पृथिवीमें वेगसे लोट रहे थे, शब्दायमान रथके वेगसे बने हुए मार्गोंमें क्षतविक्षत भटोंके शरीरसे निकल रहे खूनकी नदी बह रही थी ॥ ११–२१ ॥

चतुरङ्गिणी सेनाके संचलनसे उड़ी हुई धूलिसे वहांपर चारों ओर कुहरा छा गया था, चमचमा रहे अस्त्र-शस्त्र चल रहे थे, एकत्रित प्रचुर कोपयुक्त सेनारूपी सागरका प्रतिक्षण गर्जन हो रहा था, उन्मत्त हास और विलासवाले कालसे असंख्य भट चबाये जा रहे थे, मदोन्मत पर्वततुल्य विशालकाय गजराजोंने अपने गर्जनके सामने सागरके गर्जनको तुच्छ बना दिया था, वहाँ वृक्ष, गर्त और तटोंके सहारे शत्रुओंपर वार कर रहे लोगोंको मारनेके लिए छोड़े गये शक्ति, तलवार और मुद्गर वृक्ष, गर्त आदिमें रुक जाते थे, योद्धारूपी पर्वतके मध्यभाग वाणरूपी मकड़ीके जालोंसे निरन्तर गूँथे हुए थे, मेघोंके आक्रमणोंसे या मेघोंमें विश्रान्त बिजली आदिसे पताकाओंके वस्त्र

मरणव्यग्रकृत्ताङ्गयोधाक्रन्दातिघर्घरः ।
कुठाराघातसञ्जातविदलन्मस्तकव्रजः ॥ २६ ॥
दूरोड्डीनकचत्खड्गखण्डतारकिताम्बरः ।
शक्तिनिर्मुक्तशक्त्योघविभिन्नेभावृतावनिः ॥ २७ ॥
सैन्यव्याकुलवेतालललनोन्मुक्तमुद्गरः ।
गगनोत्तम्भितोत्तुङ्गशूरतोमरतोरणः ॥ २८ ॥
भुशुण्डीभग्नखड्गौघखण्डालीव्योमकुन्तलः ।
कुन्तवेणुवनन्यस्ततापाम्बरकचच्छविः ॥ २९ ॥
खड्गर्ष्टिवृष्टिसम्पुष्टराजपूजितसैनिकः ।
शूलोत्तम्भितसच्छूरग्रहणोद्यमिताप्सराः ॥ ३० ॥
गदातुषारविगलत्स्फुरिताङ्गदादिङ्मुखः ।
मासप्रसभसम्पिष्टकष्टचेष्टतयोत्कटः ॥ ३१ ॥

और चँवर छिन्नभिन्न हो गये थे, वहांपर क्षेपणीयन्त्रोंसे (एक प्रकारके गुलेलोंसे) फेंके गये पत्थरों और चक्रोंसे पक्षी आदि आकाशचारी बहुत दूर भाग गये थे, मरनेके लिए छटपटा रहे क्षतविक्षत शरीर (बुरी तरह घायल) युद्धाओंके कराहनेसे वहां तेज घर घर शब्द हो रहा था, कुठारोंके आघातोंसे योद्धाओंके मस्तक कट रहे थे, बहुत ऊँचे आकाशमें उड़े हुए चमचमा रहे खड्गोंके कुकड़ोंसे आकाश तारोंसे भरा-सा प्रतीत होता था, पूरे बलसे छोड़े गये शक्ति नामक आयुधोंके संघातसे काटे गये हाथियोंसे भूमि पट गई थी ॥ २२–२७ ॥

वहां सेनादर्शनसे व्याकुल हुई वेतालोंकी स्त्रियाँ मुद्गर छोड़ रही थीं, आकाशमें ऊँचे उठाये हुए शूरवीरोंके तोमर (गँड़ासे) तोरणमाला-से प्रतीत होते थे, भुशुण्डीसे छिन्नभिन्न तलवारोंके टुकड़ोंका समूह आकाशका केशजाल-सा मालूम होता था, वहांपर देदीप्यमान भालोंकी छबि भालोंके समूहरूप वेणुवनमें छोड़ी हुई वनाग्निके सदृश आकाशमें चमक रही थी ॥ २८, २९ ॥

वहांपर अपने सैनिकोंकी तलवार और छूरियोंकी कुशल वृष्टिसे सन्तुष्ट हुए राजाओं द्वारा उनका सम्मान किया जा रहा था, शूलोंपर टँगे हुए अच्छे अच्छे शूरोंको ग्रहण करनेके लिए अप्सराएँ उद्यमशील थीं, हिमवृष्टिसे गल रहे कमलोंके तुल्य गदाओंके गिरनेसे भटोंके मुँह गिर रहे थे, भालोंसे जबरन् कुचल दिये

चक्रक्रकचसञ्चारच्छिन्नाश्वनरवारणः ।
परशुव्रातसम्पातपतत्समदवारणः ॥ ३२ ॥
लकुटोच्छोडनोड्डीनप्रोड्डामरचटद्भटः ।
यन्त्रपाषाणसम्पातपिष्टकेतुरथद्रुमः ॥ ३३ ॥
करवालविलूनाग्रच्छत्रपङ्कजपाण्डुरः ।
क्षेपणक्षोभसङ्क्षीणसैन्यक्षोभोऽप्यलक्षणः ॥ ३४ ॥
कबन्धबन्धसन्नेतृपातसम्पिष्टपार्श्वगः ।
साङ्कुशाङ्कितसङ्ख्यस्थवीरवारितवारणः ॥ ३५ ॥
परशुव्रातसम्पातपतत्समदवारणः ।
पाशपाशिविशेषज्ञवीरातिपरिदेवनः ॥ ३६ ॥
क्षुरिकाकुक्षिनिर्भेदगलत्पद्मपतज्जनः ।
त्रिशूलवलनोन्मत्तशूरसङ्करनर्तनः ॥ ३७ ॥

गये भटोंकी दुःखप्रद चेष्टाओंसे भीषण दृश्य हो रहा था, चक्रों और आरोंके प्रहारसे घोड़े, मनुष्य और हाथी छिन्न भिन्न किये गये थे, अनेक कुल्हाड़ोंके वारोंसे मदोन्मत्त हाथियोंका समूह गिर रहा था ॥ ३२ ॥

वहाँपर बड़ी-बड़ी लट्ठियोंसे गौओंकी भाँति हाँकनेसे कोई भट छिप गये थे, कोई भाग रहे थे, तथा वृक्ष, भीत और ढालसे अपनेको ओझल कर रहे थे, क्षेपणीयन्त्रसे फेंके गये पत्थरोंसे रथों और वृक्षोंमें लगी हुई पताकाएँ चूरचूर हो गई थीं, तलवारसे जिनके दण्ड काटे गये थे ऐसे छत्रों और वीरोंके कर्णाभरण रूप कमलोंसे सारा रणस्थल सफेद था, अस्त्रोंके क्षेपणजनित क्षोभसे सैन्यक्षोभ शान्त हो गया था, सैनिकोंके क्षोभकी वहाँ कोई गिनती नहीं थी, कबन्धोंके (सिर कटनेपर भी चलनेवाले धड़ोंके) आलिङ्गनोंसे जीवित-रथ-नायकोंके गिरनेसे नियन्त्रण न होनेके कारण बे-राह चलनेवाले रथ आदिसे आसपास चलनेवाले अनेक भट पीसे जा रहे थे, अङ्कुशयुक्त पीलवानोंके अङ्कुशके आघातसे आहत होनेपर भी युद्धमें प्रहार करनेवाले वीर हाथियोंको भगा रहे थे, कुल्हाड़ोंके वारसे मदोन्मत्त असंख्य हाथी गिर रहे थे, पाशोंके युद्धमें विशारद वीर चारों ओर अपने प्राणोंकी बाजी लगा रहे थे, छूरोंसे पेटको काटनेके कारण हृदयकमल गिर रहे थे और भट धराशायी हो रहे थे, त्रिशूलोंके

धावद्धानुष्कसम्पूर्णकुलकूजितकाकलिः ।
भिन्दिपालसटाटोपहुङ्काराररभटीनटः ॥ ३८ ॥
वज्रमुष्टिविनिष्पिष्टपिष्टसद्भटसङ्कटः ।
श्येनवद्व्योमपदवीप्रोत्पतत्पटुपट्टिशः ॥ ३९ ॥
अङ्कुशाकृष्टशूरेशरथेभहयकेतनः ।
हलाहलिहताल्लूनहेलाकुलकुलाचलः ॥ ४० ॥
सुतालोत्तालकुद्दालनिखातवनभूतलः ।
धनुर्द्विगुणमात्रास्तल्लूनलोकशिलावलिः ॥ ४१ ॥
क्रकचोभयपार्श्वेभच्छिन्नमत्तमतङ्गजः ।
सङ्ग्रामोलूखलक्षुण्णलोकतण्डुलमौसली ॥ ४२ ॥
अस्त्राभाश्रृङ्खलाजालबद्धसेनाविहङ्गमः ।
लोलासिवीरनिस्त्रिंशनीतवादिगृहाङ्गणः ॥ ४३ ॥

बलसे उन्मत्त शूरवीर प्रबल भट नाच कर रहे थे, दौड़ रहे धनुर्धारियोंके सम्पूर्ण दल अस्फुट और मधुर गीत गा रहे थे, भिन्दिपालके अयालोंके आडम्बर और अहङ्कारपूर्ण वचनोंसे वहांपर नट नृसिंहवेषका अनुकरण कर रहे थे, मल्ल लोगोंकी वज्रमुष्टिसे पीसे गये भटोंसे पीसे गये अन्य भटोंका वहाँपर तांता लगा था, सुन्दर पट्टिश आकाशमार्गमें बाजकी नाईं उड़ रहे थे, शूर पुरुषोंके रथों, हाथियों और घोड़ोंकी पताकाएँ अङ्कुशोंसे खींची जा रही थीं, शत्रुओंके बीचमें अचल रहनेवाले शूरवीर भट हलों द्वारा किये जा रहे युद्धमें मारे गये और काटे गए लोगोंकी अवहेलना करनेमें व्यग्र थे ॥ ३३–४० ॥

बड़े-बड़े ताड़के वृक्षोंके समान ऊँचे पुरुषोंसे, जो कि हाथमें कुदारी लिए थे, वन-भूमियाँ खोदी गईं और सम की गईं थीं, जहाँ तक बाण फेंका जा सकता है, उससे केवल दूने प्रदेशमें युद्धसञ्चारके सुभीतेके लिए लोग हटा दिये थे, चट्टानोंकी पंक्तियाँ काट छाँटकर बराबर कर दी गईं थीं ॥ ४१ ॥

आरोंके दोनों बगलोंसे मत्त मातङ्ग काट डाले गये थे, संग्रामरूपी ऊखल-मूसलसे भटरूपी धानोंको कूटनेवाला मुसलयुद्ध प्रवृत्त था ॥ ४२ ॥

वहाँ अस्त्रोंकी कान्तिकी श्रृङ्खलारूप जालमें सेनारूपी पक्षी फाँसे गये थे, चञ्चल तलवारको हाथमें लिए हुए वीरोंकी तलवारोंसे वे वकारादिके (वैवस्वतके)

गणशो नीयमानाग्र्यश्वापदारावनिर्भरः ।
नखाङ्गुष्ठखनत्पुङ्खप्रेङ्खारणरणारवैः ॥ ४४ ॥
मरिचैर्व्यञ्जनानीव रञ्जयन्सकलान् रवान् ।
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भाग्निदग्धयोधेरितायुधः ॥ ४५ ॥
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भाग्निदग्धयोधोज्झितायुधः ।
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भस्थतप्ताङ्गारहतेक्षणः
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भस्थविषवारिदलज्जनः ॥ ४६ ॥
नाराचवर्षवरवारिदवीरपूर-
मत्ताभ्रसम्भ्रमसनृत्तकबन्धबर्ही ।
कल्पान्तकाल इव वेगविवर्तमान-
मातङ्गशैलवलितो रणसम्भ्रमोऽभूत् ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सेनयोः प्रथमपातवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

यानी यमराजके घरोंके आँगनोंमें पहुँचाये गये थे, अर्थात् यम ही व्याधोंका राजा है, यदि ऐसा न होता तो सेनारूप पक्षी उसके आँगनमें क्यों पहुँचाए जाते ॥ ४३ ॥

युद्धभूमिमें गिरे हुए श्रेष्ठ भटोंको गणशः ले जा रहे व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंके घोर गर्जनसे रणस्थल पूर्ण था, नख जिसमें प्रधान हैं, ऐसे अंगुष्ठोंसे निकाले जा रहे बाणोंके वेगके रण रण शब्दोंसे, जैसे मिरिचसे चटनीमें जायका आ जाता है वैसे ही, अन्य संपूर्ण शब्द रञ्जित हो रहे थे, सैनिकों द्वारा घड़ेमें भरकर फेंकी गई अग्निसे तनिक जले हुए प्रतिपक्षके भट शस्त्र-अस्त्र तानकर खड़े हो रहे थे और प्रति-पक्षके सैनिकों द्वारा फेंकी गई उक्त अग्निसे अधिक जल जानेके कारण योद्धा अशक्तिसे शस्त्रत्याग कर रहे थे, प्रतिपक्ष सैनिकों द्वारा घड़ेमें रखकर छोड़े गये तपे हुए अङ्गारोंसे भटोंकी आँखें जाती रहीं, उक्त सैनिकों द्वारा छोड़े गये घड़ेमें स्थित विषमिश्रित जलसे भट गिर रहे थे ॥ ४४–४६ ॥

लोहेके बाणोंकी वृष्टिरूप सुन्दर जलको वर्षानेवाले वीरसंघरूपी मतवाले मेघोंके विलाससे कबन्धरूपी मयूर जिसमें नाच करते थे और वेगसे घूम रहे मत्त मातङ्गरूपी पर्वतोंसे परिवेष्टित वह संग्राम-संघर्ष प्रलयकालके सदृश हुआ ॥ ४७ ॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चतुस्त्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ राज्ञां युयुत्सूनां भटानां मन्त्रिणामपि ।
नभसः प्रेक्षकाणां च तत्रेमाः प्रोद्ययुर्गिरः ॥ १ ॥
चलत्पद्मं सर इव वहद्विहगमेव च ।
नभः शूरशिरःकीर्णं भाति तारकिताकृति ॥ २ ॥
पश्य रक्तपृषत्पूरसिन्दूरारुणमारुतैः ।
सान्ध्या इव विभान्त्येते मध्याह्नेऽम्बुदभानवः ॥ ३ ॥
किमिदं भगवन् व्योम पलालभरितं स्थितम् ।
नेदं पलालं वीराणामेते शरभराम्बुदाः ॥ ४ ॥
यावन्तो भुवि सिच्यन्ते रुधिरै रणरेणवः ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि भटानामास्पदं दिवि ॥ ५ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग

[संग्रामदर्शकोंके मुँहसे प्रकारान्तरसे पुनः युद्धके ही चमत्कारका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहां युद्धलिप्स राजाओं, युद्धेच्छु योद्धाओं, मन्त्रियों और आकाशमार्गसे संग्रामको देखनेवाले देव, गन्धर्व आदिके मुँहसे ये वचन प्रादुर्भूत हुए ॥ १ ॥

जिसमें हंस, सारस आदि पक्षी उड़ रहे हैं और कमल हिल रहे हैं, ऐसे तालाबके समान शूरवीर पुरुषोंके मस्तकोंसे व्याप्त आकाश तारकित-सा (सितारोंसे व्याप्त-सा) मालूम पड़ता है ॥ २ ॥

देखिये, रुधिरविन्दुओंकी राशिरूपी सिन्दूर-से लाल हुए वायुके कारण ये मेघ और सूर्य-किरण मध्याह्नमें सायंकालके-से (लाल-से) प्रतीत होते हैं ॥३॥

कोई दर्शक दूरसे बाणसमुदायमें परालकी भ्रान्ति होनेसे पूछता है—'किमिदम्' इत्यादिसे ।

भगवन्, यह आकाश परालराशिसे परिपूर्ण हुआ है क्या ? नहीं, भगवन् यह पराल नहीं है, ये वीर पुरुषोंके बाणराशिरूप मेघ हैं ॥ ४ ॥

रुधिरसे पृथिवीमें जितने रणरेणु (रणभूमिके धूलिकण) सींचे जाते हैं, तनेउ हजार वर्षों तक भटोंका सर्गमें आवास होता है ॥ ५ ॥

मा भैष्ट नैते निस्त्रिंशा लीलोत्पलदलत्विषः ।
अमी वीरावलोकिन्या लक्ष्म्या नयनविभ्रमाः ॥ ६ ॥
वीरालिङ्गनलोलानां नितम्बे सुरयोषिताम् ।
मेखलाः शिथिलीकर्त्तुं प्रवृत्तः कुसुमायुधः ॥ ७ ॥
लसद्भुजलतालोला रक्तपल्लवपाणयः ।
मञ्जरीमत्तनयना मध्वामोदसुगन्धयः ॥ ८ ॥
गायन्त्यो मधुरालापैर्नन्दनोद्यानदेवताः ।
त्वाऽऽगमनमाशङ्क्य प्रवृत्ताः परिनर्तितुम् ॥ ९ ॥
प्रत्यनीकं भिनत्त्यन्तः कुठारैः कठिनैरियम् ।
सेना ग्राम्येव वनिता दयितं दृष्टिचेष्टितैः ॥ १० ॥
हा पितुर्मम भल्लेन शिरो ज्वलितकुण्डलम् ।
सूर्यस्य निकटं नीतं कालेनेवाऽष्टमो ग्रहः ॥ ११ ॥
आपादशृङ्खलाप्रोतभ्रमत्स्थूलोपलद्वयम् ।
भ्रामयंश्चित्रदण्डाख्यं चक्रमूर्ध्वभुजो जवात् ॥ १२ ॥

भाई, मत डरो, नील कमलकी पांखुरीके तुल्य कान्तिवाली ये तलवारें नहीं हैं, ये वीरोंका निरीक्षण करनेवाली जयलक्ष्मीके नेत्रविभ्रम हैं ॥ ६ ॥

वीर पुरुषोंका आलिङ्गन करनेके लिए सस्पृह सुराङ्गनाओंके जघनस्थलमें स्थित मेखलाओंको शिथिल करनेके लिए कामदेव तत्पर हो गया है ॥ ७ ॥

सुन्दर भुजलताओंसे मनोहर, लाल पल्लवोंके सदृश कोमल हाथोंसे युक्त, पारिजात आदि-पुष्पमञ्जरियोंके दर्शनसे जिनके नेत्र आह्लादित हैं, आसवकी अत्यन्त सुगन्धिसे सुगन्धित, मधुरसुरसे गा रहीं नन्दनवनकी देवियाँ तुम्हारे आगमनकी आशङ्कासे नाचनेके लिए तत्पर हो गई हैं ॥ ८, ९ ॥

जैसे ग्रामीण सुन्दरी अपने कटाक्षनिरीक्षणोंसे अपने पतिको अन्तःकरणको अधीर कर देती है, वैसे ही यह सेना कठिन कुल्हाड़ोंसे प्रतिपक्षी-सेनाको काट रही है ॥ १० ॥

खेद है, मेरे पिताजीका देदीप्यमान कुण्डलसे युक्त सिर भालेसे कालसे अष्टम ग्रहकी गई सूर्यके निकट भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

पैरों तक लटकी हुई जंजीरमें गूँथे हुए दो बड़े बड़े पत्थरोंसे युक्त चित्र-

योधो यम इवाऽऽभाति याम्यादायाति दिक्तटात् ।
सर्वतः संहरन्सेनामेहि यामो यथागतम् ॥ १३ ॥
सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कबन्धाः परिनृत्यन्ति तालोत्तालारणाङ्गणे ॥ १४ ॥
गीर्वाणगणगोष्ठीषु प्रवृत्ताः सङ्कथा मिथः ।
कदा लोकान्तरं धीरा कथं यास्यन्ति के कुतः ॥ १५ ॥
निगिरत्यागताः सेनाः स्रवन्तीरिव सागरः ।
समत्स्यमकरव्यूहा अहो नु विषमो भटः ॥ १६ ॥
कटेषु करिणां कीर्णा धारानाराचराजयः ।
पतिता इव सम्पूर्णाः शृङ्गसङ्घेषु वृष्टयः ॥ १७ ॥
हा कुन्तेन शिरो नीतं ममेत्येवं विवक्षतः ।
शिरसाऽजीवमित्येवं खे खगेनेव वाशितम् ॥ १८ ॥

दण्डनामक चक्रको वेगसे घुमा रहा ऊपरको बाहु फैलाया हुआ यह भट यमकी नाईं प्रतीत होता है, दक्षिण दिशासे चारों ओर सेनाका संहार करता हुआ इधर आता है, अतः चलो, जहांसे हम आये थे वहीं चलें (यह भीरुकी भीरुके प्रति उक्ति है) ॥ १२, १३ ॥

देखिये, तुरन्त कटे हुए कण्ठच्छिद्रोंमें डुबकी लगा रहे सफेद चीलोंसे व्याप्त, युद्धके बाजेके तालसे उछल रहे कबन्ध रणभूमिमें नाच रहे हैं ॥ १४ ॥

देवगणोंकी गोष्ठियोंमें परस्पर यह चर्चा चली थी कि कौन धीर पुरुष, कब, कैसे और किस लिए स्वर्ग आदि लोकोंमें जायँगे ॥ १५ ॥

अहो, यह विक्रान्त भट, जैसे सागर मत्स्य और मगरके समूहोंसे युक्त नदियोंको निगल जाता है, वैसे ही मत्स्याकार और मकराकार व्यूहवाली सन्मुख आई हुई सेनाओंको निगलता है ॥ १६ ॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंमें बिखरे हुए धाराकार बाणोंकी पंक्तियाँ पर्वतोंके शिखरोंपर गिरी हुई सम्पूर्ण वृष्टियोंके समान शोभित होती हैं ॥ १७ ॥

हा, भालेने मेरा सिर काटा, ऐसा कहनेकी इच्छा कर रहे मेरे कट कर उड़े हुए सिरने स्वर्गारोहणके उत्सवको देखनेसे मैं जी गया न कि मरा, यों हर्षपूर्वक जो आकाशमें वचन कहा, उसे पक्षीके विरुतकी नाईं लोगोंने सुना ॥१८॥

यन्त्रपाषाणवर्षेण यैषाऽस्मान् परिषिञ्चति ।
सेनाऽनुशृङ्खलाजालवलना क्रियतां बलात् ॥ १९ ॥

वलीपलितनिर्मुक्तं पूर्वभार्याऽप्सराः सती ।
अङ्गीकरोति भर्तारं परिज्ञाय रणे हतम् ॥ २० ॥

आदिवं रचिताकाराः कुन्तकाननकान्तयः ।
वीराणां स्वर्गमारोढुमिव सोपानपङ्क्तयः ॥ २१ ॥

कान्तकाञ्चनकान्ताङ्गे भटस्योरसि कामिनी ।
दृष्टा देवपुरन्ध्रीयं भर्तुरन्वेषणान्विता ॥ २२ ॥

हा हतं सैन्यमस्माकं भटैरुद्धतमुष्टिभिः ।
महाप्रलयकल्लोलैः सुरशैलस्थलं यथा ॥ २३ ॥

युध्यध्वमग्रतो मूढा नयतार्द्धमृतान्नरान् ।
निजान् पादप्रहारेण मैतान् दारयताऽधमाः ॥ २४ ॥

जो यह सेना क्षेपणीयन्त्रसे निकले हुए पत्थरोंकी वृष्टिसे हमें सींचती है, उसे जंजीरोंके जालसे जबरदस्ती बाँध दो, ऐसा एक भट दूसरे भटसे कहता था ॥ १९ ॥

पहलेकी पत्नी अप्सरा बन कर रणभूमिमें मारे गये पतिको वलीपलितसे निर्मुक्त यानी देवभूत जानकर ग्रहण कर रही है, यह देवताओंकी उक्ति है ॥२०॥

भालोंके समूहोंकी प्रभाएँ मानो वीरोंके स्वर्गमें चढ़नेके लिए बनाई गई स्वर्ग पर्यन्त फैली हुई सोपानपङ्क्तियाँ हैं ॥ २१ ॥

जो भटकी पत्नी स्वतः सुन्दर और स्वर्णाभरणोंसे सुन्दर पतिके वक्षःस्थलमें मरी हुई देखी गई थी, वह यह अप्सरा होकर भर्ताके अन्वेषणमें तत्पर दिखाई देती है ॥ २२ ॥

जैसे महाप्रलयके कल्लोलोंसे सुमेरु पर्वत आहत होता है, वैसे ही उद्धत मुष्टिवाले भटोंसे हमारी सेना मारी जाती है, बड़ा खेद है, यह कातर पुरुषकी उक्ति है ॥ २३ ॥

हे मूढ़ों, आगे बढ़ कर लड़ो, अपने घायल सैनिकोंको ले जाओ, अधमों, इन बेचारोंको पैरोंके प्रहारसे मत कुचल डालो ॥ २४ ॥

धम्मिल्लवलनाव्यग्रे घनोत्कण्ठेऽप्सरोगणे ।
भटो दिव्यशरीरेण पार्श्वप्राप्तो निरीक्ष्यताम् ॥ २५ ॥
फुल्लहेमारविन्दासु च्छायाशीतजलानिलैः ।
स्वर्गनद्यास्तटीष्वेनं दूरायातं विनोदय ॥ २६ ॥
विविधायुधसङ्घट्टखण्डितोग्रास्थिकोटयः ।
खे कवन्त्यः कणत्कारैः प्रसृतास्तारका इव ॥ २७ ॥
व्योम्नि जीवनदीवाहे वहत्सायकवारिणि ।
चक्रावर्त्तिनि गच्छन्ति गिरयोऽप्यणुपङ्क्तताम् ॥ २८ ॥
भ्रमद्भिर्ग्रहमार्गेषु शिरोभिर्वीरभूभृताम् ।
आयुधांशुलतानाललग्नासिदलकण्टकैः ॥ २९ ॥
केतुपट्टमृणालाङ्गदलैर्लब्धशिलीमुखैः ।
वहद्वातचलत्पद्मं नभः पद्मसरः कृतम् ॥ ३० ॥
मृतमातङ्गसङ्घाते गिराविव पिपीलिकाः ।
भीरवः परिलीयन्ते स्त्रियः पुंवक्षसीव च ॥ ३१ ॥

केशपाशकी रचनामें व्यग्र अत्यन्त उत्कण्ठित अप्सराओंके सुमुदायमें दिव्य शरीरसे समीपमें प्राप्त हुए इस भटको देखिये ॥ २५ ॥

जिनमें सुवर्णसदृश कमल विकसित हुए हैं, ऐसे मन्दाकिनीके तटोंमें छाया, जल और वायुसे दूरसे आये हुए इस रणयोधाको विश्राम कराओ ॥ २६ ॥

विविध आयुधोंकी चोट लगनेसे टूटी हुईं असङ्ख्य बड़ी बड़ी हड्डियां, जो कि कणत्कारसे (कणकण शब्दसे) शब्दायमान हैं, आकाशमें व्याप्त तारिका-सी प्रतीत होती हैं ॥ २७ ॥

जीवरूप नदीप्रवाहवाले, बाणरूपी जलवाले तथा चक्ररूपी आवर्तवाले आकाश-रूपी सागरमें बड़े बड़े पर्वत भी अणुरूपताको प्राप्त हो रहे हैं ॥२८॥

ग्रहोंके मार्गमें घूमनेवाले राजाओंके सिरोंने आकाशको, जिसमें बह रहे वायुसे कमल चञ्चल हैं, ऐसा कमलोंका तालाब बना दिया है। देखिये न, अस्त्र-शस्त्रोंकी किरणें ही उक्त सिररूपी कमलोंकी लताओंके नालदण्ड हैं, उनसे लगी हुईं तलवारें उनके पत्ते हैं, त्रिशूल, भाले आदि उनके काँटे हैं, पताकाओंके वस्त्र उनके मृणालोंके अंगभूत बड़े पत्ते हैं और बाणरूपी भँवरे उनमें लगे हैं ॥ २९, ३० ॥

जैसे पर्वतोंमें पिपीलिकाएँ लीन हो जाती हैं तथा जैसे पुरुषोंके वक्षस्थलोंमें

अपूर्वोत्तमसौन्दर्यकान्तसङ्गमशंसिनः ।
वान्ति विद्याधरस्त्रीणामलकोल्लासिनोऽनिलाः ॥ ३२ ॥

छत्रेषूड्डीयमानेषु स्थितेषु व्योम्नि चन्द्रता ।
इन्दुनेव यशोमूर्त्या कृता शुभ्रातपत्रता ॥ ३३ ॥

भटो मरणमूर्छान्ते निमेषेणाऽमरं वपुः ।
स्वकर्मशिल्पिरचितं प्राप्तः स्वप्नपुरं यथा ॥ ३४ ॥

शूलशक्त्यृष्टिचक्राणां वृष्टयो मुक्ततुष्टयः ।
व्योमाब्धौ मत्स्यमकरसङ्कुलावयवाः स्थिताः ॥ ३५ ॥

शरोत्कृत्तसितच्छत्रकलहंसैर्नभःस्थलम् ।
भाति सञ्चितपूर्णेन्दुबिम्बलक्षैरिवाऽऽवृतम् ॥ ३६ ॥

स्त्रियाँ लीन हो जाती हैं, वैसे ही मरे हुए हाथियोंके ढेरमें भीरु लोग लीन होते हैं ॥ ३१ ॥

विद्याधरोंकी अङ्गनाओंके अलकोंको अनुकूलरूपसे हिलानेवाले अतएव अभूतपूर्व उत्तम सौन्दर्यसे सम्पन्न कान्तके मिलनके सूचक मन्द-मन्द वायु बहते हैं। भाव यह कि वायु घरसे आ रहीं विद्याधरोंकी अङ्गनाओंके अलकोंको उल्लासित करनेके कारण अनुकूल होनेसे शकुनरूप हैं। अतएव मनोरथसिद्धिके सूचक हैं ॥ ३२ ॥

उड़ रहे आकाशमें स्थित छत्रोंने मानो चन्द्रताका सम्पादन किया, यशरूप मूर्तिसे चन्द्रमाने भूमिमें शुभ्र छातोंका सम्पादन किया ॥ ३३ ॥

जैसे सोया हुआ पुरुष एक निमेषमें स्वप्ननगरको प्राप्त होता है, वैसे ही भट भी मरणकालीन मूर्छाके बाद एक निमेषमें अपने कर्मरूपी शिल्पी द्वारा निर्मित दिव्य शरीरको प्राप्त हुआ ॥ ३४ ॥

आकाशरूपी सागरमें त्रिशूल, शक्ति, तलवार और चक्रोंकी व्यग्र वृष्टियाँ मछलियों और मगरोंसे व्याप्त-सी स्थित हुईं ॥ ३५ ॥

बाणोंसे काटे गये सफेद छत्ररूपी कलहंसोंसे आकाशस्थल संचित लाखों पूर्णेन्दु-बिम्बोंसे आवृत-सा प्रतीत होता है ॥ ३६ ॥

क्रियते गगनोड्डीनैश्चामरैश्चारुघर्घरैः ।
वातावधूतसंरोधतरङ्गनिकरद्युतिः ॥ ३७ ॥
दृश्यन्ते हेतिदलिताश्छत्रचामरकेतवः ।
आकाशक्षेत्रविक्षिप्ता यशःशालिलता इव ॥ ३८ ॥
वहद्भिर्व्योम्नि सक्षेम पश्य नीता क्षयं शरैः ।
शक्तिवृष्टिरुपायान्ती सस्यश्रीः शलभैरिव ॥ ३९ ॥
एषा प्रसृतदोर्दण्डभटखङ्गच्छटात्कृतिः ।
कठिनात् कङ्कटाज्जाता मृत्योरेवोग्रहुंकृतिः ॥ ४० ॥
हेतिकल्पानिलक्षुण्णा दन्तनिर्झरवारयः ।
जनताक्षयकालेऽस्मिन् भग्ना नागा नगा इव ॥ ४१ ॥
सचक्रनाथसूताश्वं व्यूढं रक्तमहाहृदे ।
हा हाऽभिभूतगतिकं चेष्टते रथपत्तनम् ॥ ४२ ॥

आकाशमें उड़े हुए सुन्दर घर-घर शब्द करनेवाले चँवरोंसे आकाश वायुके वेगसे जिनकी स्थिरता क्षुब्ध हो गई हो, ऐसे तरङ्गोंके समूहकी कान्तिवाला बनाया जा रहा है ॥ ३७ ॥

अस्त्र-शस्त्रोंसे काटे गये तथा आकाशरूपी खेतमें फेंके गये छाते, चँवर और पताका-वृन्द यशरूपी धानोंके पेड़ोंकी नाईं दिखाई देते हैं ॥ ३८ ॥

हे कुशलिन्, जैसे फलनेके लिए तयार धानोंकी शोभाको आकाशमें उड़ रहा टिड्डियोंका दल नष्ट कर देता है, वैसे ही समीपमें आ रही शक्तियोंकी वर्षा आकाशमें उड़ रहे बाणोंसे नष्ट की गई है, देखो ॥ ३९ ॥

कठिन कवचसे उत्पन्न हुई यह भुजदण्डोंको फैलाये हुए भटके खड्गके वारकी ध्वनि ही मानो मृत्युकी हुङ्कार है ॥ ४० ॥

इस जनक्षयके अवसरमें तलवार आदि अस्त्र-शस्त्ररूपी प्रलयकालके वायुसे परास्त, दाँतरूपी झरनेके जलसे युक्त [झरनोंकी नाईं दाँत बाहर निकले रहते हैं और सफेद होते हैं अतः झरनोंके साथ दाँतोकी तुलना की गई है] घायल हाथी ही पर्वतोंकी तरह प्रतीत होते हैं ॥ ४१ ॥

हा, खेद है, रुधिरके महान् तालाबमें चक्र, रथारोही वीर, सारथि और घोड़ोंसे युक्त तथा शस्त्रास्त्रसे परिपूर्ण रथरूपी नगर रुद्धगति होकर छटपटा रहा है ॥ ४२ ॥

करकङ्कटकुट्यङ्कखड्गसङ्घट्टटाङ्कृतैः ।
कालरात्र्या प्रनृत्यन्त्या रणवीणेव वाद्यते ॥ ४३ ॥
नरेभखरवाजिभ्यो ये च्युता रक्तनिर्झराः ।
पश्य तद्बिन्दुसिक्तेन वायुनाऽरुणिता दिशः ॥ ४४ ॥
शस्त्रांशुजलदे व्योम्नि कालीचिकुरमेचके ।
शरकोरकभारस्रङ्मेघे विद्युदिवोदिता ॥ ४५ ॥
अनन्तरक्तसंसक्तसन्नावनितलायुधैः ।
भुवनं भात्यभिज्वालमग्निलोक इवाऽऽकुलम् ॥ ४६ ॥
भुशुण्डीशक्तिशूलासिमुसलप्रासवृष्टयः ।
अन्योन्यच्छेदभेदाभ्यां करप्रकरतोऽपतन् ॥ ४७ ॥
अक्षोभैकप्रहरणाद्यातुधान्योन्यचेष्टितम् ।
संरम्भावेक्षणप्रज्ञं रणं स्वप्नमिव स्थितम् ॥ ४८ ॥

नाच रही कालरात्रि, वीरोंकी भुजाओं, हाथियोंकी सूँड़ों और कवचरूपी वीणाके तारोंमें तलवारके आघातसे उत्पन्न वादनशब्दोंसे मानो वीणा बजाती है ॥ ४३ ॥

मनुष्य, हाथी, घोड़े और गर्दभोंसे जो खूनके झरने निकले उनके बिन्दुओंसे सराबोर वायुसे लाल हुई दिशाओंको देखो ॥ ४४ ॥

जैसे मेघमें बिजलीका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही कालीजीकी केशराशिके समान काले अस्त्र-शस्त्रोंकी किरणरूपी मेघसे युक्त आकाशमें बाणरूपी कलियोंके समुदायकी माला प्रादुर्भूत हुई है ॥ ४५ ॥

असंख्य, रुधिरसे लथपथ, टूटे-फूटे भूखण्डों और अस्त्र-शस्त्रोंसे व्याप्त भुवन अग्निलोककी नाई चारों ओरसे उठी हुई ज्वालाओंसे युक्त-सा प्रतीत होता है ॥४६॥

उस युद्धस्थलमें परस्पर एक दूसरेको काटने और छेदनके लिए उद्युक्त हस्त-समूहोंसे भुशुण्डी (एक प्रकारका अस्त्र) शक्ति, त्रिशूल, तलवार, मूसल और भालोंकी वृष्टियां गिरती थीं ॥ ४७ ॥

हटनेमें असमर्थ अनेक भटोंमें एक शूरवीर द्वारा अतिशयित हस्तलाघवसे प्रहार करनेके कारण जिसमें राक्षसोंकी मायाके तुल्य शूरोंकी चेष्टाएँ हैं, क्रोधसे निरीक्षण करनेवाली भटोंकी बुद्धि है, ऐसे रणको स्वप्नके समान सामने देखता

अनन्यशब्दाविरतहताहतिरणज्झणैः ।
गायतीव क्षतक्षोभमुदितो रणभैरवः ॥ ४९ ॥
अन्योन्यरणहेत्युग्रचूर्णपूर्णो रणार्णवः ।
वालुकामय एवाऽभूच्छिन्नच्छत्रतरङ्गकः ॥ ५० ॥
सरभसरसवद्विसारितूर्य-
प्रतिरवपूरितलोकपाललोकः ।
रणगिरिरयमुग्रपक्षदक्ष-
प्रतिसृतिवृत्त इवाऽम्बरे युगान्ते ॥ ५१ ॥
हा हा धिक् प्रविकटकंकटाननोद्य-
प्रोड्डीनप्रकटतडिच्छटाप्रतप्ताः ।
क्रेङ्कारस्फुरितगुणेरिता रणन्तो
नाराचाः शिखरिशिलागणं वहन्ति ॥ ५२ ॥

हूँ । स्वप्नपक्षमें विनाशके अनुकूल छेदन, भेदन, संचलन आदिसे रहित स्वाप्निक पदार्थोंमें एकमात्र जागरणसे प्रहार किया जाता है यानी बाधा पहुँचाई जाती है, इसलिए वह राक्षसोंकी मायाके तुल्य मिथ्या है और उसमें आत्मप्रज्ञा आवेशसे दर्शन करती है ॥ ४८ ॥

घायल भटोंके क्षोभसे प्रसन्न हुआ रणभैरव अन्यान्य शब्दोंके संमिश्रणसे रहित निरन्तर अन्योन्यके प्रहारसे उत्पन्न झन्कारोंसे मानो गायन करता है ॥ ४९ ॥

कटे हुए छाते ही जिसमें तरङ्गसे प्रतीत हो रहे हैं, ऐसा परस्पर युद्धमें प्रयुक्त अस्त्रशस्त्रोंके प्रचुर चूर्णसे परिपूर्ण रणभूमिरूप सागर बालुकामय ही हो गया है ॥ ५० ॥

जिसने मधुर फैलनेवाले और तुरही आदि बाजोंकी प्रतिध्वनियोंसे वेगके साथ लोकपालोंके लोकको भर दिया है, ऐसा रणरूपी यह पर्वत प्रलयकालमें युद्धमें कठोर हुए दो सेनारूपी परोंके प्रबल परस्पर प्रतिकूल संचलनसे अकाशमें उड़नेके लिए तैयार हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

बड़े खेदकी बात है, अत्यन्त कठिन कवचोंको बिना तोड़े ही कवचोंमें उनके टकरानेसे आकाशमें उड़ी हुई बिजलीके सदृश अग्निकी ज्वालाओंसे

छिन्नेच्छाच्छमिति न यावदङ्गभङ्गं
　　कुर्वन्तो ज्वलदनलोज्ज्वलाः पृषत्काः ।
तावद् द्रागद्रुतमिति एहि मित्र यामो
　　यामोऽयं प्रवहति वासरश्चतुर्थः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने रणप्रेक्षकजनोक्तिवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ प्रोड्डयनोद्युक्ततुरङ्गमतरङ्गकः ।
उत्ताण्डव इवोन्मत्तो बभूव स रणार्णवः ॥ १ ॥

तपे हुए बाण जो कि क्रेंकार ध्वनिके साथ विस्तारित प्रत्यञ्चासे छोड़े गये हैं, अतएव शब्द कर रहे हैं, समीपवर्ती पर्वतकी शिलाओंको छेदकर धारण करते हैं। कठिन कवचोंपर निष्फल हुए अपने प्रबल बाणोंके लिए शोक कर रहे वीरोंकी यह उक्ति है ॥ ५२ ॥

हे मित्र, युद्धसे हुई थकावटसे आपकी युद्धेच्छा शान्त हो गई है, अतः आपसे मैं निर्दोष हितकी बात करता हूँ, उसे सुनिए। जबतक जल रही अग्निसे उज्ज्वल बाण हम लोगोंके अङ्गोंको भङ्ग नहीं करते, तबतक चलो, शीघ्र दौड़कर इधरसे चले जावें, क्योंकि यह चौथा प्रहर यमका ही दिन है ॥ ५३ ॥

चौंतीसवां सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

[समुद्र, वन, प्रलय आदि विविधरूपकोंसे चतुरङ्गिणी सेनाके संग्रामका विस्तारसे वर्णन]

पहले तेरह श्लोकोंसे समुद्रके रूपकसे संग्रामका वर्णन करनेके लिए वसिष्ठजी कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मानो उड़नेके लिए तैयार

छत्रडिण्डीरविश्रान्तसितेषुशफरोत्करः ।
अश्वसैन्योल्लसल्लोलकल्लोलाकुलकोटरः ॥ २ ॥
नानायुधनदीनीतसैन्यावर्तविवृत्तिमान् ।
मत्तहस्तिघटापीठचलाचलकुलाचलः ॥ ३ ॥
कचचक्रशतावर्तवृत्तिभ्रान्तशिरस्तृणः ।
धूलीजलधरापीतभ्रमत्खड्गप्रभाजलः ॥ ४ ॥
मकरव्यूहविस्तारभग्नाभग्नभटौघनौः ।
महागुड्गुडावर्तप्रतिश्रुद्धनकन्दरः ॥ ५ ॥

घोड़े ही जिसमें तरङ्गका रूप धारण किये हुए थे, ऐसा वह संग्रामरूपी सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्तके तुल्य हुआ ॥ १ ॥

उक्त रणसागरमें इधर-उधर बिखरे हुए छातेरूपी समुद्रफेनमें अटके हुए सफेद बाणरूपी छोटी-छोटी मछलियोंके समूह थे, घुड़सवार सैनिकरूपी उछल रही चञ्चल कल्लोलोंसे (बड़ी लहरोंसे) उसके कोटरोंमें हलचल मची थी, भाँति भाँतिके अस्त्रशस्त्ररूपी नदियोंमें बने हुए सैनिकरूपी आवर्त (जल-भौंरी) उसमें भ्रमण कर रहे थे, उसमें मदोन्मत्त हाथियोंके दलरूपी आमूल चञ्चल मन्दराचल थे, चमचमा रहे सैकड़ों चक्ररूपी आवर्तोंके भ्रमणसे उनसे (चक्रोंसे) काटे गये सिररूपी तिनके उसमें घूम रहे थे, धूलिरूपी बादलोंने उक्त रणसमुद्रमें चल रही तलवारोंकी प्रभारूपी जलको पी डाला था* ॥ २–४ ॥

मकराकार व्यूहोंके (एक प्रकारके सेनासंनिवेशोंके) विस्तारसे भट-समुदायरूपी नौकाएँ भग्न और अभग्न थीं, जैसे जल-सागरमें बड़े विशाल मगरोंके कारण कुछ नौकाएँ नष्ट और कुछ अनष्ट रहती हैं, वैसे ही उक्त रणसागरमें मकराकार सेनाव्यूहके विस्तारसे कुछ भट भग्न थे और कुछ अभग्न थे । बड़ी भारी गड़गड़ाहट करनेवाले रथादिरूपी आवर्तके शब्दसे उक्त रणसागरमें बड़ी बड़ी पर्वतोंकी कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही थीं ॥ ५ ॥

* जैसे सागरके जलको मेघ पी डालते हैं, वैसे ही वहांपर धूलिपटलने घूम रहीं तलवारोंकी प्रभाको पी डाला था, यानी छिपा दिया था। यहांपर आच्छादनकी पानरूपसे कल्पना की गई है ।

मीनव्यूहविनिष्क्रान्तशरबीजौघसर्षपः ।
हेतिवीचीवराऌ्नपताकावीचिमण्डलः ॥ ६ ॥
शस्त्रवारिकृताम्भोदसदृशावर्तकुण्डलः ।
संरम्भघनसंचारसेनातिमितिमिङ्गिलः ॥ ७ ॥
कृष्णायसपरीधानवलत्सेनाम्बुभीषणः ।
कबन्धावर्तलेखान्तर्वद्धसैन्यादिभूषणः ॥ ८ ॥
सरसीकरनीहारसान्धकारककुब्गणः ।
निर्घोषाशोषिताशेषशब्दैकघनघुंघुमः ॥ ९ ॥

जैसे सागरमें मछलियोंके समूहोंसे उत्पन्न हुए सरके (काशके) बीजोंके ढेरकी नाईं सरसोंके आकारके सफेद अण्डे बिखरे रहते हैं, वैसे ही उक्त संग्रामभूमिमें मरे हुए लोगोंके समूहसे उन्हें छिन्न-भिन्न कर निकले हुए बाणरूपी सरसोंकी छिमियाँ बिखरी थीं, अस्त्र-शस्त्ररूपी प्रधान लहरोंने पताका-रूपी छोटी लहरोंके मण्डलको छिन्न-भिन्न कर दिया था, तलवार आदि शस्त्र-रूपी जलसे निर्मित मेघके समान अस्थिर आवर्त उक्त रणसागरके कुण्डल थे, मारे क्रोधके शीघ्र चलनेवाली सेना ही उसमें तिमि और तिमिङ्गिल* (महामत्स्य-जाति) थे, वह रणसागर लोहमय कवचोंको धारण की हुई इधर-उधर चलती हुई सेनारूपी जलसे भीषण था, उसमें कवचरूपी जलके आवर्तकी पङ्क्तिके मध्यमें सैनिकोंके भूषण प्रतिबिम्बित थे ॥ ६–८ ॥

बाणरूपी जलकणोंके कुहरेसे दसों दिशाएँ अन्धकार पूर्ण थीं, उस रण-सागरने अपने निर्घोषसे सम्पूर्ण शब्दोंको असंवेद्य कर दिया था, अतएव उसमें एकमात्र निविड घुंघुम शब्द होता था ॥ ९ ॥

---

* अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृतः । भरतधृतवाक्य ।

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम तथा चास्ति तिमिङ्गिलः ।
तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः ॥ रामायणवाक्य

यानी तिमि नामकी मछली सौ योजनकी है, उसको निगलनेवाली मछलीका नाम तिमिङ्गिल है और तिमिङ्गिलको निगलनेवाली मछली भी है, जो राघव कहलाती है ।

पतनोत्पतनव्यग्रशिरःशकलसीकरः ।
आवर्तचक्रव्यूहेषु प्रभ्रमद्भटकाष्ठकः ॥ १० ॥
कष्टटाङ्कारकोदण्डकुण्डलोन्मथनोद्भटः ।
अशङ्कमेव पातालादिवोद्यत्सैनिकोर्मिमान् ॥ ११ ॥
गमागमपरानन्तपताकाच्छत्रफेनिलः ।
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानरथद्रुमः ॥ १२ ॥
गजप्रतिमसम्पन्नमहारुधिरबुद्बुदः ।
सैन्यप्रवाहविचलद्धयहस्तिजलेचरः ॥ १३ ॥
ससंग्रामोम्बरग्राम इवाऽऽश्चर्यकरो नृणाम् ।
अभूत् प्रलयभूकम्पकम्पिताचलचञ्चलः ॥ १४ ॥
तरत्तरङ्गविहगः पतत्करिघटातटः ।
त्रस्तभीरुमृगानीकस्फूर्जद्घुरुघुरारवः ॥ १५ ॥
सरच्छरालीशलभशतभङ्गुरसैनिकः ।
तरत्तुरङ्गशरभः शरभारवनावनिः ॥ १६ ॥

गिरने और उछलनेसे व्यग्र सिरोंके खण्ड ही उसमें जलकण थे, आवर्तरूपी चक्रोंके समूहोंमें भटरूपी काष्ठ घूम रहे थे ॥ १० ॥

क्लेशकारक टङ्कारवाले धनुषरूपी सर्पोंके छेदनमें भट तत्पर थे, निश्शङ्क होकर पातालसे मानों निकल रहे सैनिकरूपी लहरोंसे युक्त था ॥ ११ ॥

गमन और आगमनमें तत्पर अनन्त पताका और छत्र ही उसमें फेन थे, बह रही रुधिरकी नदीके वेगमें रथरूपी वृक्ष बहाये जा रहे थे ॥ १२ ॥

रुधिरके बड़े-बड़े बुद्बुद् हाथीके सदृश हो गये थे, सेनारूपी प्रवाहमें हाथी-घोड़े-रूपी जल-जन्तु वहाँ इधर-उधर चल रहे थे ॥ १३ ॥

वह रणसागर संग्रामयुक्त अम्बरग्रामके (गन्धर्वनगरके) सदृश मनुष्योंके लिए बड़ा आश्चर्यकारी हुआ। वह संग्राम क्या था, एक प्रकारका प्रलय ही था, प्रलयकालके भूकम्पसे कँपाए गये पर्वतोंके सदृश चञ्चल था, उसमें पक्षी तैरती तरङ्गोंके समान थे, गजघटारूपी तट गिर रहे थे। भयभीत भीरु हरिणरूपी सेनाका घुरघुर शब्द प्रलयकालीन वज्रनिर्घोषके तुल्य था, इधरसे उधर सरसराते बाणोंकी पङ्क्तिसे सैकड़ों शलभोंके (पतङ्गोंके) समान सैनिक गिर रहे थे, दौड़ते हुए घोड़े ही जिसमें मृग थे, बाणोंसे संघात ही अथवा बाणधारी योद्धा

चलद्विरेफनिर्ह्रादो रसत्तूर्यगुहागुरुः ।
चिरात् ससैन्यजलदो लुठद्भटमृगाधिपः ॥ १७ ॥
प्रसरद्धूलिजलदो विगलत्सैन्यसानुमान् ।
पतद्रथवराढ्याङ्गः प्रतपत्खड्गमण्डलः ॥ १८ ॥
प्रोत्पतत्पदपुष्पौघः पताकाच्छत्रवारिदः ।
वहद्रक्तनदीपूरपतत्साराववारणः ॥ १९ ॥
सोऽभूत् समरकल्पान्तो जगत्कवलनाकुलः ।
पर्यस्तसध्वजच्छत्रपताकारथपत्तनः ॥ २० ॥
पतद्विमलहेत्योघभूरिभास्वरभास्करः ।
कठिनप्राणसन्तापतापिताखिलमानसः ॥ २१ ॥
कोदण्डपुष्करावर्तशरधारानिरन्तरः ।
वहत्खड्गशिलालेखाविद्युद्वलयिताम्बरः ॥ २२ ॥
उच्छिन्नरक्तजलधिपतितेभकुलाचलः ।
नभोविकीर्णनिपतद्युत्तारकणतारकः ॥ २३ ॥

ही उसमें वनपूर्ण भूमि थी, उसमें चल रहे सैनिकरूपी भ्रमरोंका गुंजार हो रहा था, बज रहीं तुरहीरूप गुहाओंसे उसका विस्तार कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा था, सेना-युक्त गज आदि ही उसमें मेघ थे, लुढ़क रहे भट ही उसमें सिंह थे, चतुरङ्गिणी सेनाके संचारसे उड़ी हुई धूलि मेघरूपमें परिणत हो गई थी, सैनिकरूपी पर्वत उसमें गल रहे थे, महारथोंके अवयव चूरचूर होकर गिर रहे थे, तलवारें अपना प्रताप दिखा रहीं थीं, पदचिह्नरूपी फूलोंकी राशियां उड़ रहीं थीं, पताकाओं और छातोंने मेघोंका रूप धारण कर रक्खा था, हाथी बह रही रुधिरकी नदीके प्रवाहमें गिरनेके कारण चिंघाड़ रहे थे, इस प्रकारका वह समररूपी प्रलय जगतको निगलनेमें बड़ी त्वरासे प्रवृत्त हुआ। उसमें ध्वजाओं, छत्रों और पताकाओंसे युक्त रथरूपी नगर इधर-उधर अस्तव्यस्त हो रहे थे, वीरोंके ऊपर गिर रहे अस्त्र-शस्त्रोंके समूहरूपी अनेक देदीप्यमान सूर्य तप रहे थे, घोर प्राणपीड़ासे सब लोगोंके मन सन्तप्त हो रहे थे, वीरोंके धनुषरूपी पुष्करावर्तों (प्रलयकालके मेघों) से निकली हुई बाणवृष्टिरूपी मूसलाधार वृष्टिसे वह चारों ओर व्याप्त था, चमचमा रहीं तलवारोंकी सानमें तीखी की गईं धाररूपी बिजलीसे सारा आकाश परिवेष्टित था, उसमें कटे लोगोंके शरीरोंसे निकले हुए रुधिरके समुद्रमें हाथीरूपी

चक्रकुल्याम्बुदावर्तपूर्णव्योमशिराम्बुदः ।
अस्त्रकल्पाग्निनिर्दग्धसैन्यलोकान्तरक्रमः ॥ २४ ॥
हेतिवर्षाशनिच्छन्नभूतलामलभूधरः ।
गजराजगिरिव्रातपातपिष्टजनव्रजः ॥ २५ ॥
शरधाराघनानीकमेघच्छन्नमहीनभाः ।
महानीकार्णवक्षोभसङ्घट्टघटिताद्रवः ॥ २६ ॥
व्याप्त उग्रानिलोद्धूतैर्जलव्यालैरिवाऽचलः ।
अन्योन्यदलनव्यग्रैः शस्त्रोत्पात इवोत्थितैः ॥ २७ ॥
शूलासिचक्रशरशक्तिगदाभुशुण्डी-
प्रासादयो विदलनेन मिथो ध्वनन्तः ।
दीप्ता अधुर्दश दिशः शतशो भ्रमन्तः
कल्पान्तवातपरिवृत्तपदार्थलीलाम् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे रणवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

पर्वत डूब गये थे। आकाशमें फैले हुए नीचे गिर रहे अन्य रुधिरबिन्दुओंसे मिलकर स्थूल हुए (रुधिरबिन्दु) ही उसमें तारे थे, अनेक चक्रोंकी परम्परारूपी छोटी नदियोंसे, जो कि मेघप्रदेशमें घूमनेपर प्रचुर भौंरीवाली प्रतीत होती थीं, आकाशमण्डल और मेघ भरे थे, वहां अस्त्रशस्त्ररूप प्रलयाग्निसे जले हुए सैनिक परलोकगमन कर रहे थे, शस्त्रास्त्रोंकी वृष्टिरूपी वज्रसे भूतलरूपी निर्मल पर्वत आच्छन्न थे, उसमें गजराजरूपी पर्वतोंकी राशियोंके गिरनेसे जनसमूह चूर-चूर हो गया था ॥ १४–२५ ॥

सैनिकरूपी मेघोंने निबिड बाणवृष्टिरूपी वर्षासे महीतल और आकाशमण्डलको आच्छन्न कर दिया था, क्रमशः महासेनारूपी सागरके संक्षोभसे (क्रोधसे) उत्पन्न संघट्टसे चारों ओर पलायन होने लगा ॥ २६ ॥

जैसे उग्र झञ्झावातसे उड़ाये गये जलके सांपोंसे समुद्रके गर्भमें स्थित पर्वत व्याप्त होता है, वैसे ही परस्पर एक दूसरेको काटनेमें व्यग्र, मानो शस्त्र वर्षानेवाले प्रलयोत्पातमें उत्पन्न हुए शस्त्रोंसे रणभूमि व्याप्त थी ॥ २७ ॥

परस्पर एक दूसरेको काटनेसे शब्द कर रहे और झुण्डके साथ

षड्त्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ शृङ्गोपमानेषु स्थितेषु शरराशिषु ।
सर्वभीरुषु भग्नेषु विद्रुतेषु दिशो दश ॥ १ ॥
मातङ्गशवशैलेषु विश्रान्ताम्बुदपङ्क्तिषु ।
यक्षरक्षःपिशाचेषु क्रीडत्सु रुधिरार्णवे ॥ २ ॥
सुहृतां धर्मनिष्ठानां शीलौजःसत्त्वशालिनाम् ।
शुद्धानां कुलपद्मानां वीराणामनिवर्तिनाम् ॥ ३ ॥
द्वन्द्वयुद्धानि जातानि मेघानामिव गर्जताम् ।
मिथो निगरणोत्कानि मिलन्त्यापगपूरवत् ॥ ४ ॥

दसों दिशाओंमें घूम रहे देदीप्यमान त्रिशूल, तलवार, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, तोप, भाले आदिने प्रलयकालके तीक्ष्ण वायुसे कँपाये जा रहे (झकझोरोंके साथ हिलाये जा रहे) पत्थर, वृक्ष, शस्त्र आदि पदार्थोंके विलासको धारण किया ॥२८॥

पैंतीसवां सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

[समान अस्त्र-शस्त्रोंसे द्वन्द्वयुद्ध और पूर्व आदि देशोंके साथ उन देशोंके अधिपतिरूप सहायकोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मेघपंक्तियां जिनमें विश्राम ले रही थीं ऐसे हाथियोंके शवरूपी शैलोंमें अति उन्नत होनेके कारण स्थित बाणराशियोंके शिखरसदृश होनेपर, घायल हुए सम्पूर्ण भीरु भटोंके दसों दिशाओंकी ओर भागनेपर, यक्ष, राक्षस और पिशाचोंके रुधिरके समुद्रोंमें जलक्रीड़ा करनेपर, गर्ज रहे मेघोंकी नाईं सच्चरित्रता, तेजस्विता और बलसे परिपूर्ण, धर्मनिष्ठ, शुद्ध, अपने कुलके कमलरूप यानी अपने यश आदिसे कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले और युद्धमें पीठ न दिखानेवाले महावीरोंके द्वन्द्वयुद्ध हुए। वे द्वन्द्वयुद्ध परस्पर एक दूसरेको निगलनेके लिए उत्सुक थे और उक्त द्वन्द्वयुद्धोंके कर्ता वीरगण नदियोंके प्रवाहोंके समान परस्पर मिलते थे ॥ १–४ ॥

पञ्जरः पञ्जरेणेव गजौघेन गजोच्चयः ।
सवनः सवनेनाऽद्रिरद्रिणेवाऽमिलद्बलात् ॥ ५ ॥
अश्वौघो मिलदश्वानां वृन्देनाऽऽराविरंहसा ।
तरङ्गौघेन घोषेण तरङ्गौघ इवाऽर्णवे ॥ ६ ॥
नरानीकं नरानीकः समायुधमयोधयत् ।
वेण्वोघमिव वेण्वोघो मरुल्लोलो मरुद्बलम् ॥ ७ ॥
रथौघश्च रथौघेन निष्पिपेषाऽखिलं वपुः ।
नगरं नगरेणेव दैवेनोड्डीनमासुरम् ॥ ८ ॥
सरच्छरभरासाररचितापूर्ववारिदम् ।
युयुधे स्थगिताकाशा धनुर्धरपताकिनी ॥ ९ ॥
विषमायुधयुद्धेषु योद्धारः पेलवाशयाः ।
यदा युक्त्या पलायन्ते रणकल्पानले तदा ॥ १० ॥
मिलिताश्चक्रिणश्चक्रैर्धनुर्धारैर्धनुर्धराः ।
खड्गिभिः खड्गयोद्धारो भुशुण्डीभिर्भुशुण्डयः ॥ ११ ॥

जैसे पञ्जर पञ्जरके साथ मिलता है, हाथियोंका झुण्ड हाथियोंके झुण्डके साथ बड़े वेगसे मिलता है, जैसे वनसे युक्त पर्वत वनयुक्त अन्य पर्वतके साथ मिलता है, वैसे ही दोनों पक्षोंके वीर परस्पर बड़े वेगसे मिले ॥ ५ ॥

जैसे सागरमें तरङ्गोंके समूहसे तरङ्गोंका समूह शब्दपूर्वक मिलता है वैसे ही उस युद्धमें घोड़ोंके समूहसे घोड़ोंका समूह शब्दपूर्ण वेगसे मिला ॥ ६ ॥

जैसे वायुसे चञ्चल बाँसोंका समूह वायुसे हिलनेवाले बाँसोंके समूहके साथ लड़ता है वैसे ही नरसेनाने अपने समान आयुधवाली नरसेनासे लड़ाई की ॥ ७ ॥

जैसे उड़ा हुआ असुरनगर देवनगरसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको चूरचूर करे, वैसे ही रथोंके समूहने रथोंके समूहसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको खूब चूरचूर किया ॥ ८ ॥

बाणोंसे पाट दिया है आकाश जिसने ऐसी धनुर्धरोंकी सेनाने सरसराते हुए असंख्य बाणोंकी मूसलाधार वृष्टिसे अद्भुत मेघोंका निर्माण करते हुए युद्ध किया ॥ ९ ॥

जब उन विषमायुधवाले युद्धोंमें युद्धरूपी प्रलयाग्नि भड़की तब भयभीत चित्तवाले योद्धा लोग किसी-न-किसी बहानेसे भागने लगे ॥ १० ॥

परस्पर युद्धके लिए सन्नद्ध हुए चक्रधारी लोगोंने चक्रधारी लोगोंसे, धनुर्धारियोंने

मुसलैर्मुसलोदाराः कुन्तिनः कुन्तिधारिभिः ।
ऋष्ट्यायुधा ऋष्टिधरैः प्रासिभिः प्रासपाणयः ॥ १२ ॥
समुद्गरा मुद्गरिभिः सगदैर्विलसद्गदाः ।
शाक्तीकैः शक्तियोद्धारः शूलैः शूलविशारदाः ॥ १३ ॥
प्रासासनाविदः प्रासैः परशूक्ता परश्वधैः ।
लकुटोद्यैर्लकुटिनश्चोपलैरुपलायुधाः ॥ १४ ॥
पाशिभिः पाशधारिण्यः शङ्कुभिः शङ्कुधारिणः ।
क्षुरिकाभिस्तु क्षुरिका भिन्दिपालैश्च तद्गताः ॥ १५ ॥
वज्रमुष्टिधरा वज्रैरङ्कुशैरङ्कुशोद्धताः ।
हलैर्हलनिकाषज्ञास्त्रिशूलैश्च त्रिशूलिनः ॥ १६ ॥
शृङ्खलाजालिनो जालैः शृङ्खलैरलिकोमलैः ।
क्षुभिताकल्पविक्षुब्धसागरोर्मिघटा इव ॥ १७ ॥

धनुर्धारियोंसे, तलवारसे लड़नेवाले लोगोंने तलवारधारियोंसे, भुशुण्डी धारण करनेवाले लोगोंने भुशुण्डी-धारियोंसे, मुसलोंसे युद्ध करनेमें विशारद भटोंने मुसलधारियोंसे, भाले धारण करनेवालोंने भाला धारण किये हुए भटोंसे, ऋष्टि-नामक हथियारसे लड़नेवालोंने ऋष्टिधारियोंसे, बल्लोंसे लड़नेवालोंने बल्लधारियोंसे, मुद्गरधारियोंने मुद्गरधारियोंसे, गदा धारण किये हुए भटोंने गदाधारियोंसे, शक्तिसे युद्ध करनेवालोंने शक्तिधारियोंसे, शूल चलानेमें दक्ष भटोंने शूलधारियोंसे, प्रासोंको (भालोंको) चलानेमें निपुण भटोंने प्रासधारियोंसे, कुल्हाड़ोंके वारमें प्रसिद्धि-प्राप्त भटोंने कुल्हाड़ाधारी भटोंसे, दण्डधारियोंने बाँसोंके बड़े-बड़े डण्डोंको हाथोंमें उठाये हुए भटोंसे, पत्थरोंसे लड़नेवाले भटोंने पत्थरोंसे लड़नेवाले भटोंसे, पाश (जाल) धारी भटोंने पाशधारियोंसे, कील धारण करनेवाले भटोंने कील-धारियोंसे, छूरे धारण करनेवाले भटोंने छूरी धारण करनेवाले भटोंसे, भिन्दिपाल धारण करनेवाले भटोंने भिन्दिपालधारियोंसे, वज्ररूप मुष्टिको धारण करनेवाले भटोंने वज्ररूपी मुष्टिको धारण करनेवाले भटोंसे, अङ्कुशोंसे उद्धत यानी अङ्कुशयुद्धमें विशारद भटोंने अङ्कुशधारी भटोंसे, हलसे निघर्ष करनेमें अभिज्ञ भटोंने हल-धारियोंसे, त्रिशूलधारियोंने त्रिशूलधारियोंसे, कवचकी नाईं लोहेकी जंजीरोंका जालीदार कोट शृङ्खलाजाल कहलाता है, उसको पहने हुए घुड़सवार भटोंने

क्षुब्धचक्रदलावर्तः शरसीकरमारुतः ।
प्रभ्रमद्धेतिमकरो व्योमैकार्णव आबभौ ॥ १८ ॥
उत्फुल्लायुधकल्लोलशिरा कुलजलेचरः ।
रोदोरन्ध्रसमुद्रोऽसौ बभूवाऽमरदुस्तरः ॥ १९ ॥
दिव्याष्टकजनानीकं पक्षद्वयतया तया ।
अर्द्धेनाऽर्द्धेन कुपितं भूपालाभ्यां तथा स्थितम् ॥ २० ॥
मध्यदेशादिसंख्याने प्राग्दिग्भ्योऽभ्यागतानिमान् ।
लीलानाथस्य पद्मस्य पक्षे जनपदाञ्छृणु ॥ २१ ॥

जालदार कवच पहने हुए घुड़सवारोंसे ऐसे युद्ध किया जैसे कि प्रलयकालमें विक्षुब्ध महासागरकी आकाश-पाताल एक करनेवाली बड़ी-बड़ी लहरोंकी घटाएँ आपसमें टकराती हैं ॥ ११–१७ ॥

वह युद्धाकाशरूपी एकमात्र सागर अति सुशोभित हुआ। उसमें वार करनेके लिए व्याकुल चक्रोंकी राशियाँ ही आवर्त थे, वायु बाणरूपी जलकणोंसे युक्त थे, आयुधरूपी मगर इतस्ततः घूम रहे थे ॥ १८ ॥

पृथिवी और अन्तरिक्षका मध्यभागरूपी वह सागर अमर (जीवित) लोगोंसे दुस्तर हुआ, उसमें चमचमा रहे हरबे-हथियाररूपी तरङ्गोंकी शाखा-प्रशाखाओंसे जलचररूपी भट व्याकुल थे ॥ १९ ॥

आयुधविद्या, बुद्धि, बल, शूरता, अस्त्रशस्त्र, घोड़े, रथ और धनुष ये आठ जिनके अप्रतिहत हैं, ऐसे भटोंकी सेना पूर्वमें प्रतिपादित द्वन्द्वशः मिले हुए दो पक्ष होनेसे दोनोंकी सेनाओंमें आधे आधे भागमें कुपित होकर स्थित रही, क्योंकि दोनों राजा—विदूरथ और सिन्धुराज—उनके अनुकूल ही स्थित रहे। अथवा इस श्लोकका अर्थ यों करना चाहिए—यक्ष, राक्षस, पिशाच और असुर एक ओर, देवता गन्धर्व, किन्नर और विद्याधर एक ओर यों आठ दिव्य पुरुषोंका समूह भावी जय और पराजयके अनुसार दो पक्षोंमें बट कर सम्पूर्ण सेनाके आधे आधे भागसे कुपित होकर स्थित हुआ, क्योंकि वे दो राजे भी तदनुरूप अदृष्टसे युक्त थे ॥ २० ॥

अब विदूरथ और सिन्धुराजके सहायक लोगोंका पूर्व आदि दिशाओंके भेदसे क्रमशः वर्णन करनेकी श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'मध्यदेशादि०' इत्यादिसे।

पूर्वस्यां कोसलाः काशिमागधा मिथिलोत्कलाः ।
मेखलाः कर्करा मुद्रास्तथा संग्रामशौण्डकाः ॥ २२ ॥
मुख्या हिमा रुद्रमुख्यास्ताम्रलिप्तास्तथैव च ।
प्राग्ज्योतिषा वाजिमुखा अम्बष्ठाः पुरुषादकाः ॥ २३ ॥
वर्णकोष्ठाः सविश्वोत्रा आममीनाशनास्तथा ।
व्याघ्रवक्त्राः किराताश्च सौवीरा एकपादकाः ॥ २४ ॥
माल्यवान्नाम शैलोऽत्र शिबिराञ्जन एव च ।
वृषलध्वजपद्माद्यास्तथोदयकरो गिरिः ॥ २५ ॥
अथ प्राग्दक्षिणायां तु इमे विन्ध्यादिवासिनः ।
चेदयो वत्सदाशार्णा अङ्गवङ्गोपवङ्गकाः ॥ २६ ॥
कलिङ्गपुण्ड्रजठरा विदर्भा मेकलास्तथा ।
शबराननवर्णाश्च कर्णात्रिपुरपूरकाः ॥ २७ ॥
कण्टकस्थलनामानः पृथग्दीपककोमलाः ।
कर्णान्ध्राश्चौलिकाश्चैव तथा चार्मण्वता अपि ॥ २८ ॥
काकका हेमकुड्याश्च तथा श्मश्रुधरा अपि ।
बलिग्रीवमहाग्रीवाः किष्किन्धानालिकेरिणः ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, मध्य देश आदिकी गणनामें पूर्व दिशासे लीलाके स्वामी महाराज पद्मकी सहायताके लिए आये हुए नीचे कहे जानेवाले देशोंके अधिपतियोंको मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥ २१ ॥

पूर्व दिशाके कोशल, काशी, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्रामशौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्रागूज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, कच्ची मछली खानेवाले, व्याघ्र-सदृश मुखवाले, किरात, सौवीर और एकपादक—इन चौबीस देशोंके सहायक आये थे। माल्यवान्नामक पर्वत, शिवि, आञ्जन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदय-पर्वत इन सात शैलोंके सहायक आये ॥ २२–२५ ॥

पूर्व-दक्षिण दिशामें लीलाके पति पद्मके बिन्ध्य पर्वतके पूर्वभागके देश, चेदि, वत्स, दाशार्ण, अङ्ग, बङ्ग, उपबङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, जठर, विदर्भ, मेकल, शबरानन, शबरवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थ, पृथगूदीपक, कोमल,

अथ लीलापतेरस्य दक्षिणस्यामिमे नृपाः ।
विन्ध्योऽथ कुसुमापीडो महेन्द्रो दर्दुरस्तथा ॥ ३० ॥
मलयः सूर्यवांश्चैव गणा राज्यसमृद्धकाः ।
अवन्तीरिति विख्यातास्तथा शाम्बवतीति च ॥ ३१ ॥
दशपूरकथाचक्रारेषिकातुरकच्छपाः ।
वनवासोपगिरयस्ते भद्रगिरियस्तथा ॥ ३२ ॥
नागरा दण्डकाश्चैव गणराष्ट्रनृराष्ट्रकाः ।
साहा शैवार्ष्यमूकाश्च कर्कोटा वनबिम्बलाः ॥ ३३ ॥
पम्पानिवासिनश्चैव कैरकाः कर्कवीरकाः ।
स्वेरिका यासिकाश्चैव धर्मपत्तनपञ्जिकाः ॥ ३४ ॥
काशिकास्तृष्णखल्लूला यादास्ते ताम्रपर्णकाः ।
गोनर्दाः कनकाश्चैव दीनपत्तननामकाः ॥ ३५ ॥
ताम्रीका दम्भराकीर्णाः सहकारैणकास्तथा ।
वैतुण्डकास्तुम्बवनालाजिनद्वीपकर्णिकाः ॥ ३६ ॥
कर्णिकाभाश्च शिबयः कौकङ्कणाश्चित्रकूटकाः ।
कर्णाटमण्टवटका महाकटकिकास्तथा ॥ ३७ ॥

कर्णान्ध्र, चौलिक, चर्मण्वतीके निकटवर्ती, काकक, हेमकुड्य, श्मश्रुधर, वलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्धा और नारिकेली—इन २७ देशों और ४ पर्वतोंके निवासी वीरगण सहायक थे ॥ २६–२९ ॥

हे रामजी, दक्षिण दिशामें लीलाके पतिके सहायक वीर नरपतियोंका मैं उल्लेख करता हूँ, सुनो। बिन्ध्य, कुसुमापीड़, महेन्द्र, दर्दुर, मलय, सूर्यवान्, समृद्धिशाली अनेक गण्यराज्य, अवन्तीनामसे प्रसिद्ध, शाम्बवती, दशपूरक, कथाचक्रार, ईषिक, आतुरकच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणतन्त्रराज्य, जनतन्त्रराज्य, साह, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पा-निवासीगण, कैरकदेशीय, कर्कवीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपत्तन, पञ्जिक, काशिक, तृणखल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, ताम्रीक दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिक, कर्णिकाकार, शिबी, कौङ्कण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलपर्वत, आवन्तिक,

आन्ध्राश्च कोलगिरयश्चाऽऽवन्तिकविचेरिकाः ।
चण्डायत्ता देवनकाः क्रौञ्चा वाहास्तथैव च ॥ ३८ ॥

शिलाक्षारोदभोनन्दमर्दना मलयाभिधाः ।
ते चित्रकूटशिखरा लङ्कारक्षोगणाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

अथ प्रत्यग्दक्षिणस्यां महाराज्यसुराष्ट्रकाः ।
सिन्धुसौवीरशूद्राख्या आभीरा द्रविडास्तथा ॥ ४० ॥

कीकटाः सिद्धखण्डाख्यास्तथा कालिरुहा अपि ।
अत्र हेमगिरिः शैलस्तथा रैवतको गिरिः ॥ ४१ ॥

जयकच्छो मयवरो यवनास्तत्र जन्तवः ।
बाह्लीका मार्गणावन्ता धूम्रास्तुम्बकनामकाः ॥ ४२ ॥

तथा लाजगणाश्चैव तथाऽत्र गिरिवासिनः ।
ततोऽब्धितोकनियुता एते लीलापतेर्जनाः ॥ ४३ ॥

अथ तत्प्रतिपक्षस्थानिमान् जनपदान् शृणु ।
पश्चिमायां दिशि प्रौढा इमे तावन्महाद्रयः ॥ ४४ ॥

मणिमान्नाम शैलेन्द्रः कुरार्पणगिरिस्तथा ।
वनोऽर्कहो मेघभवश्चक्रवानस्तपर्वतः ॥ ४५ ॥

विचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौञ्च, वाह, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय, चित्रकूट—इन तिरसठ देशों और छः पर्वतोंके निवासी तथा लङ्काके राक्षस ॥ ३०–३९ ॥

पश्चिम और दक्षिण दिशाके मध्यमें महाराज्य, सुराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरुह, सुमेरु पर्वत, रैवतक पर्वत, जयकच्छ, मयवर, जिसमें यवन रहते थे, ये चार पर्वत, वाह्लीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण और उक्त दिशाके पर्वतोंके निवासी, तथा समुद्रतटके और तोकनि देशके निवासी, हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सब पूर्वोक्त लीलाके पतिके पक्षके थे ॥४०–४३॥

अब हे श्रीरामचन्द्रजी, लीलाके पतिके विपक्षमें स्थित वीरों और उनके देशोंको मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। पश्चिम दिशामें ये बड़े-बड़े पर्वत हैं—मणिमान्, शैलेन्द्र, कुरापर्णगिरि, बन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल ॥ ४४,४५ ॥

जनाः पञ्चजना नाम काशब्रह्मचयान्तकाः ।
तथैव भारक्षतथाः पारकाः शान्तिकास्तथा ॥ ४६ ॥
शैब्यारमरकायाच्छागुहुत्वानियमास्तथा ।
हैहयाः सुह्मगायाश्च ताजिका हूणकास्तथा ॥ ४७ ॥
पार्श्वे कतकयोः कर्का गिरिपर्णावमास्तथा ।
संत्यक्तधर्ममर्यादास्ते वर्णा म्लेच्छजातयः ॥ ४८ ॥
ततोऽजनपदा भूमिर्योजनानां शतद्वयम् ।
ततो महेन्द्रशिखरी मुक्तामणिमयावनिः ॥ ४९ ॥
युतो महीधरशतैरथाऽश्वनामपर्वतः ।
ततो महार्णवो भीमः पारियात्रगिरिस्तटे ॥ ५० ॥
पश्चिमोत्तरदिग्भागे देशो गिरिमति स्थितः ।
तथा वेणुपतिश्चैव ततो नरपतिर्मही ॥ ५१ ॥
तथा फल्गुणकाश्चैव माण्डव्यानेकनेत्रकाः ।
पुरुकुन्दाश्च पाराश्च भानुमण्डलभावनाः ॥ ५२ ॥
वन्मिला नलिना दीर्घा दीर्घकेशाङ्गबाहवः ।
रङ्गाश्च स्तनिकाश्चाऽन्या गुरुहाश्च लुहास्तथा ॥ ५३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, काश तथा ब्राह्मणके समूहोंके अन्तक पञ्चजननामक जन और भारक्षतथ, पारक, शान्तिक, शैब्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक और हूणक, दक्षिण और उत्तरमें कतक देशके निकटमें कर्क, गिरिपर्ण और अवम—इन्होंने सब वर्ण धर्मोंकी मर्यादाका सर्वथा त्याग कर दिया है, इसलिए ये म्लेच्छ कहलाते हैं ॥ ४६–४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अनन्तर दो सौ योजन तक पृथिवी जनपदोंसे शून्य है, और उसके अनन्तर महेन्द्रपर्वत है, जिसकी भूमि मुक्तामयी तथा मणिमयी है ॥४९॥

सैकड़ों पर्वतोंसे युक्त अश्वनामक पर्वत है, उसके अनन्तर भयंकर महासमुद्र है, जिसके तटपर पारियात्रनामक पर्वत है ॥ ५० ॥

पश्चिम और उत्तर दिशाके अन्तराल भागमें, जो पर्वतप्राय है, वेणुपति और नरपति देश है, जहाँ नित्य उत्सव हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥

फल्गुणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन और इसके पश्चात् दीर्घ केश, अङ्ग, हस्त, पाद आदिसे युक्त

ततः स्त्रीराष्ट्रमतुलं गोवृषापत्यभोजनम् ।
अथोत्तरस्यां हिमवान् क्रौञ्चोऽथ मधुमान् गिरिः ॥ ५४ ॥
कैलासो वसुमान्मेरुस्तत्पादेषु जना इमे ।
मद्रा वारेवयौधेया मालवाः शूरसेनिकाः ॥ ५५ ॥
राजन्याश्च तथा ज्ञेया अर्जुनातनयस्तथा ।
त्रिगर्त एकपात्क्षुद्रामबलास्त्वस्तत्रासिनः ॥ ५६ ॥
अवलाः प्रखलाः शाकाः क्षेमधूर्त्तय एव च ।
दशधानागावसन्यदण्डाहन्यसनास्तथा ॥ ५७ ॥
धानदाः सरकाश्चैव वाटधानास्तथैव च ।
अन्तरद्वीपगान्धारास्तथाऽवन्तिसुरास्तथा ॥ ५८ ॥
अथ तक्षशिला नाम ततो वीलवगोधनी ।
पुष्करावर्तदेशस्य यशोवतिमही ततः ॥ ५९ ॥
ततो नाभिमतिर्भूमिस्तिक्षा कालवरास्तथा ।
काहकं नगरं चैव सुरभूतिपुरं तथा ॥ ६० ॥
तथैव रतिकादर्शा अन्तरादर्श एव च ।
ततः पिङ्गलपाण्डव्यं यामुने यातुधानकाः ॥ ६१ ॥

मनुष्यवाले होनेके कारण दीर्घनामके देश हैं, तथा रङ्ग, स्तनिक, गुरुह और लुह नामवाले देश हैं, इसके अनन्तर अतुल स्त्रीराष्ट्र है, जहां गाय, बैल तथा सन्तानको भी खा जाते हैं। इसके अनन्तर उत्तर दिशामें हिमवान्, क्रौंच और मधुमान् नाम पर्वत हैं ॥ ५२–५४ ॥

इनके अनन्तर कैलास, वसुमान् और मेरुपर्वत हैं, उनके सहायक पर्वत-श्रेणियोंमें ये मनुष्य रहते हैं—मद्र, वारेव, यौधेय, मालव और शूरसैनिक ॥५५॥

इसके अनन्तर ये क्षत्रिय और देश हैं, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकपाद, क्षुद्र, आमबल और अस्ताचलवासी, अवल, प्रखल, शाक, क्षेम, धूर्ति, दश प्रकारके नाग, अवसनी, अदण्ड, अहन्यसन, धानद, सरक, वाटधान, अनन्तर-द्वीपके निवासी, गान्धार, अवन्ति और सुर, इसके अनन्तर तक्षशिला, बीलव, गोधनी, इसके अनन्तर पुष्करावर्त देशकी यशोवती नामकी पृथिवी है। इसके अनन्तर नाभिमती भूमि है और उसके बाद तिक्षा तथा कालवराभूमि है और काहक तथा सुरभूतिपुर नामक नगर हैं, तदनन्तर रतिकादर्श, अन्तरादर्श,

मानवा नाङ्गना हेमतालाः स्वस्वमुखास्तथा ।
हिमवान् वसुमान् क्रौञ्चकैलासावित्यगास्तथा ॥ ६२ ॥
ततोऽजनपदा भूमिरशीतिशतयोजना ।
अथ प्रागुत्तरस्यां तु क्रमाज्जनपदाञ्छृणु ॥ ६३ ॥
कालुता ब्रह्मपुत्राश्च कुणिदाः खदिनास्तथा ।
मालवा रन्ध्रराज्याश्च वना राष्ट्रास्तथैव च ॥ ६४ ॥
केडवस्ताः सिंहपुत्रास्तथा वामनतां गताः ।
सावाकच्चापलवहाः कामिरा दरदास्तथा ॥ ६५ ॥
अभिसासदजार्वाकाः पलोलकुविकौतुकाः ।
किराता यामुपाताश्च दीलाः स्वर्णमही ततः ॥ ६६ ॥
देवस्थलोपवनभूस्तदनूदितश्रीर्विश्वावसोस्तदनु मन्दिरमुत्तमश्च ।
कैलासभूस्तदनु मञ्जुवनश्च शैलो विद्याधरामरविमानसमानभूमिः ॥६७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जनपदवर्णनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥३६॥

पिङ्गल एवं पाण्डव्यके निवासी जन और यमुनाके तीरवासी यातुधानक, नाङ्गन, हेमताल, स्वस्वमुख तथा हिमालय, वसुमान् , क्रौञ्च और कैलास ये पर्वत हैं ॥५५–६२॥

तदुपरान्त देशरहित अस्सी योजन विस्तृत भूमि है। तदनन्तर पूर्व और उत्तर दिशाके अन्तरालके क्रमशः इन देशोंको सुनिये—कालुत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकत् , चापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात, दील, तदुपरान्त स्वर्णभूमि है, तदनन्तर अतिसुशोभित देवस्थल भूमि है, उसके बाद गन्धर्वराज विश्वावसुका उत्तम मन्दिर है, तदनन्तर कैलासभूमि है, तदनन्तर मञ्जुवन नामका पर्वत है, तदनन्तर विद्याधर और देवगणोंकी विमानके सदृश अभिराम भूमि है ॥ ६३–६७ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सप्तत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रणे रभसनिर्लूननरवारणदारुणे ।
अहंपूर्वमहंपूर्वमिति वृन्दानुपातिनि ॥ १ ॥

एते चाऽन्ये च बहवस्तत्र भस्मत्वमागताः ।
प्रविशन्तः प्रयत्नेन शलभा इव पावके ॥ २ ॥

अत्राऽन्ये मध्यदेशीया जना नोदाहृता मया ।
तानिमाञ्छृणु वक्ष्यामि पक्षाँल्लीलामहीभृतः ॥ ३ ॥

तद्देहिकाः शूरसेना गुडा अश्वघनायकाः ।
उत्तमज्योतिभद्राणि मदमध्यमिकादयः ॥ ४ ॥

साल्वकाकोद्यमालास्या दौर्ज्ञेयाः पिप्पलायनाः ।
माण्डव्याः पाण्डुनगराः सौग्रीवाद्या गुरुग्रहाः ॥ ५ ॥

पारियात्राः कुराष्ट्राश्च यामुनोदुम्बरा अपि ।
राज्याह्वा उज्जिहानाश्च कालकोटिकमाथुराः ॥ ६ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग

[देशोंके नामोंके साथ मध्यदेशीय लोगोंका तथा उनके जय और पराजयका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, वेगसे काटे गये मनुष्य और हाथियोंसे भीषण रणमें, जिसमें सैनिक लोग 'पहले मैं पहले मैं' इस होड़से झुण्डके झुण्ड विपक्षसेनामें टूट रहे थे, प्रयत्नसे प्रवेश कर रहे पूर्वोक्त और उनसे अतिरिक्त भी अनेक लोग अग्निमें प्रवेश कर रहे पतींगोंके समान भस्म हो गये। इस युद्धमें दूसरे यानी मध्यदेशके लोग मैंने नहीं कहे, लीलाके स्वामीके पक्षभूत उन लोगोंको मैं कहूँगा, आप सुनिए ॥ १–३ ॥

वे थे तद्देहिक, शूरसेन, गुड़, अश्वघनायक, उत्तमज्योतिभद्र, मदमध्यमिकादि, साल्वक, अकोद्यमालास्य, दौर्ज्ञेय, पिप्पलायन, माण्डव्य, पाण्डुनगर, सौग्रीवादि, गुरुग्रह, पारियात्र, कुराष्ट्र, यामुन, उदुम्बर, राज्यनामक, उज्जिहान,

पाञ्चाला धर्मारण्याश्च तथैवोत्तरदक्षिणाः ।
पाञ्चालकाः कुरुक्षेत्रास्तथा सारस्वता जनाः ॥ ७ ॥
अवन्तीस्यन्दनश्रेणी कुन्तिपाञ्चनदेरितैः ।
स्पन्दमाना विद्रवन्ती निपपात महाभृगौ ॥ ८ ॥
कोशब्रह्मावसानाश्च च्छिन्ना वस्नवतीजनैः ।
भूमौ निपतिताः सन्तो मिलिता मत्तवारणैः ॥ ९ ॥
शूरा दाशपुराः शस्त्रनिकृत्तोदरकन्धराः ।
बाणक्षितिभिराक्रम्य योजिता योजने ह्रदे ॥ १० ॥
दीर्णोदरविनिर्यातस्वान्त्रतन्त्रीनियन्त्रिताः ।
शान्तिकाः शान्तसञ्चाराः पिशाचैश्चर्विता निशि ॥ ११ ॥
उद्रवैर्भद्रगिरिभिः सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितैः ।
क्षोणिगर्त्तेषु निक्षिप्ता मरगा कमठा इव ॥ १२ ॥

कालकोटिक, माथुर, पाञ्चाल, धर्मारुय तथा उत्तर और दक्षिण पाञ्चालक, कुरुक्षेत्र और सारस्वतनिवासी वीर सैनिक गण ॥ ४—७ ॥

जो पहले ये और दूसरे रणमें भस्म हो गये, ऐसा कहा था, उसीको देशोंके नामोंका विभाग कर सर्गकी समाप्तिपर्यन्त कहते हैं—'अवन्ती' इत्यादिसे ।

उज्जयिनीकी रथपंक्ति कुन्तिदेशवासी और पञ्चनददेशवासियों द्वारा छोड़े गये शस्त्रोंसे भयपूर्वक काँपती और दौड़ती हुई बड़े भारी पर्वतप्रपातोंमें गिर पड़ी ॥ ८॥

वस्नवतीके लोगों द्वारा काटे गये अतएव भूमिमें गिर रहे कोशब्रह्मकी सीमाके लोग हाथियों द्वारा कुचल दिये गये ॥ ९ ॥

बाणकी भूमिके लोगोंने दाशपुरके शूरोंको, जिनके कन्धे और पेट शस्त्रोंसे काट डाले गये थे, जीत कर आठ कोश तक उनका पीछा किया और संयोगवश मार्गमें प्राप्त तालाबमें उन्हें डुबा दिया ॥ १० ॥

विदीर्ण (फाड़े गये) पेटसे निकली हुई अपनी अँतड़ीरूपी रस्सियोंमें उलझे हुए अतएव मन्दगति हुए शान्तिदेशवासियोंको मार्गके पिशाचोंने चबा डाला ॥ ११ ॥

प्रचण्ड रणघोष करनेवाले भद्रगिरिनिवासियोंने, जो कि संग्रामरूपी यज्ञमें दीक्षित थे, मरदेशवासी भटोंको कछुओंकी भाँति पृथिवीके गड्ढोंमें फेंक दिया ॥ १२ ॥

अद्भुता विद्रवद्रक्ता विद्रावितमहारयः ।
दण्डिकास्थानिलोद्धूता हैहयैर्हरिणा इव ॥ १३ ॥
दन्तिदन्तविनिर्भिन्ना दरदा दलितारयः ।
नीता रक्तमहानद्या द्रुमाणां पल्लवा इव ॥ १४ ॥
नाराचैश्चर्विताश्चीना जीर्णा जर्जरजीविताः ।
जहुर्जलनिधौ देहान् भारभूतानिव स्थितान् ॥ १५ ॥
कर्णाटसुभटोड्डीनकुन्ताकलितकन्धराः ।
भग्ना नलदशूराश्च तारकानिकरा इव ॥ १६ ॥
करीन्द्रमकरव्यूहरंहःसंहतहेतयः ।
केशाकेशिकृतारम्भा विनेदुर्दाशकाः शकाः ॥ १७ ॥
दशार्णाः पाशनिर्मुक्तश्रृङ्खलाजालभीरवः ।
निलीना रक्तजम्बाले वैतसास्तिमयो यथा ॥ १८ ॥

जिन्होंने पहले बड़े बड़े शत्रुओंको भगाया था, ऐसे दण्डिकानगरीनिवासियोंको, जिनके शरीरोंसे रुधिर बह रहा था, हैहयवंशियोंने यों भगाया जैसे कि वायुके वेगसे वातप्रमीनामक हरिण भागते हैं ॥ १३ ॥

हाथियोंके दाँतोंसे विचूर्णित दरददेशनिवासियोंको, जिन्होंने अपने शत्रुओंको विनष्ट कर दिया था, रुधिरकी महानदी पेड़के पल्लवोंकी भाँति बहा ले गई ॥१४॥

अर्धचन्द्राकार बाणोंसे छिन्न-भिन्न घायल अधमरे चीननिवासियोंने अपने लिए भारस्वरूप बने हुए अपने शरीरोंको सागरके अर्पण कर दिया ॥ १५ ॥

कर्णाट देशके दक्ष भटों द्वारा वायुमें फेंके गये भालोंसे जिनके कन्धे कट गये थे, ऐसे नलददेशके शूर तारोंके समूहकी नाईं विशीर्ण हो गये ॥ १६ ॥

मगरोंके समूहके सदृश गजराजोंने जिनके शस्त्रास्त्र बड़े वेगसे छिन्न भिन्न कर दिये थे, ऐसे दाशक और शक केशाकेशि युद्धके लिए (एक दूसरेका झोटा पकड़ कर जो युद्ध होता है उसे केशाकेशि युद्ध कहते हैं) सन्नद्ध होकर सिंहनाद करते थे ॥ १७ ॥

पाशदेशवासियों द्वारा छोड़े गये शृङ्खलाजालसे भयभीत दाशार्ण लोग जैसे बेंतकी झाड़ियोंकी जड़ोंमें रहनेवाली मछलियां कीचड़में छिप जाती है, वैसे ही रक्तरूपी कीचड़में छिप गये ॥ १८ ॥

गुर्जरानीकनाशेन गुर्जरीकेशलुञ्चनम् ।
विहितं तङ्गणोत्तुङ्गनासिशङ्कुशतै रणे ॥ १९ ॥
सिषिचुः शस्त्रकर्णौघाद्विन्दुभ्यो निगडा गुहान् ।
शरधारावनानीव वीरहेतिप्रभाम्बुदाः ॥ २० ॥
भुशुण्डीमण्डलोद्योतश्यामार्कोत्पातभीरुषु ।
आभीरेष्वरयः पेतुर्गोगणा हरितेष्विव ॥ २१ ॥
कान्तकाञ्चनकान्ताऽऽसीत्ताम्रसङ्ग्रामवाहिनी ।
भुक्ता गौडभटेनाऽङ्ग नखकेशनिकर्षणैः ॥ २२ ॥
रणे नगनयासंख्यकवचक्रनिकृन्तनैः ।
तङ्गणाः कणशः कीर्णाः कङ्कगृध्रेषु भासकैः ॥ २३ ॥

तंगण लोगोंके ऊपर उछले हुए खड्गों और शङ्कुशतनामक शस्त्रोंने रणभूमिमें गुर्जरसेनाके विनाशसे गुर्जरस्त्रियोंके केशोंका लुञ्चन करा दिया ॥ १९ ॥

जैसे वीरोंके आयुधोंके सदृश कान्तिवाले मेघ अपनी बूँदोंसे जङ्गलोंको सींचते हैं, वैसे ही जिन्होंने कानोंकी भांति अस्त्र-शस्त्रोंको खड़ा किया था, ऐसे सैनिकोंके संघसे निकली हुई वीरायुधप्रभारूपी बिजुलीसे मेघवत् प्रतीत हो रहे निगड़देशियोंने गुहदेशीय भटोंके प्रति बाणोंकी धाराएँ बरसाईं ॥ २० ॥

भुशुण्डीनामक हथियारके मण्डलकी कान्तिसे कालिमाको प्राप्त सूर्य ही ठहरा एक उत्पात * (अशुभ सूचक चिह्न), उससे भयभीत आभीरदेशवासियोंपर शत्रु ऐसे टूटे, जैसे हरी घासपर गौओंका झुण्ड टूट पड़ता है ॥ २१ ॥

वत्स श्रीरामजी, ताम्रों (एक प्रकारके यवनों) की संग्रामके लिए तत्पर सेनारूपी कान्तकाञ्चनप्रिया (जिसे पति और सुवर्ण प्रिय है) नायिका गौड-देशके भटों द्वारा नखक्षत और केशकर्षण द्वारा उपभुक्त हुई ॥ २२ ॥

भासकदेशवासियोंने रणभूमिमें वृक्षों और पहाड़ोंको तहस नहस कर देने-वाले शब्दायमान असंख्य चक्रोंके वारोंसे या चक्रों द्वारा छेदनसे तंगणदेश-वासियोंको किनका-किनका बनाकर कङ्क (सफेद चील) और गीधोंमें बखेर दिया ॥ २३ ॥

* यदि चन्द्र इवाऽऽदित्यः सच्छिद्रो रश्मिमण्डलः ।
कृष्णरक्तान्तपर्यन्तस्तज्जनक्षयलक्षणम् ॥

—यदि सूर्य चन्द्रमाकी नाईं हो, या किरणमण्डलमें छेद दिखाई दे अथवा रविमण्डल चारों ओर काला या लाल हो जाय, तो उसे मनुष्योंके विनाशका हेतु समझना चाहिए ।

लगुडालोडनोड्डीनं गौडं गुड्गुडारवम् ।
श्रुत्वा गान्धारगावोऽग्रे दुद्रुवुर्द्रविडा इव ॥ २४ ॥
आकाशगार्णवप्रख्यो वहच्छककदम्बकः ।
अकरोत्पारसीकानां घननैशतमोभ्रमम् ॥ २५ ॥
मन्दराहननोड्डीनस्वच्छक्षीरार्णवोदरे ।
वनानीवाऽऽयुधान्यासञ्छत्रुप्रालेयसानुनि ॥ २६ ॥
यदम्बुदैरिवोड्डीनं शस्त्रवृन्दैर्नभोङ्गणे ।
तद्दृष्टं वीचिवलनैर्लोलैः प्लुतमिवाऽर्णवे ॥ २७ ॥
शतचन्द्रं सितच्छत्रैः शरैः शलभनिर्भरम् ।
शक्तिभिः किल नीरन्ध्रं दृष्टमाकाशकाननम् ॥ २८ ॥
वीरासवसमाक्रन्दकारिणः केकयैः कृताः ।
कङ्कैः कङ्कुलाक्रान्तव्योमोद्धूलितमस्तकाः ॥ २९ ॥

गौड़ सैनिकोंके अस्पष्ट बोलके शब्दको, जो बड़ी-बड़ी लाठियोंके भ्रमणसे उपलक्षित था, सुनकर गोतुल्य गान्धारदेशवासी द्रविड़ोंकी नाईं भाग गये ॥२४॥

पर्वतोंसे नदीकी नाईं उतरते हुए शकोंके समुदायने, जो कि काली पोशाक पहननेके कारण आकाशस्थित सागरके तुल्य था, पारसियोंको रात्रिके निविड़ अन्धकारका भ्रम कर दिया ॥ २५ ॥

वहांपर सफेद पोशाक पहने हुए पारसियोंके साथ युद्ध करनेवाले शकोंके हथियार मन्दर पर्वतके आलोडनसे ऊपरको उछले हुए अत्यन्त स्वच्छ क्षीरसागरके मध्यमें मन्दराचलके वनोंकी नाईं दिखाई दिये और दर्शक लोगोंको शत्रुरूपी हिमालयके शिखरमें हिमालयके वनोंकी नाईं दिखाई दिये ॥ २६ ॥

भूमिस्थित लोगोंने शस्त्रसमुदायको मेघोंकी नाईं आकाशमण्डलमें उड़ा देखा, आकाशमें स्थित लोगोंने उसे सागरमें अन्य तरङ्गोंसे सम्मिलित चञ्चल तरङ्गोंके प्लवन (तैरने) की नाईं देखा ॥ २७ ॥

लोगोंने आकाशरूपी वनको सफेद छातोंसे सैकड़ों चन्द्रोंसे युक्त-सा देखा, बाणोंसे टिड्डियोंसे अत्यन्त व्याप्त-सा देखा और शक्तियोंसे निरवकाश देखा ॥ २८ ॥

केकयदेशवासियोंने अपने शत्रुओंको वीरपानमें* रोदन करनेवाले बना

* रणसमाप्तिमें या रणके आरम्भमें जो आसवपान होता है, वह वीरपान कहा जाता है ।

किरातसैन्यकन्यानां कामं कलकलारवैः ।
अङ्गैरनङ्गतां नीत्वा भैरवैरिव गर्जितम् ॥ ३० ॥

काशैस्तद्देहकाः क्रान्ता अदृश्यैर्मायया खगैः ।
निर्धूतपक्षैः क्षुभितैः पवनैरिव पांसवः ॥ ३१ ॥

उन्मत्ताः सुविनिर्धूतास्त्यक्तहेतिरणाम्बराः ।
नार्मदा नर्मनिर्मातृ ननृतुर्जहसुर्जगुः ॥ ३२ ॥

प्रक्वणत्किङ्किणीजालं शक्तिवर्षमुपागतम् ।
साल्वबाणानिलोद्धूतमगमत्पृषदाकृति ॥ ३३ ॥

शैब्यास्तु खण्डिताः कौन्तैर्भ्रमत्कुन्तैर्विघट्टिताः ।
शवीभूता दिवं नीता दृष्टा विद्याधरा इव ॥ ३४ ॥

दिया, क्योंकि अपने सगे-सम्बन्धियोंका विनाश होनेसे वीरपानके समय उनका रोना स्वाभाविक हुआ और कङ्क देशवासियोंने अपने शत्रुओंको चीलोंके झुण्डसे आक्रान्त आकाशमें उद्धूलितमस्तकवाले बना दिया ॥ २९ ॥

विजयप्राप्तिपर कोलाहल करनेवाले अङ्गदेशवासियोंने किरातसैनिकरूपी कन्याओंकी विदेहताको (अङ्गरहितत्व और कामप्राबल्यको) प्राप्तकर भैरवोंकी नाईं अत्यन्त गर्जना की ॥ ३० ॥

मायासे पक्षी बने हुए अदृश्य समुद्री मनुष्योंने फैलाये हुए अपने परोंसे तद्देहकवासी लोगोंपर ऐसा आक्रमण किया जैसा कि क्षुभित झञ्झावात धूलिकणों-पर आक्रमण करता है ॥ ३१ ॥

युद्धसे उन्मत्त, खूब कँपाये गये और शस्त्रास्त्र तथा रणकी पोशाकका त्याग किए हुए नर्मदातीरवासियोंने ऐसा नृत्य, हास और गान किया, जिससे मनोविनोद होता था ॥ ३२ ॥

समीपमें आई हुई शक्तियोंकी वृष्टि, जिसमें छोटी छोटी घण्टियाँ बज रही थीं, साल्वदेशवासियोंके बाणरूपी वायुसे कम्पित होकर बिन्दुओंके आकारमें परिणत हो गई ॥ ३३ ॥

शैब्यदेशवासी गणोंको कुन्तिदेशवासी वीरगण घुमाये जा रहे भालोंसे विघटित, विखण्डित और विनष्ट कर विद्याधरोंके तुल्य स्वर्गमें ले गये ॥ ३४ ॥

धराधरणधर्मिण्या धीरया हीनसेनया ।
लुण्ठिताः पाण्डुनगराश्चलनोल्लासमात्रतः ॥ ३५ ॥
तद्देहकाः पाञ्चनदैर्दलिता मत्तकाशिभिः ।
कुन्तदन्तद्रुमोद्दामा नगा इव मतङ्गजैः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मावत्सनका नीपैश्चक्रैः कृत्ता गता महीम् ।
सहयाः क्रकचोत्कृत्ता वृक्षाः कुसुमिता इव ॥ ३७ ॥
श्वेतकाकाननं लूनं कुठारैर्जठरेरितैः ।
एतद्ददाह पार्श्वस्थो मद्रेशः शरवह्निना ॥ ३८ ॥
काष्ठयोधे निरालानं मग्ना जीर्णा मतङ्गजाः ।
लयमाजग्मुरायुद्धमिद्धेशाविन्धनं यथा ॥ ३९ ॥
मित्रगर्तास्त्रिगर्तात्ता भ्रमित्वोर्ध्वं तृणोपमम् ।
विविशुर्व्यस्तमूर्धानः पातालान्तं पलायितुम् ॥ ४० ॥

धरापर यानी युद्धभूमिपर आक्रमण करनेवाली धीरप्रकृति अहीनदेशकी सेनाने अपने सोल्लास गमनसे ही पाण्डुनगरके वीरगणोंको लुण्ठित कर दिया ॥ ३५ ॥

मदोमत्तकी नाईं चलनेवाले पञ्चनददेशके वीरोंने तद्देहकवासी भटोंको, जो भालों, हाथीके दाँतों और वृक्षरूपी हथियारोंसे युद्ध करनेमें कुशल थे, जैसे हाथी पर्वतोंको खोद डालते हैं वैसे ही कतल कर दिया ॥ ३६ ॥

नीपदेशवासियों द्वारा चक्रोंसे काटे गये अत एव घोड़ोंके साथ पृथिवीमें गिरे हुए ब्रह्मावत्सनदेशके सैनिक आरोंसे काटे गये, फूले हुए वृक्षोंकी नाईं प्रतीत होते थे ॥ ३७ ॥

जठरदेशीय भटोंसे प्रेरित (फेंके गये) कुल्हाड़ोंने श्वेतकाकदेशके भटोंके सिर काट डाले और जठरदेशीयोंकी सेनाको पासमें स्थित मद्रदेशके राजाने बाणरूपी अग्निसे जला डाला ॥ ३८ ॥

काष्ठदेशीय योद्धारूपी पङ्कमें (कीचड़में) बन्धनस्तम्भके बिना ही फँसे हुए अतएव जर्जर हुए मतङ्गजदेशीय सैनिकरूपी मतङ्गज (हाथी) युद्धभूमिके चारों ओर ऐसे विनाशको प्राप्त हुए जैसे कि अग्निमें डाले हुए काष्ठ भस्म होते हैं ॥ ३९ ॥

त्रिगर्तदेशके भटोंसे पकड़े गये मित्रगर्तदेशीय भट तिनकेकी नाईं ऊपरको घूमकर नीचे मस्तक हो भागनेके लिए पातालके अन्तस्तलमें प्रविष्ट हुए ॥ ४० ॥

किरातसैन्यकन्यानां कामं कलकलारवैः ।
अङ्गैरनङ्गतां नीत्वा भैरवैरिव गर्जितम् ॥ ३० ॥

काशैस्तद्देहकाः क्रान्ता अदृश्यैर्मायया खगैः ।
निर्धूतपक्षैः क्षुभितैः पवनैरिव पांसवः ॥ ३१ ॥

उन्मत्ताः सुविनिर्धूतास्त्यक्तहेतिरणाम्बराः ।
नार्मदा नर्मनिर्मातॄ ननृतुर्जहसुर्जगुः ॥ ३२ ॥

प्रक्वणत्किङ्किणीजालं शक्तिवर्षमुपागतम् ।
साल्वबाणानिलोद्धूतमगमत्पृषदाकृति ॥ ३३ ॥

शैब्यास्तु खण्डिताः कौन्तैर्भ्रमत्कुन्तैर्विघट्टिताः ।
शवीभूता दिवं नीता दृष्टा विद्याधरा इव ॥ ३४ ॥

दिया, क्योंकि अपने सगे-सम्बन्धियोंका विनाश होनेसे वीरपानके समय उनका रोना स्वाभाविक हुआ और कङ्क देशवासियोंने अपने शत्रुओंको चीलोंके झुण्डसे आक्रान्त आकाशमें उद्धूलितमस्तकवाले बना दिया ॥ २९ ॥

विजयप्राप्तिपर कोलाहल करनेवाले अङ्गदेशवासियोंने किरातसैनिकरूपी कन्याओंकी विदेहताको (अङ्गरहितत्व और कामप्राबल्यको) प्राप्तकर भैरवोंकी नाईं अत्यन्त गर्जना की ॥ ३० ॥

मायासे पक्षी बने हुए अदृश्य समुद्री मनुष्योंने फैलाये हुए अपने परोंसे तद्देहकवासी लोगोंपर ऐसा आक्रमण किया जैसा कि क्षुभित झञ्झावात धूलिकणों-पर आक्रमण करता है ॥ ३१ ॥

युद्धसे उन्मत्त, खूब कँपाये गये और शस्त्रास्त्र तथा रणकी पोशाकका त्याग किए हुए नर्मदातीरवासियोंने ऐसा नृत्य, हास और गान किया, जिससे मनोविनोद होता था ॥ ३२ ॥

समीपमें आई हुई शक्तियोंकी वृष्टि, जिसमें छोटी छोटी घण्टियाँ बज रही थीं, साल्वदेशवासियोंके बाणरूपी वायुसे कम्पित होकर बिन्दुओंके आकारमें परिणत हो गई ॥ ३३ ॥

शैब्यदेशवासी गणोंको कुन्तिदेशवासी वीरगण घुमाये जा रहे भालोंसे विघटित, विखण्डित और विनष्ट कर विद्याधरोंके तुल्य स्वर्गमें ले गये ॥ ३४ ॥

धराधरणधर्मिण्या धीरया हीनसेनया ।
लुण्ठिताः पाण्डुनगराश्चलनोल्लाससमात्रतः ॥ ३५ ॥
तद्देहकाः पाञ्चनदैर्दलिता मत्तकाशिभिः ।
कुन्तदन्तद्रुमोद्दामा नगा इव मतङ्गजैः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मावत्सनका नीपैश्चक्रैः कृत्ता गता महीम् ।
सहयाः क्रकचोत्कृत्ता वृक्षाः कुसुमिता इव ॥ ३७ ॥
श्वेतकाकाननं लूनं कुठारैर्जठरेरितैः ।
एतद्ददाह पार्श्वस्थो मद्रेशः शरवह्निना ॥ ३८ ॥
काष्ठयोधे निरालानं मग्ना जीर्णा मतङ्गजाः ।
लयमाजग्मुरायुद्धमिद्धेऽग्नाविन्धनं यथा ॥ ३९ ॥
मित्रगर्तास्त्रिगर्तात्ता भ्रमित्वोर्ध्वं तृणोपमम् ।
विविशुर्व्यस्तमूर्धानः पातालान्तं पलायितुम् ॥ ४० ॥

धरापर यानी युद्धभूमिपर आक्रमण करनेवाली धीरप्रकृति अहीनदेशकी सेनाने अपने सोल्लास गमनसे ही पाण्डुनगरके वीरगणोंको लुण्ठित कर दिया ॥ ३५ ॥

मदोमत्तकी नाईं चलनेवाले पञ्चनददेशके वीरोंने तद्देहकवासी भटोंको, जो भालों, हाथीके दाँतों और वृक्षरूपी हथियारोंसे युद्ध करनेमें कुशल थे, जैसे हाथी पर्वतोंको खोद डालते हैं वैसे ही कतल कर दिया ॥ ३६ ॥

नीपदेशवासियों द्वारा चक्रोंसे काटे गये अत एव घोड़ोंके साथ पृथिवीमें गिरे हुए ब्रह्मावत्सनदेशके सैनिक आरोंसे काटे गये, फूले हुए वृक्षोंकी नाईं प्रतीत होते थे ॥ ३७ ॥

जठरदेशीय भटोंसे प्रेरित (फेंके गये) कुल्हाड़ोंने श्वेतकाकदेशके भटोंके सिर काट डाले और जठरदेशीयोंकी सेनाको पासमें स्थित मद्रदेशके राजाने वाणरूपी अग्निसे जला डाला ॥ ३८ ॥

काष्ठदेशीय योद्धारूपी पङ्कमें (कीचड़में) बन्धनस्तम्भके बिना ही फँसे हुए अतएव जर्जर हुए मतङ्गजदेशीय सैनिकरूपी मतङ्गज (हाथी) युद्धभूमिके चारों ओर ऐसे विनाशको प्राप्त हुए जैसे कि अग्निमें डाले हुए काष्ठ भस्म होते हैं ॥ ३९ ॥

त्रिगर्तदेशके भटोंसे पकड़े गये मित्रगर्तदेशीय भट तिनकेकी नाईं ऊपरको घूमकर नीचे मस्तक हो भागनेके लिए पातालके अन्तस्तलमें प्रविष्ट हुए ॥ ४० ॥

मन्दानिलचलाम्भोधिभासुरे मागधे बले ।
निर्मग्ना वनिला मन्दाः पङ्के जीर्णगजा इव ॥ ४१ ॥
चेदयश्चेतनां जह्रुस्तङ्गणानां रणाङ्गणे ।
पुष्पाणां पथि शीर्णानां सौकुमार्यमिवाऽऽतपाः ॥ ४२ ॥
कौसलाः पौरवारावमसहन्तोऽन्तका इव ।
तैरुन्मुक्तगदाप्रासशरशक्त्यतिवृष्टयः ॥ ४३ ॥
बभूवुर्भल्लकृत्ताङ्गा विस्मया विद्रुमद्रुमाः ।
इवाऽद्रौ विद्रवन्त्यार्द्रसान्द्रासृक्सूर्यमूर्तयः ॥ ४४ ॥
नाराचौघमहाहेतिमारुताधूतमूर्तयः ।
बभ्रमुर्भ्रमरानीकभासुरा जलदा इव ॥ ४५ ॥
शरधाराधरा मेघाः शरोर्णापूर्णमेषकाः ।
शरपत्रावृता वृक्षा भ्रेमुस्तद्गर्जना गजाः ॥ ४६ ॥

मन्दगति वनिलदेशीय भट मन्द वायुसे अस्थिर हुए महासागरके तुल्य स्फूर्तिमान् मागधदेशकी सेनामें ऐसे निःशेषरूपसे मग्न हो गये जैसे कि कीचड़में बूढ़े हाथी मग्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

समरभूमिमें चेदिदेशीय भटोंने जैसे मार्गमें गिरे हुए फूलोंकी सुकुमारताको घाम हर लेता है वैसे ही तङ्गणदेशके भटोंकी चेतनाको हर लिया यानी उन्हें निष्प्राण बना दिया ॥ ४२ ॥

पौरवदेशके भटोंके शब्दका भी सहन न करनेवाले और उन्हें यमराजकी नाईं पीट रहे कोसलदेशवासियोंपर पौरवोंने गदाओं, भाले, बाणों, शक्तियोंकी अतिवृष्टि की ॥ ४३ ॥

उनमें से जो भालोंसे अङ्गोंके कटनेपर भी शत्रुओंके शौर्यके विषयमें किसी प्रकारके विस्मयसे रहित अतएव गीले और गाढ़े रुधिरसे बालसूर्य-से हुए, वे पर्वतमें मूँगेके वृक्षोंकी नाईं दौड़ते थे ॥ ४४ ॥

उममें से अर्द्धचक्राकार वाणोंके समूह आदि प्रबल हथियाररूप वायुसे जिनके शरीर कम्पित हो गये थे, वे भँवरोंके दलसे सुशोभित मेघोंकी नाईं घूमते थे ॥ ४५ ॥

वाणरूपी मूसलाधार वृष्टिकी धाराओंको धारण करनेवाले मेघोंके तुल्य, बाण-

वनराज्यजराजीर्णाः कन्दाकस्थलजन्तवः ।
अत्रुटन्परमाकृष्टाः पेलवा इव तन्तवः ॥ ४७ ॥
रथेषु ध्वस्तचक्रेषु निखातेऽमुत्र मूर्धसु ।
निपेतुर्जनसङ्घाता मेघा इव वनाद्रिषु ॥ ४८ ॥
शालतालवनं प्राप्य जनतावलनं वनम् ।
भुजावकर्तनं चासीदुत्तालं स्थाणुकाननम् ॥ ४९ ॥
ननर्दुर्नन्दनोद्यानसुन्दर्यो मत्तयौवनाः ।
वनोपवनदेशेषु मेरोर्वीरवराश्रिताः ॥ ५० ॥
तावत्ताराखं रेजे सैन्यकाननमुत्तमम् ।
यावन्न परपक्षेण प्राप्तं कल्पानलार्चिषा ॥ ५१ ॥

समूहरूपी ऊनसे परिपूर्ण भेड़ोंके सदृश, बाणव्यूहरूपी पत्तोंसे ढके हुए वृक्षों कोसलदेशवासियोंके बाणवृष्टिधारी अतएव गर्जनकारी हाथी घूमते थे ॥ ४६ ॥

वनराज्यनामक देशके भटोंसे निर्बल किये गये कन्दाकस्थलमें उत्पन्न हुए मनुष्य, हाथी आदि जन्तु खूब जोरसे खींचे गये कच्चे सूतकी नाईं टूट गये, छिन्न-भिन्न हो गये ॥ ४७ ॥

खाईरूपी गड्ढोंमें टकरानेसे रथोंके चक्रोंके टूटनेपर इन रथोंके मस्तकोंपर प्रहार करनेवाले शत्रुओंके समूह ऐसे टूटे जैसे वनपूर्ण पर्वतोंपर मेघ गिरते हैं ॥ ४८ ॥

शालका वन और तालका वन युद्धमें परस्पर दो जनसमूहोंके सम्मेलनसे महावनरूपमें परिणत युद्धस्थानको प्राप्त होकर और वहां बाहुच्छेदन और मस्तकच्छेदनको प्राप्त होकर क्रमशः ऊँचे तालवृक्षप्राय और स्थाणुओंका वन हुआ । भाव यह कि शालोंके चारों ओरकी शाखाओंके काटनेपर ताल सरीखे पेड़ हो जाते हैं और तालोंकी चोटी काट देनेसे स्थाणुता ही बच जाती है, अतः शालका वन जो तालवन बना और जो तालवन स्थाणुओंका वन बना वह ठीक ही बना ॥ ४९ ॥

उन्मत्त यौवनवाली नन्दन वनकी सुन्दरियाँ सुमेरु पर्वतके वन और उपवनोंमें वीरवर पुरुषोंसे संगत होकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥ ५० ॥

प्रचुर कोलाहल (सिंहनाद) से पूर्ण उत्तम सेनारूपी वन तभीतक शोभित हुआ जबतक कि प्रलयकालकी अग्निकी ज्वालाके सदृश ज्वालावाला शत्रुदल नहीं आया ॥ ५१ ॥

छिन्नाः पिशाचसंयुक्ता भूतापहृतहेतयः ।
पातयित्वा ययुः कर्णान्दशार्णास्तर्णका इव ॥ ५२ ॥
जहुर्भग्नेश्वराः कान्तिं ताञ्जिगीषवनौजसा ।
कासयः कमलानीव शुष्कस्रोतस्विनौजसा ॥ ५३ ॥
तुषाका मेखलैः कीर्णाः शरशक्त्यसिमुद्गरैः ।
विद्रुता नरकैः क्षिप्ताः कटकच्छलना अपि ॥ ५४ ॥
कौन्तक्षेत्राः प्रस्थवासैः स्थित्वा योधिभिरावृताः ।
गुणा इव खलाक्रान्ता गता व्यक्तमशक्तताम् ॥ ५५ ॥
द्विपयो बाहुधानानां क्षणेनाऽऽदाय मस्तकम् ।
भल्लैः पलाय्याऽऽशु गता विलूनकमला इव ॥ ५६ ॥
मिथः सारस्वता नीत्वा आदिनान्तं कृताजयः ।
पण्डिता इव वादेषु नोद्विग्ना न पराजिताः ॥ ५७ ॥

कामरूप आदि देशोंके भटोंके साथ, जिनमें पिशाचोंका आधिक्य था, युद्धके लिए संगत हुए दाशार्ण देशके भट पिशाचों द्वारा शस्त्रोंके हर लेने और घायल होनेपर बछवोंकी भाँति भागते हुए राहमें कर्णदेशके भटोंको मार कर निकल गये ॥५२॥

जिसने तालाबोंको भरनेवाले झरनोंको सुखा दिया ऐसे ग्रीष्म ऋतुके प्रभावसे जैसे कमल अपनी कान्तिको खो बैठते हैं वैसे ही ताञ्जिगीयवनदेशीय भटोंके प्रतापसे कासिदेशके भटोंने, जिनके कि स्वामी मर चुके थे, कान्ति खोदी ॥ ५३ ॥

मेखलदेशवासियोंने तुषाकदेशीय भटोंके ऊपर वाण, शक्ति, तलवार और मुद्गरोंकी वृष्टि की। नरकदेशीय भटों द्वारा शस्त्रास्त्रोंसे आक्रान्त कटकच्छलनदेशके भट भी भाग गये ॥ ५४ ॥

अपने स्थानमें ही बैठकर युद्ध करनेवाले धीर वीर प्रस्थवासदेशके वीरोंसे आवृत (घेरे गये) कौन्तक्षेत्रके भट दुष्ट पुरुषोंसे आक्रान्त सद्गुणोंकी नाईं अत्यन्त अशक्तताको प्राप्त हुए ॥ ५५ ॥

द्विपिदेशके भट, जिन्होंने कमल तोड़े हैं उन पुरुषोंकी नाईं, अपने भालोंसे बाहुधानदेशके भटोंके मस्तकको एक क्षणमें लेकर (काट कर) भागकर तुरन्त चले गये ॥ ५६ ॥

सरस्वती नदीके तीरवर्ती देशोंके भट शामतक लगातार परस्पर युद्ध करते हुए शास्त्रार्थमें पण्डितोंकी नाईं न तो श्रान्त हुए और न पराजित ही हुए ॥५७॥

खर्वगाः खदिताः क्षुद्रा यातुधानैः परावृताः ।
तेजःपरममाजग्मुः शान्ताग्नय इवेन्धनैः ॥ ५८ ॥
कियदाख्यायत एतज्जिह्वानिचयैर्विलालमाकुलितः ।
वासुकिरपि वर्णयितुं न समर्थो रणवरं राम ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जनपदवर्णनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमत्याकुले युद्धे सास्फोटभयसङ्कुले ।
आदित्ये तमसा वृद्धे चटत्कठिनकङ्कटे ॥ १ ॥

खर्वदेशवासी क्षुद्र भट यद्यपि भाग कर चले गये थे तथापि लङ्कामें रहनेवाले सहायभूत राक्षसों द्वारा परावर्तित हुए, फिर तो वे जैसे बुझी हुई अग्नि लकड़ियोंसे भड़क उठती है वैसे ही परम प्रतापको प्राप्त हुए ॥ ५८ ॥

श्रीवसिष्ठजी प्रस्तुत संग्रामवर्णनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—'कियद्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं कितना कहूँ, यह श्रेष्ठ संग्राम इतना विस्तृत है कि वासुकि (शेषनाग) भी आकुलतापूर्वक (शीघ्रतासे) अपनी दो हजार जिह्वाओंसे इसका पूर्ण वर्णन करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥ ५९ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

[सायंकालमें दोनों सेनाओंके युद्धसे निवृत्त होनेपर भूत-प्रेतोंसे भीषण और बीभत्स रणभूमिका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, भुजास्फोट करनेवाले विजयी वीरोंसे पराजित भटोंके त्राससे परिपूर्ण अतिभीषण संग्राममें अन्धकारके आगमनसे सूर्य भगवान्‌के वृद्ध होनेपर, शरीरके क्षतोंसे रुधिर प्रवाहको रोकनेवाले कठिन

वहत्यम्बूत्पतन्तीषु पतन्तीष्वश्मवृष्टिषु ।
नदीषु क्षेपणाच्छासु वरकेष्वब्जपङ्क्तिषु ॥ २ ॥
मिथः फलाग्रकाटोत्थवह्निसीकरिणीषु च ।
आयान्तीषु प्रयान्तीषु दूरं शरनदीषु च ॥ ३ ॥
वहल्लूनशिरःपद्मचक्रावर्तैस्तरङ्गितैः ।
खार्णवे पूरिते हेतिवृन्दमन्दाकिनीगणैः ॥ ४ ॥
समीरणरणत्काणशस्त्रपूर्णघनैर्घनैः ।
संदेहान्तेषु सिद्धेषु कपिकच्छव्यथाप्रदैः ॥ ५ ॥
अष्टभागदशाशेषप्रतापमधुराकृति ।
शस्त्रघातौजसा वीर इवाऽहस्तनुतां ययौ ॥ ६ ॥
श्रान्ताश्वेभाः प्रभग्नाश्च हेतिसङ्घातदीप्तयः ।
दिवसेन समं सेना ययुर्मन्दप्रतापताम् ॥ ७ ॥

लौह कवचोंके रुधिरक्लेदको बहानेपर, पत्थररूपी ओलोंसे स्वच्छ पाषाणवृष्टिके एक पक्षमें ऊपर जाने और दूसरे पक्षमें नीचे गिरनेपर, नदियोंमें कमलपङ्क्तियोंके संकुचित होनेपर, परस्पर फलके (बाणकी नोकमें लगे हुए लोहेके टुकड़के) अग्रभागमें हुए आघातसे उत्पन्न अग्निकणरूपी सीकरोंको (जलकणोंको) धारण करनेवाली बाणनदियोंके समीपमें आने और दूर जानेपर, आयुधोंकी राशिरूपी मन्दाकिनियोंसे, जिनमें कटे हुए सिररूपी पद्म बह रहे थे, जो चक्ररूपी आवर्तोंसे पूर्ण थीं और थीं तरङ्गयुक्त, आकाशरूपी सागरके भर जानेपर, वायुके समान शब्द कर रहे शस्त्रोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अत्यन्त निविड़ बैठनेकी जगहकी लालिमाको बढ़ानेके कारण वर्षा ऋतुके आरम्भके सन्देहसे वानरोंको काम-पीड़ा देनेवाले मेघोंसे सिद्धोंको प्रलयका सन्देह होनेपर, आठवें भागरूप अवस्थामें शेष रहे स्वल्पप्रतापसे सौम्य आकारवाला (प्रचण्डतारहित) दिन शस्त्रोंके प्रहारोंसे हुई लालकान्तिसे वीरकी नाईं तनुता (क्षीणता) को प्राप्त हुआ ॥ १–६ ॥

सेनाएँ, जिनके घोड़े और हाथी थक गये थे और हथियारोंकी कान्ति क्षीण हो गई थी, दिनके साथ ही मन्दप्रतापवाली हो गईं यानी जैसे दिनका प्रताप मन्द हुआ वैसे ही सेनाओंका प्रताप भी मन्द पड़ गया ॥ ७ ॥

अथ सेनाधिनाथाभ्यां विचार्य सह मन्त्रिभिः ।
दूताः परस्परं वृत्ता युद्धं संह्रियतामिति ॥ ८ ॥
तत्र श्रमवशान्मन्दयन्त्रशस्त्रपराक्रमैः ।
रणसंहरणं काले सर्वैरेवोररीकृतम् ॥ ९ ॥
ततो महारथोत्तुङ्गकेतुप्रान्तकृतास्पदम् ।
बलयोरारुरोहैक एको योधो ध्रुवो यथा ॥ १० ॥
सोंऽशुकं भ्रामयामास सर्वदिङ्मण्डले सितम् ।
श्यामेव दीर्घशुद्धांशुं युद्धं संह्रियतामिति ॥ ११ ॥
ततो दुन्दुभयो नेदुः प्रतिध्वनितदिङ्मुखाः ।
महाप्रलयसंशान्तौ पुष्करावर्तका इव ॥ १२ ॥
शरादिहेतिसरितो विस्तीर्णे गगने स्थिताः ।
प्रवृत्ताः सुखमागन्तुं सरसः सरितो यथा ॥ १३ ॥
योधदोर्द्रुमसंचारस्तनुतामाययौ शनैः ।
भूकम्पान्ते वनस्पन्द इवाऽऽभ्रान्त इवाऽर्णवः ॥ १४ ॥

तदुपरान्त सेनापतियोंने मन्त्रियोंके साथ विचार कर एक दूसरेके पास रण बन्द करनेके लिए दूत भेजे ॥ ८ ॥

रणभूमिमें श्रमवश सभीके यन्त्र, शस्त्रास्त्र तथा पराक्रम मन्द पड़ गये थे, सभीने समयपर रणसमाप्तिका अनुमोदन किया ॥ ९ ॥

तदुपरान्त दोनों सेनाओंका एक एक योद्धा महान् रथके पताकादण्डकी चोटीपर रक्खे हुए लम्बे बांसके खम्भेपर ध्रुवकी नाईं चढ़ा ॥ १० ॥

जैसे रात्रि सम्पूर्ण दिशाओंमें किरणोंसे विशाल शुभ्र चन्द्रमाको घुमाती है, वैसे ही उसने चारों ओर सफेद वस्त्र हिलाया जो 'युद्ध बन्द कीजिये' इसका सूचक था ॥ ११ ॥

तदुपरान्त महाप्रलयकी निवृत्ति होनेपर पुष्करावर्तनामक मेघोंकी नाईं दुन्दुभियां बजने लगीं, उनके निनादसे सम्पूर्ण दिङ्मण्डल मुखरित हो उठा ॥१२॥

विशाल आकाशमण्डलमें स्थित बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी नदियाँ मानस-सरोवरसे सरयू आदि नदियोंकी नाईं बेरोकटोक गिरने लगीं ॥ १३ ॥

जैसे भूकम्पके पश्चात् वनस्पन्द मन्द पड़ जाता है और जैसे शरद् ऋतुमें

विनिर्गन्तुं प्रववृते रणादथ बलद्वयम् ।
वारिपूरश्चतुर्दिक्षु प्रलयैकार्णवादिव ॥ १५ ॥
उत्क्षिप्तमन्दरक्षीरसमुद्रवदनाकुलम् ।
सैन्यं प्रशाम्यदावर्तं शनैः साम्यमुपाययौ ॥ १६ ॥
क्रमेणाऽऽसीन्मुहूर्तेन विकटोदरभीषणम् ।
अगस्त्यपीतार्णववच्छून्यमेव रणाङ्गणम् ॥ १७ ॥
शवसन्ततिसंपूर्णं वहद्रक्तनदाकुलम् ।
परिकूजनझङ्कारपूर्णझिल्लीवनोपमम् ॥ १८ ॥
वहद्रक्तसरित्स्रोतस्तरङ्गारवघर्घरम् ।
साक्रन्दार्धमृताहूतसप्राणव्यग्रमानवम् ॥ १९ ॥
मृतार्धमृतदेहौघस्रुतासृक्प्लुतनिर्झरम् ।
सजीवनरपृष्ठस्थशवस्पन्दनभ्रान्तिदम् ॥ २० ॥

समुद्रका लहराना कम हो जाता है, वैसे ही वीर योद्धाओंके बाहुरूपी वृक्षोंका संचार धीरे धीरे मन्द हो गया ॥ १४ ॥

तदनन्तर जैसे प्रलयके अन्तमें प्रलयकालीन एकमात्र समुद्रसे जलप्रवाह चारों दिशाओंमें बहता है, वैसे ही दोनों सेनाएँ रणभूमिसे निकलने लगीं ॥ १५ ॥

जिससे मन्दराचल निकाला गया है, ऐसे क्षीर समुद्रके समान प्रशान्त और आवर्तोंसे (जलभौंरियोंसे) रहित सेना धीरे धीरे अव्याकुलताको प्राप्त हुई ॥१६॥

थोड़ी देरमें जैसे जैसे सैनिक निकलते गये, वैसे वैसे रणभूमि पूतनेश्वरीके पेटके समान भीषण और अगस्तमुनि द्वारा पिये गये सागरके समान शून्य (रिक्त) ही हो गई ॥ १७ ॥

सारी रणभूमि मुर्दोंसे पटी थी, जहां तहां रुधिरके नद बह रहे थे, घायल एवं मरणासन्न सैनिकोंके रोदन और कराहनेसे वह पूर्ण थी अतएव वनमक्खियोंकी भनभनाहटसे भरे हुए वनमक्खियोंके वनके सदृश लगती थी, बह रहीं रुधिर-नदियोंके प्रवाह और तरङ्गोंके शब्दसे उसमें घर घर ध्वनि हो रही थी, रो रहे, चिल्ला रहे अधमरे लोगों द्वारा पुकारे गये जीवित पुरुष बड़े व्यग्र थे, मरे हुए और अधमरे लोगोंके शरीरोंसे चू रहे खूनके झरने बह रहे थे, सजीव (अधमरे) पुरुषोंकी पीठमें पड़े हुए शवों (मुर्दों) में स्पन्दनका भ्रम होता

करीन्द्रशवराश्यग्रविश्रान्ताम्बुदखण्डकम् ।
विशीर्णरथसङ्घातं वातच्छिन्नमहावनम् ॥ २१ ॥
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानहयद्विपम् ।
शरशक्त्यृष्टिमुसलगदाप्रासासिसङ्कुलम् ॥ २२ ॥
पर्याणावनसन्नाहकवचावृतभूतलम् ।
केतुचामरपट्टौघगुप्तं शवशरीरकम् ॥ २३ ॥
फणास्फुटकतूणीरकुञ्जकूजत्समीरणम् ।
शवराशिपलालौघतल्पसुप्तपिशाचकम् ॥ २४ ॥
मौलिहाराङ्गदद्योतशक्रचापवनावृतम् ।
श्वशृगालकराकृष्टसान्द्रान्त्रादीर्घरज्जुकम् ॥ २५ ॥
रक्तक्षेत्रक्वणत्किञ्चिच्छेषजीवनृदन्तुरम् ।
रक्तकर्दमनिर्मग्नसजीवनरदर्दुरम् ॥ २६ ॥

था, मत्त मातङ्गोंके शवोंके ढेरकी चोटीपर मेघखण्ड विराजमान थे, वहां अनेक रथ जहां तहां बिखरे थे, अतएव वह रणस्थल उस महावनके तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें आंधीसे वृक्ष ढह गये हों, वहां बह रही रुधिरनदीके प्रवाहमें हाथी, घोड़े बह रहे थे, बाण, शक्ति, ऋष्टि, मुसल, गदा, भाले और तलवारोंसे सारी रणभूमि पटी थी, काठी, शरीरके रक्षक चमड़ेके टुकड़े और कवचोंसे सारा भूतल व्याप्त था, शवोंके शरीर, पताका, चँवर और घाव बाँधनेकी पट्टियोंसे आच्छन्न था, साँपकी फनके समान जिनका आगेका हिस्सा ऊँचा था और जिनमें चलनीके समान चारों ओर छिद्र किये गये थे ऐसे तरकसोंमें वायु इस प्रकार शब्द करता था जैसे कि कीचककी (एक प्रकारके बाँसकी) झड़ियोंमें करता है, वहांपर पिशाच शवोंकी राशिरूप पुआलके बिछौनेपर सोये थे ॥१८–२४॥

सिरपर धारण किये हुए शिरोरत्नों और अङ्गदों (बाजू-बन्दों) की जगमगाहटसे सैकड़ों इन्द्रधनुष उसके चारों ओर उगे थे, कुत्ते और सियार अपने पञ्जोंसे खूनसे लथपथ अँतड़ीरूपी लम्बी रस्सीको खींच रहे थे, जिनका जीवन कुछ कुछ शेष है, ऐसे दाँत चिंआरे हुए पुरुष वहांपर रुधिरसे परिपूर्ण खेतमें घर् घर शब्द कर रहे थे, सजीव नररूपी मेंढक रुधिरके कीचड़में सर्वथा निमग्न

वराङ्गकवचप्रख्यनिर्गताक्षिशतोच्चयम् ।
वहद्भुजोरुकाष्ठौघघोररक्तसरिच्छतम् ॥ २७ ॥
साक्रन्दबन्धुवलितं मृतार्धमृतमानवम् ।
शरायुधरथाश्वेभपर्याणासंवरान्तरम् ॥ २८ ॥
नृत्यत्कबन्धदोर्दण्डमण्डलानमिताम्बरम् ।
मदमेदोवसागन्धपीडार्द्रघ्राणकोटरम् ॥ २९ ॥
उत्तालवर्धमृतेभाश्ववार्यमाणाल्पजीवितम् ।
वहद्रक्तनदीवीचिप्रहारहतदुन्दभि ॥ ३० ॥
उह्यमानमृतेभाश्वमकरासृक्सरिच्छतम् ।
म्रियमाणनरानीकफूत्कृतासृक्प्रणालिकम् ॥ ३१ ॥
स्वल्पजीवशरापूर्णमुखदृक्कान्तितस्वनम् ।
पिण्डभार्यावसागन्धवातान्तोत्पीठलोहितम् ॥ ३२ ॥

थे, चित्रकञ्चुकके सदृश सैंकड़ों आँखोंके समूह वहांपर निकले हुए पड़े थे, वहांपर सैकड़ों रक्तनदियाँ बह रही थीं जो भुजा और जङ्घा रूपी काष्ठसमूहसे बड़ी भीषण थीं, रो रहे बन्धुओंसे सारी रणभूमि व्याप्त थी, जहां देखो वहीं मरे और अधमरे मनुष्योंका ढेर लगा था, वाण, अस्त्र-शस्त्र, रथ, घोड़े, हाथी और काठियोंसे सारी रणभूमि आच्छन्न थी, वहाँ नांच रहे कबन्धोंके बाहुदण्डमण्डलसे आकाशमण्डल नीचा किया गया था, हाथियोंके मद, मेदा और वसाके गन्धसे नाकमें पीड़ा होती थी और नाक बहने लगती थी, जिन्होंने अपने तालु (जबड़े) ऊपरको किये थे ऐसे अधमरे हाथी और घोड़ोंसे अपने अल्पजीवितकी रक्षा की जा रही थी, बह रही रुधिरनदीकी लहरोंके प्रहारसे नगाड़े बज रहे थे, मरे हुए हाथी एवं घोड़े रूपी मगर खूनकी सैकड़ों नदियोंमें ऊपर तैर रहे थे, वहांपर मर रहे नरोंके फूत्कारसे मुखमें भरे हुए खूनके फव्वारे बाहर निकाले जा रहे थे, जिनका जीवन थोड़ा शेष है और मुँह और नेत्रोंमें बाण भरे हुए हैं, ऐसे लोग वहांपर रो-चिल्ला रहे थे, वहांपर खून पिण्डभार्याके *वसाकी दुर्गन्धिसे युक्त और वायु लगनेसे घनीभूत हुआ था, ऊपरकी ओर सूँड़ किये हुए अधमरे

* पेटकी बाईं ओर स्थित एक मांसकी ग्रन्थि पिण्डभार्या कही जाती है ।

उन्नासार्द्धमृतेभेन्द्रकराक्रान्तकबन्धकम् ।
निरधिष्ठितहस्त्यश्वपातितोच्चकबन्धकम् ॥ ३३ ॥
रुदत्क्रन्दत्परिभ्रष्टशवक्षुब्धासृगुद्धति ।
मृतभर्तृगलेशस्त्रत्यक्तप्राणकुलाङ्गनम् ॥ ३४ ॥
सेनोत्क्रान्ततताक्षिप्रबहुपान्थपरीक्षणम् ।
शवहारकराकृष्टसप्राणानुचराकुलम् ॥ ३५ ॥
केशशैवालवक्त्राब्जचक्रावर्तनदीशतम् ।
तरत्तुङ्गतरङ्गाढ्यवहद्रक्तमहानदम् ॥ ३६ ॥
अङ्गलग्नायुधोद्धारव्यग्रार्द्धमृतमानवम् ।
विदेशमृतसाक्रन्दहुताङ्गगजवाजिनम् ॥ ३७ ॥
प्राणान्तस्मृतपुत्रेष्टमातृदेवपराभिधम् ।
हाहाहीहीतिकथितमर्मच्छेदनवेदनम् ॥ ३८ ॥

गजराजोंके सूँड़ोंसे कबन्ध आक्रान्त थे, सवारोंके मर जानेके कारण अनियन्त्रित (नियन्त्रणरहित) हाथी और घोड़ोंने ऊँचे ऊँचे कबन्धोंको गिरा दिया था, रो रहे, चिल्ला रहे और गिर रहे शवोंसे खूब खून उछल रहा था, मरे हुए पतिके गलेमें आलिङ्गन करके स्थित कुलाङ्गनाओंने दैवात् प्राप्त शस्त्रघातसे प्राण-त्याग किया था, अग्निसंस्कार आदिके योग्य शवोंके लानेके लिए स्वामीका आदेश पाकर शिविरोंमें प्रविष्ट सेनामें से गये हुए रणभूमिमें अलग-अलग प्रवेश करनेमें भयभीत होनेके कारण इकट्ठे हुए बड़ी जल्दीसे कार्य कर रहे बहुतसे बटोहियोंने अपने-अपने आत्मीयोंके शवोंको वहाँपर पहचाना। शवोंको ले जाने-वाले लोगोंकी स्वाभीष्टशवान्वेषणत्वरासे सारी रणभूमि, जिन्होंने अपने हाथोंसे सजीव लोगोंको खींचा है ऐसे भृत्योंसे, व्याप्त थी ॥ २५–३५ ॥

वहाँपर सैकड़ों रुधिर-नदियाँ बह रही थीं, उनमें केश ही सिवार थे, मुख ही कमल थे, चक्र ही आवर्त थे। रक्तके महानद बह रहे थे जो ऊपर तैर रहीं बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे पूर्ण थे, अधमरे मनुष्य शरीरमें लगे हुए हथियारोंको निकालनेमें व्यग्र थे, विदेशमें मरे हुए लोगोंके अङ्गभूषण, हाथी और घोड़े शोकसे रोदनपूर्वक दिये गये थे। वहांपर लोग मरते समय पुत्र, इष्ट मित्र, माता, देवता और परमेश्वरका स्मरण करते थे, 'हा हा-ही ही'- आदि कराहना मर्मपीड़ाको

म्रियणाणमथौजिष्ठद्विष्टप्रारब्धसंचयम् ।
दन्तियुद्धासमर्थाग्रमृतदेहेष्टदैवतम् ॥ ३९ ॥
म्रियमाणमहावज्ञाशूराश्रितपलायनम् ।
अशङ्कितासृगावर्तभीमास्पदगमोत्सुकम् ॥ ४० ॥
मर्मच्छेदशराघातव्यथाविदितदुष्कृति ।
कबन्धबन्धप्रारब्धवेतालवदनाक्रमम् ॥ ४१ ॥
उह्यमानध्वजच्छत्रचारुचामरपङ्कजम् ।
किरत्सन्ध्यारुणं दिक्षु तेजस्कं रक्तपङ्कजम् ॥ ४२ ॥
रथचक्रधरावर्तं रक्तार्णवमिवाऽष्टमम् ।
पताकाफेनपुञ्जाढ्यं चारुचामरबुद्बुदम् ॥ ४३ ॥
विपर्यस्तरथं भूमिपङ्कमग्नपुरोपमम् ।
उत्पातवातनिर्धूतद्रुमं वनमिवाऽऽततम् ॥ ४४ ॥

सूचित करता था, पराक्रम दर्शाये बिना ही मर रहे दुर्भाग्यसे आक्रान्त कितने ही शूरवीर अपने भाग्यको कोस रहे थे, हाथियोंके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हाथियोंके आगे स्थित मृतप्राय शरीरवाले योद्धा कहीं कुचल न जावें, इस भयसे देवताओंकी प्रार्थना करते थे ॥ ३६–३९ ॥

मर रहे भटोंपर अशूर लोगोंने पादाघातादिरूप महती अवज्ञासे जो अपराध किया, उससे वे भाग रहे थे, अतएव वे रुधिरके आवर्तोंसे युक्त होनेके कारण भीषणतम स्थानोंमें भी बिना किसी हिचकके जानेको तयार थे ॥ ४० ॥

मर्मच्छेदन करनेवाले बाणोंके प्रहारसे उत्पन्न पीड़ासे जन्मान्तरोंकी पापराशिका अनुमान होता था, भाग रहे कबन्धोंको बाँधकर वेतालोंने रुधिरपानके लिए अपने मुखोंको प्रवृत्त किया था, रुधिरके बड़े-बड़े तालाबोंमें तैर रहे छत्र, ध्वज और सुन्दर चँवर ही वहांपर कमल थे, रक्तके तालाबोंमें संध्याकालकी लालिमाके प्रतिबिम्बित होनेपर लाल तेजसमूहरूप रक्त कमलको वह (समरभूमि) चारों ओर बखेर रही थी ॥ ४१,४२ ॥

वह रणभूमि क्या थी, आठवाँ रुधिरपूर्ण समुद्र था, रथ और रथोंके पहिये उसमें क्रमशः पर्वत और आवर्त (भौरी) थे, पताकारूपी फेन-समूहसे वह युक्त था, सुन्दर चँवर ही उसमें बुद्बुद (बुल्ले) थे। उसमें रथ औंधे गिरे हुए थे, अतएव

कल्पदग्धजगत्प्रख्यं मुनिपीतार्णवोपमम् ।
अतिवृष्टिहतं देशमिव प्रोज्झितमानवम् ॥ ४५ ॥
कलापकुन्तवलितं भुशुण्डीमण्डलाकुलम् ।
मत्तनागशताकारशवतोमरमुद्गरम् ॥ ४६ ॥
शिलाशिखरसञ्जाततालजालमिवाऽऽततम् ।
तरङ्गकनदीतीरजातकुन्तोन्नतद्रुमम् ॥ ४७ ॥
नागांसस्यूतहेत्योघवृक्षांशुकुसुमाकुलम् ।
कङ्ककृष्टान्त्ररसनावृन्दजालकिताम्बरम् ॥ ४८ ॥
असृक्सरित्तीरजातकुन्तोन्नतवनद्रुमम् ।
असृक्सरोवरोर्ध्वस्थपताकानलिनीगणम् ॥ ४९ ॥

वह भूमिके कीचड़में धँसे हुए नगरके तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें उत्पात वायुसे (भीषण अन्धड़से) वृक्ष तोड़े-मरोड़े गये हों, ऐसे घने वनके समान, प्रलयकालमें जले हुए जगत्के सदृश और महामुनि श्रीअगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्रके समान लगता था, अतिवृष्टिसे उजड़े हुए देशके तुल्य उससे मनुष्य हट गये थे ॥ ४३–४५ ॥

आभूषणों, बाणों और भालोंसे सारा युद्धस्थल व्याप्त था, भुशुण्डीके समूहोंका वहां चारों ओर ढेर लगा था, वहांपर सैकड़ों मदोन्मत्त हाथियोंके आकारके मुर्दे और सैकड़ों महान् अजगरोंके आकारके तोमर और मुद्गर थे ॥ ४६ ॥

बह रही रुधिरकी नदीके अगल बगल लगे हुए मुर्दोंपर गड़े हुए कुन्त ही उन्नत वृक्ष थे, वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो चट्टानोंके ऊपर उगे हुए घने तालके झुरमुट हों ॥ ४७ ॥

हाथियोंके विभिन्न अङ्गोंमें चुभे हुए हथियारोंके समूहरूपी वृक्षोंके किरण-रूपी फूल वहांपर जहां तहां बिखरे थे, सफेद चीलों द्वारा खींची गई अंतड़ीरूपी रस्सियोंसे युद्धभूमिका आकाशमण्डल मानों जालोंसे छा गया था ॥ ४८ ॥

रुधिरकी नदीके तीरपर लगे हुए ऊँचे ऊँचे भाले ही उसमें ऊँचे ऊँचे वनवृक्ष थे और रुधिरके कुण्डोंके ऊपर स्थित पताकाएँ ही कमलवृन्द थे ॥ ४९ ॥

रक्तकर्दमनिर्मग्ननराहूतसुहृज्जनम् ।
करीन्द्रकुणपापातनिर्यद्भग्नजनेक्षितम् ॥ ५० ॥
हेतिलूनलतैर्वृक्षैः सन्दिग्धार्धकबन्धकम् ।
असृङ्नदीवहद्धस्तिकटकर्पटनौगणम् ॥ ५१ ॥
रक्तस्रोतःस्फुरच्छुक्लवस्त्रडिण्डीरपिण्डकम् ।
सञ्चारनियतक्षिप्रभृत्यविच्छिन्नमानवम् ॥ ५२ ॥
इतश्चेतश्च निपतत्कबन्धनवदानवम् ।
ऊर्ध्वस्थूलाक्षचक्रौघच्छिन्नसैन्यद्रवज्जनम् ॥ ५३ ॥
रक्तनिःस्वनभाङ्कारफेत्कारार्धमृतारवम् ।
शिलासुखललद्रक्तधाराधूतरजःखगम् ॥ ५४ ॥
सुतालोत्तालवेतालतालताण्डवसङ्कटम् ।
पर्यस्तरथदार्वन्तरद्धान्तरितसङ्कटम् ॥ ५५ ॥

रुधिरके कीचड़में फँसे हुए जन अपने अपने मित्रोंको पुकारते थे। मत्त मातङ्गोंके शवोंसे कुछ निकले हुए अंगभग्न लोगों द्वारा युद्धभूमि कातर दृष्टिसे देखी गई थी, हथियारोंसे जिनकी लताएँ कट गई थीं ऐसे वृक्षोंसे कबन्धोंका सन्देह होता था, रुधिरकी नदियोंमें बह रहे हाथियोंके मस्तक और अम्बारी ही वहाँपर नौकाएँ थीं ॥ ५०, ५१ ॥

रुधिरके प्रवाहमें चमक रहे सफेद वस्त्र ही वहांपर फेन समूह था, चलनेके लिए आज्ञप्त और शीघ्रता करनेवाले भृत्यों द्वारा वहांपर मनुष्य पहिचाने जा रहे थे ॥ ५२ ॥

कबन्ध और नये नये दानव इधर उधर गिर रहे थे। ऊपरको खड़े हुए बड़े बड़े छेदवाले चक्रोंके समूह द्वारा सेनासे भाग रहे पुरुष काटे गये थे। वहांपर रुधिरके शब्दसे युक्त 'भन् भन्' और 'फूत्कार' रूप अधमरे प्राणियोंके शब्द हो रहे थे, चील आदि पक्षी शिलाओंपर गिर रही रक्तधाराको पीनेके लिए अपने परोंकी धूलि उड़ा रहे थे ॥ ५४ ॥

वहांपर सुन्दर ताड़के वृक्षोंके समान और ताड़से भी ऊँचे वेतालोंने ताल-शब्दके साथ ताण्डव नृत्य आरम्भ कर दिया था अतएव वह स्थान और संकट

अन्तस्थसज्जीवभटस्पन्दिस्पन्दनभीतिदम् ।
रक्तकर्दमपूर्णास्यकिञ्चिज्जीवकृपाच्छवम् ॥ ५६ ॥
किञ्चिज्जीवनरोद्ग्रीवदुःखदृष्टश्ववायसम् ।
एकामिषोत्कक्रव्यादयुद्धकोलाहलाकुलम् ॥
एकामिषार्थयुद्धेहामृतक्रव्यादसङ्कुलम् ॥ ५७ ॥
विवृत्तासंख्याश्वद्विरदपुरुषाधीश्वररथ- ।
प्रकृत्तोष्ट्रग्रीवाप्रसृतरुधिरोद्गारसुसरित् ॥
रणोद्यानं मृत्योस्तदभवदशुष्कायुधलतम् ।
सशैलं कल्पान्ते जगदिव विपर्यस्तमखिलम् ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आहववर्णनं नाम अष्टत्रिंशः सर्गः ॥३८॥

पूर्ण हो गया था, औंधे गिरे हुए (अस्तव्यस्त) रथोंकी लकड़ियोंके अन्दर जीवित भट थोड़ा बहुत छिपे हुए थे ॥ ५५ ॥

शवोंके ढेरके अन्दर विद्यमान जीवित भटसे स्पन्दयुक्त शव वहांपर स्पन्दनकी भीति देते थे, यानी मालूम होता था कि शवमें स्पन्दन क्रिया हो रही है। रुधिरके कीचड़से जिनका मुँह भरा था और थोड़ासा जीवन जिनमें शेष था, ऐसे शवोंपर वहां बड़ी तरस आती थी ॥ ५६ ॥

जिन भटोंमें कुछ ही जीवन शेष था, उन्होंने खानेके लिए गर्दन उठाये हुए कुत्ते और कौओं को बड़े क्लेशसे देखा यानी उन्हें भक्षणोन्मुख देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, जहां तहां एक ही मांसपिण्डको खानेके लिए उत्सुक कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि का युद्ध एवं तज्जनित कोलाहल हो रहा था और जहां तहां एक ही मांस-पिण्डके लिए युद्धेच्छासे मरे हुए मांसाहारी जीव कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि बिखरे पड़े थे ॥ ५७ ॥

वह रणभूमि क्या थी मृत्युकी उद्यान थी। मर कर इधर उधर गिरे हुए असंख्य घोड़े, हाथी, नर, नरपति, रथ और काटी गई ऊटोंकी गरदनोंसे निकली हुई रुधिरके प्रवाहसे सुन्दर अनेक नदियां वहांपर बह रही थीं, खूनसे लथ पथ

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वीर इवाऽऽरक्तः कालेनाऽस्तमितो रविः ।
अस्त्रतेजःपरिम्लानप्रतापोऽब्धौ समुज्झितः ॥ १ ॥
रणरक्तरुचिर्व्योमदर्पणप्रतिबिम्बिता ।
जहौ सूर्यशिरश्छेदे सन्ध्यालेखोदभूत्क्षणम् ॥ २ ॥
भूपातालनभोदिग्भ्यः प्रलयाब्धिजलौघवत् ।
समाजग्मुस्तनत्ताला वेताला वलया इव ॥ ३ ॥

(गीले) हथियार ही लताएँ थीं । उक्त रणोद्यान प्रलयकालमें शैलयुक्त जगत्के समान सम्पूर्ण विध्वस्त हो गया था ॥ ५८ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तालीसवाँ सर्ग

[सूर्यके अस्तमयका, राक्षस और वेतालोंसे परिपूर्ण सन्ध्याका और रात्रिमें अत्यन्त बीभत्स रणभूमिका वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे जिसका पराक्रम मन्द पड़ गया है, ऐसे रक्तसे लथपथ वीरके समान स्वच्छ आकाशमें मन्द प्रतापवाले अस्ताचलोन्मुख अतएव लाल सूर्यको कालने समुद्रमें डुबा दिया ॥ १ ॥

पहले आकाशरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित रणभूमिके रुधिरकी कान्तिने सूर्यरूप अश्वारोहीका सिर कटनेपर आकाशका त्याग कर दिया । क्षणभरके लिए सन्ध्याने आगमन किया ॥ २ ॥

पृथिवी, पाताल, आकाश और दशों दिशाओंसे प्रलयकालके समुद्रकी जलराशिके तुल्य वेताल आये, जो सम्पूर्ण दिशाओंका परिवेष्टन करनेसे वलयाकार प्रतीत होते थे और खूब करताल बजा रहे थे ॥ ३ ॥

मृष्टध्वान्तासिवलिते दिननागेन्द्रमस्तके ।
सन्ध्यारागारुणं कीर्णं तारानिकरमौक्तिकम् ॥ ४ ॥
निःसत्त्वेषु तमोन्धेषु रसना रसशालिषु ।
संकोचमाययुः पद्मा मृतानां हृदयेष्विव ॥ ५ ॥
मीलत्पक्षाः क्षणात्सुप्ताः कृच्छ्रप्रोच्छ्रितकन्धराः ।
कुलायेषु खगा आसञ्छवाङ्गेष्विव हेतयः ॥ ६ ॥
आसन्नचन्द्रसुभगा लोकाः कुसुमपङ्क्तयः ।
उल्लसद्धृदया जाता वीरपक्षेष्विव श्रियः ॥ ७ ॥
रक्तवारिमयी सायमङ्गगुप्तशिलीमुखा ।
संकुचद्वक्त्रपद्माऽभूद्रणभूमिरिवाऽब्जिनी ॥ ८ ॥

सानमें रखकर खूब तेज की गई अन्धकाररूपी तलवारसे दिनरूपी गजराजका मस्तक काटनेपर सन्ध्यारागरूपी रुधिरसे लाल तारामण्डलरूपी गजमौक्तिक बिखर पड़े ॥ ४ ॥

जैसे प्राणरहित, मोहसे अन्धकारमय और जीवनावस्थामें जीवनसे प्रेम करनेवाले मृतकोंके हृदयोंमें प्राणों द्वारा शब्दायमान कमल संकोचको प्राप्त होते हैं, वैसे ही हंस आदि जीव जिनसे हट गये हैं, अन्धकारसे अन्धे बने हुए जलपूर्ण तालाबोंमें पहले भँवर आदिके कारण शब्द कर रहे कमल संकोचको प्राप्त हो गये ॥ ५ ॥

जिनके पर देहसे सटे थे और जो क्लेशसे ऊपरको अपनी गर्दन किये थे, ऐसे पक्षीगण मृत भटोंके शरीरोंमें आयुधोंकी नाईं घोसलोंमें क्षणभरमें निद्रादेवीकी गोदमें पहुँच गये थे ॥ ६ ॥

जैसे वीरोंके पक्षमें विजयलक्ष्मीका हृदय खिल जाता है, वैसे ही समीपवर्ती चन्द्रमाके सुन्दर आलोक (चाँदनी) से युक्त कुमुद आदि फूलोंका हृदय खिल उठा ॥ ७ ॥

जैसे रणभूमि रुधिररूपी जलसे परिपूर्ण होती है, उसमें भटोंके अङ्गोंमें बाण छिपे रहते हैं और मुखरूपी कमल म्लान रहते हैं, वैसे ही कमलोंके तालाब सन्ध्याकी लालिमाके प्रतिबिम्बित होनेसे लाल जलसे भरे थे, कमलोंमें भँवर बन्द थे और उनके मुखके तुल्य कमल संकुचित हो गये थे ॥ ८ ॥

उपर्यभूद् व्योमसरस्ताराकुमुदमण्डितम् ।
अधस्त्वभूद्वारिसरः स्फुरत्कुमुदतारकम् ॥ ९ ॥
तमस्यपेतभीतानि भूतानि मिलितान्यलम् ।
पयांसीव विसेतूनि प्रसृतानि दिशं प्रति ॥ १० ॥
आसीद्रणाङ्गणं गायद्वेतालकुलसंकुलम् ।
क्वणत्कङ्कालकाङ्कस्थकङ्ककाकोलकेलिमत् ॥ ११ ॥
अथ काष्ठचिताज्वालसताराम्बरभास्वरम् ।
पचत्पचपचाशब्दिमेदोमांसमयानलम् ॥ १२ ॥
सर्वाङ्गास्थिस्फुटास्फोटस्फुटच्चितिचयोन्मुखम् ।
वेताललनारब्धजललीलातिरोहितम् ॥ १३ ॥
श्वकाकयक्षवेतालतालकोलाहलोल्बणम् ।
गमागमेन भूतानां समुड्डीनवनोपमम् ॥ १४ ॥
रक्तमांसवसामेदोहरणव्यग्रडाकिनि ।
चर्वितासृग्वसामांसस्रवत्सृक्किपिशाचकम् ॥ १५ ॥

ऊपर आकाशरूपी तालाब तारारूपी कुमुदोंसे (कुंइयोंसे) विभूषित हुआ और नीचेका जलतालाब कुमुदरूपी ताराओंसे चमकने लगा ॥ ९ ॥

जैसे बांधसे रहित जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे ही अन्धकारमें पहले बिछुड़े हुए फिर मिलनेपर भी पहिचान न सकनेके कारण एक दूसरेसे डरे हुए जीव चारों ओर भागते थे ॥ १० ॥

रणस्थली गा रहे वेतालोंके झुण्डसे परिपूर्ण थी और उसमें जहां-तहां नर-कङ्कालोंके अंकमें बैठे हुए और बांस रहे सफेद चील और कौए अठखेलियां करते थे ॥ ११ ॥

रणभूमिमें काष्ठकी अनेक चिताएँ जल रही थीं, उनकी ज्वालाओंसे युक्त वह तारागणोंसे परिवेष्टित आकाशमण्डलके समान दमक रही थी, वहांपर पक रहे तथा पच-पच शब्द कर रहे मेदा और मांससे पूर्ण अग्नि थी, सर्वाङ्गकी हड्डियोंके टूटनेसे शब्द करती हुई अनेक चिताएँ वीरोंकी नाई प्रधानरूपसे प्रकाशमान थीं, वेतालोंकी स्त्रियां जल-क्रीड़ाओंकी तरह चिताओंमें छिप रही थीं। वह कुत्ते, कौए, यक्ष और वेतालोंके कर्णकटु कोलाहलोंसे भीषण थी, प्राणियोंके गमन और आगमनसे उड़ते हुए वनोंकी तरह थी, डाकिनियां वहांपर

मध्यमध्यचितालोकप्रकटासृक्शवव्रजम् ।
विरूपिकानीयमानस्वांसन्यस्तमहाशवम् ॥ १६ ॥
उत्ताण्डवोग्रकुम्भाण्डमण्डलोड्डामरोदरम् ।
छमिच्छमित्प्रलापान्तं मेदोसृग्बाष्पसाम्बुदम् ॥ १७ ॥
वहद्रक्तनदीरंहोरूढभूचररूपिकम् ।
वेतालकुलकङ्कालकर्षणाकुलकाकलम् ॥ १८ ॥
मृतेभोदरमञ्जूषासुप्तवेतालबालकम् ।
विविक्तैकरणोद्देशपानक्रीडास्थराक्षसम् ॥ १९ ॥
मत्तवेतालकलहचितालातरणोज्ज्वलम् ।
वहद्रक्तवसामिश्रगन्धबन्धुरमारुतम् ॥ २० ॥
रूपिकापेटिकावान्तारणद्रटरटारवम् ।
अर्धपक्वशवास्वादलुब्धयक्षोल्लसत्कलि ॥ २१ ॥

रुधिर, मांस, चर्बी और मेदाके हरणमें व्यग्र थीं। वहांपर पिशाचोंने जो मांस खाया था, वह उनके ओठोंसे गिर रहा था, बीच-बीचकी चिताओंमें पिशाचों द्वारा खूनसे भरे हुए शव देखे जा रहे थे, पूतनाएँ अपने गोदमें बड़े-बड़े शवोंको ले जा रही थीं। वहांपर उद्धत नृत्यमें उग्र कुम्भाण्डोंके (ऊँचे पेटवाले पिशाचोंके) मण्डलके बड़े-बड़े उदर थे, शवोंके मुखके पास प्रलापकी नाईं 'छम-छम' ज्वालाके शब्द हो रहे थे, मेदा और रुधिरके गीले धूएँसे वह रणभूमि मेघयुक्त-सी थी। वहांपर रूपिका (एक प्रकारकी पूतना) बह रही रुधिरनदीके वेगमें जमकर खड़ी हुई अतएव भूचरी-सी मालूम पड़ रही थी। वहांपर नाना प्रकारके वेताल शवपञ्जरोंको खींचनेमें अपने कुलके अनुरूप किलकारियां भर रहे थे। मरे हुए हाथियोंके उदररूप पालनेमें वेतालोंके बालक सो रहे थे। एकान्त रण-प्रदेशमें राक्षस अपनी पानक्रीड़ामें व्यस्त थे ॥ १२-१९ ॥

मदोन्मत्त वेतालोंमें परस्पर कलह होनेपर चिताओंके आधे जले काष्ठों द्वारा हुए उनके संग्रामसे सारी रणभूमि जगमगा उठी। वहां वायु बह रहे रुधिर और वसाके मिश्रित गन्धसे युक्त था। एक प्रकारकी पूतनाओंकी पेटिकाओंसे निकले हुए रट-रट शब्द हो रहे थे। आधे पके हुए शवके आस्वादनमें लुब्ध

तुङ्गवङ्गकलिङ्गाङ्गतङ्गणाङ्गगलत्खगम् ।
तारापातोपमहसत्संमुखज्वालरूपिकम् ॥ २२ ॥
पतद्वेतालसोल्लासमध्यस्थासृग्विरूपिकम् ।
पिशाचाकर्णिताभ्यर्णयोगिनीगणनायकम् ॥ २३ ॥
प्रसृतान्त्रमहातन्त्रीप्रायसंपन्नवादनम् ।
पिशाचवासनोत्क्रान्तपिशाचीभूतमानवम् ॥ २४ ॥
रूपिकालोकनापूर्वत्रासार्द्धमृतसङ्कटम् ।
क्वचिद्वेतालरक्षोभिरपरीपूर्णमद्रकम् ॥ २५ ॥
स्वरूपिकास्कन्धपतच्छवत्रस्तनिशाचरम् ।
नभःसङ्घट्टितापूर्वभूतपेटकसङ्कटम् ॥ २६ ॥
अतिप्रयत्नापहृतम्रियमाणनरामिषम् ।
स्वभक्ष्यापेक्षपक्षेषु विक्षिप्तशवराशिमत् ॥ २७ ॥
शिवामुखानलशिखाखण्डोत्थमितिरक्तगैः ।
समुड्डीननवाशोकपुष्पगुच्छमिवाऽभितः ॥ २८ ॥

यक्षोंका कलह बढ़ रहा था। वङ्ग, कलिङ्ग, अङ्ग, तङ्गण आदि देशोंके पुरुषोंके ऊँचे-ऊँचे शरीरोंमें राक्षस और चील आदि पक्षी [मांसभक्षणार्थ] चिपट रहे थे। तारापातके तुल्य दाँतोंसे हँस रहीं रूपिकाएँ संमुखस्थित मूर्तिमती ज्वालाओंसे युक्त-सी प्रतीत हो रही थी। रुधिरके मारे विह्लहर भूमिमें गिर रहे वेतालोंके बीचमें खून पीनेवाली पूतनाएँ परिहास कर रही थीं। वहाँपर योगिनीगणके नायक पिशाचों द्वारा आहूत होकर समीपमें आ रहे थे, चारों ओर बिखरी हुई आँतड़ीरूपी महावीणाओं द्वारा वादन किया जा रहा था। वहाँपर पिशाचोंकी वासनासे पिशाच बने हुए मनुष्य उछल कूद रहे थे, पूतनाके दर्शनसे जनित अपूर्व भयसे अच्छे-अच्छे भट मृतप्राय हो रहे थे, कहींपर वेतालों और राक्षसोंके आनन्दोत्सव मनाये जा रहे थे, पूतनाओंके कन्धोंसे गिर रहे शवोंसे निशाचर भी भयभीत हो रहे थे, आकाशसे टकरानेवाले अपूर्व भूतोंके पेटारोंसे सारी रणभूमि व्याप्त थी। वहाँ मर रहे मनुष्यके मांसको बड़े प्रयत्नसे छीन रहे थे, भक्ष्यकी अपेक्षा रखनेवाले अपने पक्षोंमें वहांपर शवोंकी राशि बखेरी गई थी। शृगालियोंके मुखसे निकली हुई अग्निकी ज्वालाओंसे पूर्ण

कबन्धकन्धराबन्धव्यग्रवेतालबालकम् ।
यक्षरक्षःपिशाचादिकचदाकाशगोल्मुकम् ॥ २९ ॥
आकाशभूधरनिकुञ्जगुहान्तराल-
पिण्डोपमण्डिततमोम्बुदपीठपूरम् ।
व्यालोलभूतरभसाकुलकल्पवात-
व्याधूतलोककरकाण्डकपेटकल्पम् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने निशाचराकुलरात्रिरणाङ्गणवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

—※—

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं निशाचराचारचिरघोरे रणाङ्गणे ।
अहनीव जनाचारे स्थिते यामावरेहिते ॥ १ ॥

संज्ञाको प्राप्त हुए और खूनसे लथपथ पुरुषोंसे चारों ओर रणभूमि ऐसी प्रतीत होती थी, मानो नये-नये अशोक-पुष्पोंके गुच्छे उड़ रहे हों ॥ २०–२८ ॥

वहांपर वेतालोंके बालक कबन्धोंके कटे हुए कन्धोंमें क्रीड़ा-व्यग्र थे। यक्ष, राक्षस, पिशाच आदिके आकाशमें उड़ रहे उल्मुख (अर्धदग्ध काष्ठ) दीप्त हो रहे थे ॥ २९ ॥

वहांपर आकाश, पर्वतों, पर्वतोंके निकुञ्ज और गुफाओंके मध्यमें पिण्डके समान घने तमोरूप मेघोंका समूह था। चञ्चल प्राणियोंके वेगसे आकुल अतएव प्रलयकालके वायुसे लोक, लोकोंमें रहनेवाले जन और उनके उपकरण जिसमें कँपाये गये हैं, ऐसे ब्रह्माण्डोंके तुल्य वह रणाङ्गण था ॥ ३० ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त

—※—

चालीसवाँ सर्ग

[राजा विदूरथके सोनेपर सरस्वती और लीलाका, गृहप्रवेश और आतिवाहिक देहका तत्त्ववर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, निशाचरोंके कारनामोंसे अत्यन्त घोर रणाङ्गणमें यम दूतों और निकृष्ट श्रेणीके जीवोंकी (भूत, पिशाच आदिकी)

हस्ताहार्यतमःपिण्डस्फुटकुड्ये निशागृहे ।
लाभोच्छ्दोचलचते भूतसङ्के प्रवल्गति ॥ २ ॥
निःशब्दे ध्वान्तसञ्चारे निद्रारुद्धककुब्गणे ।
लीलापतिरुदारात्मा किञ्चित्खिन्नमना इव ॥ ३ ॥
प्रातः कार्यं विचार्याऽऽशु मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ।
दीर्घचन्द्रसमाकारे शयने हिमशीतले ॥ ४ ॥
चन्द्रोदरनिभे चारुगृहे शिशिरकोटरे ।
निद्रां मुहूर्त्तमगमन्मुद्रितेक्षणपुष्करः ॥ ५ ॥
अथ ते ललने व्योम तत्परित्यज्य तद्गृहम् ।
रन्ध्रैर्विविशतुर्वातलेखेऽब्जमुकुलं यथा ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

कियन्मात्रमिदं स्थूलं शरीरं वाग्विदांवर ।
रन्ध्रेण तन्तुतनुना कथमाश्वाविशत्प्रभो ॥ ७ ॥

चेष्टाओंके—दिनमें मनुष्योंके यथोचित आचरणकी नाईं पूर्वोक्त प्रकारसे—सम्पन्न होनेपर हाथसे पकड़नेके योग्य यानी निबिड अन्धकारराशिसे जिसमें साफ साफ दीवारे बनी थी ऐसे रात्रिरूपी घरमें भक्ष्य पदार्थोंकी प्रचुरमात्रामें प्राप्ति होनेपर वस्त्र पसार कर मांगना जिनसे कोशों दूर भाग गया था ऐसे भूत-गणोंके क्रीड़ा करनेपर निद्रासे आक्रान्त दशों दिशाओंके लोगोंके मौन होनेपर और दशों दिशाओंमें अन्धकारका संचार होनेपर कुछ खिन्न-से हुए उदाराशय लीलापतिने प्रातः कालके कार्यमें सलाह देनेमें दक्ष मन्त्रियोंके साथ शीघ्र विचार किया, तदनन्तर चन्द्रमाके मध्यभागके सदृश मनोहर तथा शीतल कमरेवाले सुन्दर घरमें विशाल चन्द्रमाके सदृश आकारवाले बर्फके सदृश शीतल शयनपर नेत्र-कमलोंको बन्दकर एक क्षणमें निद्राकी गोदमें विश्राम लिया ॥ १—५ ॥

तदनन्तर उन दोनों ललनाओंने पूर्वोक्त मण्डपाकाशको छोड़कर उस घरमें जैसे वायु सूराखोंसे कमलकी कलीके अन्दर प्रवेश करता है, वैसे ही झरोखोंके सूराखोंसे प्रवेश किया ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—विद्वन्मूर्धन्य, इतना बड़ा चार हाथका यह स्थूल शरीर कमलकी तांतके समान सूक्ष्म सूराखसे कैसे जल्दी प्रवेश कर गया ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आधिभौतिकदेहोऽहमिति यस्य मतिभ्रमः ।
तस्याऽसावणुरन्ध्रेण गन्तुं शक्नोति नाऽनघ ॥ ८ ॥
रोधितोऽहमनेनेति न मास्यत्रेति यस्य धीः ।
अनुभूतानुभवती भवतीत्यनुभूयते ॥ ९ ॥
येनाऽनुभूतं पूर्वार्द्धे गच्छामीति स तत्क्रियः ।
कथं भवति पश्चार्द्धं गमनोन्मुखचेतनः ॥ १० ॥
नहि वायूर्ध्वमायाति नाऽधो गच्छति पावकः ।
या यथैव प्रवृत्ता चित् सा तथैव प्रतिष्ठिता ॥ ११ ॥
छायायामुपविष्टस्य कुतस्तापानुभूतयः ।
यस्य संवेदनेऽन्योऽर्थः केनचिन्नाऽनुभूयते ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, जिसको यह भ्रम रहता है कि यह शरीर आधिभौतिक है, उस पुरुषका यह शरीर सूक्ष्म छिद्रसे नहीं जा सकता ॥ ८ ॥

इस शरीरने मुझे यहां प्रवेश करनेसे रोक दिया, अतः इस छिद्रमें मैं नहीं अमा सकता, क्योंकि मनुष्यशरीरका स्वभाव ऐसा ही है। जिसकी ऐसी बुद्धि अपनी आत्माको स्थूलदेहस्वरूप समझती है, वह अगमनका ही अनुभव करता है ॥ ९ ॥

किन्तु जिस पुरुषको, स्थूल मनुष्यदेहमें तादात्म्यबुद्धि न होने और मेरा एकमात्र आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है, यह निश्चय होने के कारण, पहलेकी दृढ़वासनाओंसे अत्यन्त सूक्ष्म छिद्रमें भी जानेमें समर्थ हूँ, ऐसा सैकड़ों-वार अनुभूत है, वह पुरुष उत्तरकालमें स्थूल देहकी अनुरूप निरोध आदि क्रियाओंसे युक्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह अतिसूक्ष्म छिद्रमें गमन करनेवाले चेतनका अंशस्वरूप ही है ॥ १० ॥

वाहर भी वस्तुशक्तिका स्वभाव वैसे ही एकरूप देखा गया है, ऐसा कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

जैसे जल कभी ऊपरको नहीं जाता और अग्नि कभी नीचेको नहीं जाती, वैसे चित्का भी जैसा स्वभाव है, वैसी ही वह रहती है ॥ ११ ॥

स्थूल देहमें आत्मबुद्धि न रखनेवाले योगी, पिशाच आदिको भी जब

यथा संवित्तथा चित्तं सा तथाऽवस्थितिं गता।
परमेण प्रयत्नेन नीयतेऽन्यदशां पुनः ॥ १३ ॥
सर्पैकप्रत्ययो रज्ज्वामसर्पप्रत्यये बलात्।
निवर्ततेऽन्यथा त्वेष तिष्ठत्येव यथास्थितः ॥ १४ ॥
यथा संवित्तथा चित्तं यथा चित्तं तथेहितम्।
बालं प्रत्यपि संसिद्धमेतत्को नाऽनुभूतवान् ॥ १५ ॥

स्थूलदेहजनित निरोधदुःख नहीं होता, तब द्वैतमात्रके अध्याससे रहित तत्त्वज्ञानियोंको वह दुःख नहीं होता, इसमें तो कहना ही क्या है? इस आशयसे कहते हैं—'छायाया०' इत्यादिसे।

छायामें बैठे हुए पुरुषको तापका अनुभव कहाँसे हो सकता है? परमात्माका यथार्थज्ञान होनेपर उससे अतिरिक्त पदार्थका किसीको अनुभव नहीं होता ॥ १२ ॥

अधिष्ठानरूप ज्ञानमें स्थूलता, सूक्ष्मता आदि शक्तियोंका आविर्भाव होनेपर भी चित्तमें स्थूलत्व आदि कैसे प्राप्त होते हैं? इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसी संवित् है, वैसा ही चित्त है, संवित् ही चित्तरूपताको प्राप्त हुई है। यदि किसीको यह सन्देह हो कि उसका अन्यथाभाव (संविदाकारता) कैसे होता है? तो इसपर कहते हैं—'परमेण' इति। बड़े भारी प्रयत्नसे वह फिर अन्य अवस्थाको प्राप्त की जाती है ॥ १३ ॥

ज्ञानप्रयत्नसे अन्यथाभावका उदाहरण देते हैं—'सर्पैक०' इत्यादिसे।

यह 'रज्जु' है, यों प्रयत्नपूर्वक रज्जुपदार्थका निश्चय होनेपर रज्जुमें सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है, अन्यथा (प्रयत्न न होनेपर) वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है ॥ १४ ॥

जैसे चित्त संवित्-शक्तिका अनुसरण करता है, वैसे ही चेष्टा भी चित्तका अनुसरण करती है, यह भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसी संवित् होती है, वैसा ही चित्त होता है और जैसा चित्त रहता है वैसी ही चेष्टाएँ भी होती हैं, यह बालक तकको सुविदित है, फिर दूसरेको यह क्यों न सुविदित होगा? ॥ १५ ॥

यः पुनः स्वप्नसङ्कल्पपुरुषः प्रतिमाकृतिः ।
आकाशमात्रकाकारः स कथं केन रोध्यते ॥ १६ ॥
चित्तमात्रं शरीरं तु सर्वस्यैव हि सर्वतः ।
विद्यते वेदनाचैतत् क्वचिदेतीव हृद्गतात् ॥ १७ ॥
यथाभिमतमेवाऽस्य भवत्यस्तमयोदयम् ।
आदिसर्गे स्वभावोत्थं पश्चाद्द्वैतैक्यकारणम् ॥ १८ ॥
चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
विद्ध्येतत्त्रयमेकं त्वमविनाभावनावशात् ॥ १९ ॥

स्थूल शरीरके समान आतिवाहक चित्तशरीरका भी निरोध क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो स्वप्नके पुरुषकी नाईं और मनोरथनिर्मित प्रतिमाकी नाईं केवल आकाशमात्रशरीर है (शून्यात्मकशरीर है) उसे कौन कैसे रोक सकता है ? ॥ १६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि भौतिक शरीर ज्ञानबलसे चित्तशरीर कैसे बन जाता है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'चित्तमात्रम्' इत्यादिसे ।

वास्तवमें सभी लोगोंका सभी जगह चित्तमात्र ही शरीर है, किन्तु कहींपर हृदयमें स्थित ज्ञानके बलसे वह कहीं आता हुआ-सा प्रतीत होता है । आता हुआ-सा जो प्रतीत होता है, वह भ्रम है, वास्तवमें प्राणी चित्तसे अतिरिक्त नहीं हैं, यह भाव है ॥ १७ ॥

प्राणियोंकी चित्तसे पृथक् सत्ता नहीं है, इसका उपपादन करते हैं—'यथाभिमत०' इत्यादिसे ।

परमात्माकी इच्छाके अनुसार ही सब प्राणियोंके उत्पत्ति, विनाश आदि होते हैं, जो कि आदि सृष्टिमें स्वाभाविक अज्ञान अथवा स्वाभाविक कर्मसे उत्पन्न होते हैं, स्थूलभूत और भौतिक पदार्थ द्वैत कहलाते हैं, उनका मेलन यानी एकदेहभावनासे ऐक्य होता है । उसमें कारण है—पञ्चीकरण, वह बादको होता है ॥१८॥

चित्त और अव्यक्तका भी शुद्ध चितिसे पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं—'चित्ताकाशम्' इत्यादिसे ।

एतच्चित्तशरीरं त्वं विद्धि सर्वगतोदयम् ।
यथासंवेदनेच्छत्वाद्यथासंवेदनोदयम् ॥ २० ॥
वसति त्रसरेण्वन्तर्ध्रियते गगनोदरे ।
लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसो भवति पल्लवे ॥ २१ ॥
उल्लसत्यम्बुवीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे ।
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयाऽवतिष्ठते ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश—इन तीनोंको एक ही समझिए, क्योंकि अधिष्ठानसत्ताके बिना उनका स्फुरण ही नहीं होता। यानी जिसका स्फुरण जिसकी सत्ताके अधीन है, वह उससे अतिरिक्त नहीं होता, ऐसा नियम है, यह भाव है ॥ १९ ॥

यद्यपि स्थूलशरीर और चित्तशरीर दोनों ही अधिष्ठान सत्ताके अधीन सत्तावाले हैं, फिर भी स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरमें विशेषता है, वह यह कि वह निरोधका हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं—'एतच्चित्त०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्तशरीरको ऐसा समझिये कि इसने सम्पूर्ण पदार्थोंमें आविर्भावशक्ति प्राप्त की है। कहींपर भी इसके लिए रोकटोक नहीं हो सकती, क्योंकि उसका उदय (आविर्भाव) संवेदन यानी पूर्व वासना और कर्मका अनुसरण करनेवाले पदार्थोंकी स्फूर्तिके अनुसार होता है, उसका स्वभाव बाहरी वस्तुका अनुसरण करना नहीं है, क्योंकि संवेदनके अनुसार ही उसकी इच्छा होती है। भाव यह कि वह रजतरूपसे ज्ञात शुक्तिकी भी इच्छा करता है, शुक्तिशक्तिका अनुसरण कर उसकी उपेक्षा नहीं करता। निष्कर्ष यह निकला कि स्थूल शरीर बाह्य वस्तुओंका अनुसरण करता है, अतः उसका निरोध होनेपर भी संवेदनेच्छामात्रके अनुसारी चित्तशरीरका निरोध नहीं हो सकता ॥ २० ॥

सब पदार्थोंमें उसका आविर्भाव प्राप्त ही है, यह जो कहा था, उसीका विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं—'वसति' इत्यादिसे।

चित्तशरीर त्रसरेणुके भीतर प्रविष्ट हो जाता है, आकाशके मध्यमें स्थित होता है, अङ्कुरके कोषमें लीन हो जाता है और पल्लवमें रस बन जाता है। जलवीचियोंमें (लहरोंमें) उल्लास करता है और शिलाओंके मध्यमें नाचता

यथेच्छमम्बरे याति जठरेऽपि च भूभृताम् ।
अनन्तराकाशवपुर्धत्तेऽथ परमाणुताम् ॥ २३ ॥
भवत्यद्रिर्धराधारो बद्धपीठो नभःशिराः ।
देहस्याऽन्तर्बहिरपि दधद्वनतनूरुहम् ॥ २४ ॥
भवत्याकाशमाधत्ते कोटीः पद्मजसद्मनाम् ।
अनन्याः स्वात्मनोऽम्भोधिरावर्तरचना इव ॥ २५ ॥
अनुद्विग्नप्रबोधोऽसौ सर्गादौ चित्तदेहकः ।
आकाशात्मा महान् भूत्वा वेत्ति प्रकृततां ततः ॥ २६ ॥
असत्यमेव वारित्वं बुद्ध्योदेतीव तत्तथा ।
वन्ध्यापुत्रोऽयमस्तीति यथा स्वप्ने भ्रमो नरः ॥ २७ ॥

है । मेघ बन कर जल बरसाता है, शिला बन कर एक जगह स्थिर होता है, जब इच्छा होती है तब आकाशमें जाता है, पर्वतोंके अन्दर स्थित होता है, जिसमें तनिक अवकाश नहीं है ऐसा परमाणु बन जाता है, वनरूप रोओंको धारण कर रहा पर्वत बन जाता है ऐसा पर्वत कि जो पृथिवीको धारण करता है, दृढ़मूल है और आकाशचुम्बी है, ऐसा पर्वत केवल बाहर ही नहीं होता, किन्तु देहके अन्दर भी होता है * ॥ २१–२४ ॥

कभी आकाश बन जाता है, कभी जैसे समुद्र अपनेसे अभिन्न आवर्त-(जलभौरी) रचनाओंको धारण करता है, वैसे ही यह चित्तशरीर अपने स्वरूपसे अभिन्न करोड़ो ब्रह्माण्डोंको चारों ओर धारण करता है ॥ २५ ॥

जिसका कर्मानुसारी प्रबोध उद्वेगसे विपर्यस्त नहीं हुआ ऐसा चित्तशरीर सर्गके आदिमें आकाशादि क्रमसे महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर तदुपरान्त प्रारब्ध-कर्मानुसारणी प्रवृत्तिको जानता है ॥ २६ ॥

जैसे मरुमरीचिका आदिमें मिथ्या जलका उदय होता है एवं जैसे स्वप्नमें यह पुरुष वन्ध्यापुत्र है ऐसे भ्रमका उदय होता है, वैसे ही यह आकाशात्मा भी स्वनिष्ठ असत्य बुद्धि द्वारा महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर प्रस्तुतताको प्राप्त हुआ है ॥ २७ ॥

---

* देहके अन्दर पर्वतभाव आदि स्वप्नमें प्रसिद्ध ही है, इन्द्रजाल आदिमें बाहर भी चित्त-शरीरका पर्वतभाव देखा जाता है ।

श्रीराम उवाच

किं चित्तमेतद्भवति किं वा भवति नो कथम् ।
कथमेव न सद्रूपं नाऽन्यद् भवति वीक्षणात् ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिकम् ।
पृथक् प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः ॥ २९ ॥
क्षणकल्पजगत्सङ्घाः समुद्यन्ति गलन्ति च ।
निमेषात्कस्यचित्कल्पात्कस्यचिच्चित्क्रमं शृणु ॥ ३० ॥

सूक्ष्मतम चित्त ही सम्पूर्ण जगत् है, सर्वशक्तिशाली है, उसको जबतक तत्त्वका परिज्ञान नहीं होता, तब वही स्थूल-सा होकर परतन्त्र होता है, जब उसे तत्त्वका परिज्ञान हो जाता है, तब वही व्यवहारमें सर्वत्र अप्रतिहत और स्वतन्त्र हो जाता है, ऐसा आपने कहा । इसपर हमारी जिज्ञासा है कि क्या हम लोगोंका प्रत्येक चित्त ऐसी शक्ति रखता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें प्रत्येक पुरुषके चित्तमें भिन्न-भिन्नरूपसे विद्यमान जगत् सत् हो जायगा । द्वितीय पक्षमें चित्तसे उत्पन्न न हुआ जगत् चित्तसे विलक्षण ही होगा, क्योंकि वैसा ही सब लोग देखते हैं ऐसी परिस्थितिमें ज्ञानसे चित्तका विनाश होनेपर भी जगतकी अनुवृत्ति ही होगी, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महाराज, जो शक्ति आपने कही उस शक्तिसे युक्त हम लोगोंका चित्त है अथवा नहीं ? पहले पक्षमें प्रत्येक चित्तमें भिन्न जगत् सद्रूप क्यों नहीं होगा और दूसरे पक्षमें वह चित्तसे अतिरिक्त क्यों न होगा, क्योंकि ऐसा ही सब लोग देखते हैं ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त पक्षोंमें से प्रथम पक्षका ही अङ्गीकार कर श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'प्रत्येकमेव' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, हर एकका जो चित्त है वह इस प्रकारकी शक्तिसे सम्पन्न है, प्रत्येक चित्तमें जगत्का भ्रम पृथक् पृथक्-रूपसे उदित हुआ है । क्षणके तुल्य अनेक जगत् किसीकी दृष्टिमें निमेष भरमें उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और किसीकी दृष्टिमें कल्पसे उत्पन्न और विनष्ट होते हैं इसमें आप क्रम सुनिये ॥ २९, ३० ॥

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनाऽनुभूयते ।
यैषा तां विद्धि सुमते महाप्रलययामिनीम् ॥ ३१ ॥
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक् पृथक् ।
सहजस्वप्नसङ्कल्पान् संभ्रमाचलनृत्यवत् ॥ ३२ ॥
महाप्रलयरात्र्यन्ते चिरादात्ममनोवपुः ।
यथेदं तनुते तद्वत्प्रत्येकं मृत्यनन्तरम् ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

मृतेरनन्तरं सर्गो यथा स्मृत्याऽनुभूयते ।
चिरात्तथाऽनुभवति नाऽतो विश्वमकारणम् ॥ ३४ ॥

जिस मरणादिमयी मूर्छाका हरेक आदमी अनुभव करता है, हे सुमते, उसे आप महाप्रलयरूपी रात्रि समझिये, महाप्रलयरूपी रात्रिका अन्त होनेपर सभी लोग अलग अलग सृष्टिका विस्तार करते हैं। जिसका जैसा ज्ञान और जैसा कर्म होता है, वह तदनुरूप सृष्टिका दर्शन और अनुभव करता है, भाव यह कि जैसे रोगी चित्त-व्यामोहसे पर्वतोंका नृत्य देखता है, वैसे ही जीव अनादि स्वाभाविक अविद्याके प्रभावसे उत्पन्न तीन अवस्थाओंके सङ्कल्पोंको देखता है ॥ ३१-३२ ॥

महाप्रलयरूप रात्रिका अवसान होनेपर जैसे समष्टिचित्तशरीर हिरण्यगर्भ समष्टिभोग्यप्रपञ्चका विस्तार करते हैं, वैसे ही व्यष्टिचित्तशरीर प्रत्येक जीव भी मृत्युके अनन्तर अपने-अपने भोग्य स्वप्नादि व्यष्टि-प्रपञ्चका विस्तार करता है यानी अनुभव करता है ॥ ३३ ॥

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' (जिसका मनसे स्मरण करता है, उसे वाणीसे बोलता है, उसे कर्मेन्द्रियोंसे करता है) इस श्रुतिसे और सब लोगोंके अनुभवसे स्मृतिके तुल्य सम्पूर्ण क्रियाएँ एकवस्तु-विषयक हैं, यह निश्चित है, स्मृति भी यदि स्मृतिका कारण अनुभव सत्य हो तो यथार्थ होती है और उसके कारणभूत अनुभवके मिथ्या होनेपर असत्य होती है। ऐसी परिस्थितिमें हम लोगोंमें भ्रान्ति प्रचुरमात्रामें विद्यमान है और हम लोगोंका सङ्कल्प असत्य है, अतः हमारी स्मृतिके अयथार्थ होनेके कारण उससे

श्रीवसिष्ठ उवाच

महति प्रलये राम सर्वे हरिहरादयः ।
विदेहमुक्ततां यान्ति स्मृतेः क इव संभवः ॥ ३५ ॥

उत्पन्न कतिपय स्वप्न आदि प्रपञ्च भले ही मिथ्या हों, किन्तु हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) सर्वज्ञ होनेसे भ्रान्तिशून्य हैं और सत्यसंकल्प हैं, अतः उनकी स्मृति अयथार्थ कदापि नहीं हो सकती, फिर उनके द्वारा सृष्ट प्रपञ्च मिथ्या कैसे ? इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'मृते०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भगवन्, जैसे व्यष्टि जीवोंको मरनेके बाद तुरन्त स्मृतिसे अपने द्वारा रचित सर्गका अनुभव होता है, वैसे ही समष्टि जीव (ब्रह्मा) भी चिरकालिक महाप्रलयके बाद अपनी यथार्थ स्मृतिसे सृष्ट प्रपञ्चका अनुभव करते हैं, अतः उनकी स्मृतिसे उत्पन्न प्राक्तन सत्य पदार्थ ही इस कल्पके सत्य विश्वके कारण हो सकते हैं, अतः विश्व अकारण नहीं है । विश्व ब्रह्मासे अतिरिक्त कारणसे शून्य है, ऐसी जो पहले प्रतिज्ञाकी थी, उस मतका व्याघात हुआ, यह भाव है ॥ ३४ ॥

जैसा आप (श्रीरामचन्द्रजी) कहते हैं, वैसा होता, यदि ब्रह्माकी आदि सृष्टिमें यथार्थ अनुभवसे उत्पन्न सृष्टिकी हेतु स्मृति होती । पहले पहल हिरण्यगर्भ-पदको प्राप्त हुए उपासकको उक्त स्मृति नहीं हो सकती, कारण कि उसकी स्मृति उपासनासे प्राप्त संस्कारसे उत्पन्न है, यथार्थ अनुभवसे उत्पन्न नहीं है । पूर्व जन्मकी उपासना व्यष्टिकी ही है । व्यष्टिका समष्टिभावचिन्तन यथार्थानुभव नहीं है । इसलिए अयथार्थ उपासनाके संस्कारसे उत्पन्न स्मृतिसे जन्य होनेके कारण आदि सर्गमें सत्यत्वका प्रसङ्ग नहीं आ सकता । पहले कल्पके कोई भी सर्वज्ञ पुरुष द्वितीय कल्पमें नहीं रह सकते, क्योंकि सभी पहले कल्पमें ही मुक्त हो चुके । द्वितीय कल्पमें आदि सृष्टिकी हेतुभूत स्मृति पूर्वकल्पकी सृष्टिमें अनुभूत मिथ्यापदार्थविषयक ही है, इसलिए कहीं भी सृष्टिसत्यताका प्रसङ्ग नहीं हो सकता, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'महति' इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलयमें सभी हरि, हर आदि विदेहमुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं, अतः पूर्वसर्गकी स्मृतिका संभव ही कहाँ है ? ॥ ३५ ॥

अस्मदादिः प्रबुद्धात्मा किलाऽवश्यं विमुच्यते ।
कथं भवन्तु नो मुक्ता विदेहाः पद्मजादयः ॥ ३६ ॥
अन्ये त्वमिव ये जीवास्तेषां मरणजन्मसु ।
स्मृतिः कारणतामेति मोक्षाभाववशादिह ॥ ३७ ॥
जीवो हि मृतिमूर्छान्ते यदन्तःप्रोन्मिषन्निव ।
अनुन्मिषित एवाऽऽस्ते तत्प्रधानमुदाहृतम् ॥ ३८ ॥
तद्व्योमप्रकृतिः प्रोक्ता तदव्यक्तं जडाजडम् ।
संस्मृतेरस्मृतेश्चैव क्रम एष भवोदये ॥ ३९ ॥

तत्त्वज्ञानी हम लोग भी अवश्य मुक्त हो जाते हैं फिर ब्रह्मा आदि क्यों न विदेहमुक्त होंगे ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी, इस लोकमें आपके सदृश जो अन्य जीव हैं, उनकी मृत्यु और उत्पत्तिके हेतुभूत सृष्टिमें पूर्वजन्मके मिथ्या पदार्थोंके वासनानुभवसे जन्य ही स्मृति कारण होती है, क्योंकि उनका मोक्ष नहीं होता ॥ ३७ ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजीको यह शङ्का हो कि हिरण्यगर्भकी सृष्टि प्रकृतिसे महत्, अहङ्कार आदि क्रमसे होती है, ऐसा पुराण आदिमें सुना जाता है। जीवकी सृष्टि तो सहसा ही होती है, ऐसी अवस्थामें जीवसृष्टिसे हिरण्यगर्भकी सृष्टिकी समता कैसे हो सकती है, तो उसमें भी प्रकृति, महत् आदिके क्रमका उपपादन करते हैं—'जीवो हि' इत्यादिसे ।

मृत्युरूपी मूर्च्छाके अव्यवहित उत्तर क्षणमें अन्दर तनिक तनिक उन्मेष होता हुआ (स्फुरित होता हुआ) भी बाहर जो जीव उन्मेषरहित ही रहता है, पुराण आदि शास्त्रोंमें उसकी वह अवस्था प्रधान यानी मूलप्रकृति कही गई है ॥ ३८ ॥

'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' (आकाशमें ही वह ओत और प्रोत है) इत्यादि श्रुतिसे आकाशादि शब्द भी उसमें प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त मूलप्रकृति आकाशप्रकृतिनामसे भी शास्त्रोंमें कही गई है, यह अव्यक्त यानी मूलप्रकृति जड़ भी है और अजड़ भी है। चित्का प्रतिबिम्ब पड़ने और न पड़ने से जड़ाजड़ है अर्थात् स्वभावतः जड़ है और चित्प्रतिबिम्ब

बोधोन्मुखत्वे हि महत्तत्प्रबुद्धं यदा भवेत् ।
तदा तन्मात्रदिक्कालक्रिया भूताद्युदेति खात् ॥ ४० ॥
तदेवोच्छूनमाबुद्धं भवतीन्द्रियपञ्चकम् ।
तदेव बुध्यते देहः स एषोऽस्याऽऽतिवाहिकः ॥ ४१ ॥
चिरकालप्रत्ययतः कल्पनापरिपीवरः ।
आधिभौतिकताबोधमाधत्ते चैष बालवत् ॥ ४२ ॥
ततो दिक्कालकलनास्तदाधारतया स्थिताः ।
उद्यन्त्यनुदिता एव वायोः स्पन्दक्रिया इव ॥ ४३ ॥
वृद्धिमित्थमयं यातो मुधैव भुवनभ्रमः ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमस्त्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ ४४ ॥

पड़नेसे अजड़ (चेतन) है । वह विश्वबीज मूलप्रकृति ही संसृति और अस्मृतिकी यानी सृष्टि और संहारकी भी मूल कारण है और वही भवके उदय और अन्तकी अवधि है ॥ ३९ ॥

वही व्योमात्मक प्रकृति जब प्रबुद्ध यानी चित्प्रतिफलित होती है अर्थात् जब उसके अहङ्कारका उदय होता है तब तदवस्थ आकाशसे पांच तन्मात्रा, दिशा, काल, भूत आदि सम्पूर्ण सूक्ष्म भाव उत्पन्न होते हैं ॥ ४० ॥

तदनन्तर वे ही कुछ स्थूल होकर पांच इन्द्रियरूपसे उद्बुद्ध होते हैं । वे ही स्वप्न और जागरणमें देहरूपसे ज्ञात होते हैं, वही जीवका आतिवाहिक स्वरूप है ॥ ४१ ॥

चिरकालिक प्रत्ययसे कल्पना द्वारा स्थूल हुआ वह आतिवाहिक स्वरूप बालककी नाईं मैं आधिभौतिक हूँ, इस प्रतीतिको धारण करता है ॥ ४२ ॥

तदुपरान्त स्थूल देहके आश्रित चक्षु आदिके अधीन स्थित हुईं तत्-तत् देश और कालके पदार्थोंकी कल्पनाएँ उदित न होती हुईं भी वायुकी स्पन्दन क्रियाके तुल्य प्रादुर्भूत होती हैं ॥ ४३ ॥

मिथ्या ही यह जगत्-भ्रम इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुआ है । यद्यपि स्वप्नमें स्त्रीसंगमके तुल्य इसका अनुभव होता है तो भी यह असत् ही है ।

शङ्का—यदि यह असत् ही है, तो इसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान—जैसे स्वप्नमें स्त्रीके संगमका अनुभव होनेपर भी वह असत् है, वैसे ही यद्यपि इसका अनुभव होता है फिर भी यह असत् ही है ॥ ४४ ॥

यत्रैव म्रियते जन्तुः पश्यत्याशु तदेव सः ।
तत्रैव भुवनाभोगमिममित्थमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥
व्योमैवाऽनुभवत्यच्छमहं जगदिति भ्रमम् ।
व्योमरूपं व्योमरूपी जीवो जात इवाऽऽत्मवान् ॥ ४६ ॥
सुरपत्तनशैलार्कतारानिकरसुन्दरम् ।
जरामरणवैक्लव्यव्याधिसङ्कटकोटरम् ॥ ४७ ॥
स्वभावाभावसंरम्भस्थूलसूक्ष्मचराचरम् ।
साब्ध्यद्र्युर्वीनदीशाहोरात्रिकल्पक्षणक्षयम् ॥ ४८ ॥
अहं जातोऽमुना पित्रा किलाऽत्रेत्याप्तनिश्चयम् ।
इयं माता धनमिदं ममेत्युदितवासनम् ॥ ४९ ॥

जहांपर वह प्राणी मरता है, वहां उसीको शीघ्र देखता है, वहींपर इस भुवनाभोगको इसी प्रकारसे स्थित देखता है ॥ ४५ ॥

आगन्तुक देह आदि रूपसे आत्मवान् हुआ-सा व्योमरूपी जीव आगन्तुक देह आदिको आत्मा समझकर निर्मल चिदाकाशमें ही 'यह मैं हूँ', 'यह जगत् है' इस व्योमरूपी भ्रमका अनुभव करता है ॥ ४६ ॥

उक्त जगद्भ्रमका ही विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं—**'सुरपत्तन०'** इत्यादिसे ।

उस जगद्भ्रमका अनुभव करता है, जो इन्द्र आदि देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि उनके पर्वतों, सूर्य, चन्द्र और सितारोंसे बड़ा मनोहर है, जरा (बुढ़ापा), मरण, दुश्चिन्ताएँ, शारीरिक क्लेश आदिसे परिपूर्ण मर्त्यलोकरूप खोखलेसे युक्त है, इसमें अपनी इष्ट वस्तुके सम्पादनमें और अनिष्ट वस्तुके निवारणमें स्थूल सूक्ष्म चर-अचर[1] सभी प्राणी उद्योगशील हैं, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय समुद्र, पर्वत, नदियों और उनके अधिपतियों (अधिष्ठाता देवों) से युक्त हैं ॥ ४७, ४८ ॥

जिस जगद्भ्रममें मैं इस स्थानमें इस पितासे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा निश्चय

१ अचर लताओंका भी जिस प्रदेशमें अवलम्बन रहता है उधर, प्रसार और जहां अवलम्बन नहीं रहता वहां प्रसारका अभाव देखा जाता है, अतः 'अचर' यह साधारण-रूपसे कहा है ।

सुकृतं दुष्कृतं चेदं ममेति कृतकल्पनम् ।
बालोऽभूवमहं त्वद्य युवेति विलसद्धृदि ॥ ५० ॥
प्रत्येकमेवमुदितः संसारवनखण्डकः ।
ताराकुसुमितो नीलमेघचञ्चलपल्लवः ॥ ५१ ॥
चरन्नरमृगानीकः सुरासुरविहङ्गमः ।
आलोककौसुमरजाः श्यामागहनकुञ्जकः ॥ ५२ ॥
अब्धिपुष्करिणीपूर्णो मेर्वाद्यचललोष्टकः ।
चित्तपुष्करबीजान्तर्निलीनानुभवाङ्कुरः ॥ ५३ ॥
यत्रैष म्रियते जीवस्तत्रैवं पश्यति क्षणात् ।
प्रत्येकमुदितेष्वेवं जगत्खण्डेषु भूरिशः ॥ ५४ ॥

रहता है, यह मेरी माता है, यह मेरी धन-सम्पत्ति है, ऐसी दृढ़ वासना जागरूक रहती है, यह मेरा पुण्य है, यह पाप है, ऐसी कल्पना बद्धमूल रहती है, मैं पहले बच्चा था, किन्तु आज युवक हूँ, ऐसी प्रतीति रहती है, यों हृदयमें विलासको प्राप्त हो रहे जगद्भ्रमको देखता है ॥ ४९, ५० ॥

अब प्रत्येक जीवके उसी संसारका वनसमूहरूपसे वर्णन करते हैं—'प्रत्येकमेव०' इत्यादिसे ।

यह संसाररूपी वनसमूह प्रत्येक जीवमें उदित हुआ है । उक्त संसार-रूप वनखण्डमें तारे ही फूल हैं, काली मेघघटा ही चञ्चल पल्लव हैं, इधर-उधर चल-फिर रहे मनुष्य ही मृगोंके झुण्ड हैं, देवता और दैत्य ही पक्षीगण हैं, आलोक या प्रकाशपूर्ण दिन ही फूलोंका रज यानी पराग है, रात्रि ही बड़े घने कुञ्ज (लतागृह) हैं । वह समुद्ररूपी बावड़ीसे पूर्ण है, सुमेरु आदि पर्वत उसके ढेले हैं, चित्तरूपी कमलबीज यानी कमलगट्टेके भीतर संस्काररूपसे बैठी हुई चित्तवृत्तियाँ ही उसमें अङ्कुर हैं ॥ ५१–५३ ॥

जहाँपर यह जीव मरता है, वहींपर इस प्रकारसे वर्णित वनखण्डको एक क्षणमें देखने लगता है । इस प्रकार प्रत्येक जीवमें उदित हुए जगद्रूप बनखण्डोंमें पर्वतश्रेणियों, समुद्रसमुदायों, द्वीपों और लोकोंको ब्रह्माण्डके अन्दर

कोटयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रमरुद्विष्णुविवस्वताम् ।
गिर्यब्धिमण्डलद्वीपलोकान्तरदृशां गताः ॥ ५५ ॥
याता यास्यन्ति यान्त्येता दृष्टयो नष्टरूपिणीः ।
या ब्रह्मण्युपबृंहाढ्यास्ताः के गणयितुं क्षमाः ॥ ५६ ॥
एवं कुड्यमयं विश्वं नाऽस्त्येव मननादृते ।
मनने चलमेवाऽन्तस्तदिदानीं विचारय ॥ ५७ ॥

देखनेवाले अनेक करोड़ ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, देवता, विष्णु और सूर्य चले गये हैं यानी नष्ट हो गये हैं ॥ ५४, ५५ ॥

इस प्रकार ये मिथ्या ब्रह्माण्डकी दृष्टियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं, बीतेंगी और बीतती हैं, जो ब्रह्ममें आविर्भूत हुई हैं, उन्हें गिननेकी किसमें सामर्थ्य है ? ॥ ५६ ॥

इस प्रकार प्रपञ्चके आरोपक्रमका वर्णन कर अब क्रमशः अपवादका वर्णन करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार कुड्यमय (भित्तिके तुल्य स्थूल) जगत् मनके सङ्कल्परूप मननसे अतिरिक्त है ही नहीं, क्योंकि 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' ऐसी श्रुति है । *

शङ्का—स्थूल पदार्थ स्थिर स्वभाववाले होते हैं और मन तो चञ्चल है, ऐसी अवस्थामें विश्वकी मनोमात्रता कैसे ?

समाधान—यद्यपि बाहर विश्व स्थिर प्रतीत होता है तथापि मनन करनेमें मनसे अपने इच्छानुसार जाना जाता हुआ भीतर अस्थिरस्वभाव ही प्रतीत होता है, मनके भ्रान्त होनेपर भ्रमण करता हुआ-सा, मनके प्रसन्न होनेपर प्रसन्न हुआ-सा, मनके मलिन होनेपर मलिन-सा और मनोरथ आदिमें उत्पन्न कर दूसरी

* छान्दोग्योपनिषद् ६।४।१ में कहा है—त्रिवृत्कृत अग्निका जो लाल रूप लोकमें प्रसिद्ध है उसे अत्रिवृत्कृत तेजका रूप जानो, जो अग्निका शुक्लरूप है, उसे त्रिवृत् न किये गये जलका रूप जानो और जो अग्निका काला रूप है, उसे अत्रिवृत्कृत पृथ्वीका रूप जानो। ऐसी अवस्थामें जिसे तुम तीन रूपोंसे अतिरिक्त 'अग्नि' समझते थे, उस अग्निका अग्नित्व गया यानी उक्त तीन रूपोंका विवेक होनेसे पहले जो तुम्हारी अग्निबुद्धि थी वह अग्निबुद्धि गई और अग्निशब्द भी गया, क्योंकि वह नाममात्र है, तीन रूप ही सच हैं। जैसे उक्त स्थलमें तीन रूपसे पृथक् अग्नि नहीं है, वे तीन रूप ही सत्य हैं, स्थूल अग्नि सत्य नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें मनसे अतिरिक्त स्थूल विश्व नहीं है ।

यदेव तच्चिदाकाशं तदेव मननं स्मृतम् ।
यदेव च चिदाकाशं तदेव परमं पदम् ॥ ५८ ॥
यदेवाऽम्बु स आवर्तो न त्वस्याऽऽवर्त्त वस्तुसत् ।
द्रष्टैवाऽऽस्ते दृश्यमिव दृश्यं न त्वस्ति वस्तुसत् ॥ ५९ ॥
चिद्व्योम्नोऽभूतनभसि कचनं यन्मणेरिव ।
तज्जगद्भाविनानासत्तत्त्वं श्वभ्रमिवाऽम्बरे ॥ ६० ॥
मद्बुद्धार्थो जगच्छब्दो विद्यते परमामृतम् ।
त्वद्बुद्धार्थस्तु नाऽस्त्येव त्वमहंशब्दकादपि ॥ ६१ ॥

जगह रक्खा जाता हुआ-सा सभी लोगों द्वारा अनुभूत होता है, उसीका इस समय आप अपने अनुभवसे विचार कीजिए ॥ ५७ ॥

मनके स्वरूपका जब विचार करते हैं, तब वह साक्षीसे अतिरिक्त नहीं ठहरता और साक्षी भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, यों एकमात्र परिपूर्ण चित्का ही परिशेष रहता है, ऐसा कहते हैं—'यदेव' इत्यादिसे,

जो ही अखण्ड आनन्दस्वरूप चिदाकाश है, वही मनन कहा गया है, चिदाकाशसे अतिरिक्त मनन नहीं है और जो ही चिदाकाश है वही परम पद है ॥ ५८ ॥

उक्त बातको ही दृष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं—'यदेवाऽम्बु०' इत्यादिसे ।

जो ही जल है वही आवर्त है यानी आवर्त जलसे अतिरिक्त नहीं है, किन्तु आवर्त वस्तुसत् (यथार्थ) नहीं है, वैसे ही द्रष्टा ही दृश्यकी नाईं स्थित है दृश्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है ॥ ५९ ॥

चिदाकाशका अभूत—असत्य अथवा अनादि—मायाकाशमें अथवा सूक्ष्म भूतोंके कार्यभूत चित्ताकाशमें जो जीवरूपसे स्फुरण है, वही नाम और रूपसे नानास्वरूपको प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है। जैसे कि ऐन्द्रजालिककी मणिका आकाशमें कचन (स्फुरण) बहुत प्रकारके गन्धर्वनगररूप छिद्रोंसे युक्त-सा होता है। भाव यह कि उक्त चिदाकाश ही तत्त्व यानी परमार्थ वस्तु है ॥ ६० ॥

मुझसे जिसका अर्थ (अधिष्ठान सन्मात्र) ज्ञात है वह जगत्-शब्द परम अमृत (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अमृत, अद्वय ब्रह्म) है और आपसे जिसका अर्थ (आरोपितसत्ता) ज्ञात है ऐसा जगत्-शब्द परम अमृत नहीं ही है। जो

तस्माल्लीलासरस्वत्यावाकाशवपुषौ स्थिते ।
सर्वगे परमात्माच्छे सर्वत्राऽप्रतिघेऽनघे ॥ ६२ ॥

यत्र यत्र सदा व्योम्नि यथाकामं यथेप्सितम् ।
उदयं कुरुतस्तेन तद्गेहेऽस्ति गतिस्तयोः ॥ ६३ ॥

सर्वत्र संभवति चिद्गगनं तदत्र सद्वेदनं कलनमामननं विसारि ।
तच्चाऽऽतिवाहिकमिहाहुरकुड्यमेव देहं कथं क इव तं वद किं रुणद्धि ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने समरसमनन्तरसंस्मृत्यनुभववर्णनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

'त्वम्' और 'अहम्' शब्द का अभिलाप करता है, वह जगत् प्रमाता भी मुझसे जाना गया परम अमृत है और आपका जाना गया जगत् प्रमाता अमृत नहीं ही है ॥ ६१ ॥

उक्तका उपसंहार कर उसका प्रकृतमें सम्बन्ध जोड़ते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इससे यह निश्चित हुआ कि लीला और सरस्वती देवीका शरीर आकाशवत् सूक्ष्म था अतएव सर्वत्र जा सकती थीं । उनके अत्यन्त सूक्ष्म छेदमें भी प्रवेश करनेमें कोई रोकटोक नहीं हो सकती थी, वे दोनों निष्पाप और परमात्माके तुल्य विशुद्ध थीं ॥ ६२ ॥

अपनी स्पृहा और कामनाके अनुसार सदा यत्र तत्र आकाशमें आविर्भूत होती थीं, इस कारणसे राजा विदूरथके घरमें उनका गमन हुआ ॥ ६३ ॥

चिदाकाशका सर्वत्र सम्भव है, कहींपर भी उसका प्रतिरोध नहीं होता। वही कलन होकर यानी मानसिक विषयोंका अवधारण करनेतक बाहर प्रसरण करनेवाला बनकर यथार्थ ज्ञान होता है । उस आतिवाहिक देहको सूक्ष्म ही कहते हैं, उसे कौन पुरुष किस लिए और किस प्रकारसे रोक सकता है, यानी उसका निरोध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥

चालीसवां सर्ग समाप्त ।

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तयोः प्रविष्टयोर्देव्योः पद्मसद्म बभूव तत् ।
चन्द्रद्वयोदयोद्योतधवलोदरसुन्दरम् ॥ १ ॥
कोमलामलसौगन्ध्यमृदुमन्दारमारुतम् ।
तत्प्रभावेण निद्रालुनृपेतरनराङ्गनम् ॥ २ ॥
सौभाग्यनन्दनोद्यानं विद्रुतव्याधिवेदनम् ।
सवसन्तं वनमिव फुल्लं प्रातरिवाऽम्बुजम् ॥ ३ ॥
तयोर्देहप्रभापूरैः शशिनिस्यन्दशीतलैः ।
आह्लादितोऽसौ बुबुधे राजोक्षित इवाऽमृतैः ॥ ४ ॥
आसनद्वयविश्रान्तं स ददर्शाऽप्सरोद्वयम् ।
मेरुशृङ्गद्वये चन्द्रबिम्बद्वयमिवोदितम् ॥ ५ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग

[सोकर जागे हुए राजा द्वारा घरमें प्रविष्ट हुई देवियोंका पूजन तथा राजाके वंशका, पूर्वजन्मकी स्मृतिका और ज्ञप्ति द्वारा आत्मोपदेशका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्रजी, उन दो देवियोंके प्रविष्ट होनेपर राजा पद्मके घरका भीतरी भाग दो चन्द्रमाओंके उदय होनेपर जैसा प्रकाश होता है, वैसे प्रकाशसे धवल अतएव सुन्दर हो गया ॥ १ ॥

उसमें स्पर्श होनेपर बड़े भले लगनेवाले और निर्मल सुगन्धिवाले मृदु मन्दार पवन बहने लगे। उन देवियोंके प्रभावसे राजाके सिवा घरके अन्य नर-नारी निद्रायुक्त हो गये ॥ २ ॥

वह सुन्दरतामें नन्दन वनके तुल्य हो गया, व्याधि, पीड़ा उससे दूर हो गई, वसन्तके उल्लाससे युक्त वनकी नाईं और प्रातःकालके खिले हुए कमलकी नाईं रमणीक हो गया ॥ ३ ॥

चन्द्रमाके द्रवके समान शीतल उनकी देहके कान्तिपटलसे, अमृतसे सिक्त हुएकी नाईं, आह्लादित होकर वह राजा जाग उठा ॥ ४ ॥

उसने दो आसनोंपर बैठी हुईं, मेरुके दो शिखरोंपर उदित हुए दो चन्द्र-बिम्बोंकी नाईं, दो अप्सराओंको देखा ॥ ५ ॥

निमेषमिव सञ्चिन्त्य स विस्मितमना नृपः ।
उत्तस्थौ शयनाच्छेषादिव चक्रगदाधरः ॥ ६ ॥
परिसंयमितालम्बिमाल्यहाराधराम्बरः ।
पुष्पाहार इवोत्फुल्लं जग्राह कुसुमाञ्जलिम् ॥ ७ ॥
उपधानप्रदेशस्थात् स्वयं पटलकोटरात् ।
बद्धपद्मासनो भूमौ भूत्वोवाचेदमानतः ॥ ८ ॥
जयतां जन्मदौस्थित्यदाहदोपशशिप्रभे ।
देव्यौ बाह्यान्तरतमोविद्रावणरविप्रभे ॥ ९ ॥
तयोरुक्त्वेति तत्याज पादयोः कुसुमाञ्जलिम् ।
तीरद्रुमो विकसितः पद्मिन्योः पद्मयोरिव ॥ १० ॥
लीलायै भूपजन्माऽथ वक्तुं मन्त्रिणमीश्वरी ।
बोधयामास पार्श्वस्थं सङ्कल्पेन सरस्वती ॥ ११ ॥

राजाको बड़ा विस्मय हुआ, एक क्षणभर अपने मनमें विचारकर जैसे शेषशय्यासे चक्रपाणि भगवान् गदाधर उठते हैं, वैसे ही वह शयनसे उठा ॥ ६ ॥

उसने सोते समय इधर-उधर अस्त-व्यस्त हुए माला, हार और धोतीको अपने-अपने स्थानपर ठीक किया, सिरहानेके पास रक्खी हुई फूलकी टोकरीसे भृत्यकी नाईं स्वयं ही खूब फूले हुए फूल अञ्जलिमें लिये और भूमिमें ही पद्मासन बाँधकर बड़े विनयभावसे देवियोंसे यह कहा ॥ ७, ८ ॥

हे देवियो, आपकी जय हो, आप दोनों जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिविध तापरूपी दाह-दोषको दूर करनेके लिए चन्द्रकान्ति (चाँदनी) हैं, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकारका विनाश करनेके लिए सूर्यके प्रकाशरूप हैं ॥ ९ ॥

यह कहकर राजाने, जैसे कमलके तालाबके किनारेका फूला हुआ वृक्ष कमलसरके कमलोंपर फूलोंकी वृष्टि करता है वैसे ही, उनके चरणकमलोंपर पुष्पाञ्जलि अर्पित की ॥ १० ॥

देवी सरस्वतीने, लीलाके प्रति राजाका जन्मवृत्तान्त कहनेके लिए, सङ्कल्पसे पासमें स्थित मन्त्रीको जगाया ॥ ११ ॥

प्रबुद्धोऽप्सरसौ दृष्ट्वा प्रणम्य कुसुमाञ्जलिम् ।
तयोः पादेषु संत्यज्य विवेश पुरतो नतः ॥ १२ ॥
उवाच देवी हे राजन् कस्त्वं कस्य सुतः कदा ।
इह जात इति श्रुत्वा स मन्त्री वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥
देव्यौ युष्मत्प्रसादोऽयं भवत्योरपि यत्पुरः ।
वक्तुं शक्नोमि तद्देव्यौ श्रूयेतां जन्म मत्प्रभोः ॥ १४ ॥
आसीदिक्ष्वाकुवंशोत्थो राजा राजीवलोचनः ।
श्रीमान् कुन्दरथो नाम दोश्छायाच्छादितावनिः ॥ १५ ॥
तस्याऽभूदिन्दुवदनः पुत्रो भद्ररथाभिधः ।
तस्य विश्वरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो बृहद्रथः ॥ १६ ॥
तस्य सिन्धुरथः पुत्रस्तस्य शैलरथः सुतः ।
तस्य कामरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो महारथः ॥ १७ ॥

जागे हुए मन्त्रीने अप्सराओंके सदृश मनोहररूपवाली दो देवियोंको देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित कर बड़े विनयसे उनके आगे उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

देवीने राजासे कहा—हे राजन्, आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और कब यहाँ उत्पन्न हुए ? इस प्रश्नको सुनकर मन्त्रीने उत्तर दिया ॥ १३ ॥

हे देवियो, यह आप लोगोंका ही प्रसाद है कि जो मैं आपके सामने भी बोलनेमें समर्थ हो रहा हूँ। अतः हे देवियो, आप लोग मेरे स्वामीका जन्म सुनिए ॥ १४ ॥

पहले ईक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए राजा श्रीमान् कुन्दरथ थे, उनके कमलके सदृश विशाल नेत्र थे और उन्होंने अपने बाहुओंकी छायासे आच्छादितकी नाईं शत्रुओं और दरिद्रतासे जनित दुःखके निवारण द्वारा पृथिवीका पालन किया। उनका चन्द्रमाके सदृश सुन्दरमुखवाला भद्ररथ नामका लड़का हुआ। उसका विश्वरथ नामका लड़का हुआ। विश्वरथका बृहद्रथ नामका लड़का हुआ। उसका सिन्धुरथनामक लड़का हुआ। सिन्धुरथके लड़केका नाम शैलरथ पड़ा। शैलरथसे कामरथ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। कामरथसे महारथ

तस्य विष्णुरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो नभोरथः ।
अयमस्मत्प्रभुस्तस्य पुत्रः पूर्णामलाकृतिः ॥ १८ ॥

अमृतापूरितजनः क्षीरोदस्येव चन्द्रमाः ।
महद्भिः पुण्यसंभारैर्विदूरथ इति श्रुतः ॥ १९ ॥

जातो मातुः सुमित्राया गौर्या गुह इवाऽपरः ।
पिताऽस्य दशवर्षस्य दत्वा राज्यं वनं गतः ॥ २० ॥

पालयत्येष भूपीठं ततः प्रभृति धर्मतः ।
भवत्यावद्य संप्राप्ते फलिते सुकृतद्रुमे ॥ २१ ॥

देव्यौ दीर्घतपःक्लेशशतैर्दुष्प्रापदर्शने ।
इत्ययं वसुधाधीशो विदूरथ इति श्रुतः ॥ २२ ॥

अद्य युष्मत्प्रसादेन परां पावनतां गतः ।
इत्युक्त्वा संस्थिते तूष्णीं मन्त्रिण्यवनिपे तथा ॥ २३ ॥

पैदा हुआ। महारथका विष्णुरथ लड़का हुआ। उसका लड़का नभोरथ हुआ। ये हमारे स्वामी राजा नभोरथके महान् पुण्यपुञ्जोंसे समुद्रसे चन्द्रमाकी नाईं उत्पन्न हुए हैं, पूर्ण चन्द्रमाके समान इनकी निर्मल आकृति है, जैसे चन्द्रमा अपनी अमृतस्राविणी किरणोंसे लोगोंको आह्लादित करता है, वैसे ही इन्होंने अमृततुल्य अपने स्नेह, मधुरता, उदारता, दया आदि गुणगणोंसे लोगोंको तृप्त कर दिया है। ये माता सुमित्राकी कोंखसे उनके महान् पुण्यपुञ्जोंसे, श्रीपार्वतीजीसे गुहकी नाईं, उत्पन्न हुए हैं। इनका शुभ नाम विदूरथ है। इनके विरक्त और मोक्षेच्छु पिताश्री, जब ये दस ही वर्षके थे, इन्हें राज्य देकर तप करनेके लिए वनमें चले गये थे ॥ १५–२० ॥

हे देवियो, तभीसे लेकर ये धर्मपूर्वक भूतलका पालन कर रहे हैं। आज हमारे पुण्यरूपी वृक्षके फलनेपर आप यहां प्राप्त हुई हैं ॥ २१ ॥

हे देवियो, बड़े भारी तप आदि सैकड़ों क्लेशोंसे भी आपके दर्शन मिलने कठिन हैं। इस प्रकार दर्शनप्रदानरूप आपके प्रसादसे ये महाराज श्रीमान् विदूरथ आज अत्यन्त पवित्र हो गये हैं, यह कहकर जब मन्त्री चुप हो गया और राजा नीचे मुखकर भूमिमें पद्मासन बांधकर चुपचाप बैठे थे 'राजन्, आप

कृताञ्जलौ नतमुखे बद्धपद्मासनेऽवनौ ।
राजन् स्मर विवेकेन पूर्वजातिमिति स्वयम् ॥ २४ ॥
वदन्ती मूर्ध्नि पस्पर्श तं करेण सरस्वती ।
अथ हार्दं तमो माया पद्मस्य क्षयमाययौ ॥ २५ ॥
सुविकासं च हृदयं ज्ञप्तिस्पर्शोदयेऽभवत् ।
सस्मार पूर्ववृत्तान्तमन्तः स्फुरदिव स्थितम् ॥ २६ ॥
त्यक्तदेहैकराज्यत्वं लीलाविलसितान्वितम् ।
ज्ञात्वा प्रज्ञप्तिवृत्तान्तं लीलायास्तु विजृम्भितम् ॥ २७ ॥
आत्मोदन्तं बभूवाऽसावुह्यमान इवाऽर्णवे ।
उवाचाऽऽत्मनि संसारे बत मायेयमातता ॥ २८ ॥
परिज्ञाता प्रसादेन देव्योरिह मयाऽधुना ।

राजोवाच

हे देव्यौ किमिदं नाम दिनमेकं मृतस्य मे ॥ २९ ॥

विवेकसे स्वयं अपने पूर्वजन्मका स्मरण कीजिए' यह कह रही सरस्वतीने उनके मस्तकपर हाथसे स्पर्श किया । देवीके स्पर्श करनेके अनन्तर पद्मका हृदयान्धकार यानी माया विनष्ट हो गई ॥ २२–२५ ॥

देवी सरस्वतीके स्पर्श करनेपर राजा पद्मका हृदय बाहर-भीतर प्रकाशपूर्ण हो गया । राजाने अपने पूर्व जन्मोंके वृत्तान्तका, जो कि स्फुरित होता हुआ-सा अन्तःकरणमें स्थित था, स्मरण किया ॥ २६ ॥

राजाने लीलाके विलास (कर्तव्य) के साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्यके त्यागको, कभी पहले अनुभवपथमें आरूढ़ न हुए भी देवी सरस्वतीके वृत्तान्तको, लीलाकी अत्युन्नतिको और अपने वृत्तान्तको जाना । उसे जानकर राजा समुद्रमें गोते लगाता हुआ-सा विस्मयमें पड़ गया । उसने अपने मनमें कहा, बड़े खेदकी बात है कि संसारमें यह माया फैलायी गई है ॥ २७,२८ ॥

इस समय इन देवियोंकी कृपासे मुझे इसका परिज्ञान हुआ है ।

राजाने कहा—हे देवियो, यह क्या बात है कि मुझे मरे एक ही दिन हुआ है, पर यहां मेरी आयु बीत चली है, मुझे पैदा हुए सत्तर वर्ष व्यतीत

गतमद्येह जातानि वयो वर्षाणि सप्ततिः ।
स्मराम्यनेककार्याणि स्मरामि प्रपितामहम् ॥ ३० ॥
स्मरामि बाल्यं तारुण्यं मित्रं बन्धुपरिच्छदम् ।

ज्ञप्तिरुवाच

राजन् मृतिमहामोहमूर्छायाः समनन्तरम् ॥ ३१ ॥
तस्मिंल्लोकान्तरेऽतीते तस्मिन्नेव मुहूर्त्तके ।
तस्मिन्नेव गृहे चाऽस्मिन्नेव व्योम्न्यपि सद्मनि ॥ ३२ ॥
अयं तस्य गृहस्याऽन्तर्व्योमन्येव किल स्थिते ।
गिरिग्रामकविप्रस्य गृहेऽन्तर्भूपमण्डपः ॥ ३३ ॥
तस्याऽन्तरेयमाभाति प्रत्येकं च जगद्गृहम् ।
किल ब्राह्मणगेहान्तर्जीवस्ते मदुपास्थितः ॥ ३४ ॥

हो गये हैं। मुझे इस जन्मके अनेक कार्योंका जो स्मरण हो रहा है मुझे अपने पितामहकी जो याद आ रही है, मैं अपनी बाल्यावस्थाका जो स्मरण करता हूँ, युवावस्थाका जो स्मरण करता हूँ, मित्रोंकी मुझे जो स्मृति हो रही है, बन्धुबान्धव आदि परिवारका जो स्मरण हो रहा है, सो कैसे ?

अधिष्ठानचिन्मात्र ही सम्पूर्ण प्रपञ्चका तत्त्व है यानी यथार्थ स्वरूप है, वही अपना स्वरूप है उससे अतिरिक्त सब मायामात्र है, यों तत्त्वका उपदेश करनेके लिए पहले दूर देश और कालमें स्थित अन्य लोकमें गमनभ्रमका निवारण कर रही सरस्वती देवीने कहा—'राजन्' इत्यादिसे ।

श्रीसरस्वती देवीने कहा—राजन्, मरणरूपी महामोहमयी मूर्छाके बाद तुरन्त उसी क्षणमें तुम्हारे इसी घरके, उसके अधिष्ठानभूत चिदाकाशके मायारूप आवरणसे तिरोहित होनेपर, गिरिग्रामवाले ब्राह्मणके घरके अन्दर स्थित होनेपर उक्त पद्मलोकान्तरमें उसी राजमहलमें उसमें भी प्रधान राजसदनके अन्दर आकाशमें ही यह ब्रह्माण्डमण्डप है ॥ २९–३३ ॥

उस ब्रह्माण्डमण्डपके अन्दर यह प्रत्यक्ष देखा जाता हुआ तुम्हारा जन्म आदि आपाततः प्रतीत हो रहा है।

शङ्का—तो क्या वही ब्राह्मण जगत् इस प्रकार प्रतीत होता है ?

तत्रैव तस्य भूपीठं तस्मिंश्च किल मण्डपे ।
तस्यैव च गृहस्याऽन्तरिदं संसारमण्डलम् ॥ ३५ ॥
तत्रैवेदं तव गृहं स्थितमारम्भमन्थरम् ।
तत्रैव चेतसि तव निर्मलाकाशनिर्मले ॥ ३६ ॥
प्रतिभामागतमिदं व्यवहारभ्रमाततम् ।
यथेदं नाम मे जन्म तथेक्ष्वाकुकुलं मम ॥ ३७ ॥
एवंनामान एते मे पुराऽभूवन् पितामहाः ।
जातोऽहमभवं बालो दशवर्षस्य मे पिता ॥ ३८ ॥
परिव्राड्विपिनं यात इह राज्येऽभिषिच्य माम् ।
ततो दिग्विजयं कृत्वा कृत्वा राज्यमकण्टकम् ॥ ३९ ॥
अमीभिर्मन्त्रिभिः पौरैः पालयामि वसुन्धराम् ।
यज्ञक्रियाक्रमवतो धर्मे पालयतः प्रजाः ॥ ४० ॥
वयसः समतीतानि मम वर्षाणि सप्ततिः ।
इदं परबलं प्राप्तं मम दारुणविग्रहः ॥ ४१ ॥

समाधान—नहीं, प्रत्येक यानी भिन्न-भिन्न जगद्-रूपी घर ब्राह्मणगृहके अन्दर है और मेरा भक्त तुम्हारा जीव भी ब्राह्मणके घरके अन्दर है ॥ ३४ ॥

उसी ब्राह्मणगृहमें उसी मण्डपमें उसका (तुम्हारे जीवका) भूतल है उसी घरके अन्दर यह परिदृश्यमान पाञ्च संसारमण्डल है। वहींपर तुम्हारा यह महासमृद्धिशाली घर स्थित है, वहींपर निर्मल आकाशके तुल्य निर्मल तुम्हारे चित्तमें व्यवहारभ्रमका विस्तार करनेवाला यह दृश्य प्रपञ्च प्रतीतिको प्राप्त हुआ है। व्यवहारभ्रमपरम्पराकी विस्तारकताका, जो कि सबको अनुभूत है, उल्लेख करते हैं—'यथा' इत्यादिसे। जैसे कि यह मेरा जन्म है, मेरा इक्ष्वाकु कुल है, ये इस नामके मेरे पिता, पितामह आदि पहले हुए थे। मैं उत्पन्न हुआ, बालक रहा, जब मैं दस वर्षका था, मेरे पिता यहांपर राज्यमें मेरा अभिषेक कर संन्यासी हो बनको चले गये। तदुपरान्त दिग्विजय करके राज्यको कण्टकशून्य (शत्रुविहीन) बनाकर इन मन्त्रियों और नागरिकोंके साथ मैं पृथिवीका पालन करता हूँ, यज्ञक्रिया करते और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते-करते मेरी अवस्थाके सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस समय

युद्धं कृत्वेदमायातो गृहमस्मिन्यथास्थितम् ।
इमे देव्यौ गृहे प्राप्ते समेते पूजयाम्यहम् ॥ ४२ ॥
पूजिता हि प्रयच्छन्ति देवताः स्वसमीहितम् ।
ममेयमेतयोरेका ज्ञानं जातिस्मृतिप्रदम् ॥ ४३ ॥
इह दत्तवती देवी भाऽब्जस्येव विकासनम् ।
इदानीं कृतकृत्योऽस्मि जातोऽस्मि गतसंशयः ॥ ४४ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
इतीयमातता भ्रान्तिर्भवतो भूरिसंभ्रमा ॥ ४५ ॥
नानाचारविहाराढ्या सलोकान्तरसञ्चरा ।
अस्मिन्नेव मुहूर्त्ते त्वं मृतिमभ्यागतः पुरा ॥ ४६ ॥
तदैव प्रतिभैषा ते स्वयमेवोदिता हृदि ।
एकामावर्त्तचलनां त्यक्त्वा दत्ते यथाऽपराम् ॥ ४७ ॥
क्षिप्रमेव नदीवाहो चित्प्रवाहस्तथैव च ।
आवर्त्तान्तरसंमिश्रो यथावर्त्तः प्रवर्त्तते ॥ ४८ ॥

शत्रुसेनाने मेरे ऊपर चढ़ाई कर रक्खी है। उसके साथ मेरा भीषण युद्ध चल रहा है, युद्ध करके मैं घर आया हूँ, इस घरमें यथापूर्व स्थित हुआ हूँ। ये देवियां मेरे घरमें प्राप्त हुई हैं, मैं इनका पूजन करता हूँ। यह निश्चित बात है कि पूजित देवता मनोकामना पूरी करते हैं। इन दोनोंमें से एक देवीने जैसे सूर्यकी प्रभा कमलको विकास देती है वैसे ही मुझे यहांपर ऐसा ज्ञान दिया जो पूर्वजन्मस्मृतिप्रद है, इस समय मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे सन्देह कट गये हैं ॥ ३५–४४ ॥

मैं सम्पूर्ण दुःखोंके उपरत होनेसे शान्त होऊँगा, निरतिशय सुखकी समृद्धि होनेसे मुक्त होऊँगा, केवल एकरस सुख ही होकर मैं स्थित होऊँगा, इस प्रकारकी प्रचुर शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त भ्रान्ति, जो कि नाना प्रकारके आचार विहारों और लोकान्तरमें गमनसे युक्त है, फैली है। पहले जिस मुहूर्तमें तुम मृत्युको प्राप्त हुए, उसी समय यह प्रतिभा अपने-आप तुम्हारे हृदयमें उदित हुई। जैसे नदीका प्रवाह एक आवर्तका त्यागकर शीघ्र ही दूसरे आवर्तका ग्रहण करता है यानी बनाता है, वैसे ही चित्तप्रवाह भी एक

कदाचिदेवं सर्गश्रीर्मिश्रामिश्रा च वर्द्धते ।
तस्मिन्मृतिमुहूर्त्ते ते प्रतिभानमुपागतम् ॥ ४९ ॥
एतज्जालमसद्रूपं चिद्भानोः समुपस्थितम् ।
यथा स्वप्नमुहूर्तेऽन्तः संवत्सरशतभ्रमः ॥ ५० ॥
यथा सङ्कल्पनिर्माणे जीवनं मरणं पुनः ।
यथा गन्धर्वनगरे कुड्यमण्डनवेदनम् ॥ ५१ ॥
यथा नौयानसंरम्भे वृक्षपर्वतवेपनम् ।
यथा स्वधातुसंक्षोभे पूर्वपर्वतनर्त्तनम् ॥ ५२ ॥
यथा ऽसमञ्जसं स्वप्ने स्वशिरःप्रविकर्त्तनम् ।
मिथ्यैवैवमियं प्रौढा भ्रान्तिराततरूपिणी ॥ ५३ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽसि न मृतोऽसि कदाचन ।
शुद्धविज्ञानरूपस्त्वं शान्त आत्मनि तिष्ठसि ॥ ५४ ॥

सृष्टिका त्यागकर दूसरी सृष्टिका ग्रहण करता है। जैसे आवर्त कभी अन्य आवर्तसे मिला हुआ और कभी बिना मिला हुआ प्रवृत्त होता है वैसे ही यह सृष्टि भी जाग्रत्में अन्य जीवोंकी सृष्टिसे युक्त और स्वप्नमें अमिश्र यानी अन्य जीवोंकी सृष्टिसे रहित है, उस मरण-मुहूर्तमें चिद्रूप सूर्य जो तुम हो तुम्हारी प्रतिभाको प्राप्त हुआ असद्रूप यह जगज्जाल उपस्थित हुआ है। जैसे स्वप्नके एक मुहूर्तके अन्दर सैकड़ों वर्षोंकी भ्रान्ति होती है ॥ ४५–५० ॥

जैसे मनोरथमें जीवन और मरण होते हैं, जैसे गन्धर्वनगरमें भीत और भीतको शोभित करनेवाले चित्रोंकी प्रतीति होती है, जैसे नौकाके वेगसे चलनेपर वृक्ष और पर्वतोंका कम्पन (चलन) प्रतीत होता है, जैसे अपने वात, पित्त आदि धातुओंका सन्निपात होनेपर पर्वतोंका चलना प्रतीत होता है और जैसे स्वप्नमें अपने शिरको काटना दिखाई देता है, जो पूर्वमें कभी अनुभूत नहीं है और जो अभ्यवहार्य्य है, वैसे ही विस्तृत रूपवाली अतएव दुरुच्छेद्य यह प्रपञ्चभ्रान्ति भी मिथ्या ही है ॥ ५१–५३ ॥

तब परमार्थ वस्तु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर देवी कहती हैं— 'वस्तुतस्तु' इत्यादिसे ।

वास्तवमें न तो तुम कभी उत्पन्न हुए हो और न तुम कभी मरे हो, किन्तु विशुद्धविज्ञानस्वरूप शान्त तुम अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित हो ॥ ५४ ॥

पश्यसीवैतदखिलं न च पश्यसि किञ्चन ।
सर्वात्मकतया नित्यं प्रकचस्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५५ ॥
महामणिरिवोदार आलोक इव भास्वरः ।
वस्तुतस्तु न भूपीठमिदं न च भवानयम् ॥ ५६ ॥
न चेमे गिरयो ग्रामा न चैते न च वै वयम् ।
गिरिग्रामकविप्रस्य मण्डपाकाशके किल ॥ ५७ ॥
वह्लीलाभर्तृदाराढ्यं जगदाभाति भास्वरम् ।
तत्र लीलाराजधानी मण्डपामण्डिताकृतिः ॥ ५८ ॥
भाति तस्योदरे व्योम्नि तदेवं विदितं जगत् ।
तस्मिन् जगति गेहेऽन्तर्यस्मिन् वयमिह स्थिताः ॥ ५९ ॥

दृश्यके मिथ्या होनेपर दृश्यसंवलित चिदाभासरूप दृश्यदर्शन भी मिथ्या ही है, यों विषयशून्य केवल चिन्मात्रका शेष है, इस अभिप्रायसे देवी कहती हैं—'पश्यसीव' इत्यादिसे ।

तुम इस समस्त प्रपञ्चको देखते-से हो, वास्तवमें कुछ भी नहीं देखते, क्योंकि विषय ही जब नहीं है, तब देखोगे क्या ? किन्तु तुम्हीं निर्मल महामणिके समान और भास्वर सूर्य आदिके समान अपने स्वरूपमें अपनेसे नित्य सर्वात्मभावसे प्रदीप्त होते हो ।

वस्तुतः न तो यह भूतल सत् है, न यह तुम (प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा विदूरथदेह) सत् हो, न ये पर्वत हैं, न ये ग्राम हैं और न ये तुम्हारे परिजन और शत्रु ही सत् हैं, न हम लोग ही सत् हैं ।

अल्पतरमें महत्तर वस्तुका न समा सकना ही प्रपञ्चके मिथ्यात्वका कारण है, इस आशयसे कहते हैं—'गिरिग्रामक०' इत्यादिसे ।

गिरिग्रामके ब्राह्मणके मण्डपाकाशमें सभार्य लीलापतिसे युक्त यह भास्वर (देदीप्यमान) जगत् प्रतीत होता है । उसमें बहुतसे भवनोंसे सुशोभित लीलाकी राजधानी है । उक्त ब्राह्मणके गृहाकाशमें इस प्रकारसे जाना गया यह जगत् है । जिस घरमें इस समय हम लोग बैठे हैं, वह उस जगत्में प्रतीत होता है ॥ ५५–५९ ॥

एवं तेषां मण्डपानां व्योमाऽव्योमैव निर्मलम् ।
तथैव मण्डपेष्वस्ति न मही न च पत्तनम् ॥ ६० ॥
न वनानि न शैलौघा न मेघसरिदर्णवाः ।
केवलं तत्र निःशून्ये विहरन्ति गृहे जनाः ॥ ६१ ॥
न पश्यन्ति जना नाऽपि पार्थिवा न च भूधराः ।

विदूरथ उवाच

एवं चेत्तत् कथं देवि ममेहाऽनुचरा इमे ॥ ६२ ॥
संपन्ना आत्मना सन्ति ते किमात्मनि नोऽथवा ।
जगत्स्वप्नार्थवद्भाति तस्य स्वप्ननरादयः ॥ ६३ ॥
कथमात्मनि सत्याः स्युर्न सत्या वेति मे वद ।

श्रीसरस्वत्युवाच

राजन् विदितवेद्येषु शुद्धबोधैकरूपिषु ॥ ६४ ॥

इस प्रकार मण्डपोंका जो आकाश है, वह आकाश आदिसे शून्य निर्मल (ब्रह्म) ही है । उसी प्रकार मण्डपोंमें न पृथिवी है और न नगर ही है, न वन हैं, न पर्वतश्रेणियाँ हैं, न मेघ, नदियाँ और सागर ही हैं । केवल चिन्मात्रपूर्ण उस ब्रह्मरूप मिथ्या घरमें मिथ्या पुरुष विहार करते हैं । न लोग देखते हैं, न राजा हैं और न पर्वत हैं ।

लोग नहीं देखते हैं, इस कथनसे मन्त्री, भृत्य आदि स्वप्नमें देखे गये लोगोंके तुल्य हो जायँगे, पर यह तो संभव नहीं है, ऐसी शङ्कासे राजाने पूछा—'एवं चेत्' इत्यादिसे ।

विदूरथने कहा—हे देवि, यदि ऐसा है, तो मेरे ये अनुचर यहांपर कैसे सत्य हैं ॥ ६०–६२ ॥

वे मेरे सदृश सत्स्वभाव आत्मामें जीवभावसे युक्त हैं अथवा नहीं । जगत् स्वप्नके पदार्थकी नाईं प्रतीत होता है । मेरे स्वप्ननर आदि सत्स्वभाव मुझमें कैसे सत्य होंगे और कैसे न होंगे ? यह आप मुझसे कहिये ।

यदि अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जीवभावसे उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह सत्यता तुम्हारी भी नहीं है । तत्त्वदृष्टिसे अधिष्ठानचिन्मात्ररूपसे उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह उनकी भी है ही, इस आशयसे देवीजीने उत्तर दिया—'राजन्' इत्यादिसे ।

न किञ्चिदेतत्सद्रूपं चिद्व्योमात्मसु जाग्रतम् ।
शुद्धबोधात्मनो भाति कुतो नाम जगद्भ्रमः ॥ ६५ ॥

रज्ज्वां सर्पभ्रमे शान्ते पुनः सर्पभ्रमः कुतः ।
असद्भावे परिज्ञाते कुतः सत्ता जगद्भ्रमे ॥ ६६ ॥

परिज्ञाते मृगजले पुनर्जलमतिः कुतः ।
स्वप्नकाले परिज्ञाते स्वे स्वप्नमरणं कुतः ॥
स्वस्वप्ने स्वप्नमृतिभीरमृतस्यैव जायते ॥ ६७ ॥

बुद्धस्य शुद्धस्य शरन्नभःश्रीः
स्वच्छावदातातितताशयस्य ।
अहं जगच्चेति कुशब्दकार्थो
न वस्तुतः सोऽङ्ग हि वाचिकं तत् ॥ ६८ ॥

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—हे राजन्, जिन लोगोंको ज्ञातव्य वस्तु ज्ञात हो चुकी है और जो शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे चिदाकाशरूपी पुरुषोंमें यह जगत्-सम्बन्धी कुछ भी पदार्थ सत् नहीं है । जो शुद्ध बोधस्वरूप है, उसे जगद्भ्रम कहांसे हो सकता है ? रस्सीमें सर्पभ्रमके निवृत्त हो जानेपर फिर सर्पभ्रम कहांसे होगा ? जगद्भ्रम असत्य है, यह जब भली भाँति ज्ञात हो गया, फिर उसकी सत्ता कैसे ? मरुभूमिमें प्रतीत होनेवाले मृगजलके स्वरूपका परिज्ञान होनेपर फिर उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है ? स्वप्नकालमें, जागरणसे अपने स्वरूपके परिज्ञात होनेपर, अपना मरण कैसे सत्य हो सकता है ? अपनी स्वप्नावस्थामें अमृत पुरुषको ही अपने मरणका भय होता है । मेघरूप आवरणका विनाश होनेपर जैसे शरत्कालीन आकाशकी शोभा स्वच्छ हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञानसे अज्ञानरूप आवरणका विनाश होनेपर जिसका हृदय स्वच्छ और स्फुरित होती हुई आत्मप्रभासे धवल और आत्मैक्यापत्तिसे पूर्णतारूप विस्तारको प्राप्त हुआ है, ऐसे शुद्ध और तत्त्ववेत्ता पुरुषकी बुद्धिमें अज्ञानियोंकी दृष्टिमें होनेवाली 'मैं' और 'जगत्' ऐसी प्रतीति वस्तुतः नहीं है, वह केवल वाचिक व्यवहारमात्र है ॥ ६३–६८ ॥

स्नातुं सभाकृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने भ्रान्तिविचारवर्णनं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

पञ्चमदिनम्

द्विचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे ।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत् ॥ १ ॥

महर्षि वाल्मीकिजीके इतनी कथा कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल-शिखरकी ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियोंकी सभा वाल्मीकिजीको प्रणाम कर सायङ्कालके सन्ध्यावन्दन आदि कृत्यके लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतनेपर सूर्यके उगते उगते मुनिमण्डली सभास्थानमें आ गई ॥ ६९ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

[अज्ञानावस्थामें जगत् और स्वप्नकी सत्यताका तथा वरदानपर्यन्त अवशिष्ट कथाका वर्णन]

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे जगत्की असत्यताका विस्तारसे वर्णन कर उसको दृढ़ करनेके लिए अज्ञानियोंकी दृष्टिसे उसकी अत्यन्त दृढ सत्ता कहते हैं—'यस्तु' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषकी आत्मतत्त्वमें दृढ़ व्युत्पत्ति नहीं हुई और बुद्धिमें बोधका उदय नहीं हुआ उसके लिए असत् भी यह जगत् परमार्थ सत् है; क्योंकि लोकमें जो अर्थक्रियाकारी है, उसीकी सत्यरूपसे प्रसिद्धि होती है, यह भाव है ॥ १ ॥

यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः ।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ २ ॥
ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम् ।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ ३ ॥
यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी ।
अर्थक्रियाकरी भाति तथा मूढधियां जगत् ॥ ४ ॥
अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा ।
कटकज्ञप्तिरेवाऽस्ति न मनागपि हेमधीः ॥ ५ ॥
तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा ।
इयं दृश्यदृगेवाऽस्ति न त्वन्या परमार्थदृक् ॥ ६ ॥
यथा नभसि मुक्तालीपिच्छकेशोण्ड्रकादयः ।
असत्याः सत्यतां याता भात्येवं दुर्दृशां जगत् ॥ ७ ॥

असत् पदार्थकी अज्ञानीके प्रति अर्थक्रियाकारिता कहां देखी गई है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे असत् ही वेताल बालकको मृत्युपर्यन्त सब दुःखोंका देनेवाला है, वैसे ही मूढ़मतिको सत्की नाईं प्रतीत हो रहा यह असत् जगत् मृत्युपर्यन्त सब दुःखोंका देनेवाला है ॥ २ ॥

जैसे मरुभूमिस्थित सूर्यका आतप ही अज्ञ मृगोंकी दृष्टिमें सत्यजलरूपसे प्रतीत हुआ मृगोंके भ्रमका कारण होता है, वैसे ही असत्य ही यह जगत् मूढ़मतिकी दृष्टिमें सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

जैसे प्राणियोंकी असत्य ही स्वप्नमृत्यु सत्यरूपिणी होकर अर्थक्रियाकारिणी (शोक, रोदन आदि अर्थक्रियाकारिणी) होती है, वैसे मूढबुद्धियोंको यह जगत् शोक, मोह आदि देनेवाला है ॥ ४ ॥

जिस पुरुषको कटक, कुण्डल आदिमें अनुगत सुवर्णका परिज्ञान नहीं है, उसको जैसे कनकके कटकमें कटक-ज्ञान ही होता है, सुवर्ण-ज्ञान नहीं होता, वैसे ही अज्ञ पुरुषकी नगर, गृह, पर्वत गजराज आदिसे व्याप्त वह दृश्यदृष्टि ही है, अन्य परमार्थदृष्टि (सर्वानुगत ब्रह्मदृष्टि) नहीं है ॥ ५–६ ॥

जैसे विकृतदृष्टिवालोंको आकाशमें मुक्तावली, मोरपंखे और कुण्डलाकार

दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं विद्ध्यहन्तादिसंयुतम् ।
अत्राऽन्ये स्वप्नपुरुषा यथा सत्यास्तथा शृणु ॥ ८ ॥
अस्ति सर्वगतं शान्तं परमार्थघनं शुचि ।
अचेत्यचिन्मात्रवपुः परमाकाशमाततम् ॥ ९ ॥
तत्सर्वगं सर्वशक्ति सर्वं सर्वात्मकं स्वयम् ।
यत्र यत्र यथोदेति तथाऽऽस्ते तत्र तत्र वै ॥ १० ॥
तेन स्वप्नपुरे द्रष्टा यान्वेत्ति पुरवासिनः ।
नरानिति नरा एव क्षणात्तस्य भवन्ति ते ॥ ११ ॥
यद्द्रष्टुश्चित्स्वरूपं तत्स्वप्नाकाशान्तरस्थितम् ।
स्वप्नाकाशचित्ताभं हि नरा नामेति भावितम् ॥ १२ ॥

केशोंका गोला आदि असत्य होते हुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञानियोंको यह जगत् असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

अहन्ता आदिसे युक्त इस विश्वको दीर्घ स्वप्न समझो, यहाँपर अपनेसे अतिरिक्त सत्य जन स्वप्नदृष्ट अन्य पुरुषोंके तुल्य हैं ।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो ये शास्त्र-प्रतिपादित याजन, प्रतिग्रह, उपदेश आदि अर्थक्रियायोग्य सत्य हैं, ऐसा शास्त्रमें क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधान—जैसे वे सत्य हैं, वैसा सुनो, कहते हैं—सर्वाधिष्ठान शान्त और निरतिशय सत्य निर्मल अचेत्य-चिन्मात्रवपु सर्वत्र व्याप्त परमाकाश है । वह सर्वव्यापक सर्वशक्ति सर्वात्मक स्वयं जहाँ जहाँ जैसे जैसे उदित होता है (जैसी अर्थक्रियाकारिताके योग्य आविर्भूत होता है) वहाँ वहाँ वैसे रहता है ॥ ८–१० ॥

जागरमें जैसे शास्त्रीय अर्थक्रियाके योग्य वह आविर्भूत हुआ, किन्तु स्वप्नमें वैसे अर्थक्रियाके योग्य आविर्भूत नहीं हुआ, यह अवान्तर विशेष होनेपर भी उसके सद्रूपमें कोई विशेष नहीं है, ऐसा कहते हैं—'तेन' इत्यादिसे ।

इस कारण द्रष्टा स्वप्नपुरमें जिन पुरवासियोंको नररूपसे जानता है, वे तुरन्त ही उसके नर ही हो जाते हैं ॥ ११ ॥

स्वप्नका विकाश यानी सुषुम्नानाडीका छिद्र, उसके भीतर स्थित स्वप्नाध्यस्त विपुलाकाशमें परिवर्तमान और चित्तकी वासनाके अनुसार तत्-तत् पदार्थोंके रूपसे विवर्तताको प्राप्त हुआ द्रष्टाका जो चित्स्वरूप है, वही भावित होता हुआ 'नर' यों नामको प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

वेदितृत्वैक्यवशतो नरतेवाऽवबुध्यते ।
आत्मन्यतश्चिद्बलेन द्वयोरप्येति सत्यता ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नेऽपि स्वप्नपुरुषा न सत्याः स्युर्मुने यदि ।
वद तत्को भवेद्दोषो मायामात्रशरीरिणि ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वप्ने न पुरवास्तव्या वस्तुतः सत्यरूपिणः ।
प्रमाणमत्र शृणु मे प्रत्यक्षं नाम नेतरत् ॥ १५ ॥

स्वप्न और जागर दोनों अवस्थाओंमें भी आत्मामें नरता आदिके अवबोधमें और अध्यस्त सत्यतावबोधमें अन्योन्यतादाम्यसंसर्गाध्यास ही हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'वेदितृ०'** इत्यादिसे ।

सत्य स्वप्रकाश अपरोक्ष चैतन्यके तादात्म्यसे जनित संसर्गाध्याससे नरता-सी ज्ञात होती है, अतः चित्के बलसे स्वप्न और जागरमें अध्यस्त तत्-तत् धर्मोंकी आत्मामें सत्यता प्रसिद्ध होती है ॥ १३ ॥

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत्के दृश्य पदार्थ परस्पर मिलित माया और उसके आधिष्ठानात्मक सत्य और अनृत हैं, ऐसा कहा गया, ऐसी अवस्थामें स्वप्नपदार्थ केवल अनृतमात्र हों, उनमें सत्यांशके प्रवेशसे क्या लाभ है ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'स्वप्ने'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यदि जाग्रत्-पुरुष अधिष्ठानकी सत्तासे सत्य न हों, तो व्यवहारमें विसंवाद और कर्मकाण्डका अप्रामाण्य आदि दोष होंगे, इसलिए वे सत्य हों, परन्तु केवल मायास्वरूप स्वप्नमें कल्पित स्वप्न-पुरुष उस प्रकारके सत्य न हों, तो क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि भगवान् व्यासने 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न केवल मायास्वरूप ही है, क्योंकि उसकी साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं होती) इस सूत्रसे स्वप्नको केवल मायामात्र कहा है, ऐसी अवस्थामें जाग्रत् जगत्की स्वप्नतुल्यता कैसे ? ॥१४॥

स्वप्नपदार्थ ब्रह्मके तुल्य वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इतना ही कहा जा सकता है अधिष्ठानरहित होनेके कारण अधिष्ठान सत्यतासे सत्य नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'स्वप्ने'** इत्यादिसे ।

सर्गादावात्मभूर्भाति स्वप्नाभानुभवात्मकः ।
तत्सङ्कल्पकलं विश्वमेवं स्वप्नाभमेव तत् ॥ १६ ॥
एवं विश्वमिदं स्वप्नस्तत्र सत्यं भवान्मम ।
यथैव त्वं तथैवाऽन्ये स्वप्ने स्वप्नवरा नृणाम् ॥ १७ ॥
स्वप्ने नगरवास्तव्याः सत्या न स्युरिमे यदि ।
तदिहाऽपि तदाकारे न सत्यं मे मनागपि ॥ १८ ॥
यथाऽहं तव सत्यात्मा सत्यं सर्वं भवेन्मम ।
स्वप्नोपलम्भे संसारे मिथः सिद्ध्यै प्रमेदृशी ॥ १९ ॥

स्वप्नमें स्वप्ननगरवासी लोग वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मुझसे सुनो, अन्य प्रमाणको जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यन्त असत् पदार्थ वन्ध्यापुत्र आदिका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु स्वप्नपदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है, अतः वे अत्यन्त असत् नहीं हैं ॥ १५ ॥

स्वप्न यदि अत्यन्त असत् है, तो जाग्रत् प्रपञ्चके असत्त्वका निवारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह भी तो हिरण्यगर्भका स्वप्नरूप ही है, इस आशयसे कहते हैं 'सर्गादा०' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आदिमें स्वयं प्रजापति स्वप्नसदृश आभाससे सम्पन्न थे, वे ही अनुभवरूपी हिरण्यगर्भ हैं यानी संस्कारीभूत ज्ञानसमष्टिरूपी हैं, अतएव उनके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न-सदृश है ॥ १६ ॥

इसप्रकार जगत्की स्वप्नतुल्यता और पूर्वोक्त सत्यता हुई, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह विश्व स्वप्न है, उसमें जैसे मेरी दृष्टिमें आप सत्य हैं, क्योंकि अपनी सत्यताका आप अपलाप नहीं कर सकते, वैसे ही अन्य लोग भी आपकी दृष्टि और मेरी दृष्टिसे सत्य हैं, इसी प्रकार स्वप्नमें अन्य मनुष्योंकी भी अपने अपने अनुभवके अनुसार स्वप्नसत्यता सिद्ध है ॥ १७ ॥

ये नगर और नगरवासी स्वप्नमें यदि सत्य न हों, तो स्वप्नाकार इस जाग्रत्में भी वे तनिक भी सत्य न होंगे। तुम्हारी दृष्टिमें मैं जैसे सत्यात्मा हूँ, मेरी दृष्टिमें वैसे ही सब सत्य हैं, स्वप्नसदृश संसारमें पदार्थोंकी परस्पर सिद्धिके लिए ऐसी प्रमा है ॥ १८,१९ ॥

संसारे विपुले स्वप्ने यथा सत्यमहं तव ।
यथा त्वमपि मे सत्यं सर्वं स्वप्नेष्विति क्रमः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नद्रष्टरि निर्निद्रे तद्द्रष्टुः स्वप्नपत्तनम् ।
सद्रूपत्वात्तथैवाऽऽस्ते ममेति भगवन्मतिः ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतत्तथैवाऽऽस्ते सत्यत्वात् स्वप्नपत्तनम् ।
स्वप्नद्रष्टरि निर्निद्रेऽप्याकाशविशदाकृति ॥ २२ ॥

एतदास्तामिदं तावद्यज्जाग्रदिव मन्यसे ।
विद्धि तत्स्वप्नमेवाऽऽन्तर्देशकालाद्यपूरकम् ॥ २३ ॥

जैसे इस विपुल स्वप्नरूपी संसारमें तुम्हारी दृष्टिमें मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टिमें तुम भी सत्य हो, वैसे ही सारे स्वप्नोंमें क्रम है ॥ २० ॥

यदि ऐसा है, तो स्वप्नद्रष्टाके जागनेपर भी स्वप्नप्रपञ्चकी जाग्रत्प्रपञ्चकी नाईं अवस्थिति होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, स्वप्नद्रष्टाकी नींद खुलनेपर द्रष्टाका वह स्वप्नपत्तन सद्रूप होनेसे वैसा ही रहता है। आपके कथनसे मेरी ऐसी धारणा हो गई है ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसा आप कहते हैं, वह ठीक है, सत्यरूप होनेसे स्वप्नपत्तन स्वप्नद्रष्टाके जागनेपर भी वैसा ही रहता है, क्योंकि वह अधिष्ठान सन्मात्रस्वभाव यानी सत्य ही है ॥ २२ ॥

अगर ऐसा है, तो जाग्रत्-पदार्थकी नाईं स्वप्नपदार्थोंका भी अन्य स्वप्नोंमें व्यवहारसंवाद होगा, ऐसी श्रीरामचन्द्रजीकी जिज्ञासाको चिह्नोंसे ताड़कर देशान्तर और कालान्तरकी अनुवृत्तिसे अनेक जाग्रत्-पदार्थोंमें भी असंवाद है ही, पृथ्वी, आकाश, नाम, जाति आदि कतिपय पदार्थोंकी अनुवृत्तिका संवाद स्वप्नमें भी है ही, इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कोई भी अन्तर सिद्ध नहीं किया जा सकता, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'एतदास्ताम्' इत्यादिसे ।

अथवा स्वप्नके पदार्थ यदि सत्य हों, तो जागरणमें भी उनकी अनुवृत्ति

एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ।
रञ्जयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम् ॥ २४ ॥
सर्वत्र विद्यते सर्वं देहस्याऽन्तर्बहिस्तथा ।
यत्तु वेत्ति यथा संवित्तत्तथा स्वैव पश्यति ॥ २५ ॥
यत्कोशे विद्यते द्रव्यं तद्द्रष्ट्रा लभ्यते यथा ।
तथाऽस्ति सर्वं चिद्व्योम्नि चेत्यते तत्त्वनेन वै ॥ २६ ॥

होनी चाहिए, श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी शङ्काको ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'एतद्' इत्यादिसे ।

आपकी शङ्का रहे, यदि आप स्वप्नके पदार्थोंकी जाग्रत्कालके बाहरी देश और कालमें अनुवृत्ति नहीं होती, इसलिए उन्हें असत्य समझते हैं, तो जिसे आप जाग्रत् मानते हैं, उसकी भी तो आभ्यन्तर स्वाप्न देश और कालमें अनुवृत्ति नहीं होती यानी वह भी स्वाप्निक देशकालका पूरक नहीं होता, ऐसी अवस्थामें दोनोंकी स्वप्नतुल्यता समान ही है ॥ २३ ॥

इस प्रकार अधिष्ठानसत्तासे स्वप्न और जाग्रत्के सत्य होनेपर भी सम्पूर्ण यानी जाग्रत् और स्वाप्न देश तथा कालके पूरक न होनेसे स्वतः उनकी सत्यता नहीं है, इसलिए दोनोंका मिथ्यात्व तुल्य है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपञ्च सत्य नहीं है, किन्तु अधिष्ठानसत्तासे सत्य-सा प्रतीत होता है । स्वप्नस्त्रीसङ्गमकी नाईं मिथ्या ही अपनेमें आसक्ति कराकर जीवको मोहित करता है ॥ २४ ॥

संवित् सम्पूर्ण यानी स्वप्न और जाग्रत् देश और कालकी पूरक होनेसे सत्य है और मायाशक्तिसे सर्वत्र सर्वपदार्थरूपसे स्फुरणसामर्थ्य भी उसमें है, ऐसा कहते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे ।

सब वस्तु देहके अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है, संवित् जैसा जानती है, वह वैसे अपनेको ही देखती है ॥ २५ ॥

जैसे कोशमें जो धन रहता है, उसको उसका द्रष्टा अवश्य जानता है, वैसे ही चिदाकाशमें सब कुछ है, उसका चिदाकाश ही अनुभव करता है ॥ २६ ॥

अनन्तरमुवाचेदं देवी ज्ञप्तिर्विदूरथम् ।
कृत्वा बोधामृतासेकैर्विवेकाङ्कुरसुन्दरम् ॥ २७ ॥
एतदेव मया राजन् लीलार्थमुपवर्णितम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यावो दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति प्रोक्ते सरस्वत्या गिरा मधुरवर्णया ।
उवाच वचनं धीमान् भूमिपालो विदूरथः ॥ २९ ॥

विदूरथ उवाच

ममाऽपि दर्शनं देवि मोघं भवति नाऽर्थिनि ।
महाफलप्रदायास्तु कथं तव भविष्यति ॥ ३० ॥
अहं देहं समुत्सृज्य लोकान्तरमितोऽपरम् ।
निजमायामि हे देवि स्वप्नात् स्वप्नान्तरं यथा ॥ ३१ ॥
पश्याऽऽदिशाऽऽशु मां मातः प्रपन्नं शरणागतम् ।
भक्तेऽवहेला वरदे महतां न विराजते ॥ ३२ ॥

तदुपरान्त देवी सरस्वतीने राजा विदूरथको ज्ञानरूपी अमृतके सेकसे विवेक-युक्त बनाकर उनसे यह कहा ॥ २७ ॥

राजन्, यह सब पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान लीलाकी प्रीतिके लिए ही मैंने तुमसे कहा । तुम्हारे अभिलषित पदार्थकी सिद्धि हो, लीलाने पूर्वोक्त जगन्मिथ्यात्वकी दृष्टान्त-भूता मण्डपके अन्दर तुम्हारी ब्रह्माण्डकल्पनारूपी दृष्टियाँ देख ली हैं ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीमन्, मधुर अक्षरोंसे युक्त वाणीसे देवी सरस्वतीके 'तुम्हारे अभिलषित पदार्थकी सिद्धि हो' यह कहनेपर उक्त कथनके तात्पर्यको जाननेवाले राजा विदूरथने श्रीदेवीजीसे कहा ॥ २९ ॥

विदूरथने कहा—देवीजी, मैं साधारण मनुष्य हूँ, थोड़ा-सा दान दे सकता हूँ, फिर भी किसी याचकको मेरा दर्शन हो जाय, तो वह निष्फल नहीं जाता । आप तो महाफल देनेवाली हैं, फिर आपका दर्शन कैसे निष्फल हो सकता है ? हे देवी, जैसे मनुष्य एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता है, वैसे मैं अपनी पूर्वतन देहका त्याग कर दूसरे लोकमें शीघ्र आऊँगा । हे माता, आपकी शरणमें आया

यं प्रदेशमहं यामि तमेवाऽऽयात्वयं मम ।
मन्त्री कुमारी चैवेयं बालेति कुरु मे दयाम् ॥ ३३ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

आगच्छ राज्यमुचितार्थविलासचारु
प्राग्जन्ममण्डलपते कुरु निर्विशङ्कम् ।
अस्माभिरर्थिजनकामनिराकृतिर्हि
दृष्टा न काचन कदाचिदपीति विद्धि ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्नपुरुषसत्यत्वनिरूपणं नाम द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

श्रीसरस्वत्युवाच

अस्मिन् रणवरे राजन् मर्तव्यं भवताऽधुना ।
प्राप्तव्यं प्राक्तनं राज्यं सर्वं प्रत्यक्षमेव ते ॥ १ ॥

हूँ, मुझे आप दयापूर्ण दृष्टिसे देखिये । हे वरदायिनी, महान् लोगोंकी भक्तपर अवहेलना शोभा नहीं देती । जिस लोकमें मैं जाऊँगा, उसी लोकमें मेरा यह मन्त्री और यह अविवाहिता कन्या आवें, ऐसी मेरे ऊपर दयादृष्टि कीजिये ॥ ३०—३३ ॥

श्री सरस्वतीजीने कहा—हे पूर्वजन्मके मण्डलपति, आइये और लीलाकी भक्ति और भाग्यके अनुरूप पदार्थोंकी समृद्धिसे अत्यन्त मनोहर राज्यका आप निशङ्क होकर भोग कीजिये । हम लोगोंने कभी भी याचकोंकी अभिलाषाका प्रत्याख्यान नहीं किया और न किसीने उसे देखा ही है ॥ ३४ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

[अभीष्ट वरदान, राजधानीपर शत्रुपक्षका आक्रमण और नगरदाह तथा जल रहे नगरवासियोंकी विविध चेष्टाओंका वर्णन]

राजा द्वारा जिज्ञासित भावी बातको भी स्पष्ट कह रही देवी सरस्वतीने अवशिष्ट वरदान देनेके लिए कहा—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

कुमार्या मन्त्रिणा चैव त्वया च प्राक्तनं पुरम् ।
आगन्तव्यं शवीभूतं प्राप्तव्यं तच्छरीरकम् ॥ २ ॥

आवां यावो यथायातं वातरूपेण च त्वया ।
आगन्तव्यः स देशस्तु कुमार्या मन्त्रिणाऽपि च ॥ ३ ॥

अन्यैव गतिरश्वस्य गतिरन्या खरोष्ट्रयोः ।
मदस्विन्नकपोलस्य गतिरन्यैव दन्तिनः ॥ ४ ॥

प्रस्तुतेति कथा यावन्मिथो मधुरभाषिणोः ।
तावत्प्रविश्य संभ्रान्त उवाचोर्ध्वस्थितो नरः ॥ ५ ॥

श्रीसरस्वतीजीने कहा—राजन्, इस समय इस भीषण रणमें आपको अवश्य मरना होगा और पूर्वजन्मका राज्य आपको मिलेगा, यह सब तुम्हें प्रत्यक्ष ही होगा ॥ १ ॥

राजन् अविवाहित राजकुमारीको और मन्त्रीको पूर्वजन्मका नगर प्राप्त होगा और आपको शवरूप वह शरीर प्राप्त होगा ॥ २ ॥

राजन्, हम लोग जैसे आये थे, वैसे ही जाते हैं, लेकिन आप, राजकुमारी और मन्त्री मर कर वायुरूप होकर यानी आतिवाहिक देहरूप होकर उक्त पूर्व-जन्मके प्रदेशमें आवेंगे ॥ ३ ॥

यह आतिवाहिक देहकी गति मनोरथकी गतिके सदृश मण्डपके अन्दर संवृत आकाशमें भी सुदूर-सी हो सकती है । अश्व आदिकी गतिके समान पूर्वसिद्ध देशदैर्घ्यकी अपेक्षा नहीं होती, इस आशयसे देवीजी कहती हैं—'अन्यैव' इत्यादिसे ।

घोड़ेकी गति अन्य प्रकारकी है, गधे और ऊँटकी गति दूसरे प्रकारकी है, जिसके गण्डस्थलसे मदधारा बह रही हो ऐसे मदोन्मत्त हाथीकी गति दूसरे ही प्रकारकी है । भाव यह कि आतिवाहिक देहकी गति मनोरथकी गतिकी नाईं दूर देशमें भी और अदूर देशमें भी अन्यसे अदृश्य है । अश्व आदिकी गति वैसी नहीं है, क्योंकि अश्व आदि स्थूल और परिच्छिन्न हैं ॥ ४ ॥

मधुर भाषण करनेवाले श्रीसरस्वती देवीजी और राजामें परस्पर यह वार्तालाप हो ही रहा था कि एक भयचकित पुरुषने वहां राजाके पास प्रविष्ट

देवसायकचक्रासिगदापरिघवृष्टिमत् ।
महत्परबलं प्राप्तमेकार्णव इवोद्धतः ॥ ६ ॥
कल्पकालानिलोद्धूतकुलाचलशिलोपमम् ।
गदाशक्तिभुशुण्डीनां वृष्टिं मुञ्चति तुष्टिमत् ॥ ७ ॥
नगरे नगसंकाशे लग्नोऽग्निर्व्याप्तदिक्तटः ।
दहंश्चटचटास्फोटैः पातयत्युत्तमां पुरीम् ॥ ८ ॥
कल्पाम्बुदघटातुल्या व्योम्नि धूममहाद्रयः ।
बलात्प्रोड्डयनं कर्तुं प्रवृत्ता गरुडा इव ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

ससम्भ्रमं वदत्येवं पुरुषे परुषारवः ।
उदभूत्पूरयन्नाशा बहिः कोलाहलो महान् ॥ १० ॥
बलादाकर्णकृष्टानां धनुषां शरवर्षिणाम् ।
बृंहतामतिमत्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ११ ॥

होकर और ऊँचे स्थानपर खड़े होकर कहा—महाराज, तरङ्गाकुल सागरके समान बाण, चक्र, तलवार, गदा और मुद्गरोंकी वृष्टि करनेवाली बड़ी विशाल शत्रुसेना हमारी राजधानी पर चढ़ आई है। वह बड़े उत्साहसे सम्पन्न है और प्रलयके वायुसे उड़ाये गये कुल पर्वतोंकी शिलाओंके सदृश गदा, शक्ति, और भुशुण्डियों की वृष्टि करती है ॥ ५–७ ॥

पर्वताकार नगरमें आग लगी है, उसने अपनी ज्वालाओंसे चारों दिशाओंको व्याप्त कर रक्खा है। वह चट चट शब्दोंके साथ उत्तम नगरीको जलाती हुई तहस-नहस कर रही है ॥ ८ ॥

आकाशमें प्रलयकालकी मेघघटाके सदृश धूमके महान् पर्वत छाये हुए हैं, मालूम होता है कि वे अपनी पूरी ताकतसे उड़नेके लिए तैयार हुए गरुड़ हैं ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वह पुरुष राजासे यह सब कह ही रहा था कि बाहर दारुण चीत्कारोंसे परिपूर्ण बड़ा भारी कोलाहल हुआ, जो कि अपने तुमुल शब्दसे दिशाओंको भर रहा था। वह कोलाहल पूरी ताकतके साथ कानोंतक खींचे गये बाणोंकी वृष्टि करनेवाले धनुषोंका था, चिंघाड़ रहे

पुरे चटचटास्फोटैर्दहतां जातवेदसाम् ।
पौराणां दग्धदाराणां महाहलहलारवैः ॥ १२ ॥
तरतामग्निखण्डानां टाङ्कारः कथितो रवैः ।
ज्वलितानां परिस्पन्दाद्धगद्धगिति चाऽर्चिषाम् ॥ १३ ॥
अथ वातायनाद्देव्यौ मन्त्री राजा विदूरथः ।
ददृशुः प्रोल्लसन्नादं महानिशि महापुरम् ॥ १४ ॥
प्रलयानलसंक्षुब्धपूर्णैकार्णवरंहसा ।
पूर्णं परबलेनोग्रहेतिमेघतरङ्गिणा ॥ १५ ॥
कल्पान्तवह्निविगलन्मेरुभूधरभासुरैः ।
दह्यमानं महाज्वालाज्वालैरम्बरपूरकैः ॥ १६ ॥
मुष्टिग्राह्यमहामेघगर्जासन्तर्जितोर्जितैः ।
घोरं कलकलारावैर्मांसलैर्दस्युजल्पितैः ॥ १७ ॥

अत्यन्त मदोन्मत्त और बलवान् हाथियोंका था, नगरमें चट चट शब्दोंके साथ खूब जल रहीं आगकी ज्वालाओंका था, जिनकी स्त्रियां और बालबच्चे जल गये थे ऐसे पुरवासियोंके महान् हाहाकार, स्पन्दमान अग्निज्वालाओंके प्रज्वलित शिखाओंके धग धग शब्द, इधर उधर तैर रहे अंगारोंके शब्दोंके साथ लोगों द्वारा उच्चारित टङ्कार उत्पन्न हुआ ॥ १०–१३ ॥

तदुपरान्त दोनों देवियोंने यानी सरस्वती देवी तथा लीलाने, मन्त्री और राजा विदूरथने अपने महलके झरोंखेसे घोर रात्रिमें अपने नगरको, जिसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था, देखा ॥ १४ ॥

वह नगर प्रलयकालमें अत्यन्त विक्षुब्ध पूर्ण एकार्णवके सदृश वेगवाले भीषण हथियाररूपी मेघतरङ्गोंसे पूर्ण शत्रुके दलबलसे भरा था, प्रलयकालीन अग्निसे जल रहे मेरुपर्वतके सदृश खूब चमकदार और आकाशको छूनेवाली बड़ी बड़ी ज्वालाओंकी शिखाओंसे जल रहा था ॥ १५–१६ ॥

उक्त नगर लूटनेके समय दूसरोंको डरानेके लिए महामेघोंकी गर्जनाके सदृश अपनी डाटफटकारसे बढ़े चढ़े कोलाहलसे पूर्ण डाकुओंके शोरगुलसे भयानक था ॥ १७ ॥

पुष्करावर्तसंकाशधूम्राभ्रपिहिताम्बरम् ।
प्रोड्डीनहेमाग्रनिभैर्ज्वालापुञ्जैर्निरन्तरम् ॥ १८ ॥
तरदुल्मुकखण्डोग्रताराततरलिताम्बरम् ।
अन्योन्यदेशसद्मौघप्रज्वलज्ज्वलनाचलम् ॥ १९ ॥
हतसैन्यपुरापातं द्रुताङ्गाराभ्रकोटरैः ।
कर्कशाक्रन्दनिर्दग्धलोकपूगोग्रगर्जितम् ॥ २० ॥
कृशानुकणनाराचनिरन्तरतराम्बरम् ।
बहुहेतिशिलाजाललुठद्दग्धपुरोत्करम् ॥ २१ ॥
रणद्विरदसङ्घट्टकुट्टितोद्भटसङ्कटम् ।
विद्रवत्तस्करच्छेदमार्गकीर्णमहाधनम् ॥ २२ ॥
अङ्गारराशिनिपतन्नरनार्युग्ररोदनम् ।
स्फुटचटचटाशब्दप्रलुठत्स्फुटकाष्ठकम् ॥ २३ ॥

पुष्करावर्त मेघोंके सदृश विशाल और भयावह धूमके बादलोंसे उसका आकाश आच्छन्न था। आकाशमें उड़ रहे और स्वर्णके सदृश अग्रकान्तिवाले ज्वालापुञ्जोंसे वह ठसाठस भरा था यानी तिल रखनेको भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँ ज्वाला न हो, इधरसे उधर छनक रहे आधे जले हुए काष्ठरूपी उग्र यानी उत्पातसूचक तारोंसे उसका आकाश चञ्चल था, वहांपर ज्वालाओंके परिवर्तनसे हुए अन्योन्यदेशके विनिमयसे गृहोंके समूहरूपी बड़े बड़े अग्निके पर्वत जल रहे थे ॥ १८–१९ ॥

उस नगरमें मरे हुए सैनिकोंमेंसे बचे हुए कुछ सैनिकोंका नगरप्रवेश हो रहा था, जिनमें अङ्गार फैले हुए थे ऐसे मेघच्छिद्रोंसे वह नगर उपलक्षित था, जिन्होंने बड़े हृदयविदारक रोदनके साथ जनसमूहोंको जला डाला था, ऐसे शत्रुओं द्वारा उस नगरमें जोर जोरसे गर्जना की जा रहा थी, वह आगकी चिनगारियों और अर्धचन्द्राकार बाणोंसे अत्यन्त निरवकाश था, वहां बहुतसे शस्त्रों और शिलाओंसे अधजले पुरवासियोंके झुण्ड गिर रहे थे, रणभूमिमें हाथियोंकी टक्करसे शूरवीर सङ्कट चूरचूर हो गये थे, नगरके मार्ग, भाग रहे चोरोंका सिर काटनेसे उनके द्वारा हरे गये धनसे आकीर्ण थे, वहां अंगारोंके समूहोंसे गिर रहे नर-नारियोंका हृदयविदारक रोदन हो रहा था, जले हुए काठके टुकड़े चट

विपुलालातचक्रौघशतसूर्यनभस्तलम् ।
अङ्गारशिखिराकीर्णसमस्तवसुधातलम् ॥ २४ ॥
दग्धाथिकाष्ठक्रेङ्कारररणज्ज्वलनवैणवम् ।
दग्धजन्तुघनाक्रन्दरुदत्सकलसैनिकम् ॥ २५ ॥
पांसुशेषात्तराजश्रीवृद्धतृप्तहुताशनम् ।
सकलग्रसनारम्भसोद्योगाग्निमहाशनम् ॥ २६ ॥
यदृच्छात्कारडात्कारकठिनाग्निरटद्गृहम् ।
अनन्तजन्तुभोज्यान्नवह्निभुक्तेन्धनस्पृहम् ॥ २७ ॥
अथ शुश्राव तत्राऽसौ गिरो राजा विदूरथः ।
योधानां दग्धदाराणां पश्यतामभिधावताम् ॥ २८ ॥
हा मत्तमरुदूर्ध्वस्थानङ्गाऽऽर गृहपादपान् ।
रणात्खरखरं नीरजालामातपपन्थिनः ॥ २९ ॥

चट शब्दके साथ इधर-उधर गिर रहे थे, बड़े-बड़े अलात यानी जले हुए काष्ठोंके चक्राकार समूहोंसे आकाशतल ऐसा मालूम पड़ता था, मानो उसमें सौ सूर्य उगे हों, अँगारोंकी आगसे सम्पूर्ण पृथिवीतल व्याप्त था, जले हुए अग्नि-काष्ठों (अगर) के साथ बाँसके बड़े-बड़े डंडे क्रेङ्कार शब्द कर रहे थे, जले हुए जीवोंके करुणक्रन्दनसे सब सैनिकोंका हृदय दहल रहा था, वहांपर राज्य-श्रीका ऐसा दाह होनेपर, जब कि केवल धूली ही शेष रह गई थी, अग्नि प्रबल और तृप्त हुई, सर्वभक्षी अग्नि पूर्वोक्त प्रकारसे सम्पूर्ण नगरका ग्रसन करनेमें बड़ी उद्योगशील थी, वहांपर अकस्मात् ही दैवयोगसे प्राप्त सर्वस्वहरण और दस्युओं द्वारा लुण्ठनसे और कठिनतम (क्रूरतम) अग्निसे घर रोदन कर रहे थे, असंख्य लोगोंके भोजनके लिए पर्याप्त अन्नके वह्नि द्वारा भस्म हो जानेपर वहांपर किसीकी अवशिष्ट इन्धनमात्रमें स्पृहा हो रही थी ॥ २०—२७ ॥

तदुपरान्त राजा विदूरथने वहांपर योद्धाओंकी तथा उन लोगोंका, जिनका देखते देखते स्त्री, पुत्र, घर, द्वार आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था और इधर-उधर भाग रहे थे, वाणियाँ सुनीं ॥ २८ ॥

उनमें से किसीने किसीको सम्बोधन कर कहा—खेद है, अधिक रस होनेसे (जलाधिक्यसे) हरे-भरे अतएव सन्तापको दूर करनेवाले ऊँची जगहके हमारे

११०

हा दग्धदाराः प्रालेयशीता देहेषु दन्तिनाम् ।
मग्ना मनस्सु महतामिव विज्ञानसूक्तयः ॥ ३० ॥
हा तात हेतयो लग्नास्तरुणीकबरीतृणे ।
ज्वलन्ति शुष्कपर्णौघा इव वीरानिलेरिताः ॥ ३१ ॥
आवर्तननदीदीर्घा वहत्यूर्ध्वतरङ्गिणी ।
पश्येयं धूमयमुना व्योमगङ्गां प्रधावति ॥ ३२ ॥
वहदुल्मुककाष्ठोर्ध्वगामिनी धूमनिम्नगा ।
वैमानिकानन्धयति पश्याऽग्निकणबुद्बुदा ॥ ३३ ॥
अस्या माता पिता भ्राता जामाता स्तनपाः सुते ।
अस्मिन्सद्मनि निर्दग्धा दग्धैवाऽसत्समिन्धने ॥ ३४ ॥

घररूप वृक्षोंको या हमारे घरके समीपके वृक्षोंको उखाड़ फेंकनेके लिए विपत्ति-रूप प्रचण्डवायु रणसे खड़खड़ शब्दके साथ आई ॥ २९ ॥

हाय, पहले तुषारकी ठण्डकसे ठिठुरी हुई पीछे आगकी लपटोंसे झुलसी हुई स्त्रियाँ हाथियोंके शरीरोंमें लीन हो गईं, जैसे कि जिन्होंने ज्ञानाग्निसे स्थूल आदि देह जला डाले हैं और त्रिविधसंताप दूर करनेके कारण हिमसे भी शीतल हैं ऐसी विज्ञानसूक्तियां महान् पुरुषोंके मनमें लीन होती हैं ॥ ३० ॥

हाय हाय, युवतियोंके केशबन्धनरूपी तिनकोंमें लगी हुई और वीररूपी वायु द्वारा फेंकी गई शस्त्राग्नि सूखे हुए पत्तेके ढेरकी नाईं जलती है ॥ ३१ ॥

देखो, आवर्तोंसे (जलभौरियोंसे) और नदीके प्रवाहभेदोंसे विशाल, ऊपरको बहनेवाली धूमरूपी यमुना आकाशगङ्गासे मिलनेके लिए दौड़ी जा रही है ॥ ३२ ॥

देखो, यह ऊपरको जानेवाली धूमनदी, जिसमें अधजले काठ बह रहे हैं और चिनगारियाँ ही बुद्बुदोंकी तरह प्रतीत हो रही हैं, विमानोंसे यात्रा करनेवाले देवता, गन्धर्व आदिको अन्धा बना रही है ॥ ३३ ॥

हे पुत्री, इस बेचारीके माता, पिता, भाई, जँवाई और दूध पीनेवाले बच्चे इस घरमें जल गये हैं। इसे भी अग्निके न रहनेपर भी उनके विरहरूपी अग्निमें जली हुई ही समझो ॥ ३४ ॥

हा हा हाऽऽगच्छ ते शीघ्रमेतदङ्गारमन्दिरम् ।
इतः प्रवृत्तं पतितुं सुमेरुः प्रलये यथा ॥ ३५ ॥

अहो शरशिलाशक्तिकुन्तप्रासासिहेतयः ।
जालसन्ध्याभ्रपटलं विशन्ति शलभा इव ॥ ३६ ॥

हेतिप्रवाहा ज्वलनं नभस्यन्त्यां विशन्त्यहो ।
वडवानलमुज्ज्वालमर्णःपूरा इवाऽर्णवात् ॥ ३७ ॥

धूमायन्ति महाभ्राणि ज्वालाः शिखरिकोटिषु ।
सरसांन्यपि शुष्यन्ति हृदयानीव रागिणाम् ॥ ३८ ॥

आलानत्वरुषेवैता दन्तिभिर्वृक्षपङ्क्तयः ।
स्फुरत्कटकटारावं पात्यन्ते कृतचीत्कृतैः ॥ ३९ ॥

प्लुष्टपुष्पफलस्कन्धा गतश्रीका गृहद्रुमाः ।
गता निर्दग्धसर्वस्वा गृहस्था इव दीनताम् ॥ ४० ॥

जल्दी निकलो, तुम्हारा अँगारकी नाईं जला हुआ यह घर, प्रलयकालमें सुमेरुकी नाईं अपने स्थानसे गिरनेके लिए तयार है ॥ ३५ ॥

अहा, बाण, पत्थर, शक्ति, भाले, प्रास, तलवार आदि शस्त्रास्त्र झरोखोंके जालरूपी सन्ध्याकालीन मेघवृन्दमें टिड्डियोंकी नाईं घुस रहे हैं ॥ ३६ ॥

जैसे समुद्रसे जलप्रवाह खूब धधकती हुई ज्वालाओंसे युक्त बड़वानलमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही मारे भयके आकाशमें उड़नेकी इच्छा करनेवाली नगरीमें शस्त्रास्त्रोंकी वृष्टियाँ प्रवेश कर रही हैं ॥ ३७ ॥

अग्निकी ज्वालाएँ ऊँचे-ऊँचे प्रासादोंके शिखरोंमें स्थित बड़े-बड़े मेघोंको धुआँ-सा बना रही हैं, नगरीमें सजल तालाब, बावड़ी और उद्यान आदि रागियोंके हृदयकी नाईं सूख रहे हैं ॥ ३८ ॥

हाथी चिंघाड़ते हुए इन वृक्षपंक्तियोंको ये हमारे बन्धनस्तम्भके सजातीय हैं, इस रोषसे मानों कटकट शब्दके साथ गिरा रहे हैं ॥ ३९ ॥

घरोंके आस-पासके वृक्षोंके फूल, फल और लता आदि जल गये हैं, उनमें शोभा नाममात्रको भी नहीं रह गई है। वे उन गृहस्थोंकी नाईं, जिनका कि सर्वस्व जल गया है, दीनताको प्राप्त हो गये हैं ॥ ४० ॥

मातापितृविनिर्मुक्ता बालकास्तिमिरावलीम् ।
मग्नन्तोऽङ्गपुरथ्यासु कुड्यपातेन हा हताः ॥ ४१ ॥
वातविद्राविताऽत्रस्यन् करिण्यो रणमूर्धनि ।
पतदङ्गारकागारभारिणः कटुकूजितम् ॥ ४२ ॥
हा कष्टमसिनिर्भिन्ने स्कन्धे सन्नद्धोल्मुके ।
पतितो यन्त्रपाषाणः पुरुषस्याऽशनिर्यथा ॥ ४३ ॥
गवाश्वमहिषेभोष्ट्रश्वशृगालैडकैरहो ।
घोरै रणमिवाऽऽरब्धं मार्गरोधकमाकुलैः ॥ ४४ ॥
पटैः पटपटाशब्दजलजालालिमालितैः ।
आक्रन्दन्त्यः स्त्रियो यान्ति स्थलपद्माचिता इव ॥ ४५ ॥
स्त्रीणां ज्वालालवाः पश्य लिहन्त्यलकवल्लरीः ।
कुर्वन्तोऽशोकपुष्पाभां करभा इव पन्नगीः ॥ ४६ ॥

हाय, माता-पितासे विछुड़े हुए घने अन्धकारमें अपने घरोंको खोज रहे बालक बाणोंसे परिपूर्ण सड़कोंपर भीतके गिरनेसे मर गये ॥ ४१ ॥

रणभूमिमें वायुसे उड़ाये गये और अँगारोंको बरसानेवाले घरके छप्परसे हथिनियाँ भीषण चिंघाड़के साथ डरती थीं ॥ ४२ ॥

हाय हाय, बड़ा कष्ट है किसी पुरुषके तलवारसे कटे हुए, कड़े उल्मुक (अधजले काठ) से युक्त कन्धेमें वज्रकी नाईं यह यन्त्रपाषाण गिरा ॥ ४३ ॥

हाय हाय, व्याकुल हुए भीषण गौ, घोड़े भैंस, हाथी, ऊँट, कुत्ते, सियार और मेड़ोंने मार्गको रोकनेवाला युद्ध-सा आरम्भ कर दिया है, जरा देखिये तो सही ॥ ४४ ॥

आगकी ज्वालाओंसे झुलस जानेके भयसे गीले वस्त्र पहनकर घरोंसे निकल रहीं स्त्रियोंका वर्णन करते हैं—'पटैः' इत्यादिसे ।

जलविन्दुसमूहरूपी भ्रमरोंसे परिवेष्टित अतएव पटपट शब्द करनेवाले वस्त्रोंसे युक्त और हाथ, पैर और मुँहरूपी स्थलकमलोंसे बनी हुई-सी स्त्रियां रोती हुई जाती हैं ॥ ४५ ॥

देखो, अशोकके फूलोंकी कान्तिको धारण कर रहीं ज्वालाओंकी लपटें स्त्रियोंके अलकोंको ऐसे चाट रही हैं, जैसे ऊँट लटकी हुई पेड़ोंकी शाखाओंको या दैवात उसमें लटकी हुई सर्पिणियोंको चाटता है ॥ ४६ ॥

हा हा हरिणशावाक्ष्याः पक्ष्मलक्षणपक्ष्मसु ।
कुमार्गेष्विव विश्रान्तिमेति काशानवी शिखा ॥ ४७ ॥
दह्यमानो विनिर्याति न कलत्रं विना नरः ।
अहो बत दुरुच्छेदाः प्राणिनां स्नेहवागुराः ॥ ४८ ॥
करी रभसनिर्लूनज्वलदङ्गारपादपः ।
प्लुष्टपुष्करकः कोपान्मग्नः पुष्करदं सरः ॥ ४९ ॥
धूमोऽम्बुदपदं प्राप्य विलोलान्तस्तडिल्लतः ।
ज्वलदङ्गारनाराचनिकरं परिवर्षति ॥ ५० ॥
देव धूमः स्फुरद्वह्निकण आवर्तवृत्तिमान् ।
स्थित आपीडवान् व्योम्नि रत्नपूर्ण इवाऽर्णवः ॥ ५१ ॥

हा हा, खेद है, अग्निकी शिखा मृगछौनेके नेत्रोंके तुल्य नेत्रवाली नायिकाकी भ्रमरोंके परोंके सदृश काली नेत्रराजियोंपर जैसे कोई कुमार्गोंमें विश्राम ले वैसे विश्राम लेती है ॥ ४७ ॥

स्वयं जल रहा भी पुरुष अपने स्त्री-पुत्र आदिके बिना घरसे नहीं निकलता। ओहो बड़ा खेद है कि प्राणियोंके स्नेहबन्धनका कटना कठिन है ॥ ४८ ॥

जिसने बलके वेगसे जल रहे अँगारोंसे सना हुआ अपना बन्धनस्तम्भ तोड़ डाला, अतएव उसको खींचनेके समय जिसकी सूँड़ जल गई थी; ऐसा हाथी क्रोधसे भाग कर लोगोंको पुष्कर देनेवाले यानी कमल देनेवाले तालाबमें जाकर वहां डूब गया * ॥ ४९ ॥

धुआँ मेघोंके मार्गमें यानी वृष्टि करनेके अधिकारी आकाशस्थानमें पहुँचकर और मध्यमें चञ्चल वह्निज्वालारूपी तड़ित-लतासे युक्त होकर जल रहे अँगाररूपी बाणोंकी वृष्टि करता है। राजन्, आकाशमें जिसमें चिनगारियाँ चमक रही हैं, आवर्त (जलभौंरी) की-सी वृत्तियाँ हो रही हैं, शिखररूपी तरङ्ग उछल रही हैं, ऐसा धुआँ आकाशमें रत्नोंसे भरा हुआ, आवर्तोंसे व्याप्त और तरङ्गमालाओंसे घिरे हुए समुद्रके तुल्य प्रतीत होता है। ज्वालाओंकी कोटियोंके प्रकाशसे उज्ज्वल हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता है मानो मृत्युने

* पुष्कर सूँड़को भी कहते हैं और कमलको भी। चूंकि उसका पुष्कर (सूँड़) जल गया था, अतएव उसका पुष्कर (कमल) देनेवाले तालाबमें पुनः पुष्करप्राप्तिके लिए जाना उचित ही है, यह श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा है।

गौरमम्बरमाभाति ज्वालाशिखरतेजसा ।
मृत्युनेवोत्सवे दत्तः कुङ्कुमाक्तकरण्डकः ॥ ५२ ॥
अहो नु विषमं चेदं वर्तते वृत्तवर्जितम् ।
म्रियन्ते राजनार्योऽपि वैरिवीरैरुदायुधैः ॥ ५३ ॥
लोलस्रग्दामकुसुमैर्मार्गप्राकारकारकैः ।
अर्धनिर्दग्धकबरीकीर्णवक्षस्थलस्तनाः ॥ ५४ ॥
आलोलाम्बरसंलक्ष्यनितम्बजघनस्थलाः ।
पतन्माणिक्यवलयवलितावनिमण्डलाः ॥ ५५ ॥
छिन्नहारलताजालविकीर्णामलमौक्तिकाः ।
दृष्टादृष्टस्तनश्रेणीपार्श्वोद्यत्कनकप्रभाः ॥ ५६ ॥
कुररीकर्कशाक्रन्दमन्दीकृतरणारवाः ।
धारावाहास्रुताराविभिन्नपार्श्वविचेतनाः ॥ ५७ ॥
रक्तकर्दमबाष्पाम्बुक्लिन्नग्रन्थितवाससः ।
भुजमूलार्पितभुजैर्नीयमाना बलान्नृभिः ॥ ५८ ॥

उत्सवके लिए कुङ्कुम-केसरसे रँगा हुआ सन्दूक दिशारूपी वधुओंको दिया है। सच्चारित्र्यसे विपरीत यह बड़ा अनुचित हो रहा है कि हाथोंमें आयुध लिये हुए शत्रुवीरों द्वारा राजमहिषियाँ भी पकड़ी जा रही हैं। इन राजमहिषियोंकी दशाका क्या वर्णन करें, ये मार्गमें खूब फूलोंकी वृष्टि करनेवाली चञ्चल मालाओं और पुष्पराशिसे युक्त हैं, अधजला केशभार इनके वक्षस्थल और स्तनमण्डलपर बिखरा है। वायुके कारण फरफरा रहे वस्त्रसे इनकी कमर और जंघाएँ कुछ खुली दीख रही हैं, गिर रहे माणिक्यजटित कड़ोंसे इन्होंने पृथिवीमण्डलको आच्छन्न कर दिया है। इनके टूटे हुए हारोंसे निर्मल मोती बिखर रहे हैं, इनके पहले कभी न देखे गये स्तनमण्डलके समीपमें उदित हो रही सुवर्णकान्ति दृष्टिगोचर होती है। कुररीके शब्दकी नाईं कर्कश इनकी रोदनध्वनिसे रणका शब्द फीका पड़ गया है। धारावाहिक रूपसे निरवच्छिन्न निकली हुई रोदनध्वनियोंसे इनकी पेटकी पसलियाँ टूट-सी गई हैं, अतएव ये इस समय क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका विवेक करनेमें असमर्थ हैं। इनके ये कहीं भाग न जायँ, इस भयसे एक दूसरेसे बँधे हुए कपड़े रक्त, कीचड़ और आँसुओंसे सने हुए हैं। काँखमें हाथ डाले

क इवाऽस्मिन् परित्राता स्यादित्यादीनवीक्षितैः ।
उत्पलानीव वर्षद्भिः परिरोदितसैनिकाः ॥ ५९ ॥
मृणालकोमलाच्छोरुमूलजालैः सुनिर्मलैः ।
स्वच्छाम्बरतलालक्ष्यैराकाशनलिनीनिभाः ॥ ६० ॥
आलोलमाल्यवसनाभरणाङ्गरागा बाष्पाकुलाततचलालकवल्लरीकाः ।
आनन्दमन्दरनिरन्तरमथ्यमानात् कामार्णवात् समुदिता इव राजलक्ष्म्यः ॥६१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे अग्निदग्धगृह्यादिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजमहिषी मत्तयौवना ।
तद्विवेश गृहं लक्ष्मीरिव पङ्कजकोटरम् ॥ १ ॥

हुए पुरुष इन्हें जबरदस्ती ले जा रहे हैं। इस संकटके समय कौन हमारा त्राणकर्ता होगा, यों कातरदृष्टियोंसे ये नीलकमलोंकी वृष्टि ही कर रही हैं, इन्होंने दयासे अपने पक्षके सैनिकोंको रोआ डाला है। भँसीड़ेके समान स्वच्छ और निर्मल जँघामूलसे, जो कि स्वच्छ वस्त्रोंके अन्दर कुछ कुछ दिखाई दे रहे हैं, आकाशनलिनी सी प्रतीत हो रही है, इनकी मालाएँ, वस्त्र, आभूषण और अङ्गराग सभी अस्थिर हैं, लम्बी-लम्बी और चञ्चल अलकलताएँ आँसुओंसे सनी हुई है, ये आनन्द यानी वैषयिक सुखरूपी मन्दराचलसे मथे जा रहे कामरूपी सागरसे उत्पन्न हुई मानो राजाओंकी मूर्त्तिमती सम्पत्तियाँ हैं, अथवा राजा अर्थात् चन्द्रमा उससे युक्त लक्ष्मियाँ हैं ॥ ४९—६१ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

[अन्तःपुरकी बरबादीको सुनकर राजमहिषीको भयभीत देखकर राजाका युद्धके लिए घरसे निकलनेका और लीलाके तत्त्वका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीचमें राजमहिषी, जिसके शरीरके रोमरोमसे यौवन छलक रहा था, जैसे लक्ष्मी कमलके कोटरमें प्रवेश करती है, वैसे ही राजाके घरमें, जिसमें लीला और सरस्वती देवी स्थित थीं, प्रविष्ट हुई।

आलोलमाल्यवसना भिन्नहारलताकुला ।
अनुयाता वयस्याभिर्दासीभिर्भयविह्वला ॥ २ ॥

चन्द्राननाऽवदाताङ्गी श्वासोत्कम्पिपयोधरा ।
तारकाकारदशना स्थिता द्यौरिव रूपिणी ॥ ३ ॥

अथ तस्या वयस्यैका राजानं तं व्यजिज्ञपत् ।
भूतसंग्रामसंरब्धममरेन्द्रमिवाऽप्सराः ॥ ४ ॥

देव देवीसहाऽस्माभिः पलाय्याऽन्तःपुरान्तरात् ।
शरणं देवमायाता वातेव लता द्रुमम् ॥ ५ ॥

राजन् दारा हृतास्तास्ते बलवद्भिरुदायुधैः ।
ऊर्मिजालैर्महाब्धीनां तीरद्रुमलता इव ॥ ६ ॥

अन्तःपुराधिपाः सर्वेपिष्टाः शत्रुभिरुद्धतैः ।
अशङ्किताभिपतितैर्वातैरिव वरद्रुमाः ॥ ७ ॥

राजमहिषीकी मालाएँ और वस्त्र चञ्चल थे, छिन्न-भिन्न हारलतासे वह व्याकुल थी, सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे चल रही थीं और वह भयविह्वल थी। चन्द्रमाके तुल्य सुन्दर उसका मुँह था, सम्पूर्ण अङ्ग भँसीड़ेके समान गौर थे, उसका स्तनमण्डल श्वासोच्छ्वाससे हिल रहा था, उसके दाँत सितारोंसे मिलते-जुलते थे, वह मूर्तिमती द्यौके तुल्य थी ॥ १–३ ॥

राजमहलमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर जैसे अप्सरा भूतसंग्राममें संलग्न देवराजसे निवेदन करे, वैसे ही उसकी एक सखीने राजासे निवेदन किया ॥ ४ ॥

महाराज, देवी, (पट्टरानी) अन्तःपुरसे हम लोगोंके साथ भागकर जैसे वायुके झोंकेसे विताडित लता वृक्षकी शरण लेती है, वैसे ही आपकी शरणमें आई है। महाराज, आपकी अन्यान्य रानियोंको, जैसे महासागरकी बड़ी-बड़ी लहर तटवर्ती वृक्षोंमें आश्रित लताओंको हर ले जाती हैं, वैसे ही अस्त्रशस्त्रसे सुसज्जित बलवान् शत्रु हर ले गये हैं। अचानक आये हुए उद्धत शत्रुओंने अन्तःपुरके संरक्षार्थ नियुक्त अधिकारियोंको ऐसे चकनाचूर कर डाला जैसे कि सहसा झोंकेके साथ आई हुई भीषण आँधी सुन्दर वृक्षोंको चकनाचूर कर डालती है ॥ ५–७ ॥

दूरेणाऽशङ्कमायातैः परैर्नः पुरमाहृतम् ।
रात्रौ वर्षास्विवोद्धोपैः कमलानीव वारिभिः ॥ ८ ॥
धूमं वर्षद्भिरुन्नादैर्लेलिहानोग्रहेतिभिः ।
वह्निभिर्नः पुरं प्राप्तं परयोधैश्च भूरिभिः ॥ ९ ॥
परिवारैर्विलासिन्यो देव्य आहृत्य मूर्द्धजैः ।
आक्रन्दन्त्यो बलान्नीताः कुर्य इव धीवरैः ॥ १० ॥
इति नो येयमायाता शाखाप्रसरशालिनी ।
आपत्तामलमुद्धर्तुं देवस्यैवाऽस्ति शक्तता ॥ ११ ॥
इत्याकर्ण्याऽवलोक्याऽसौ देव्यौ युद्धाय याम्यतः ।
क्षम्यतां मम भार्येयं युष्मत्पादाब्जषट्पदी ॥ १२ ॥

वर्षाऋतुके बढ़नेके कारण विपुल कलकल नाद करनेवाला जलप्रवाह जैसे कमलोंको छिन्न-भिन्न कर मटियामेट कर डालता है, वैसे ही दूरसे निश्शङ्क होकर आये हुए शत्रुओंने रात्रिके समय हमारे नगरको लूट-खसोट डाला है ॥ ८ ॥

धुँएकी वृष्टि कर रही, तेज धक्-धक् शब्द करनेवाली तथा सापकी नाईं लपलपा रही ज्वालाओंसे युक्त अग्निने तथा साँपकी नाईं लपलपा रही तलवारोंको लिये हुए असंख्य शत्रुसैनिकोंने हमारे नगरमें प्रवेश किया। उनके अत्याचारका कहाँतक वर्णन करें, जैसे धीवर रो रही चिल्ला रही कुररीको (एक प्रकारके मृग या पक्षीको) जबरदस्ती पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही वे क्रूर शत्रु-सैनिक विविध हावभावोंसे सम्पन्न रानियोंको, जो रो रहीं और चिल्ला रहीं थीं, जबरदस्ती घसीट ले गये हैं ॥ ९, १० ॥

महाराज, इस प्रकार जो यह शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे युक्त आपत्ति हम लोगोंके ऊपर आई है, उसका समूल निवारण करनेमें केवल महाराज ही समर्थ हैं ॥ ११ ॥

महारानीकी सखीके मुँहसे यह सुनकर राजाने देवियोंकी (सरस्वती और लीलाकी) ओर देखकर कहा—देवियों, चूँकि ऐसा विपत्तियोंका पहाड़ हमारे परिजनोंपर टूट पड़ा है, अतः मैं युद्ध करनेके लिए समरभूमिमें जाता हूँ। आप क्षमा करें। मेरी अनुपस्थितिमें मेरी यह पत्नी आप लोगोंके चरणकमलोंकी सेवा करेगी, आप इसकी रक्षा करना, ऐसा अभिप्राय है ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा निर्ययौ राजा कोपारुणितलोचनः ।
मत्तेभनिर्भिन्नवनः कन्दरादिव केसरी ॥ १३ ॥
लीला लीलां ददर्शाऽथ स्वाकारसदृशाकृतिम् ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽयातामादर्शे चारुदर्शनाम् ॥ १४ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

किमिदं देवि हे ब्रूहि कस्मादियमहं स्थिता ।
या साऽभवमहं पूर्वं कथं सेयमहं स्थिता ॥ १५ ॥
मन्त्रिप्रभृतयः पौरा योधाः सबलवाहनाः ।
सर्व एव त एवेमे स्थितास्तत्र तथैव ते ॥ १६ ॥
तत्राऽपीह च हे देवि सर्वे कथमवस्थिताः ।
बहिरन्तश्च मुकुरे इवैते किं प्रचेतनाः ॥ १७ ॥

ऐसा कह कर राजा, जिसकी आँखें शत्रुओंके अत्याचारसे लाल हो गई थीं, जैसे मत्त हाथियोंने जिसका वन छिन्नभिन्न कर दिया हो ऐसा सिंह गुहासे निकले वैसे घरसे निकला ॥ १३ ॥

प्रबुद्ध लीलाने अपनी आकृतिके तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीलाको दर्पणमें प्रतिबिम्बको प्राप्त हुई-सी देखा ॥ १४ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवी, जो मैं हूँ, वही यह कैसे ? जो मैं युवावस्थामें थी वही मैं इस रूपमें कैसे स्थित हूँ । इसमें क्या रहस्य है ? यह कृपाकर मुझसे कहिये । भाव यह है कि मैं आपसे भिन्न नहीं हो सकती और अतीत अवस्थाकी स्थितिका भी सम्भव नहीं है, फिर यह अघटित घटना कैसे ? ॥ १५ ॥

दूसरी यह बात मुझे संशयमें डाल रही है कि मन्त्री आदिमें भेदप्रतीति और वे ही ये हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी विरुद्ध है, ऐसा कहती है—'मन्त्रिप्रभृतयः' इत्यादिसे ।

हे देवि, ये मन्त्री आदि नागरिक तथा बल और वाहनसे युक्त योद्धा सभी वे ही हैं, ये लोग सभी जैसे यहाँपर स्थित हैं, वैसे ही वहाँपर भी स्थित हैं ॥ १६ ॥

हे देवि, जैसे आदर्शमें बिम्बप्रतिबिम्बरूपसे वस्तु बाहर और भीतर भी रहती है, वैसे ही ये सभी वहाँपर और यहाँपर कैसे स्थित हैं ? क्या वे चेतन हैं ?

श्रीदेव्युवाच

यथा ज्ञप्तिरुदेत्यन्तस्तथाऽनुभवति क्षणात् ।
चितिश्चेत्यार्थतामेति चित्तं चित्तार्थतामिव ॥ १८ ॥
यादृगर्थं जगद्रूपं तत्रैवोदेति तत्क्षणात् ।
न देशकालदीर्घत्वं न वैचित्र्यं पदार्थजम् ॥ १९ ॥
बाह्यमाभ्यन्तरं भाति स्वप्नार्थोऽत्र निदर्शनम् ।
यदन्तः स्वप्नसङ्कल्पपुरं च कचनं चितेः ॥ २० ॥

भाव यह कि ये दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्बकी नाईं वे ही यदि यहाँ प्रतिबिम्बित हुए हैं, तो अचेतन होंगे, चेतन कैसे हो सकते हैं ? ॥ १७ ॥

चितिशक्तियाँ अचिन्तनीय हैं, तुल्य कर्म्मोंसे उद्बोधित पदार्थोंका कहींपर समान ही आविर्भाव होता है, यों देवी दृष्टिसृष्टिवादका अवलम्बन कर समाधान करती हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

श्रीदेवीने कहा—हे लीले, भीतर जैसा ज्ञान उदित होता है, वैसा ही क्षणभरमें बाहर पदार्थोंका अनुभव होने लगता है । जैसे मन स्वप्न आदिमें चित्त द्वारा अनुभूत जाग्रत् पदार्थोंके आकारको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही चिति अध्यास द्वारा चेत्याकारताको प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

जैसा संस्कारात्मक जगत्-स्वरूप चित्तमें और चितिमें है, वैसा ही वह उदित होता है । भोगकर्ताके अदृष्टसे उद्बोधित (प्रेरित) मायासंवलित चित्शक्ति अघटित वस्तुको भी गढनेमें समर्थ है, यह भाव है । ऐसी परिस्थितिमें देशकालकी स्वल्पता और विपुलताका विरोध भी हट गया, ऐसा कहती हैं—'न' इत्यादि उत्तरार्द्धसे ।

देश और कालकी अल्पता या विपुलता तथा विचित्रता पदार्थजन्य नहीं है । यदि वह पदार्थजन्य होती, तो पदार्थके स्वभावके विरुद्ध नहीं होती ॥ १९ ॥

बाह्य पदार्थ आभ्यन्तर-से प्रतीत होते हैं, इसके लिए दृष्टान्त खोजनेके वास्ते दूर भटकनेकी आवश्यकता नहीं है । इस विषयमें स्वाप्निक पदार्थ दृष्टान्त है, जो सभीको अनुभूत है । चैतन्यमें अध्यस्त होनेके कारण चैतन्यका आभ्यन्तर जगत् बाह्य-सा प्रतीत होता है, इस विषयमें स्वप्नपदार्थ दृष्टान्त है, क्योंकि

तदेतद् बाह्यनाम्नैव स्वभ्यासात् सत् स्फुटं स्थितम् ।
यादृग्भावोऽमृतो भर्ता तव तस्मिंस्तदा पुरे ॥ २१ ॥
तादृग्भावस्तमेवाऽर्थं तत्रैव समुपागतः ।
अन्य एव ह्यमी भूतास्तेभ्यस्तास्तादृशा अपि ॥ २२ ॥
सद्रूपा एव चैतस्य स्वप्नसङ्कल्पसैन्यवत् ।
अविसंवादिसर्वार्थरूपं यदनुभूयते ॥ २३ ॥
तस्य तावद्वद कथं कीदृशी वाऽपि सत्यता ।
अथवोत्तरकाले तु भङ्गुरत्वादवस्तु तत् ॥ २४ ॥
ईदृक् च सर्वमेवेदं तत्र काऽनास्तिताऽधिका ।
स्वप्ने जाग्रदसद्रूपा स्वप्नो जाग्रत्यसन्मयः ॥ २५ ॥

स्वप्नमें चेतन आत्मा ही पदार्थाकार हो जाता है, जो स्वप्न और मनोरथके नगरका भीतर स्फुरण होता है, वह चेतनका ही कचन है ॥ २० ॥

चिरकालसे अभ्यास होनेके कारण यह जगत् बाह्य नामसे ही व्यक्त होकर सत्य-सा स्थित है, उस समय जैसी वासनावाला तुम्हारा पति उस नगरमें मरा था, उसी भावनासे युक्त होकर उसी पदार्थको वहींपर प्राप्त हुआ है। ये प्राणी बारबार अनुभूत होते हुए भी उसी आकारके अन्य ही हैं। इस राजाकी चित्सत्तासे ये स्वप्न और सङ्कल्पकी सेनाकी नाईं सद्रूप ही हैं। स्वाप्न वस्तुसे जाग्रद्वस्तुका इतना ही वैलक्षण्य है कि वह अविसम्वादिरूपसे सब पुरुषोंके लिए समानरूपसे अर्थक्रियाकारितामें समर्थ है। केवल इतनेसे जाग्रत्की सत्यताकी सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'अविसंवादि' इत्यादिसे ।

क्योंकि चन्द्रमाकी प्रादेशिकता (बिलस्तभर दीखना) और इन्द्रजाल आदिमें भी सबको अविसंवादी यथार्थ प्रतीति होती है, पर वह सत्य नहीं है ॥ २१–२३ ॥

भला बताओ तो सही जाग्रत् पदार्थोंकी सत्यता कैसी ? उत्तरकालमें (जाग्रत्में) बाधित होनेसे स्वप्नको यदि असत्य कहो, तो जाग्रत्में उक्त असत्यता समानरूपसे विद्यमान है, क्योंकि नाश और बाध होनेपर वस्तुमें कोई अन्तर नहीं आता। तात्पर्य यह कि स्वप्न-पदार्थोंका जाग्रत्कालमें बाध होता है, तो जाग्रत्-पदार्थोंका उत्तरकालमें नाश होता है, एकका नाश होता है और दूसरे बाध, पर असत्यतामें कोई अन्तर नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृत्यां जन्माऽप्यसन्मयम् ।
विशरेद्विशरारुत्वादनुभूतेश्च राघव ॥ २६ ॥
एवं न सन्नाऽसदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते ।
महाकल्पान्तसम्पत्तावप्यद्याऽथ युगेऽनघ ॥ २७ ॥
न कदाचन यन्नाऽस्ति तद्ब्रह्मैवाऽस्ति तज्जगत् ।
तस्मिन्मध्ये कचन्तीमा भ्रान्तयः सृष्टिनामिकाः ॥ २८ ॥

यदि यह कहो कि उत्तरकालमें (जाग्रत्में) भङ्गुर (बाधित) होनेसे स्वप्न पदार्थ असत् है, ऐसा तो यह सारा ही जाग्रत् जगत् है, इसलिए इस जाग्रत् जगत्में अनास्थिता (सत्यता) क्या अधिक है ? दूसरी बात यह भी है कि परस्पर कालमें असत्ता भी दोनोंमें समान है, यानी जाग्रत्कालमें जैसे स्वप्नकी असत्ता है, वैसे ही स्वप्नकालमें जाग्रत्की भी असत्ता है, ऐसा कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादि उत्तरार्द्धसे। स्वप्नमें जैसे जाग्रत् असत्‌रूप है, वैसे ही जाग्रत्में स्वप्न भी असद्रूप है ॥ २४, २५ ॥

नाशमें भी बाधकी नाईं परस्परके कालमें न रहना समान है, ऐसा कहते हैं—'मृति०' इत्यादिसे ।

जन्मसमयमें मृत्यु असद्रूप है और मृत्युसमयमें जन्म भी असन्मय है, नाशमें अवयवोंके विशरणशील होनेके कारण द्रव्यका विनाश होता है, बाधमें अनुभूतिके बलसे द्रव्य विनष्ट होता है, इस प्रकार निमित्तभेद होनेपर भी विशरणमें विशेष नहीं है, यह भाव है ॥ २६ ॥

पहले दोनोंकी सत्यताका उपपादन किया था, यहाँपर असत्यताका उपपादन किया, यों दोनोंकी ही अनिर्वचनीयता तुल्य है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत् जगत् न सत् है और न असत् है, केवल भ्रान्तिमात्र ही प्रतीत होता है। इस प्रकार सृष्टिकाल और प्रलयकालमें अवशिष्ट सद्रूप ब्रह्म सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—'महाकल्पान्त०' इत्यादिसे । महाकल्पका अन्त होनेपर और आज भी और आगे भी यानी अतीत, वर्तमान और अनागत युगोंमें भी जो कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा, वह स्वरूपतः नहीं है, किन्तु उसकी कल्पनाका अधिष्ठान ब्रह्म ही है; अतः वही जगत् है, भासमान अब्रह्मरूप जगत् नहीं है। उसी ब्रह्ममें ये सृष्टिनामक भ्रान्तियाँ

व्योम्नि केशोण्डूकानीव न कचन्तीव वस्तुतः ।
यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे ॥ २९ ॥
उत्पत्त्योत्पत्त्य लीयन्ते रजांसीव महानिले ।
तस्माद्भ्रान्तिमयाभासे मिथ्यात्वमहमात्मनि ॥ ३० ॥
मृगतृष्णाजलचये कैवाऽऽस्था सर्गभस्मनि ।
भ्रान्तयश्च न तत्राऽन्यास्तास्तदेव परं पदं ॥ ३१ ॥
घने तमसि यक्षाभास्तम एव न यक्षकः ।
तस्माज्जन्म मृतिर्मोहो व्यामोहत्वमिदं ततम् ॥ ३२ ॥

विकासको प्राप्त होती हैं, जैसे कि आकाशमें केशोण्डूक (केशोंका वर्तुलाकार गोला) प्रतीत होता है, पर वास्तवमें वह आकाशसे अतिरिक्त नहीं है, आकाश-रूप ही है। ये सृष्टियाँ परब्रह्ममें वास्तवमें कचनको भी नहीं-सी प्राप्त होती हैं। विकाशको नहीं ही प्राप्त होती हैं, ऐसा कहना चाहिए था, सदृशार्थक 'इव' शब्दका प्रयोग प्रपञ्चके समान ब्रह्मसे अतिरिक्त प्रपञ्चका अभाव भी मिथ्या है, यह सूचन करनेके लिए है। जैसे समुद्रमें लहर उत्पन्न होती हैं, वैसे ही परब्रह्ममें ये सृष्टियां उत्पन्न हो होकर महापवनमें (आंधीमें) धूलिकणोंके समान लीन हो जाती हैं। इसलिए त्वम्, अहम्, जगत् इस प्रकार विभागस्वरूप भ्रान्तिमय प्रतीत होनेवाले, मृगतृष्णाजलरूप तथा जलाये गये वस्त्रके भस्मके तुल्य प्रपञ्चमें कौन-सा आदर है ?

शङ्का—पूर्वोक्त रीतिसे अत्यन्त तुच्छ विषयोंका बाध होनेपर भी भ्रान्तिरूप ज्ञानके स्वरूपका बाध न होनेसे उससे द्वैत होगा ही।

समाधान—विषयबाध होनेपर भ्रान्तियाँ (भ्रम-ज्ञान) ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं रहतीं, वे भ्रान्तियाँ परमपदरूप ब्रह्म ही हैं। भाव यह है कि निर्विषय ज्ञानोंका परस्परसे और ब्रह्मसे भेद करानेवाला कोई है नहीं, इसलिए वे ब्रह्ममात्र ही हैं ॥ २७–३१ ॥

जैसे घने अँधेरेमें बालकको जो भूतकी भ्रान्ति होती है, वह अन्धकार ही है, भूत नहीं है, वैसे ही जन्म, मरण और मोहरूप यह जगत् अज्ञान (आवरण और विक्षेप) ही है और उसीसे विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३२ ॥

सर्वं तत्समहाकल्पं शान्तौ यदवशिष्यते ।
नाऽतः सत्यमिदं दृश्यं न चाऽसत्यं कदाचन ॥ ३३ ॥
द्व्यमेवैतदथवा ब्रह्म तत्रैव संभवात् ।
आकाशे परमाण्वन्तर्द्रव्यादेरणुकेऽपि च ॥ ३४ ॥
जीवाणुर्यत्र तत्रेदं जगद्वेत्ति निजं वपुः ।
अग्निरौष्ण्यं यथा वेत्ति निजभावक्रमोदितम् ॥ ३५ ॥
पश्यतीदं तथैवाऽऽत्मा स्वात्मभूतं विशुद्धचित् ।
यथा सूर्योदये गेहे भ्रमन्ति त्रसरेणवः ॥ ३६ ॥
तथेमे परमाकाशे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ।
यथा वायौ स्थितः स्पन्द आमोदः शून्यमम्बरे ॥ ३७ ॥
पिण्डग्रहविनिर्मुक्तं तथा विश्वं स्थितं परे ।
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ॥ ३८ ॥

यह सब महाकल्पसे अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे सब पदार्थोंके बाधरूप वैज्ञानिक प्रलयसे वाध्य है। इस सबके शान्त होनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। जगत् ब्रह्मसे पृथक् अतिरिक्त सत्य नहीं है एवं ब्रह्मरूप होनेके कारण अत्यन्त असत्य भी नहीं है। भाव यह कि अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी सत्ता ही दृश्यके सत्य, असत्य आदि सम्पूर्ण पक्षोंको रोकती है ॥ ३३ ॥

अथवा यह जगत् सत्य और असत्य दो रूपवाला भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु दो विरुद्ध रूपवाली नहीं हो सकती। उक्त तीनों विरुद्ध पक्षोंमें ब्रह्मका, विरोधके बिना, सम्भव होनेसे यह जगत् ब्रह्म ही है। आकाशमें, परमाणुके मध्यमें और द्रव्य आदिके अणुके अतिसूक्ष्म अन्तर्भागमें जहाँ-जहाँ जीवाणु स्थित होता है, वहाँ-वहाँ इस जगत्‌को अपना शरीर जानता ॥ ३४ ॥

वासनाके बलसे आत्मामें अनात्माध्यास होनेमें दृष्टान्त कहते हैं— 'अग्नि०' इत्यादिसे।

पहले अग्निसे भिन्न होता हुआ भी उपासक 'मैं अग्नि हूँ' इस प्रकार उपासनारूप अपनी भावनाके क्रमसे उदित हुआ यानी उपासनाके फलरूपसे आविर्भूत उष्णताका जैसे अनुभव करता है, वैसे ही विशुद्ध चैतन्य आत्मा इस जगत्‌को आत्मभूत देखता है। जैसे सूर्योदय होनेपर घरमें त्रसरेणु घूमते हैं, वैसे ही परमाकाशमें ये ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु घूमते हैं। जैसे वायुमें स्पन्द और आमोद

विवर्जितस्याऽवयवैर्भागा ब्रह्मण ईदृशाः ।
साकारस्याऽवबोधाय विज्ञेया भवताऽधुना ॥ ३९ ॥
अनन्याः स्वात्मनस्तस्य तेनाऽनवयवा इव ।
यथास्थितमिदं विश्वं निजभावक्रमोदितम् ॥ ४० ॥
रिक्तं न विश्वशब्दार्थैरनन्यद्ब्रह्मणि स्थितम् ।
न तत्सत्यं न चाऽसत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा ॥ ४१ ॥
मिथ्यानुभूतितः सत्यमसत्यं सत्परीक्षितम् ।
परमं कारणं चित्त्वाज्जीवत्वमिति चैत्यलम् ॥ ४२ ॥
ततस्तथैवाऽनुभवाज्जीवत्वं विन्दति स्फुटम् ।
सत्यं भवत्वसत्यं वा खे विभातमिदं जगत् ॥ ४३ ॥

(सौरभ) स्थित है और आकाशमें शून्यता स्थित है, वैसे ही स्थूलतासे शून्य यह विश्व पर ब्रह्ममें स्थित है। अवयवोंसे शून्य ब्रह्मके आविर्भाव, तिरोभाव, उपादान, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर और अचर ऐसे भाग हैं। इस समय साकार विश्वके निराकारत्वज्ञानके लिए उन्हें आपको वैसी अपनी आत्मासे अभिन्नसे यानी आत्माके अनवयव-से आपको जानना चाहिए। इस प्रकार अपनी भावनाके क्रमसे उत्पन्न हुआ यह विश्व यथास्थित है। ॥ ३५-४० ॥

अनन्य (अभिन्न) रूपसे ब्रह्ममें स्थित यह विश्व विश्वशब्दके अर्थोंसे रिक्त नहीं होगा। भाव यह है कि विश्वशब्दका पर्यवसान पूर्णार्थतामें है और पूर्ण रिक्त नहीं हो सकता है। रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके समान न यह सत्य है और न असत्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, मिथ्याज्ञानसे यह सत्य प्रतीत होता है और विचारपूर्वक देखनेसे असत्य ही है, भाव यह है कि भ्रान्तिज्ञानसे अनुभूत पदार्थ सत्य नहीं होता और वस्तुतत्त्वका निर्धारणात्मक ज्ञान, जो कि भ्रमज्ञानसे अनुभूत पदार्थका बाधक है, सत्यका निषेध नहीं करता, जिससे कि असत्य हो। परम कारण ही स्वरूपभूत चैतन्यके मायासे आवृत होनेके कारण जीवत्वको प्राप्त हुआ, अतः जीवत्व भी अनिर्वाच्य है ॥ ४१,४२ ॥

हे रामचन्द्रजी, चिरकालके विचाराभ्याससे हुए दृढ़ अनुभवसे जीवत्वको वैसा ही स्पष्टरूपसे जानता है। यह संसार सत्य हो अथवा असत्य हो, चिदाकाशमें ही यह स्फुरित हो रहा है, चिदाकाशके सिवा अन्य कोई भी वस्तु कहीं भी सत् नहीं है ॥ ४३ ॥

रञ्जयत्येव जीवाणुः स्वेच्छाभिरनुभूतिभिः ।
अनुभूयन्त एवाऽऽशु काश्चित्पूर्वानुभूतितः ॥ ४४ ॥
अपूर्वानुभवाः काश्चित् समाश्चैवाऽसमास्तथा ।
क्वचित्कदाचित्ता एव क्वचिदर्धसमा अपि ॥ ४५ ॥
कचन्त्यसत्याः सत्याभा जीवाकाशेऽनुभूतयः ।
तत्कुलास्तत्समाचारास्तज्जन्मानस्तदीहिताः ॥ ४६ ॥
त एव मन्त्रिणः पौराः प्रतिभाने भवन्ति च ।
ते चैवाऽऽत्मन्यलं सत्या देशकालेहितैः समाः ॥ ४७ ॥
सर्वगात्मस्वरूपायाः प्रतिभाया इति स्थितिः ।
यथा राजात्मनि व्योम्नि प्रतिभोदेति सन्मयी ॥ ४८ ॥

जीवकी जो भोगेच्छा है, वही संसारकी उत्पादिका है । इस अंशमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी उपयोगिता नहीं है, विषय चाहे सत्य हों, चाहे असत्य हों उनकी अनुरञ्जना ही संसारकी उत्पत्ति और स्थितिकी मूल कारण है, जीव पहले स्वेच्छासे उत्पन्न विषयोंकी अनुभूतिसे अनुरञ्जित होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सब विषयोंका पुनः अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं—'रञ्जयत्येव' इत्यादिसे ।

जीवाणु स्वेच्छाभूत अनुभूतियोंसे इस जगत्को रञ्जित करता है । कुछ अनुभूतियाँ पूर्व अनुभूतियोंसे ही शीघ्र अनुभवमें आती हैं, कुछ पूर्वमें अनुभव न होनेपर भी समान प्रतीत होती हैं और कुछ कहींपर असम ही प्रतीत होती हैं । वे ही ये हैं, यों कभी कहींपर अर्धसम भी वे प्रतीत होती हैं ॥ ४४, ४५ ॥

असत्य अनुभूतियाँ जीवाकाशमें सत्य-सी प्रतीतिको प्राप्त होती हैं । वैसे ही कुलवाले, वैसे ही सदाचारवाले, वैसे ही उच्च जन्मवाले वैसे ही चेष्टावाले वे ही मन्त्री और पुरवासी तुम्हारी प्रतीतिमें आते हैं । वे परमार्थस्वरूप आत्मामें वे ही हैं, यों अत्यन्त सत्य हैं और अपने अपने देश, काल और ईहितकी दृष्टिसे तुल्य हैं ॥ ४६,४७ ॥

सभी जगह ऐसी ही चैतन्यकी स्थिति है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वगा०'** इत्यादिसे ।

जिसका आत्मस्वरूप सर्वगामी है, ऐसी प्रतिभाकी यही स्थिति है ।

शङ्का—ईश्वरकी प्रतिभाके अनुसार पदार्थोंका निर्माण पहले सुना गया है,

यथा तदग्रगोदेति सत्येव प्रतिभाऽम्बरे।
त्वच्छीला त्वत्समाचारा त्वत्कुला त्वद्वपुर्मयी ॥ ४९ ॥
इति लीलेयमाभाति प्रतिभाप्रतिबिम्बजा।
सर्वगे संविदादर्शे प्रतिभा प्रतिबिम्बति ॥ ५० ॥
यादृशी यत्र सा तत्र तथोदेति निरन्तरम्।
जीवाकाशस्य याऽन्तस्था प्रतिभा कुरुते स्वयम्।
सा बहिश्च चिदादर्शे प्रतिबिम्बादियं स्थिता ॥ ५१ ॥
एषा त्वमम्बरमहं भुवनं धरा च
राजेति सर्वमहमेव विभातमात्रम्।

जीवप्रतिभा तो अर्थानुसार ही उदित होती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो मनोरथसे कल्पित पदार्थ सबके प्रति समानरूपसे सत्य हो जायँगे। इसलिए केवल राजाकी प्रतिभामात्रसे पदार्थोंकी सिद्धि कैसे होगी और उसमें अन्य जीवोंकी समानरूपसे व्यवहारयोग्यता कैसे होगी ?

समाधान—राजारूप आत्मामें जैसी सन्मयी यानी सर्वसाधारणके लिए सत्य-पदार्थवाली प्रतिभा उदित होती है, वैसे ही उससे पहले सर्वसाधारण भोक्ताओंके अदृष्टसे अव्याकृत आकाशरूप ईश्वरमें सत्यसंकल्परूप प्रतिभा उत्पन्न होती ही है, इसलिए पूर्वोक्त दोषके लिए अवकाश नहीं है।

पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिभाके प्रतिबिम्बसे उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे सरीखे शील, सदाचार, कुल और शरीरसे युक्त प्रतीत होती है।

सर्वव्यापक संविद्रूपी आदर्शमें प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है। वह जहांपर जैसी होती है, वहांपर वैसी ही सदा उदित होती है, उसका अन्यथाभाव कदापि नहीं होता।

सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी प्रतिभा जो भीतर है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है, इसलिए चिदादर्शमें प्रतिबिम्ब होनेसे यह तुम्हारे सदृश स्थित है। तात्पर्य यह है कि उसीके बाह्य होनेके कारण सम्पूर्ण पदार्थोंमें सामान्यदृश्यताकी उपपत्ति होती है ॥ ४८—५१ ॥

आकाश, उसके अन्तर्गत भुवन, भुवनके अन्तर्गत पृथिवी, उसके अन्तर्गत यह तुम, मैं और राजा ये सब चिन्मात्रस्वभाव मैं यानी प्रत्यग्रूप ही हैं।

चिद्व्योमबिल्वजठरं विदुरङ्ग विद्धि
त्वं तेन शान्तमलमास्स्व यथास्थितेह ॥ ५२ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने अग्निदाहरात्रियुद्धे जगद्ब्रह्मवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

---*---

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीसरस्वत्युवाच

विदूरथस्ते भर्तैष तनुं त्यक्त्वा रणाङ्गणे ।
तदेवाऽन्तःपुरं प्राप्य तादृगात्मा भविष्यति ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य वचो देव्या लीला सा तत्पुरास्पदा ।
पुरः प्रह्वा स्थितोवाच वचनं विहिताञ्जलिः ॥ २ ॥

इसी प्रकार और भी तत्त्वज्ञ पुरुष सब पदार्थोंको चिदाकाशरूपी बिल्वफलकी सत्तामात्र जानते हैं, वे सब चिदाकाशसे अतिरिक्त नहीं हैं। हे लीले, तुम भी वैसा ही जानो। उक्त ज्ञानसे स्वस्वभावमें स्थित होकर तुम यहां अत्यन्त शान्त होकर (विक्षेपशून्य होकर) रहो ॥ ५२ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

[लीलाको दूसरे वररूप राजा पद्मकी प्राप्ति तथा जीवोंको अपने-अपने सङ्कल्पोंके अनुसार फल-प्राप्तिका वर्णन]

श्रीसरस्वतीजीने कहा—भद्रे, तुम्हारा पति यह विदूरथ रणभूमिमें देहका त्याग कर उसी अन्तःपुरमें पहुँच कर राजा पद्मरूप होगा ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, श्रीदेवीका यह वचन सुन कर देवीके सामने बैठी हुई उस नगरमें रहनेवाली लीलाने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर देवीसे कहा ॥ २ ॥

द्वितीयलीलोवाच

देवी भगवती ज्ञप्तिर्नित्यमेवाऽर्चिता मया।
स्वप्ने संदर्शनं देवी सा ददाति निशासु मे ॥ ३ ॥

सा यादृश्येव देवेशि तादृश्येव त्वमम्बिके।
तन्मे कृपणकारुण्याद्वरं देहि वरानने ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्ता सा तदा ज्ञप्तिः स्मृत्वा तद्भक्तिभावनम्।
इदं प्रसन्ना प्रोवाच तां लीलां तत्पुरास्पदाम् ॥ ५ ॥

श्रीदेव्युवाच

अनन्यया भावनया यावज्जीवमजीर्णया।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्से गृहाणाऽभिमतं वरम् ॥ ६ ॥

तद्देशलीलोवाच

रणाद् देहं परित्यज्य यत्र तिष्ठति मे पतिः।
अनेनैव शरीरेण तत्र स्यामेतदङ्गना ॥ ७ ॥

दूसरी लीलाने कहा—भगवती सरस्वती देवीकी मैंने नित्य ही पूजा परि-परिचर्या की है। सरस्वती देवी जब तब सदा रातमें मुझे स्वप्नमें दर्शन देती हैं। हे देवेशि, जैसी वह हैं, ठीक वैसी ही आप हैं, अतः मालूम होता है कि वही आप हैं। इसलिए हे वरानने, दीनके ऊपर दया करके मुझे आप वरप्रदान कीजिये ॥ ३–४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, द्वितीय लीलाके यों कहनेपर देवी सरस्वतीने उसके भक्तिभावसे किये गये ध्यान और पूजनका स्मरण कर, प्रसन्न होकर उस नगरमें रहनेवाली लीलासे यह कहा ॥ ५ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, तुम्हारी जीवनभरकी अनन्य भक्तिसे, जो कभी भी विच्छिन्न नहीं हुई, मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम्हें जो इच्छा हो, वह वरदान मुझसे मांगो ॥ ६ ॥

उस प्रदेशमें रहनेवाली लीलाने कहा—हे देवि, रणभूमिसे देहका परित्याग कर जहांपर मेरे पति रहेंगे, मैं इसी देहसे वहांपर उनकी पत्नी होऊँ ॥ ७ ॥

श्रीदेव्युवाच

एवमस्तु त्वयाऽविघ्नं पूजिताऽस्मि सुते चिरम् ।
अनन्यभावया भूरिपुष्पधूपसपर्यया ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ तद्देशलीलायां फुल्लायां तद्वरोदयात् ।
पूर्वलीलाऽब्रवीद् देवीं सन्देहलुलिताशया ॥ ९ ॥

पूर्वलीलोवाच

ये सत्यकामाः सन्त्येवंसङ्कल्पा ब्रह्मरूपिणः ।
त्वादृशाः सर्वमेवाऽऽशु तेषां सिद्ध्यत्यभीप्सितम् ॥ १० ॥
तत्तेनैव शरीरेण किमर्थं नाऽहमीश्वरि ।
लोकान्तरमिदं नीता तं गिरिग्रामकं वद ॥ ११ ॥

श्रीदेव्युवाच

न किञ्चित्कस्यचिदहं करोमि वरवर्णिनि ।
सर्वं सम्पादयत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् ॥ १२ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—हे पुत्री, तुमने चिरकालतक अनन्यभक्तिसे प्रचुर पुष्प-धूप-दीप-युक्त पूजन-सामग्रीसे मेरा साङ्गोपाङ्ग पूजन किया है, अतः जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही होगा ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, तदनन्तर उस वरके लाभसे उस देशमें रहनेवाली लीलाके सन्तोषसे प्रफुल्लित होनेपर उसकी स्थूल शरीरसे पतिलोकप्राप्ति और मेरी स्थूलदेहका त्याग कर पतिलोकप्राप्ति हुई, यह अन्तर कैसे ? इस सन्देहसे जिसकी चित्तवृत्ति चञ्चल हो गई थी, ऐसी पूर्वलीलाने देवीसे कहा ॥ ९ ॥

पूर्वलीला बोली—हे देवी, जो लोग आपके सदृश सत्यकामनावाले और सत्यसङ्कल्पवाले ब्रह्मरूपी हैं, उनके सब अभीष्ट शीघ्र ही सिद्ध होते हैं । हे ईश्वरी, आपने सत्यकामताके बलसे उसी स्थूल शरीरसे मुझे गिरिग्रामकरूप इस लोकान्तरमें क्यों नहीं पहुँचाया ? ॥ १०, ११ ॥

मुझमें स्वतः कोई कामना नहीं है, क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ । प्राणियोंके कर्मके अनुसार होनेवाली मेरी कामना प्राणियोंके कर्मोंसे ही व्यवस्थित है, इस आशयसे देवी लीलाकी शङ्काका समाधान करती हैं—'न किञ्चित्' इत्यादिसे ।

अहं हितं रटे ज्ञप्तिः संविन्मात्राधिदेवता ।
प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥ १३ ॥
जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति तत्फलदा नित्यं तस्य तस्य तथा तथा ॥ १४ ॥
मां समाराधयन्त्यास्तु जीवशक्तिस्तवोदिता ।
तदाऽभवद्यदीह स्यां मुक्ताऽस्मीति चिरं तदा ॥ १५ ॥
तेन तेन प्रकारेण त्वं मया संप्रबोधिता ।
तया युक्त्याऽमलं भावं नीताऽसि वरवर्णिनी ॥ १६ ॥
अनयैवंभावनया बोधिताऽसि चिरं तदा ।
तमेवाऽर्थं प्राप्तवती सदा स्वचितिशक्तितः ॥ १७ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, मैं किसीका कुछ भी नहीं करती, जीव स्वयं अपने सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थोंको शीघ्र सम्पादित करता है ॥ १२ ॥

संविन्मात्रकी अधिष्ठात्री देवी मैं सरस्वती प्राणियोंके भावी शुभ फलको वरदान द्वारा प्रकाशित करती हूँ । प्रत्येक जीवमें पूर्वजन्मके काम, कर्म और वासनासे अवच्छिन्न चिदात्मरूप जीवशक्तिस्वरूपिणी तत्-तत् कार्यकी बीजभूत मायासे संवलित जो चित्-शक्ति है, वही फलका उत्पादन करती है ॥ १३ ॥

उसीके अनुसार ही मैं फल देती हूँ, ऐसा कहती हैं—'जीवस्य' इत्यादिसे। जिस जिस जीवकी जो शक्ति जैसे जैसे उदित होती है, उस उसको वैसा वैसा फल देनेवाली वह कर्मानुष्ठानकी हेतुभूत कामनाके विषयरूपसे स्फुरित होती है ॥ १४ ॥

मेरी आराधना कर रही तुम्हारी तब तब 'यदि इस संसारमें मेरी मुक्ति होती, तो क्या ही अच्छा होता' ऐसी चिरकालतक जीवशक्ति उदित हुई ॥ १५ ॥

भद्रे, पूर्वोक्त भिन्न भिन्न प्रकारसे मेरे द्वारा प्रबोधित हुई तुम उक्त युक्तिसे बोध द्वारा जिसका अज्ञानरूपी आवरण निकल गया है, ऐसे निर्मल आत्मावस्थिति-रूप भावको प्राप्त की गई हो ॥ १६ ॥

'मैं मुक्त होऊँ' इस प्रकारकी भावनासे चिरकालतक युक्त तुम इस पूर्व-प्रदर्शित युक्ति द्वारा मुझसे प्रबोधित हुई हो, अपनी चितिशक्तिके प्रभावसे उस यानी सदा भावित अर्थको ही प्राप्त हुई हो ॥ १७ ॥

यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयतनं चिरम् ।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥ १८ ॥
तपो वा देवता वाऽपि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत् ॥ १९ ॥
स्वसंविद्यतनादन्यन्न किञ्चिच्च कदाचन ।
फलं ददाति तेनाऽऽशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २० ॥
चिद्भाव एव ननु सर्गगतोऽन्तरात्मा
यच्चेतति प्रयतते च तदेति तच्छ्रीः ।
रम्यं ह्यरम्यमथवेति विचारयस्व
यत्पावनं तदवबुद्ध्य तदन्तरास्स्व ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सत्यकामसत्यसङ्कल्पास्तिता नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

जिस जिसका पुरुषप्रयत्न चिरकालतक जैसा उदित होता है, वह समय पाकर उस उसको वैसा-वैसा फल देता है ॥ १८ ॥

अपनी चित्-शक्ति ही तपस्या बनकर या देवताका रूप धारण कर स्वेच्छासे आकाशसे फल गिरनेकी नाईं (मिथ्यारूप) फल देती है ॥ १९ ॥

स्वसंवित् (जीवशक्ति) प्रयत्नके बिना कभी कुछ भी फल नहीं दे सकती, इसलिए तुम जैसा फल चाहती हो वैसा कर्म करो, कर्मानुसार ही फल मिल सकता है ॥ २० ॥

यह निश्चित है कि सर्वान्तर्यामी चिद्भाव (चित्सत्ता) ही पहले रम्य यानी शास्त्रविहित अथवा अरम्य यानी शास्त्रनिषिद्ध जिस कर्मका विचार करता है और प्रयत्न करता है, पश्चात् उसीकी फलरूप श्री उदित होती है, ऐसा तुम विचार करो और विचारसे जो पवित्रतम पद है, उसको जानकर उसमें स्थित होओ ॥ २१ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

षट्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवं संकथयन्तीषु तासु तस्मिन्गृहोदरे ।
विदूरथः किमकरोन्निर्गत्य कुपितो गृहात् ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

विदूरथः स्वसदनान्निर्गतः परिवारितः ।
परिवारेण महता ऋक्षौघेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥
सन्नद्धसर्वावयवो लग्नहारविभूषणः ।
महाजयजयारावैः सुरेन्द्र इव निर्गतः ॥ ३ ॥
समादिशन् योधगणं शृण्वन्मण्डलसंस्थितिम् ।
आलोकयन् वीरगणानारुरोह नृपो रथम् ॥ ४ ॥
कूटाकारसमाकारं मुक्तामाणिक्यमण्डितम् ।
पताकापश्वभिर्व्याप्तं द्युविमानमिवोत्तमम् ॥ ५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

[राजा विदूरथका विराट् सेनाके साथ युद्धके लिए प्रयाण और रणभूमिमें प्रवेशपूर्वक युद्धारम्भका वर्णन]

श्री रामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, उस राजमहलके अन्दर जब वे तीन ललनाएँ इस प्रकारकी बातचीत कर रही थीं, तब क्रोधके साथ घरसे निकल कर राजा विदूरथने क्या किया ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, राजा विदूरथ अपने महलसे निकला और जैसे चन्द्रमा तारामण्डलसे परिवेष्टित होता है, वैसे ही वह सेना-रूप परिवारसे परिवेष्टित हुआ, उसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग कवच और अस्त्रशस्त्रोंसे सुसन्नद्ध थे, हार आदि आभूषण अपने-अपने स्थानोंमें शोभा पा रहे थे, वह जय-कारकी तुमुल ध्वनिके साथ महेन्द्रके समान घरसे निकला। योद्धाओंको तत-तत् कार्य करनेके लिए आदेश देता हुआ, मन्त्रियोंके मुँहसे व्यूहरचनाकी स्थिति या देशकी रक्षा-व्यवस्थाको सुनता हुआ और वीरगणोंका निरीक्षण करता हुआ रथ-पर चढ़ा। सुमेरुपर्वतके शिखरके आकारके समान उस रथका आकार था,

चक्रभित्तिपरिप्रोतप्रकचत्काञ्चनाङ्कुरम् ।
मुक्ताजालरणत्कारचारुविक्रमकूवरम् ॥ ६ ॥
सुग्रीवैर्लक्षणोपेतैः प्रशस्तैः प्रचलैः कृशैः ।
जवोड्डयनवेगेन प्रवहद्भिः सुरानिव ॥ ७ ॥
वायुं जवेन सहसा असहद्भिर्गतिक्रमैः ।
प्रोह्यद्भिरिव पश्चार्द्धमापिबद्भिरिवाऽम्बरम् ॥ ८ ॥
योजितैरिव सम्पूर्णैश्चन्द्रैश्चामरदीप्तिभिः ।
अश्वैरष्टभिराबद्धमाशापूरकहेषितैः ॥ ९ ॥
अथोदपतदुद्दामनागाभ्ररवनिर्भरः ।
शैलभित्तिप्रतिध्वानदारुणो दुन्दुभिध्वनिः ॥ १० ॥
मत्तसैनिकनिर्मुक्तैर्व्याप्तं कलकलारवैः ।
किङ्किणीजालनिर्ध्वानैर्हेतिसङ्घट्टघट्टितैः ॥ ११ ॥

मोती और मणियोंसे वह विभूषित था और पांच पताकाएँ उसमें फहरा रही थी, अतएव वह उत्तम स्वर्गलोकके विमानके सदृश था, उसमें पहियों और अगल बगलकी भीतमें जड़ी हुई सोनेकी कीलें चमक रही थीं, मोतियोंकी झनकारसे उसका विशाल अग्रभाग बड़ा सुन्दर प्रतीत हो रहा था ॥ २–६ ॥

वह रथ आठ घोड़ोंसे जुता हुआ था, वे घोड़े सुन्दर गर्दनवाले थे, अश्वोंके सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे युक्त थे, उत्तम जातिके थे, फुर्तीले और दुबले पतले थे, जवसे यानी उड़नेके वेगसे मानो वे आकाशमें देवताओंका प्रवहन कर रहे थे, वेगमें वायुको न सहनेवाली अपनी विविध तीव्र गतियोंसे अपने पिछले देह-भागको आगेके देह-भागसे मानो ले जा रहे थे, मानो आकाशको पी रहे थे, सम्पूर्ण राका-चन्द्रके समान चँवरोंकी कान्तिसे युक्त थे और अपनी हिन-हिनाहटसे दिशाओंके अन्तरालको पूर्ण कर रहे थे ॥ ७–९ ॥

तदुपरान्त मदोन्मत्त हाथीरूपी मेघोंके चिंघाड़से बढ़ा चढ़ा हुआ और पर्वतोंके शिखरोंमें गूँजनेसे कठोर नगाड़ोंका शब्द होने लगा ॥ १० ॥

उक्त ध्वनि मदोन्मत्त सैनिकों द्वारा किये गये कोलाहलसे, हथियारोंको टकरानेसे प्रचुरमात्रामें हो रही रथ आदिमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटियोंकी

धनुश्चटचटाशब्दैः शरसीत्कारगायनैः ।
परस्पराङ्गनिष्पिष्टकवचौघझणज्झणैः ॥ १२ ॥
ज्वलदग्निटणत्कारैरार्तिमत्क्रन्दनारवैः ।
परस्परभटाह्वानैर्बन्दिविक्षुब्धरोदनैः ॥ १३ ॥
शिलाघनीकृताशेषब्रह्माण्डकुहरो ध्वनिः ।
हस्तग्राह्योऽभवद्भीमो दशाशाकुञ्जपूरकः ॥ १४ ॥
अथोदपतदादित्यपथपीवररोधकम् ।
रजोनिभेन भूपीठमम्बरोड्डयनोन्मुखम् ॥ १५ ॥
गर्भवासमिवाऽऽपन्नं तेनाऽऽसीत् तन्महापुरम् ।
मूढत्वं यौवनेनेव घनतामाययौ तमः ॥ १६ ॥
प्रययुः क्वाऽपि दीपौघा दिवसेनेव तारकाः ।
आययुर्बलमालोला नैशभूतपरम्पराः ॥ १७ ॥

ध्वनियोंसे, धनुषोंकी टंकारसे, बाणोंकी सरसराहटसे, परस्परके शरीरसे टकराये हुए कवचोंकी झनझनाहटसे, जल रही अग्निकी कड़कड़ाहटसे, दुःख भरी रोदन-ध्वनिसे, भटोंमें से एकके दूसरेको पुकारनेसे और बन्दियों द्वारा वीरोंका उत्साह बढ़ानेके लिए निन्दा करनेसे युद्धके बिना ही हुए मानसिक घावसे कातर हुए लोगोंके रोदनसे व्याप्त थी। उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी बिलको पत्थरके समान ठोस बना दिया था यानी सारा ब्रह्माण्डमण्डल उक्त ध्वनिसे भर गया था और उसने दसों दिशारूपी निकुञ्जको पूर्ण कर दिया था, अतएव वह भीषण ध्वनि हाथसे पकड़नेके योग्य-सी हुई ॥ ११–१४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर अतिस्थूल बन कर आदित्यके मार्गको ढांकनेकी इच्छा करनेवाला भूमण्डल ही धूलीके वेषसे आकाशमें उड़नेको तत्पर होकर उठा यानी आकाशमें घनी धूली छा गई ॥ १५ ॥

उक्त धूलीपटलसे वह महान् नगर मानो गर्भवासको प्राप्त हुआ। रजोगुणकी अधिक मात्रावाले यौवनसे स्वाभाविक मूढताकी नाईं उक्त रजसे अन्धकार निबिड़ हो गया ॥ १६ ॥

जैसे दिवसके आविर्भावसे दीपोंकी कान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही तारागण कहीं विलीन हो गये, रात्रिमें होनेवाले चञ्चल भूत-पिशाचोंकी कतार-की-कतारने बल पकड़ा ॥ १७ ॥

ददृशुस्तन्महायुद्धं द्वे लीले सा कुमारिका ।
प्रस्फुटद्धृदयेनेव देवीदत्तमहादृशौ ॥ १८ ॥
प्रशेमुरथ हेतीषुप्रोद्यत्कटकटारवाः ।
एकार्णवपयःपूरैर्वालवा इव वह्नयः ॥ १९ ॥
शनैः सेनां समाकर्षन्नाऽऽज्ञायत बलान्तरम् ।
विवेश पक्षप्रोड्डीनो मेरुरेकमिवाऽर्णवम् ॥ २० ॥
अथोदभूद् गुणध्वानं चटच्चटदिति स्फुटं ।
रचितांशुमयाम्भोदाश्चेरुः परपरम्पराः ॥ २१ ॥
ययुरम्बरमाश्रित्य नानाहेतिविहङ्गमाः ।
प्रससुरलमात्तासु मलिनाः शस्त्रदीप्तयः ॥ २२ ॥

उस महायुद्धको दो लीलाओंने तथा राजा विदूरथकी कन्याने, जिन्हें देवी सरस्वतीने दिव्य दृष्टि दी थी, विदीर्ण हो रहे हृदयसे जैसा यानी बड़े क्लेशसे देखा ॥ १८ ॥

जैसे एकमात्र समुद्रके जलप्रवाहोंसे वड़वानल शान्त हो जाता है, वैसे ही राजा विदूरथके प्रयाणके अनन्तर नगरको लूट-खसोट रहे राजा सिन्धुके सैनिकोंके हथियारों और बाणोंसे उद्भूत हो रहे कटकटशब्द शान्त हो गये ॥ १९ ॥

अपनी सेनाको शत्रुवाहिनीके साथ भिड़ानेके लिए ले जा रहे राजा विदूरथको अपनी सेना और शत्रु सेनाका बलाबल ज्ञात नहीं हुआ । जैसे अपने परोंसे उड़ा हुआ सुमेरु पर्वत प्रलयकालीन एकार्णवमें प्रवेश करे, वैसे ही उसने भी शत्रुके और अपने बलका अन्तर जाने बिना ही शत्रुके दल-बलमें प्रवेश किया ॥ २० ॥

राजा विदूरथके परबलमें प्रविष्ट होनेके उपरान्त 'चट' 'चट' शब्दके साथ साफ सुनाई दे रही प्रत्यञ्चाध्वनि होने लगी, शत्रुओंकी सेनाके झुण्डके झुण्ड, जिन्होंने अपने हथियारोंकी कान्तिके मेघ बना डाले थे, इधर उधर घूमने लगे ॥ २१ ॥

अनेक शस्त्रास्त्ररूपी पक्षीगण आकाशका आश्रयण कर यानी आकाशमें उड़कर इधर-उधर घूमने लगे । जिन्होंने शत्रुओंके प्राण ले लिये थे, अतएव पापसे मानो जो मलिन हो गई थीं, ऐसी शस्त्रोंकी चम-चमाहट इधर-उधर फैलने लगीं ॥ २२ ॥

जज्वलुः शस्त्रसंघट्टज्वलना उल्मुकाग्निवत् ।
जगर्जुः शरधारौघान् वर्षन्तो वीरवारिदाः ॥ २३ ॥
विविशुः क्रकचक्रूरा वीराङ्गेषु च हेतयः ।
पेतुः पटपटारावं हेतिनिष्पिष्टयोऽम्बरे ॥ २४ ॥
जग्मुः शमं तमांस्याशु शस्त्रकानलदीपकैः ।
बभूवुरखिलाः सेना नवनाराचरोमशाः ॥ २५ ॥
उत्तस्थुर्यमयात्रायां कबन्धनटपङ्क्तयः ।
जगुरुच्चै रणोद्रेकं पिशाच्यो रणदारिकाः ॥ २६ ॥
उदगुर्दन्तसङ्घट्टटङ्कारादन्तिनां बलात् ।
ऊहुः क्षेपणपाषाणमहानद्यो नभस्तले ॥ २७ ॥
पेतुः शवा निवातास्तसंशुष्कवनपर्णवत् ।
निर्ययुर्लोहिता नद्यो रणाद्रेर्मृतिवर्षिणः ॥ २८ ॥
प्रशेमुः पांसवो रक्तैस्तमांस्यायुधवह्निभिः ।
युद्धैकध्यानतः शब्दा भयानि मृतिनिश्चयैः ॥ २९ ॥

शस्त्रोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न हुई आग उल्मुक यानी अधजले काठकी नाईं जलने लगी। बाणरूपी धारा-प्रवाहोंकी वृष्टि कर रहे वीररूपी जलधर गर्जने लगे। आरोंके समान निठुर हथियार वीरोंके अङ्ग प्रत्यङ्गोंमें घुसने लगे। तलवारोंके प्रहार पट-पट शब्दके रूपसे आकाशमें उड़े। शस्त्रास्त्रोंकी अग्निरूपी दीपमालाओंसे अन्धकार तुरन्त विनष्ट हो गया। सारी सेनाएँ नूतन बाणरूपी रोंगटोंसे व्याप्त हो गई। यमकी आराधनारूप यात्रोत्सवके लिए कबन्धरूपी नटोंकी पंक्तियाँ उठने लगी। रणोत्सवकी आभूषणरूप युवती पिशाचियाँ रणकी भीषणताका खूब ऊँचे स्वरसे गान करने लगीं ॥ २३–२६ ॥

हाथियोंके दाँतोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न हुए टँकार बड़ी तेजीसे ऊपरको गये, आकाशमें क्षेपणीसे निकले हुए पत्थरोंकी महानदियाँ बहने लगीं, आँधी द्वारा फेंके गये सूखे वनपत्तोंके समान शव गिरने लगे, मृत्युकी वृष्टि करनेवाले रणरूपी पर्वतसे लाल नदियाँ निकलने लगीं ॥ २७, २८ ॥

खूनके [redacted]से धूलीकण शान्त हो गये और हाथियोंके टकरानेसे उत्पन्न

अभवत्केवलं युद्धमपशब्दमसम्भ्रमम् ।
अनाकुलाम्बुवाहाभं खड्गवीचिसटाङ्कृतम् ॥ ३० ॥
खदखदरवसंवहच्छरौघं
टक्टकितारवसम्पतद्भुशुण्डि ।
झणझणरवसंमिलन्महास्त्रं
तिमितिमिवद्रणमास दुस्तरं तत् ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथनिर्याणं नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

---*---

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन् वर्तमाने तु घोरे समरसङ्गमे ।
लीलाद्वयमुवाचेदं ज्ञप्तिं भगवतीं पुनः ॥ १ ॥

अग्निसे अन्धकार मिट गया, एकमात्र युद्धका ही ध्यान करनेसे अन्योन्यकी वाणियाँ शान्त हो गईं और मरनेके दृढ़ निश्चयसे भय शान्त हो गया ॥ २९ ॥

शब्दशून्य, संभ्रमरहित अतएव वायु आदिसे आकुलतारहित मेघके समान केवल युद्ध हुआ, तलवाररूपी लहरोंकी टंकार ही उसमें सुनाई पड़ती थी ॥ ३० ॥

उसमें खट-खट शब्दके साथ बाणवृष्टि बह रही थी, टक टक शब्दके साथ भुशुण्डियाँ गिर रही थीं, झण झण शब्दके साथ महान् महान् शस्त्र टकरा रहे थे, उक्त शब्दोंसे अतिरिक्त तिमि तिमि शब्दसे युक्त वह दुस्तर युद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

छियालिसवाँ सर्ग समाप्त

---o---

सैंतालीसवाँ सर्ग

[सिन्धुदेशके राजाका शत्रुपर विजय पानेमें हेतुकथन, सूर्योदय और रणका क्रम-वर्णन तथा दोनों राजाओंका विविध मन्त्रास्त्रों द्वारा युद्धवर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जब कि उक्त भीषण समर-सङ्गम हो रहा था, दोनों लीलाओंने भगवती सरस्वती देवीसे फिर यह पूछा ॥ १ ॥

लीलाद्वयमुवाच

देवि कस्मादकस्मान्नौ भर्ता जयति नो रणे ।
वद त्वय्यपि तुष्टायामस्मिन्विद्रुतवारणे ॥ २ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

चिरमाराधिताऽनेन विदूरथनृपारिणा ।
अहं पुत्रि जयार्थेन न विदूरथभूभृता ॥ ३ ॥
तेनाऽसावेव जयति जीयते च विदूरथः ।
ज्ञप्तिरन्तर्गता संविदेतां मां यो यदा यथा ॥
प्रेरयत्याशु तत्तस्य तदा सम्पादयाम्यहम् ॥ ४ ॥
यो यथा प्रेरयति मां तस्य तिष्ठामि तत्फला ।
न स्वभावोऽन्यतां धत्ते वह्नेरौष्ण्यमिवैष मे ॥ ५ ॥
अनेन मुक्त एव स्यामहमित्यस्मि भाविता ।
प्रतिभारूपिणी तेन बाले मुक्तो भविष्यति ॥ ६ ॥

दोनों लीलाओंने कहा—हे देवि, आपके सन्तुष्ट होनेपर भी हमारे पति इस रणभूमिमें, जिसमें से हाथी भाग रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त करते, कृपया यह हमसे कहिये ॥ २ ॥

श्रीसरस्वतीजीने कहा—पुत्रियो, राजा विदूरथके शत्रु इस राजा सिन्धुने विजयके लिए चिरकालतक मेरी आराधना की थी, राजा विदूरथने जयकामनासे मेरी आराधना नहीं की थी, इसलिए यही (राजा सिन्धु ही) विजय प्राप्त करेगा और राजा विदूरथ पराजित होगा। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयान्तर्गत संवित् ही मैं (ज्ञप्ति) हूँ। उस ज्ञप्तिरूप मुझे जो पुरुष जब जैसा प्रेरित करता है, यानी काम, कर्म और वासनाके बलसे फल देनेमें प्रवृत्त करता है, तब उसका वैसा फल सम्पादन करती हूँ यानी तत्-तत फलरूपसे विवर्तित होती हूँ ॥३,४॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करती हैं—'यो' इत्यादिसे ।

जो मुझे जैसे प्रेरित करता है, उसके लिए मैं तत्फलस्वरूप होकर स्थित होती हूँ। मेरा यह स्वभाव अग्निकी उष्णताके समान अन्यथा नहीं होता ॥ ५ ॥

बाले, राजा विदूरथने 'मैं मुक्त ही होऊँ' इस बुद्धिसे मेरी, जो कि प्रतिभा-रूपिणी हूँ, आराधना की है, इसलिए वह मुक्त होगा। श्लोकमें 'बाले' यह

एतदीयः स्वयं शत्रुः सिन्धुर्नाम महीपतिः ।
जयाम्यहं स्यां संग्राम इत्यनेनाऽस्मि पूजिता ॥ ७ ॥
तस्माद् विदूरथो देहं तत् प्राप्य सह भार्यया ।
त्वयाऽनया च कालेन बाले मुक्तो भविष्यति ॥ ८ ॥
एतदीयः स्वयं शत्रुः सिन्धुर्नाम महीपतिः ।
हत्वैनं वसुधापीठे जयी राज्यं करिष्यति ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं देव्यां वदन्त्यां तु वलयोर्युध्यमानयोः ।
रविर्द्रष्टुमिवाऽऽश्चर्यमाजगामोदयाचलम् ॥ १० ॥
चेलुस्तिमिरसङ्घाता बलानीवाऽरिरूपिणः ।
असृजञ्जीवसंघान् ये सन्ध्यायां तारका इव ॥ ११ ॥
शनैः प्रकटतां जग्मुर्नीलाकाशाद्रिभूमयः ।
भुवनं कज्जलाम्भोधेरिवोत्क्षिप्तमराजत ॥ १२ ॥

सम्बोधन अप्रबुद्ध लीलाका है, प्रबुद्ध लीलाका 'बाले' सम्बोधन सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पहले ही प्रबुद्ध हो चुकी है ॥ ६ ॥

राजा विदूरथका शत्रु जो सिन्धुनामक राजा है, उसने स्वयम् 'मैं जयसे शत्रुको पीड़ित करूँ' इस सङ्कल्पसे मेरी पूजा की थी ॥ ७ ॥

हे बाले, इसलिए राजा विदूरथ उस देहको पाकर तुम्हारे और इस भार्याके साथ समय आनेपर मुक्त होगा और इसका शत्रु राजा सिन्धु इसको मारकर विजयी हो पृथिवीतलमें स्वयं राज्य करेगा ॥ ८, ९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दो देवियाँ यों कह ही रही थीं कि जूझ रही दो सेनाओंका आश्चर्यमय युद्ध देखनेके लिए मानो भगवान् भास्कर उदयाचलमें आरूढ़ हुए ॥ १० ॥

जिन तिमिरसंघातोंने (अन्धकारसमुदायोंने) रात्रिमें (सन्ध्यामें) तारोंकी भाँति राक्षस, पिशाच आदि जीवसंघोंको वैरिरूपी विदूरथकी सेनाकी नाईं प्रकट किया था, वे न मालूम कहाँ चले गये ॥ ११ ॥

नीला आकाश और पर्वतश्रेणियाँ धीरे-धीरे प्रकट होने लगीं । सम्पूर्ण भुवन कज्जलके सागरमें से निकाला हुआ-सा शोभित हुआ ॥ १२ ॥

पेतुः कनकनिःस्यन्दसुन्दरा रविरश्मयः ।
शैलेषु वरवीरेषु रणे रक्तच्छटा इव ॥ १३ ॥
अदृश्यत ततो व्योम तथा रणमहीतलम् ।
बाहुभिर्भ्रान्तभुजगं प्रभाभिः कीर्णकाञ्चनम् ॥ १४ ॥
कुण्डलैः कीर्णरत्नौघं शिरोभिर्दृष्टपङ्कजम् ।
आयुधैः खड्गनीरन्ध्रं शरैः शलभनिर्भरम् ॥ १५ ॥
रक्ताभास्थिरसन्ध्याढ्यं ससिद्धपुरुषं शवैः ।
हारैः ससर्पनिर्मोकं कटैरिद्धं सुसंकुलम् ॥ १६ ॥
लसल्लतं पताकाभिरूरुभिः कृततोरणम् ।
हस्तैः पादैः पल्लवितं शरैः शरवणोपमम् ॥ १७ ॥
शस्त्रांशुशाद्वलश्यामं शस्त्रपूरैः सकैतकम् ।
कीर्णमायुधमालाभिरुन्मत्तमिव भैरवम् ॥ १८ ॥

रणभूमिमें श्रेष्ठ वीरोंपर रुधिर छटाकी नाईं शैलोंपर सुवर्णके द्रवके समान सूर्य किरणें गिरीं ॥ १३ ॥

तदुपरान्त आकाश और रणभूमि दोनों आकाशमें उड़ी हुई और भूमि पर गिरी हुई वीरोंकी भुजाओंसे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो उनमें सर्प घूम रहे हैं, परस्परकी प्रभासे दोनों ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो उनमें सोना बखेरा हो, आकाशमें उड़ रहे और भूमिपर गिरे हुए (ये दो विशेषण आगेके सभी तृतीयाविभक्त्यन्तोंसे अन्वित होते हैं) कुण्डलोंसे आकाश और महीतल ऐसा मालूम पड़ता था मानो उनमें रत्नराशियां बखेरी हों, सिरोंसे कमलपूर्ण तालाब-से प्रतीत होते थे, हथियारोंसे मानो गैंड़ोंसे निबिड़रूपसे भरेसे मालूम होते थे, बाणोंसे ऐसे लगते थे कि मानो वे टिड्डियोंके दलसे व्याप्त हों, रक्तकान्तिसे वे स्थिरसन्ध्या से युक्त-से मालूम होते थे, शवोंसे सिद्ध पुरुषोंसे पूर्णसे, हारोंसे साँपकी केंचुलसे भरे-से, कवचोंसे प्रदीप्त और सङ्कटापन्नसे प्रतीत होते थे। आकाशमें उड़ रहीं और भूमिमें गिरी हुई पताकाओंसे मानो उनमें लताएँ लहलहा रही हों, जङ्घाओंसे मानो उनमें वन्दनवार बनाये गये हों, हाथ और पैरोंसे वे पल्लवयुक्त-से प्रतीत होते थे, बाणोंसे सरके वनके सदृश लगते थे, शस्त्रोंकी किरणोंसे हरी दूबसे हरे भरे मैदानसे प्रतीत होते थे, शस्त्रोंके समूहोंसे केतकीके फूलोंसे युक्त-से प्रतीत

फुल्लाशोकवनाकारं शस्त्रसंघट्टवह्निभिः ।
उद्घुंघुमहाशब्दैर्विद्रवत्सिद्धनायकैः ॥ १९ ॥
सौवर्णनगराकारं बालार्ककचितायुधैः ।
प्रासासिशक्तिचक्रर्ष्टिमुद्गरारणिताम्बरम् ॥ २० ॥
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानशवोत्करम् ।
भुशुण्डीशक्तिकुन्तासिशूलपाषाणसंकुलम् ॥ २१ ॥
शूलशस्त्राहतिच्छिन्नकबन्धपतनान्वितम् ।
कालताण्डववेतालकलारब्धहलारवम् ॥ २२ ॥
शून्ये रणाङ्गणे दीप्तौ पद्मसिन्ध्वो रथौ चलौ ।
अदृश्येतां नभश्चिह्नौ चन्द्रसूर्यौ दिवीव तौ ॥ २३ ॥
चक्रशूलभुशुण्ड्यृष्टिप्रासायुधसमाकुलौ ।
सहस्रेण सहस्रेण वीराणां परिवारितौ ॥ २४ ॥

होते थे, हथियारोंके समूहोंसे व्याप्त वे उन्मत्त भैरव-से प्रतीत होते थे, शस्त्रास्त्रोंके टकरानेसे उत्पन्न हुई वह्निसे प्रफुल्ल अशोकके बनके तुल्य प्रतीत होते थे, समुद्रकी नाईं 'घुं घुं' महाशब्दवाले, प्रातःकालके सूर्यसे प्रदीप्त आयुधवाले भाग रहे सिद्ध नायकोंसे सौवर्ण नगराकार प्रतीत होते थे, प्रास, तलवार, शक्ति, चक्र, ऋष्टि और मुद्गरोंके उत्पतन और निपतनसे आकाश प्रतिध्वनित हो रहा था, बह रही रुधिरनदीके प्रवाहसे शवोंके झुण्डके झुण्ड बहाये जा रहे थे, भुशुण्डी, शक्ति, कुन्त, तलवार, शूल तथा पत्थरोंके उत्पतन और निपतनसे आकाश और रणभूमि पट गई थी, शूल और अन्यान्य शस्त्रास्त्रोंके आघातसे आच्छन्न कबन्ध वहांपर गिर रहे थे और कालके सदृश कराल ताण्डव करनेवाले वेताल हल-हल शब्द कर रहे थे ॥ १४–२२ ॥

इस प्रकार आकाश और रणभूमिका वर्णन कर सिन्धु और विदूरथका द्वैरथ (जिसमें केवल दो ही रथ हैं) युद्धका वर्णन करते हैं—'शून्ये' इत्यादिसे ।

परस्परके युद्धसे अपने-अपने योद्धाओंका विनाश हो जानेसे शून्य रणभूमिमें जैसे स्वर्गमें आकाशके चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखाई दें, वैसे ही राजा पद्म और राजा सिन्धुके प्रदीप्त और चञ्चल दो रथ दिखाई दिये । वे दोनों रथ चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि, प्रास और अन्यान्य हथियारोंसे खचाखच भरे थे और उनमें प्रत्येकमें एक-एक हजार वीर सवार थे ॥ २३, २४ ॥

विचरन्तौ यथाकामं मण्डलैर्विततारवैः ।
सचीत्कारमहाचक्रपिष्टानेकमृतामृतौ ॥ २५ ॥

तरन्तौ रक्तसरितौ मत्तवारणलीलया ।
केशशैवालसम्पन्ने चक्रचक्रजलेन्दुके ॥ २६ ॥

वहच्चक्राहतिक्षोभपातिताकुलवारणौ ।
मणिमुक्ताझणत्काररणत्कूबरकारवौ ॥ २७ ॥

वाताहतपताकाग्रपटत्पटपटारवौ ।
अनुयातौ महावीरैर्भूरिभिर्भीरुसैनिकैः ॥ २८ ॥

धारा वमद्भिः कुन्तानां शराणां धनुषामपि ।
शक्तीनां प्रासशङ्कूनां चक्राणां कचतां रणे ॥ २९ ॥

तत्र तौ क्षणमावृत्त्य मण्डले भूमिकुण्डले ।
उभौ व्यतिबभूवाते सम्मुखावायुधावुभौ ॥ ३० ॥

विस्तृत शब्दवाले अपने-अपने पैतरोंसे अपनी इच्छानुसार घूमते थे, उनके चीत्कार युक्त महान् पहियेसे अनेक मृत और घायल सैनिक चूर-चूर किये गये थे, मदोन्मत्त हाथीकी चालसे वे रुधिरनदियोंको, जो केशरूपी सेवारसे पूर्ण थीं, रथोंके चक्र ही जिनमें चक्रवाक और जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्र थे, तैरते थे, उन्होंने चल रहे पहियोंके आघातसे हुई व्यथावश घायल हाथियोंको गिरा डाला था, उनमें मणि और मोतियोंके झनकार ही रणमें प्रवृत्त कूबरोंके (रथके अग्र-भागके) शब्द हो रहे थे, वायुके आघातसे फरफरा रही पताकाके अग्रभागमें पट-पटशब्द हो रहे थे, जिन वीरोंके सैनिक कातर थे ऐसे अनेक महावीर उनके पीछे चल रहे थे, वे रणभूमिमें चल रहे भाले, बाणों, धनुषों, शक्तियों, प्रासों, कीलों और चक्रोंकी धाराओंको उगल रहे यानी वृष्टि कर रहे थे ॥ २५–२९ ॥

रणभूमिके कुण्डलके समान अलङ्काररूप रथोंके परिवर्तनरूप मण्डलमें एक क्षणभर आवृत्तिकर युद्धमें वे दोनों संमुख परस्परकी क्रियाके व्यत्याससे शोभित होते थे ॥ ३० ॥

नाराचधारानिकरविक्षेपकरकध्वनौ ।
अन्योन्यमपि गर्जन्तौ मत्ताब्धिजलदाविव ॥ ३१ ॥
तयोः प्रहरतोर्बाणा वसुधानरसिंहयोः ।
पाषाणमुसलाकारा व्योमविस्तारिणोऽभवन् ॥ ३२ ॥
करवालमुखाः केचिन्मुद्गराननकाः परे ।
शितचक्रमुखाः केचित् केचित् परशुवक्त्रकाः ॥ ३३ ॥
केचिच्छक्तिमुखाः केचित्केचिच्छूलशिलामुखाः ।
त्रिशूलवदनाः केचित्स्थूला इव महाशिलाः ॥ ३४ ॥
प्रलयपवनपातिताः शिलौघा
इव निपतन्ति शिलीमुखास्तदा स्म ।
प्रमिलितमभवत् तयोस्तदानीं
प्रलयविजृम्भितसिन्धुसम्भ्रमेण ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथसिन्धुसमागमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

—*—

बाणरूपी धारासमूह और प्रासरूपी ओलोंके गिराने और उनको सहनेके लिए की गई ध्वनि होनेपर दोनों ही परस्पर तरङ्गित सागर और मेघोंकी नाईं गर्जते थे । परस्पर आघात-प्रतिघात कर रहे उन दोनों भूमिके नरश्रेष्ठोंके पत्थरके मूसलके सदृश बाण आकाशमें फैलते थे ॥ ३१, ३२ ॥

उन बाणोंमें से कुछके मुँह तलवारके सदृश थे, कुछके मुँह मुद्गरके सदृश थे, कुछके मुँह चोखे चक्रोंके तुल्य थे, कुछके मुँह कुल्हाड़ेके सदृश थे, कुछके मुँह शूल और शिलाओंके सदृश थे, कुछके मुख त्रिशूलाकार और कोई महाशिलाके समान स्थूलाकार थे, वे सब बाण आकाशमें फैलते थे ॥ ३३,३४ ॥

उस समय प्रलयकालीन वायुसे गिराये गये पत्थरोंके समूहोंकी नाईं बाण उनपर गिरते थे । सिन्धुराज और विदूरथका परस्पर संमिलन प्रलयकालमें बढ़े हुए दो समुद्रोंके परस्परसंमिलनविलासके तुल्य हुआ ॥ ३५ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्राप्य राजा पुरः प्राप्तं सिन्धुमुद्धुरकन्धरम् ।
मध्याह्नतपनान्तेन कोपेन विततोऽभवत् ।। १ ।।
धनुरास्फालयामास चिरारावितदिङ्मुखम् ।
कल्पान्तपवनास्फोट इव मेरुगिरेस्तटम् ।। २ ।।
विससर्जोर्जितो राजा प्रलयार्कः करानिव ।
तूणीररजनीबद्धाः शिलीमुखपरम्पराः ।। ३ ।।
एक एव विनिर्याति गुणात्तस्य शिलीमुखः ।
सहस्रं भवति व्योम्नि गच्छन्पतति लक्षशः ।। ४ ।।
सिन्धोरपि तथैवाऽऽसीच्छक्तिर्लाघवमेव च ।
वरेण वरदस्यैवं विष्णोर्धानुष्कता तयोः ।। ५ ।।

अड़तालीसवाँ सर्ग

[सिन्धु और पद्मके संग्रामका, जो कि विचित्र मायाको उत्पन्न करनेवाले मन्त्रास्त्रोंसे विश्वको मोहित करनेवाला था, विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, राजा विदूरथ सामने खड़े हुए उन्नत-मस्तक राजा सिन्धुको पाकर मध्याह्नकालीन सूर्यके तुल्य कोपसे व्याप्त हुआ ॥ १ ॥

जैसे प्रलयकालीन वायुका आघात सुमेरुके तटको टंकारसे युक्त करता है, वैसे ही राजाने अपने धनुषको, जिसने चिरकालसे दिङ्मण्डलको मुखरित कर रक्खा था, टंकारसे युक्त किया यानी ताना ॥ २ ॥

जैसे प्रलयकालीन प्रखर सूर्य अपनी किरणोंको छोड़ता है, वैसे ही रोषके आवेगसे प्रवृद्ध राजाने तरकसरूपी रात्रिमें बँधे हुए बाणोंकी परम्पराको छोड़ा ॥ ३ ॥

उसकी प्रत्यञ्चासे एक ही बाण जाता था, पर वह आकाशमें जाते जाते हजार हो जाता था और लाख होकर गिरता था, भाव यह कि राजाका हस्तलाघव इतना बढ़ा चढ़ा था कि एक बाणके बाद ही पलक भरमें हजार बाण आकाशमें दिखाई देते थे और गिरने तक उनकी संख्या लाखोंतक पहुँच जाती थी ॥ ४ ॥

राजा सिन्धुकी भी शक्ति और हस्तलाघव राजा विदूरथके समान ही थे। उनकी ऐसी आश्चर्यमय धानुष्कता (धनुर्युद्धमें कुशलता) स्वाभाविक नहीं थी, किन्तु वर देनेवाले भगवान् श्रीविष्णुके वरदानसे वह प्राप्त हुई थी ॥ ५ ॥

मुसला नाम ते बाणा मुसलाकृतयोऽम्बरम् ।
छादयामासुरुन्नादाः कल्पान्ताशनयो यथा ॥ ६ ॥
रेजुः कनकनाराचराजयो व्योम्नि सस्वनाः ।
रसन्त्यः कल्पवातार्ताः पतन्त्य इव तारकाः ॥ ७ ॥
विदूरथाच्छरासारा अजस्रमभिनिर्ययुः ।
अब्धेरिव पयःपूराः सूर्यादिव मरीचयः ॥ ८ ॥
प्रचण्डपवनोद्धूतात् पुष्पाणीव महातरोः ।
अयःपिण्डादिवोत्तप्तात्ताडितात् कणपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
धारा वर्षमुच इव सीकरा इव निर्झरात् ।
तत्पुराग्निमहादाहात् स्फुलिङ्गा इव भासुराः ॥ १० ॥
तयोश्चटचटास्फोटं शृण्वत्कोदण्डयोर्द्वयोः ।
बलद्वयमभूत् प्रेक्षामूकं शान्त इवाऽम्बुधिः ॥ ११ ॥

प्रलयकालीन वज्रोंकी नाईं प्रचण्डशब्द करनेवाले मूसलाकार मुसलनामके उन बाणोंने आकाशतलको आच्छन्न कर दिया ॥ ६ ॥

आकाशमें शब्दायमान सोनेके बाणोंकी कतार प्रलयकालीन पवनसे पीड़ित अतएव शब्द कर रही और गिर रही तारावलीके समान शोभित हुई ॥ ७ ॥

जैसे समुद्रसे जलप्रवाह सदा निकलते रहते हैं और जैसे सूर्यसे किरणें निरन्तर निकलती रहती हैं, वैसे ही राजा विदूरथसे बाणोंकी मूसलाधार वृष्टि निरन्तर निकलती गई ॥ ८ ॥

विदूरथसे वे ऐसे निकलते थे, जैसे आँधीसे खूब हिलाये गये महावृक्षसे फूल गिरते हैं, जैसे खूब तपाये गये और पीटे गये लोहपिण्डसे चिनगारियाँ निकलती हैं, जैसे वृष्टि करनेवाले मेघसे धाराएँ निकलती हैं, जैसे झरनेसे जलकण निकलते हैं और जैसे उसके नगरमें पूर्वोक्त अग्नि महादाहसे चमकदार विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) निकले ॥ ९, १० ॥

उन दोनों योद्धाओंके धनुषोंके चट-चटशब्दको सुन रही दोनों सेनाएँ शान्त सागरके सामान स्तब्ध हो गई ॥ ११ ॥

वहन्ति स्म शरापूरा गङ्गापूरा इवाऽम्बरे ।
सिन्धोरभिमुखं युद्धे घर्घरारावरंहसः ॥ १२ ॥
कचत्कनकनाराचशरवर्षा अनारतम् ।
वहच्छवशवाशब्दं निर्ययुर्धनुरम्बुदात् ॥ १३ ॥
बाणमन्दाकिनीपूरं व्रजन्तं सिन्धुपूरणे ।
वातायनात् तमालोक्य लीला तत्पुरवासिनी ॥ १४ ॥
तेन बाणसमूहेन जयमाशङ्क्य भर्तरि ।
उवाच वाक्यमानन्दविकसन्मुखपङ्कजा ॥ १५ ॥
जय देवि जयत्येष नाथोऽस्माकं विलोकय ।
किञ्चाऽनेन शरौघेण मेरुरप्येति चूर्णताम् ॥ १६ ॥
तस्यामेवं वदन्त्यां तु घनस्नेहरवाकुलम् ।
प्रेक्षणव्यग्रयोर्देव्योर्हसन्त्योर्मानुषीं हृदा ॥ १७ ॥
तच्छरार्णवमासत्तमपिवत् सिन्धुवाडवः ।
शरोष्मणा ह्यगस्त्येन जह्नुर्मन्दाकिनीमिव ॥ १८ ॥

जैसे सागरकी ओर गङ्गाप्रवाह बहते हैं, वैसे ही युद्धमें राजा सिन्धुकी ओर घरघरशब्दसे युक्त वेगवाले बाणोंके प्रवाह बहते थे ॥ १२ ॥

धनुषरूपी मेघसे चमक रहे सोनेके फाल (अग्रभाग) वाले बाणोंकी वृष्टि 'शव' 'शव' शब्द करती हुई निरन्तर निकलती थी ॥ १३ ॥

उस नगरमें रहनेवाली लीलाने राजा सिन्धुको (सागरको) भरनेके लिए जा रहे बाणोंकी गङ्गाके उस प्रवाहको झरोखेसे देखकर और उस बाण-संघातसे अपने पतिमें विजयकी आशा कर मारे आनन्दसे विकसितमुखारविन्द-वाली होकर देवीसे निम्न लिखित वाक्य कहा ॥ १४, १५ ॥

हे देवि, आपकी जय हो, ये हमारे स्वामी विजय प्राप्त कर रहे हैं, आप देखिये, इस बाणवृष्टिसे, औरोंकी तो बात ही क्या है, मेरु भी चूरचूर हो सकता है ॥ १६ ॥

पतिमें गाढ़ प्रेम होनेके कारण आकुलतापूर्वक उसके ऐसा कहनेपर तथा युद्धदर्शनमें व्यग्र दो देवियोंके मनुष्यदेहमें आत्मबुद्धि करनेवाली उस नगरमें निवास करनेवाली लीलाके ऊपर हँसनेपर जैसे जह्नुऋषिने

बाणवर्षेण कणशस्तं सायकमहाघनम् ।
छित्त्वा तनुरजः कृत्वा चिक्षेप गगनार्णवे ॥ १९ ॥
यथा दीपस्य शान्तस्य न परिज्ञायते गतिः ।
तस्य सायकसंघस्य न विज्ञाता तथा गतिः ॥ २० ॥
तं छित्त्वा सायकासारं शरीराम्बुधरं घनम् ।
व्योम्नि प्रसारयामास रसाच्छवशतान्वितम् ॥ २१ ॥
विदूरथस्तमप्याशु व्यधमत्सायकोत्तमैः ।
सामान्यजलदं मत्तं कल्पान्तपवनो यथा ॥ २२ ॥
कृतप्रतिकृतैरेवं बाणवर्षैर्महीपती ।
व्यर्थीकृतैरनयतां प्रहारसविचारणैः ॥ २३ ॥
अथाऽऽदधे मोहनास्त्रं सिन्धुर्गन्धर्वसौहृदात् ।
प्राप्तं तेन ययुर्लोका विना मोहं विदूरथात् ॥ २४ ॥

गङ्गाजीको पी डाला था, वैसे ही सिन्धुरूपी बड़वानलने अगस्त्य स्थानापन्न हुए बाणरूपी दाहसे राजा विदूरथके बाणसागरको पी डाला ॥ १७,१८ ॥

राजा सिन्धुने अपनी बाणवृष्टिसे उस बाणसमूहरूपी महामेघको कणशः काटकर फिर उसे महीन धूली बनाकर आकाशरूपी सागरमें फेंक दिया। जैसे बुझे हुए दीपकी गति नहीं जानी जाती यानी दीपक कहां गया, यह ज्ञात नहीं होता, वैसे ही उस बाणसमुदायकी गति किसीको ज्ञात नहीं हुई ॥ १९,२० ॥

राजा सिन्धुने बाणोंकी उस वेगवती वृष्टिको तहस-नहस कर रणमें अतिशय अनुराग होनेसे शरीर (शवशरीर) रूपी जलको धारण करनेवाले सैकड़ों शवोंसे युक्त मेघको आकाशमें फैलाया ॥ २१ ॥

जैसे प्रलयकालीन पवन मत्त साधारण मेघको उड़ा देता है, वैसे ही राजा विदूरथने भी उसे अपने उत्तम-उत्तम बाणोंसे तुरन्त उड़ा दिया ॥ २२ ॥

दोनों राजाओंने इस प्रकार बाणवृष्टिसे, प्रहार और प्रतीकारसे, एक दूसरेके अस्त्रको व्यर्थ करनेसे और एक दूसरेको लक्ष्य बनानेसे एक प्रहर बिता दिया ॥ २३ ॥

तदुपरान्त राजा सिन्धुने गन्धर्वोंकी मित्रतासे प्राप्त विमोहनास्त्रका धनुषमें सन्धान किया, उससे विदूरथके सिवा उसके पक्षके सब लोग मोहको प्राप्त हो

व्यस्तशस्त्राम्बरा मूका विषण्णवदनेक्षणाः ।
मृता इवाऽभवन् योधाश्चित्रन्यस्ता इवाऽथवा ॥ २५ ॥
यावद्विदूरथादन्यं मोहो नयति मन्दताम् ।
तावद्विदूरथो राजा प्रबोधास्त्रमथाऽऽददे ॥ २६ ॥
ततः प्रबोधमापन्नाः प्रजाः प्रातरिवाऽब्जिनी ।
विदूरथेऽभवत् सिन्धुः क्रुद्धोऽर्क इव राक्षसे ॥ २७ ॥
नागास्त्रमाददे भीमं पाशबन्धनखेददम् ।
तेनाऽभवन्नभो व्याप्तं भोगिभिः पर्वतोपमैः ॥ २८ ॥
सर्पैर्विलसिता भूमिर्मृणालैः सरसी यथा ।
सम्पन्ना गिरयः सर्वे कृष्णपन्नगकम्बलाः ॥ २९ ॥
पदार्थाः सर्व एवेमे विषोष्मखिन्नतां ययुः ।
सपर्वतवनाभोगा ययौ विवशतां मही ॥ ३० ॥

गये । विमोहनास्त्रसे राजा विदूरथके सैनिकोंके अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे, मुँहसे वचन नहीं निकलता था, मुँह और नेत्रोंमें विषाद छा गया था तथा वे मृतसे हो गये अथवा चित्रलिखित-से हो गये थे ॥ २४,२५ ॥

सम्मोहनास्त्रसे उत्पन्न मोहके विदूरथसे भिन्न लोगोंको मन्द बनाते न बनाते राजा विदूरथने प्रबोधास्त्र उठाया। प्रबोधास्त्रके सन्धानसे प्रातःकालमें कमलिनीकी (कमलसरकी) नाईं सब लोग जाग उठे, तब तो जैसे सूर्य मन्देह-नामके राक्षसपर क्रुद्ध होता है, वैसे ही राजा सिन्धु विदूरथपर क्रुद्ध हुआ यानी लाल पीला हुआ ॥ २६, २७ ॥

तदनन्तर उसने (सिन्धुने) भीषण नागास्त्र उठाया, जो कि पाशबन्धन द्वारा दुखदायी था, नागास्त्रसे आकाश पर्वताकार सांपोंसे व्यांप्त हो गया। मृणालोंसे (कमलकी जड़ोंसे) जैसे तालाब विलासको प्राप्त होता है, वैसे ही सफेद सांपोंसे भूमि विलसित हुई, सबके सब पर्वत काले सर्परूपी कम्बलोंसे आच्छन्न हो गये, ये सभी पदार्थ विषकी गर्मीसे खेदको प्राप्त हुए और पर्वतों तथा बनोंकी विशालतासे युक्त भूमि व्याकुलताको प्राप्त हो गई ॥ २८–३० ॥

पूताङ्गारसमाकीर्णं विषवैषम्यशंसिनः ।
ववू रूक्षोष्णनीहारवाता ज्वलनरेणवः ॥ ३१ ॥
विदूरथोऽथ सौपर्णमाददेऽस्त्रं महास्त्रवित् ।
उदगुर्गरुडास्त्रेण सौपर्णाः पर्वता इव ॥ ३२ ॥
काञ्चनीकृतसर्वाशाः सर्वाशा परिपूरकाः ।
पक्षपर्वतसंरम्भजनितप्रलयानिलाः ॥ ३३ ॥
घोणानिलजवाकृष्टश्वसद्भुजगमण्डलाः ।
महाघुरघुरारावपूरिताम्भोधिखण्डकाः ॥ ३४ ॥
स सुपर्णघनोऽपात्तं सर्पौघं भूप्रपूरकं ।
कृष्टं शलशलायन्तमगस्त्य इव वारिधिम् ॥ ३५ ॥
सर्पकम्बलनिर्मुक्तं भूमण्डलमराजत ।
चिरात्तमवनीरन्ध्रमिव निर्वारिराशि च ॥ ३६ ॥

विषकी विषमताके सूचक, आगकी चिनगारियोंसे पूर्ण और हिमशीतल तथा स्निग्ध पदार्थोंको भी रूखे और गर्म कर देनेवाले वायु भस्मसे पृथक् किये गये अङ्गारोंसे व्याप्त होकर बहते थे ॥ ३१ ॥

तदनन्तर महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथने सौपर्ण (गारुड़) अस्त्रको उठाया । गरुडास्त्रसे पर्वतोंकी नाईं विशालकाय गरुड़ उदित हुए । उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंको सुपर्णमय बना दिया, सब दिशाएँ उनसे छा गईं और परों द्वारा परवाले पर्वतोंके तुल्य अपने उड़नेके वेगसे उहोंने प्रलयकालका वायु उत्पन्न कर दिया । अपने श्वासके वेगसे फुफकार मार रहे सांपोंको खींच लिया तथा महान् घुर, घुर शब्दसे समुद्रके कुछ हिस्सोंको भर दिया था ॥ ३२–३४ ॥

जैसे महामुनि श्रीअगस्त्यजीने भूमिको भरनेवाले (प्लावित कर देनेवाले) कष्टके साथ इधर उधर सरक रहे चञ्चल प्रवाहवाले समुद्रको पी डाला था, वैसे ही उस गरुड़ास्त्रने भूमिको आच्छन्न करनेवाले इधर उधर कष्टके साथ सरक रहे सर्परूपी प्रवाहको पी डाला ॥ ३५ ॥

काले सर्परूपी कम्बलोंसे निर्मुक्त भूमण्डल ऐसा शोभित हुआ, जैसा कि वराह भगवान् द्वारा चिरकालसे उद्धृत अतएव वारिराशिसे निकाला हुआ भूमिमण्डल शोभित हुआ था ॥ ३६ ॥

ततस्तद् गरुडानीकं क्वाऽप्यगच्छददृश्यताम् ।
दीपौघ इव वातेन शरदेवाऽब्दमण्डलम् ॥ ३७ ॥
वज्रभीत्येव पक्षौघपर्वतप्रकरः पुरः ।
स्वप्नदृष्टं जगदिव संकल्पपुरपूरवत् ॥ ३८ ॥
ततस्तमोऽस्त्रमसृजत् सिन्धुरन्धान्धकारदम् ।
तेनाऽन्धकारो ववृधे कृष्णो भूजठरोपमः ॥ ३९ ॥
रोदोरन्ध्रे प्रविसृत एकार्णव इवाऽभवत् ।
मत्स्या इवाऽभवन् सेनास्ताराश्च मणयोऽभवन् ॥ ४० ॥
अन्धकारप्रवृत्तेन मषीपङ्कार्णवोपमम् ।
कज्जलाचलसम्भारोद्भूतकल्पानिलैरिव ॥ ४१ ॥
अन्धकूपे निपतिता इवाऽऽसन् सकलाः प्रजाः ।
कल्पान्त इव संशेमुर्व्यवहारा दिशं प्रति ॥ ४२ ॥

तदुपरान्त वह गरुड़ोंकी महती वाहिनी, जैसे वायुके झोंकेसे दीपसमुदाय अदृश्य हो जाता है, जैसे शरद् ऋतुसे मेघमण्डल लुप्त हो जाता है है, जैसे वज्रके भयसे पक्षयुक्त मैनाक आदि पर्वतसंघात सामनेसे अदृश्य हो जाता है, जैसे स्वप्नदृष्ट नगर लुप्त हो जाता है और मनोरथसे कल्पित नगर तथा जलप्रवाह या नगरोंकी परम्परा विलुप्त हो जाती है, वैसे ही, न मालूम कहां चली गई ॥ ३७, ३८ ॥

तदुपरान्त राजा सिन्धुने अन्धा बनानेवाले अन्धकारको पैदा करनेवाले तमोस्त्रकी सृष्टि की। उससे काला और शिलाके मध्यके समान घना अन्धकार बढ़ा। अन्तरिक्ष और भूमिमण्डलके मध्यमें फैला हुआ वह घना अन्धकार एकमात्र सागर-सा हो गया, उसमें दोनों राजाओंकी सेनाएँ मछलियाँ-सी हुईं और उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें लगे हुए मणिगण तारे-से हुए ॥ ३९,४० ॥

अन्धकारके प्रसारसे जगत् स्याहीके पङ्कके सागरके तुल्य हो गया और अञ्जनपर्वतके उपादानरूप धूलिकणोंके साथ उत्पन्न हुए प्रलयवायुओंसे व्याप्त-सा हो गया ॥ ४१ ॥

सब लोग मानो अन्धे कुएँमें गिर गये थे, चारों दिशाओंके, कल्पान्तकालकी नाईं, सब व्यवहार नेस्तनाबूद हो गये थे ॥ ४२ ॥

विदूरथोऽथ मार्तण्डं दीपं ब्रह्माण्डमण्डपे ।
अस्त्रं मन्त्रविदां श्रेष्ठः सृष्ट्वाऽमन्त्रो व्यचेष्टयत् ॥ ४३ ॥
अथोदिततमोम्भोधिमर्कागस्त्यो गभस्तिभिः ।
अपिबत्कृष्णमम्भोदं शरत्काल इवाऽमलः ॥ ४४ ॥
अन्धकाराम्बरोन्मुक्ता विरेजुरमला दिशः ।
भूपतेः पुरतः कान्ता इव रम्यपयोधराः ॥ ४५ ॥
ययुः प्रकटतामन्तरखिला वनराजयः ।
लोभकज्जलजालेन मुक्ता इव सतां धियः ॥ ४६ ॥
अथ कोपाकुलः सिन्धू राक्षसास्त्रं महाभयम् ।
क्षणादुदीरयामास मन्त्रोदीर्णशरात्मकम् ॥ ४७ ॥
उदगुर्भीषणा दिग्भ्यः परुषा वनराक्षसाः ।
पातालगजफूत्कारक्षुब्धा इव महार्णवाः ॥ ४८ ॥
कपिलोर्ध्वजटा धूम्राः स्फुटच्चटचटारवाः ।
अग्नयो लेलिहानोग्रजिह्वा आर्द्रेन्धना इव ॥ ४९ ॥

तदुपरान्त मन्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ राजा विदूरथने ब्रह्माण्डमण्डलमें दीपकतुल्य प्रकाश करनेवाले सूर्यास्त्रकी सृष्टि कर गुप्तमन्त्रणाकी कोई अपेक्षा किये बिना ही जगत्को सचेष्ट कर दिया ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सूर्यरूपी अगस्त्यने अपने किरणोंसे अन्धकारके सागर को, ऐसे पी डाला जैसे निर्मल शरद् ऋतु काले मेघोंको पी डालती है ॥ ४४ ॥

अन्धकाररूपी वस्त्रसे उन्मुक्त सुन्दर मेघोंसे युक्त निर्मल दिशाएँ, वस्त्ररहित रमणीय स्तनमण्डलसे संपन्न कान्ताओंकी नाईं, राजाके सन्मुख सुशोभित हुईं ॥४५॥

उनके मध्यमें सज्जनोंके अन्तःकरणमें लोभरूपी काजल-समूहसे मुक्त बुद्धिके समान सम्पूर्ण वनपङ्क्तियां प्रकट हो गईं ॥ ४६ ॥

तदनन्तर क्रोधसे व्याकुल राजा सिन्धुने एक क्षणमें महाभयङ्कर राक्षसास्त्रका, जिससे मन्त्रसे बाण निकलते थे, प्रयोग किया ॥ ४७ ॥

राक्षसास्त्रके प्रयोगसे दसों दिशाओंसे बड़े भयानक और कठोर वनराक्षस निकल आये। वे पातालमें रहनेवाले दिग्गजोंकी फुफकारसे विक्षुब्ध (तरङ्गित) सागरोंके तुल्य थे। उनकी जटाएँ कपिल रंगकी और ऊपरको खड़ी थी,

सावर्तवृत्तयो व्योम्नि भीमचीत्कारटाङ्कृताः ।
अग्निदाहा महाधूमविलोला इव सोल्मुकाः ॥ ५० ॥
दंष्ट्राबिसाङ्कुराक्रान्तमुखपङ्काक्षदेहकाः ।
उदिता लोमजम्बाला दुष्पल्वलतटा इव ॥ ५१ ॥
निगिरन्तः प्रधावन्तो गर्जन्तः सर्जिता इव ।
जटाजालतडित्पुञ्जा जलदाः सजला इव ॥ ५२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिँल्लीलानाथो विदूरथः ।
नारायणास्त्रं प्रददे दुष्टभूतनिवारणम् ॥ ५३ ॥
उदीर्यमाण एवाऽस्मिन्नस्त्रराजेऽस्त्रराजयः ।
राक्षसानां प्रशेमुस्ता अन्धकार इवोदये ॥ ५४ ॥

चट चट शब्द कर रहे थे, उनकी भीषण जीभ लप लपा रही थी, अतएव वे ऊपर उठनेवाली लाल ज्वालाओंसे युक्त, चट चट शब्द कर रही, जिसमें काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता आदि सात उग्र ज्वालाएँ लपलपा रही हों, ऐसी गीले काठवाली अग्निके समान धूम्रवर्णके थे ॥ ४८, ४९ ॥

वे आकाशमें जलभौंरीकी नाईं घूमते थे, भीषण चीत्कारशब्दका टंकार करते थे, अतएव वे अग्निके सन्तापसे युक्त (जल रहे) और महान् धुँएसे चञ्चल उल्मुकधारियोंके सदृश थे ॥ ५० ॥

दाढरूपी मृणालोंसे आक्रान्त मुखोंसे और कीचड़से मलिन चक्षु आदि इन्द्रियोंसे युक्त रोमरूपी सेवारसे युक्त शरीरवाले वे खराब पल्वलोंके (छोटे तालाबोंके) तटोंकी नाईं उदित हुए थे। खराब पल्ववोंके तट मृणालों और कीचड़ तथा कमलगट्टोंसे व्याप्त रहते हैं और शैवाल भी उनमें रहता है ॥ ५१ ॥

जैसे सजल मेघ गरजता है, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि ज्योतियोंको निगल जाता है और बिजलीसे युक्त होता है, वैसे ही गरज रहे और लोगोंको निगल रहे मानो जगत्को निगलनेके लिए ब्रह्मा द्वारा रचे गयेसे वे जटाजालरूपी बिजलीसे युक्त थे ॥ ५२ ॥

इसी समय युद्धभूमिमें लीलापति राजा विदूरथने दुष्ट भूतोंका विनाश करनेवाला नारायणास्त्र, प्रयोग करनेके लिए, उठाया ॥ ५३ ॥

इस श्रेष्ठ अस्त्रके उदित होते ही सूर्यके उदित होनेपर जैसे अन्धकार

प्रमुष्टराक्षसानीकमभवद् भुवनत्रयम् ।
शरदीव गताम्भोदं व्योम निर्मलमाबभौ ॥ ५५ ॥
अथ सिन्धुर्मुमोचाऽस्त्रमाग्नेयं ज्वलिताम्बरम् ।
जज्वलुः ककुभस्तेन कल्पाग्निज्वलिता इव ॥ ५६ ॥
धूमाम्बुदभराच्छन्ना बभूवुः सकला दिशः ।
गगने प्रोतपातालतिमिराकुलिता इव ॥ ५७ ॥
बभूवुर्ज्वलिताकारा गिरयः काञ्चना इव ।
प्रफुल्लघननीरन्ध्रचम्पकौघवना इव ॥ ५८ ॥
ययुर्व्योमाद्रिदिक्कुञ्जा ज्वालाजालजटालताम् ।
कुङ्कुमेनोत्सवे मृत्योः समालब्धा इव स्रजः ॥ ५९ ॥
ज्वलिता जनता चैकशङ्किनी सा नभःस्पृशा ।
सहस्राकृतिनौवेगचलितेनेव सागरात् ॥ ६० ॥

विलीन हो जाता है, वैसे ही राक्षसोंकी वे विविध शस्त्रास्त्रपरम्पराएँ विलीन हो गईं ॥ ५४ ॥

नारायणास्त्रके प्रयोगसे तीनों भुवन राक्षसोंकी महती सेनासे शून्य हो गये। अतएव जैसे शरद ऋतुमें मेघोंसे निर्मुक्त अतएव निर्मल आकाश शोभित होता है, वैसे ही राक्षससेनाशून्य त्रिभुवन शोभित हुआ ॥ ५५ ॥

तदनन्तर राजा सिन्धुने आग्नेयास्त्र, जिसने आकाशको प्रज्वलित कर दिया था, छोड़ा, उससे दिशाएँ प्रलयकालीन अग्निसे जलाई गईसी जलने लगीं ॥ ५६ ॥

धूमरूपी मेघोंके संघातसे आच्छन्न सम्पूर्ण दिशाएँ आकाशमें गूँथे हुए पातालके अन्धकारसे आकुलसी हो गईं ॥ ५७ ॥

जले हुए पर्वत सोनेके से लगते थे और फूले हुए और अत्यन्त घने चम्पा वृक्षोंके वनोंसे युक्तसे लगते थे ॥ ५८ ॥

आकाश, पर्वत और दिशामण्डल मृत्युके उत्सवमें कुङ्कुमसे सींची गई मालाओंकी नाईं अग्निकी ज्वालाओंके जालसे जटिलताको प्राप्त हो गये यानी व्याप्त हो गये ॥ ५९ ॥

हजारों आकारवाले नौकावेगोंसे सागरसे आये हुए और आकाशचुम्बी

जित्वा रिपुं पुनरसौ यथा प्रहरते तथा ।
वारुणं विससर्जाऽस्त्रं पूजयित्वा विदूरथः ॥ ६१ ॥
आययुः सलिलापूरास्तमःपूरा इवाऽभितः ।
अधस्तादूर्ध्वतो दिग्भ्यो द्रवरूपा इवाऽद्रयः ॥ ६२ ॥
भागा इव शरव्योम्नि धृतयाना इवाऽम्बुदाः ।
महार्णवा इवोच्चस्थाः कुलशैलशिला इव ॥ ६३ ॥
तमालौघा इवोड्डीनाः सन्धिता इव रात्रयः ।
कज्जलौघा इवोद्भूता लोकालोकतटादिव ॥ ६४ ॥
रसातलगुहाभोगा इव व्योमदिदृक्षवः ।
महाघुरघुरारावरंहोबृंहितमूर्तयः ॥ ६५ ॥
तामग्निसन्ततिं मत्तामाचचामाऽम्बुसन्ततिः ।
भुवनव्यापिनी सन्ध्यामाशु कृष्णे च यामिनी ॥ ६६ ॥

बड़वानलसे मानो जगत्‌के अग्निरूपी अद्वैतकी (अग्निरूपताकी) संभावना करती हुई जनता जलाई गई ॥ ६० ॥

राजा विदूरथने आग्नेय अस्त्रको जीतकर रिपु सिन्धुपर भी जैसे यह अस्त्र प्रहार करे वैसे पूजा करके वारुणास्त्रका प्रयोग किया ॥ ६१ ॥

उस अस्त्रके प्रयोगसे शरोंके मार्गके अवकाशमें दसों दिशाओंसे चारों ओरसे अन्धकारके प्रवाहकी नाईं, द्रवरूप पर्वतोंकी नाईं, आकाशके भागकी नाईं, स्थिरगति (निश्चल) बादलोंकी नाईं, महासागरकी नाईं और ऊपरसे नीचेको लुढ़काई गई कुलपर्वतोंकी चट्टानोंकी नाईं जलप्रवाह आने लगे ॥ ६२, ६३ ॥

वे जलप्रवाह क्या थे मानो बाणोंके मार्गभूत आकाशमें उड़े हुए तमाल-वृक्षोंके झुण्ड थे, आपसमें एक दूसरेसे पिरोई हुई रात्रियां थीं, लोकालोक-पर्वतकी तलहटीसे निकले हुए असंख्य काजलके अन्धकाररूपी ढेर थे आकाशके दर्शनोंकी तीव्र इच्छावाली विशालकाय पातालकी गुफाएँ थीं, जिनकी स्वभावतः विशाल देह महान् घुरघुर शब्दके वेगसे और भी अधिक बढ़ गई थी ॥ ६४, ६५ ॥

जैसे भुवनव्यापिनी काली रात सन्ध्याको शीघ्र ही पी डालती है, वैसे ही जलसंघातने उन्मत्त उस अग्निसंघातको पी डाला ॥ ६६ ॥

तामग्निसन्ततिं पीत्वा पूरयामास भूतलम् ।
जलश्रीर्जटितं देहं निद्रेव व्यक्तिमेयुषी ॥ ६७ ॥
एवंविधानस्त्रमोहान् विदधुर्धावनेतरे ।
मिथो मायामयानग्रे पश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ ६८ ॥
हेतिभास्वराः सिन्धोश्चक्ररक्षास्ततोऽम्भसा ।
तृणानीव गताः प्रोह्य रथश्चास्याऽभवत्प्लुतः ॥ ६९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे सिन्धुरस्त्रं सस्मार शोषणम् ।
आपन्नाणकरं दैवं ददौ च शररूपिणम् ॥ ७० ॥
शशामाऽम्बुमयी माया तेन यामेव भास्वता ।
ये मृतास्ते मृता एव बभूवुः शोषिता भुवः ॥ ७१ ॥
अथ मूर्खरुषा तुल्यस्तापः सन्तापयन् प्रजाः ।
जजृम्भे झर्झराकीर्णवनविस्तारकर्कशाः ॥ ७२ ॥

जलराशिने महान् विस्तारको प्राप्त उस अग्निको पीकर जैसे व्यक्त (प्रकट) होती हुई निद्रा श्रमसे श्रान्त शरीरको भर देती है, वैसे ही पहले ज्वालाओंसे व्याप्त भुवनतलको भर दिया ॥ ६७ ॥

पूर्व अस्त्र द्वारा की गई अपनी मलिनताको हटानेवाले तथा उनसे विरुद्ध अस्त्रवेत्ताओंने परस्पर ऐसे मायिक अस्त्रमोह किये, जिन्हें वे अपने सामने स्वयं देखते थे और शत्रुके विनाशरूप फल द्वारा उनका अनुभव भी करते थे ॥ ६८ ॥

तदनन्तर जलसे राजा सिन्धुके अपनी सेनाकी रक्षा करनेवाले अस्त्रशस्त्र-समूह और श्रेष्ठ योद्धा तिनकोंकी नाईं बह चले और राजा सिन्धुका रथ भी जलप्रवाहमें तैरने लगा ॥ ६९ ॥

इसी बीचमें सिन्धुको शोषणास्त्रका स्मरण हुआ। उसने आपत्तिसे बचानेवाले तथा देवसे प्राप्त शररूपी शोषणास्त्रका धनुषमें सन्धान किया ॥ ७० ॥

सूर्यके उदयसे रात्रिकी नाईं शोषणास्त्रसे जलमयी माया शान्त हो गई जो मर चुके थे वे, मरे ही रह गये, किन्तु भूमितल सूख गया ॥ ७१ ॥

तदनन्तर मूर्खके क्रोधके सदृश लोगोंको क्लेश पहुँचा रहा सूर्यताप, जो कि सूखे हुए पत्तोंसे इधर उधर चारों ओर व्याप्त विशाल वनोंसे अधिक कठोर हुआ था, खूब बढ़ने लगा ॥ ७२ ॥

कचत्कनकनिःस्यन्दसुन्दराङ्गच्छविर्दिशाम् ।
आसीद्राजवरस्त्रीणामिवाऽऽलेपोऽङ्गसङ्गतः ॥ ७३ ॥
तेन घर्ममयीं मूर्च्छामाजग्मुस्तद्विरोधिनः ।
ग्रीष्मदावानलोत्तप्ता मृदवः पल्लवा इव ॥ ७४ ॥
विदूरथो रणोद्रेके तावत् क्रेङ्कारमाततम् ।
कोदण्डं कुण्डलीकृत्य पर्जन्यास्त्रमथाऽऽददे ॥ ७५ ॥
उदगुः पङ्क्तियोऽब्दानां यामिन्य इव सञ्चिताः ।
तमालविपिनोड्डीनसंरम्भादम्बुमन्थराः ॥ ७६ ॥
वामना वारिपूरेण गर्जनोद्दामसंचराः ।
महिम्ना मन्थराशेषककुम्मण्डलकुण्डलाः ॥ ७७ ॥
ववुरावलितासारा मेघडम्बरभेदिनः ।
कीर्णसीकरनीहारभारोदाराः समीरणाः ॥ ७८ ॥

दिशाओंकी चमचमा रहे सुवर्णके द्रवकी नाईं सुन्दर शरीरशोभा ऐसी भली मालूम होती थी मानो राजाओंकी उत्तम स्त्रियोंके शरीरमें लगा हुआ केसर आदिका अङ्गलेप हो ॥ ७३ ॥

शोषणास्त्रसे राजा सिन्धुके विरोधी ग्रीष्म ऋतुकी वनाग्निसे खूब सन्तप्त कोमल कोमल पल्लवोंकी नाईं घामसे होनेवाली मूर्च्छाको प्राप्त होने लगे ॥ ७४ ॥

तदुपरान्त रणभूमिकी भयङ्करताके बढ़नेपर राजा विदूरथने क्रेंकारकी (प्रत्यञ्चाशब्दकी) शोभासे व्याप्त धनुषको तान कर उसमें पर्जन्य अस्त्रका अनुसन्धान किया ॥ ७५ ॥

एक स्थानमें ढेर लगा कर रक्खी हुई रात्रियोंकी नाईं जलपूर्ण होनेके कारण मन्दगामिनी मेघपङ्क्तियां तमाल वनोंके आकाशमें उड़नेकी लीलासे उदित हुईं ॥७६॥

उक्त मेघपङ्क्तियां जलराशिसे नमनेके कारण उन्नत नहीं थीं, गर्जन और तर्जनसे उनका गमन बड़ा उद्दाम था, तिरछे विस्तारसे अमन्थर और स्वाभाविक विस्तारसे कुण्ठितगतिकी नाईं संकुचित सम्पूर्ण दिशामण्डल मानो उनके कुण्डल हो गये थे ॥ ७७ ॥

विकीर्ण (इधर उधर बिखेरे गये) जलबिन्दुओं और शैत्यराशिसे सुखदायक, मेघाडम्बरको भिन्न करनेवाले और मुसलाधार वृष्टिसे व्याप्त वायु बहने लगे ॥७८॥

अपुस्फुरुः सुसौवर्णसर्पापत्सरणोपमाः ।
विद्युतो दिवि दैव्यस्त्रीकटाक्षवलना इव ॥ ७९ ॥
जुघूर्णुर्गर्जनोच्छूनप्रतिश्रुद्धनकन्दराः ।
दिशश्चलितमातङ्गसिंहर्क्षरवघर्घराः ॥ ८० ॥
महामुसलधाराभिः पेतुरासारवृष्टयः ।
कष्टटङ्कारकठिनाः कृतान्तस्येव दृष्टयः ॥ ८१ ॥
उदभूत् प्रथमं बाष्प उष्णोऽनलनिभो भुवः ।
पातालादभ्रवृन्दानां युद्धायेवाऽऽत्तविभ्रमः ॥ ८२ ॥
ततो निमेषमात्रेण प्रशेमुर्मृगतृष्णिकाः ।
परबोधरसापूरैर्यथा संसारवासनाः ॥ ८३ ॥
आसीत् पङ्काङ्कमखिलं भूमण्डलमसञ्चरम् ।
पूरितः पूर्णधाराभिः सिन्धुः सिन्धुरिवाऽम्बुना ॥ ८४ ॥

अप्सराओंके कटाक्षविक्षेपके तुल्य चपल बिजली आकाशमें ऐसी चमकती थी, मानो सोनेके साँप किसी बहुत बड़ी आपत्तिसे बड़ी उतावलीके साथ निकल रहे हों ॥ ७९ ॥

दिशाएँ, जिनकी कन्दराएँ मेघोंके गर्जनकी बढी चढ़ी प्रतिध्वनियोंसे व्याप्त थीं और जिनमें मेघगर्जन सुननेके पश्चात् 'हमारे सामने यह कौन गरज रहा है' यों क्रोधपूर्वक सामने दौड़े हुए हाथियों, सिंहों और रीछोंके प्रतिगर्जनसे विपुल कोलाहल हो रहा था, घूमने लगीं ॥ ८० ॥

ओले गिरनेकी कष्टदायक टं टं ध्वनियोंसे कठिन खूब वेगवाली वृष्टि बड़ी-बड़ी मूसलाधारोंसे गिरने लगी। वह वृष्टि क्या थी मर्मस्थान और नसोंको तोड़नेकी ध्वनियोंसे कठिन (क्रूर) यमकी ही दृष्टि थी ॥ ८१ ॥

पहले मेघोंके युद्धके लिए मानों शूरवीरताको धारण किया हुआ-सा अग्निके तुल्य गर्म पृथिवीका भाप पातालसे निकला ॥ ८२ ॥

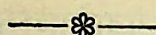
तदुपरान्त परमात्माके बोधरूप निरतिशय आनन्दप्रवाहसे सांसारिक वासनाओंकी नाईं मृगतृष्णाको पैदा करनेवाले आतपसन्ताप (प्रचण्ड घाम) पर्जन्यास्त्रसे एकपलक भरमें शान्त हो गया ॥ ८३ ॥

सारा भूमण्डल कीचड़से सन गया, अतएव उसमें चलना भी दूभर हो

वायव्यमस्त्रमसृजत् पूरिताकाशकोटरम् ।
कल्पान्तनृत्तसम्मत्तरटद्भैरवभीषणम् ॥ ८५ ॥

ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गा दलितशिलाशकलाः ककुम्मुखेषु ।
प्रलयसमयसूचका भटानां कृतपटुटाङ्कतटङ्किनः समीराः ॥ ८६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आयुधवर्णनं नाम अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥



गया। राजा सिन्धु जलधाराओंसे ऐसा पूर्ण हो गया जैसा कि जलराशिसे समुद्र भर जाता है। यों जलधाराओंसे व्याप्त सिन्धु राजाने वायव्य अस्त्रका प्रयोग किया। वायव्यास्त्रने आकाशरूपी कोटरको (खोखलेको) वायुसे पूर्ण कर दिया और वह स्वयं प्रलयकालके नृत्यमें मत्त और गा रहे भैरवके सदृश भीषण था यानी उसमें सांय-सांय शब्द और कम्पन प्रचुरमात्रामें हो रहा था ॥ ८४, ८५ ॥

दसों दिशाओंमें प्रबल आँधी बहने लगी। जैसे वज्र गिरनेसे लोगोंके शरीरमें दर्द होता है, वैसे ही उक्त आँधीने प्राणियोंके अङ्गोंको व्यथित कर डाला, बड़ी-बड़ी शिलाओंके टुकड़ोंको तोड़फोड़ डाला, योधाओंके प्रलयकालकी सूचना करनेवाले एवं भटोंके प्रतिभटों द्वारा किये गये बड़े-बड़े टङ्कारोंसे यानी शिलाओंको तोड़नेकी ध्वनियोंसे टङ्कवाले-से अर्थात् पत्थरोंको तोड़नेके हथियारों-से (घनोंसे) युक्त-सी थी ॥ ८६ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त।



एकोनपञ्चाशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

वबुर्वलितनीहारा विकीर्णवनपल्लवाः ।
वायवो धूतवृक्षौघाः सल्लीलापीडपांसवः ॥ १ ॥
पक्षिवद्भ्रान्तवृक्षौघाः पतनोत्पातनोद्भटाः ।
विकुट्टिताट्टालखण्डाश्चाऽभ्रभित्तिविभेदिनः ॥ २ ॥
तेनाऽतिभीमवातेन विदूरथरथोऽप्यथ ।
उह्यमानोऽभवन्नद्या यथा जर्जरपल्लवः ॥ ३ ॥
विदूरथोऽथ तत्याज पार्वतास्त्रं महास्त्रवित् ।
व्योमाऽपि घनतोयेन समादातुमिवोद्यतम् ॥ ४ ॥
तेन शैलास्त्रघातेन विराट् प्राणसमीरणः ।
शमं चैतन्यशान्त्येव प्रययौ वायुराततः ॥ ५ ॥

उन्चासवाँ सर्ग

[पर्वतास्त्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र और पिशाचास्त्रका, जिसमें पिशाचोंकी विविध लीलाएँ थीं, विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तुषारसे सने हुए वायु बहने लगे, उन्होंने वनके पल्लवोंको अस्तव्यस्त कर दिया, वनके वृक्षोंको कँपा दिया और जितने मूर्तिमान् पदार्थ थे, उनके मस्तकोंमें धूलिको लीलासे आपीड़ (शिरोभूषण) बना दिया ॥ १ ॥

उक्त वायुओंने वृक्षोंके झुण्डके झुण्डको पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ा दिया, बड़े-बड़े भटोंको पृथिवीमें पछाड़ दिया और आकाशमें उड़ा दिया बड़े-बड़े महलोंकी अटारियोंके हिस्सोंको चूर-चूर कर दिया और बादलरूपी भीतको छिन्न भिन्न कर दिया। उस भीषण वायुसे राजा विदूरथका रथ भी जैसे जीर्ण पत्ता नदीके वेगसे बहाया जाता है, वैसे ही बहाया गया ॥ २, ३ ॥

तदुपरान्त महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथने पार्वतास्त्रका त्याग किया, वह मानो मेघ-जलके साथ आकाशको भी ग्रसनेके लिए उद्यत था ॥ ४ ॥

उस पर्वतास्त्रके प्रहारसे सर्वत्र व्याप्त वायु ऐसे शान्तिको प्राप्त हुआ जैसे

अन्तरिक्षगता वृक्षपङ्क्तयः पतिता भुवि ।
नानाजनशवव्यूहे काकानामिव कोटयः ॥ ६ ॥
शेमुः सूत्कारडात्कारभाङ्कारोत्कारका दिशाम् ।
प्रलापा इव विध्वस्ताः पूर्ग्रामवनवीरुधाम् ॥ ७ ॥
गिरीनपश्यन्नभसः पततः पत्रवर्णवत् ।
सिन्धुः सिन्धुरिवोत्पक्षान्मैनाकादीनितस्ततः ॥ ८ ॥
वज्रास्त्रमसृजद्दीप्तं चेरुर्वज्रगणास्ततः ।
पिबन्तोऽद्रीन्द्रतिमिरमग्निदाहमिवाऽग्नयः ॥ ९ ॥
ते गिरीणां तथा क्षिप्ताः कोटितुण्डावखण्डनैः ।
शिरांसि पातयामासुः फलानीवोल्बणानिलाः ॥ १० ॥
विदूरथोऽथ वज्रास्त्रशान्त्यै ब्रह्मास्त्रमत्यगात् ।
ततो ब्रह्मास्त्रवज्रास्त्रे समं प्रशममागते ॥ ११ ॥

कि तत्त्वज्ञान होनेसे, मायारूप कारणका नाश होनेके कारण, उसके कार्य विराट् सूत्रात्मा शान्त हो जाता है ॥ ५ ॥

जैसे अनेक लोगोंके शवोंके ढेरमें करोड़ों कौए गिरते हैं, वैसे ही पहले वायुके कारण आकाशमें गई हुई वृक्षपङ्क्तियाँ पृथिवीमें गिरीं ॥ ६ ॥

दिशाओंके सूत्कार (निःश्वासके शब्द), डात्कार (लूटपाटके शब्द), भांकार (भीषण शब्द) और उत्कार (उद्भट शब्द) शान्त हुए, नगर, गांव, वन और लताओंके निरर्थक वर्णनवचन विध्वस्त होते हैं ॥ ७ ॥

जैसे सागरने प्राचीन कालमें अपने ऊपर इधर-उधर उड़ते हुए परयुक्त मैनाक आदि पर्वतोंको देखा था, वैसे ही राजा सिन्धुने आकाशसे पत्तेके तुल्य गिर रहे पर्वतोंको देखा ॥ ८ ॥

तदुपरान्त राजा सिन्धुने दीप्त वज्रास्त्रकी सृष्टि की । उससे जैसे अग्नि लकड़ियोंको जला डालती है वैसे ही बड़े-बड़े पर्वतरूपी अन्धकारको गिरा रहे वज्रोंके झुण्डके झुण्ड निकले ॥ ९ ॥

उन्होंने (वज्रोंने) अपने करोड़ों मुखों द्वारा अवखण्डनसे यानी कर्तनसे (काटनेसे) पर्वतोंके शिखरोंको ऐसे गिरा दिया जैसे कि आंधी फलोंको गिरा देती है ॥ १० ॥

तदनन्तर राजा विदूरथने वज्रास्त्रकी शान्तिके लिए अन्यान्य अस्त्रोंका

श्यामाश्मासं पिशाचास्त्रमथ सिन्धुरचोदयत् ।
तेनोद्गुः पिशाचानां पङ्क्तयोऽत्यन्तभीतिदाः ॥ १२ ॥
सन्ध्यायामथ भीत्येव दिवसः श्यामतां ययौ ।
पिशाचा भुवनं जग्मुरन्धकारभरा इव ॥ १३ ॥
भस्मनः स्तम्भसदृशास्तालोत्तालविलासिनः ।
दृश्यमानमहाकारा मुष्टिग्राह्या न किञ्चन ॥ १४ ॥
ऊर्ध्वकेशाः कृशाङ्गाश्च केचिच्च श्मश्रुला अपि ।
कृष्णाङ्गा मलिनाङ्गाश्च ग्राम्या इव नभश्चराः ॥ १५ ॥
सभया मूढदृष्टाश्च यत्किञ्चनकराश्चलाः ।
दीना वज्रासिनः क्रूरा दीना ग्राम्यजना इव ॥ १६ ॥
तरुकर्दमरथ्यान्तःशून्यगेहगृहाश्चलाः ।
लेलिहानाः प्रेतरूपाः कृष्णाङ्गाश्चपला इव ॥ १७ ॥

अतिक्रमण कर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। उसके अनन्तर ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ शान्त हो गये ॥ ११ ॥

फिर तो राजा सिन्धुने अँधियारी रात्रिके समान काले पिशाचास्त्रका प्रयोग किया। उससे अत्यन्त भीषण पिशाचोंकी पङ्क्तियोंकी पङ्क्तियां निकलीं। उन पिशाचोंकी पङ्क्तियोंसे जैसे सन्ध्याके समय कोई आदमी भयभीत हो काला हो जाता है, वैसे ही दिन भी भयसे मानो काला हो गया। अन्धकारके समूहकी तरह पिशाच भुवनमें व्याप्त हुए। उनमें से कोई भस्मके (जले हुए) स्तम्भोंके तुल्य काले थे, कोई ताड़के पेड़के सदृश ऊँचे थे, किन्हींका महान् आकार दिखाई दे रहा था, कोई हाथसे छूने योग्य यानी कम ऊँचे थे और किन्हींका कोई रूप ही न था यानी अदृश्य थे। किन्हींके केश ऊपरको खड़े थे, कोई बड़े दुबले पतले थे, कोई मोछ-दाढ़ीवाले थे, कोई काले थे, किन्हींका शरीर ग्रामीण पुरुषोंकी नाईं बड़ा गन्दा था, कोई आकाशचारी थे, कोई केवल अपवित्र लोगोंके दृष्टिगोचर होते थे, किन्हींके हाथमें हड्डी, नरमुण्ड आदि वस्तुएँ थीं, कोई चञ्चल थे, कोई दीन-हीन थे, कोई वज्र और तलवारसे भी बढ़कर क्रूर थे, कोई ग्रामीण दरिद्रोंकी नाईं दीन-हीन थे, वृक्ष, कीचड़, रथ्याके भीतर और शून्य घरमें उनका निवास था और वे बड़े चञ्चल थे। उनमें से कोई अपनी जिह्वाओंको लपलपा रहे थे, किन्हींका स्वरूप

जगृहुस्ते तदा मत्ता हतशिष्टमरेर्बलम् ।
आसंस्तत्सैनिकास्तत्र भिन्नास्त्रक्षुब्धचेतनाः ॥ १८ ॥

त्यक्तायुधतनुत्राणास्त्रस्तप्राणाः स्खलद्रमाः ।
नेत्रैरङ्गैर्मुखैः पादैर्विकारभरकारिणः ॥ १९ ॥

त्यक्तकौपीनवसना निमग्ना वसनोत्तराः ।
विष्ठां मूत्रं च कुर्वन्तः स्थिरमारब्धनर्तनाः ॥ २० ॥

पिशाचराजी राजानं तस्य यावद्विदूरथम् ।
समाक्रामति तावत्तां मायां स बुबुधे बुधः ॥ २१ ॥

पिशाचसङ्ग्रामकरीं मायां वेत्ति स भूमिपः ।
तया पिशाचसैन्यं तत् परसैन्ये न्ययोजयत् ॥ २२ ॥

ततः स्वसैनिकाः स्वस्थाः परयोधाः पिशाचिनः ।
तस्याऽऽशु रूपिकास्त्रं च ददावन्यदसौ रुषा ॥ २३ ॥

प्रेतोंके तुल्य था, किन्हींका अङ्ग काला था, कोई बिजलीके तुल्य स्वरूपवाले थे यानी कभी दिखाई देते थे और कभी छिप जाते थे। मदोन्मत्त उन लोगोंने मरनेसे बचे हुए शत्रुके सैनिकोंको पकड़ना आरम्भ किया। वहांपर उसके सैनिकोंकी बुरी हालत हुई। किन्हींके अस्त्र-शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये थे और किन्हींकी चेतनाशक्ति नष्ट हो गई थी, किन्हींके हथियार, कवच अलग हो गये थे, कोई मारे भयके दुबके हुए थे और कोई बारबार ठोकर खाकर चल रहे थे। वे सब नयन, मुख, पैर और अन्यान्य अङ्गोंसे भाँति भाँतिकी भूताविष्ट-चेष्टाएँ कर रहे थे। उनमें से कुछने कौपीन और वस्त्रोंका त्याग कर दिया था, कुछके ऊपरके और नीचेके वस्त्रहीन अंग संकुचित थे, कुछ खड़े होकर मल-मूत्रका त्याग कर रहे थे और कुछने नाचना आरम्भ कर दिया था ॥ १२–२० ॥

राजा सिन्धुकी पिशाचसेना जब राजा विदूरथके ऊपर आक्रमण करना चाहती थी, तभी राजा विदूरथने, जो बड़ा बुद्धिमान् था, उसे माया जान लिया ॥ २१ ॥

राजा विदूरथ पिशाचोंसे संग्राम करनेवाली मायाको जानता था, उस माया द्वारा उसने पिशाचोंकी उस सेनाको शत्रुसेनासे भिड़ा दिया ॥ २२ ॥

तदनन्तर राजा विदूरथके अपने सैनिक तो स्वस्थ हो गये और शत्रुके

उद्‌गुर्भूतलाद्व्योम्नो रूपिका ऊर्ध्वमूर्धजाः ।
निर्मग्नविकरालाक्ष्यश्चलच्छ्रोणिपयोधराः ॥ २४ ॥

उद्भिन्नयौवना वृद्धाः पीवराङ्ग्योऽथ जर्जराः ।
स्वरूपारूपजघना दुर्नाभ्यो विकसद्भगाः ॥ २५ ॥

नररक्तशिरोहस्ताः सन्ध्याभ्रारुणगात्रिकाः ।
अर्धचर्वितमांसासृक्स्रवत्सृक्क्याकुलाननाः ॥ २६ ॥

नानाङ्गवलना नानानमन्नमनसत्तमाः ।
शिलाभुजगवक्त्रोरुकटिपार्श्वकराङ्गिकाः ॥ २७ ॥

नारीकृतार्भकशवा हस्ताकृष्टान्त्ररज्जवः ।
श्वकाकोलूकवदना निम्नवक्रहनूदराः ॥ २८ ॥

सैनिक पिशाचोंसे आविष्ट होकर उनकी-सी गतिविधिवाले हो गये । राजा विदूरथने कोपसे उसके सहायक दूसरे रूपिकास्त्रका प्रयोग किया ॥ २३ ॥

खड़े हुए केशवाली गड्ढेसे घुसी हुई विकराल नेत्रवाली तथा चञ्चल कटिभाग और स्तनमण्डलसे युक्त रूपिकाएँ (अनेक पूतनाएँ) भूतल और आकाशसे उत्पन्न हुईं ॥ २४ ॥

उनमें से किन्हींकी जवानी उभरी हुई थी, कुछ बुढ़िया थीं, कुछ बड़ी मोटी थीं और कुछका शरीर जीर्ण-शीर्ण यानी कृश था, किन्हींके जघन अपने स्वरूपके अनुरूप थे और किन्हींके स्वरूपके अनुरूप नहीं थे, किन्हींकी नाभियां बड़ी घृणित थीं, गुप्त अङ्ग भी आवृत नहीं थे, कुछने अपने हाथोंमें नररक्तसे पूर्ण खप्पर ले रक्खा था, अतएव उनका शरीर सन्ध्याकालके मेघके समान लाल था, आधा चबाये हुए माँस और खूनको बहा रहे ओठोंके प्रान्तोंसे उनका मुँह व्याप्त था ॥ २५, २६ ॥

वे पिशाचियाँ विविध प्रकारकी अङ्गचेष्टाएँ कर रही थीं, वे भाँति भाँतिके अनम्र लोगोंको नवाँनेमें समर्थ थीं और उनके मुँह, जंघा, कमर, पसली भुजाएँ और अन्यान्य अङ्ग शिलाओंकी नाईं कठोर और सांपोंकी नाईं टेढ़े मेढ़े थे । उन्होंने बच्चोंके शवोंकी नरमाला पहन रक्खी थी, हाथसे वे मनुष्योंकी आतड़ी रूपी रस्सीको खींचती थीं, उनमें से किसीका मुँह कुत्तेका-सा किसीका

जगृहुस्तान् पिशाचांस्ता दुर्बलान् दुःशिशूनिव।
पिशाचरूपिकासैन्यं तदासीदेकतां गतम् ॥ २९ ॥
निर्मग्ननर्तनोत्तानवदनाङ्गविलोचनम् ।
परस्पराक्रान्तिकरं प्रधावच्च परस्परम् ॥ ३० ॥
निष्कासितमहाजिह्वं नानामुखविकारदम् ।
शरभाराढ्यमन्योन्यं ह्रियमाणशवाङ्गकम् ॥ ३१ ॥
रुधिराम्भसि मज्जन्तदुन्मज्जद्धल्लसत्तनु ।
लम्बोदरं लम्बभुजं लम्बकर्णोष्ठनासिकम् ॥ ३२ ॥
रक्तमांसमहापङ्केष्वन्योन्यं वेल्लनाभ्यसत् ।
मन्दरोद्धूतदुग्धाब्धिलसत्कलकलाकुलम् ॥ ३३ ॥
यथैव मायासञ्चारस्तेन तस्य कृतः पुरा ।
तेनाऽपि तस्याऽऽशु तथा कृतो बुद्ध्वा स लाघवात् ॥ ३४ ॥

कौएका-सा और किसीका उल्लूका-सा था। उनके मुँह, चिबुक (ठेहुन) और पेट गहरे थे ॥ २७, २८ ॥

उन्होंने उन दुर्बल पिशाचोंको दुष्ट बच्चोंकी नाईं पतिरूपसे पकड़ लिया, तदुपरान्त रूपिकाओं और पिशाचोंकी वह सेना एकमें मिल गई ॥ २९ ॥

वे क्रीड़ारसमें अत्यन्त मग्न, नाचनेके कारण उताने मुँह, अङ्ग और नयन वाले थे, परस्पर एक दूसरेके ऊपर आक्रमण कर रहे थे, तथा परस्पर दौड़ रहे थे। उन्होंने महती जिह्वा बाहर निकाल रक्खी थी, नाना प्रकारके मुँहके विकारसे युक्त थे, रुधिरमण्डके भारसे वे आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरेकी प्रसन्नताके लिए वे शवोंको ले जा रहे थे ॥ ३०, ३१ ॥

वे रुधिररूपी जलमें बार-बार डूबकर ऊपरको उबरते थे, उनके शरीर बह रहे खूनसे लथपथ अतएव देदीप्यमान थे, पेट, भुजाएँ, कान, ओठ और नासिका—ये अङ्ग बड़े लम्बे थे। रुधिर और माँसके कीचड़में वे परस्पर लोट-पोट कर रहे थे और मन्दराचलसे मथे जा रहे क्षीरसागरके से विपुल कोलाहलसे वे व्याप्त थे ॥ ३२, ३३ ॥

जैसे ही पहले राजा विदूरथने राजा सिन्धुकी मायाका संचार (उसकी मायाको लौटाकर उसीके ऊपर डालना) किया था, वैसे ही राजा सिन्धुने भी

वेतालास्त्रं ततो दत्ते तेनोत्तस्थुः शवव्रजाः ।
अमूर्धानः समूर्धानो वेतालावेशवल्गिताः ॥ ३५ ॥
ततः पिशाचवेतालरूपिकोग्रकबन्धवत् ।
तद्बभूव बलं भीममुर्वीनिगरणक्षमम् ॥ ३६ ॥
अथेतरोऽपि भूपालो मायां संचार्य तां गुरौ ।
राक्षसास्त्रं ससर्जाऽथ त्रैलोक्यग्रहणोन्मुखम् ॥ ३७ ॥
उदगुः पर्वताकाराः सर्वतः स्थूलराक्षसाः ।
देहमाश्रित्य निष्क्रान्ताः पातालान्नरका इव ॥ ३८ ॥
अथोदभूद् बलं भीमं ससुरासुरभीतिदम् ।
गर्जद्रक्षोमहानादवाद्यनृत्यत्कबन्धकम् ॥ ३९ ॥
मेदोमांसोपदंशाढ्यं रुधिरासवसुन्दरम् ।
क्षीबकूष्माण्डवेतालयक्षताण्डवसुन्दरम् ॥ ४० ॥

जानकर बड़ी शीघ्रता और फुर्तीके साथ उसकी मायाका संचार उसीके ऊपर कर दिया ॥ ३४ ॥

तदुपरान्त पिशाचास्त्रसे उत्पन्न पिशाच और रूपिकाओंकी सेनाकी सहायताके लिए राजा सिन्धुने वेतालास्त्रका प्रयोग किया, उससे वेतालोंके आवेशसे चलाये गये मुर्दोंके झुण्डके झुण्ड, जिनमें कुछ तो सिररहित थे और कुछ सिरसहित थे, उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

तदनन्तर पिशाच, वेताल, रूपिका और भीषण कबन्धोंसे परिपूर्ण वह भीषण सेना पृथिवीको निगलनेमें समर्थ हुई ॥ ३६ ॥

तदुपरान्त राजा विदूरथने भी पहले प्रयोग करनेके कारण शिक्षक तुल्य राजा सिन्धुपर उस मायाको लौटाकर राक्षसास्त्रकी सृष्टि की, उक्त राक्षसास्त्र तीनों लोकोंको ग्रसनेमें तत्पर हुआ। चारों ओरसे पर्वताकार महाकाय राक्षसोंका आविर्भाव हुआ, मालूम होता था कि मानो नरक ही देहधारण कर पातालसे निकले हों। तत्पश्चात् देवता और असुरोंको भयभीत करनेवाली बड़ी भीषण राक्षस सेना, जिसमें गरज रहे राक्षसोंके महान् सिंहनादरूपी बाजेसे कबन्ध नाच रहे थे, उत्पन्न हुई। वह सेना मेदा और मासरूप उपदंशसे (मद्यके ऊपर रुचनेवाली वस्तु यानी चाटसे) भरी थी, रुधिररूपी मद्यसे रंगी थी और मत्त

कूष्माण्डकोत्ताण्डवदण्डपादक्षुब्धासृगुक्षिप्ततरङ्गसिक्तैः ।
सन्ध्याभ्ररागोत्करकोटिकान्ति भूतैरसृक्स्रोतसि दत्तसेतु ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने तृतीयास्त्रयुद्धं नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे समरविभ्रमे ।
सर्वारिसैन्यनाशार्थमेकं स्वबलशान्तये ॥ १ ॥
सस्मार स्मृतिमानन्तो महोदाराधिधैर्यभृत् ।
अस्त्रमस्त्रेश्वरं श्रीमद्वैष्णवं शङ्करोपमम् ॥ २ ॥

कूष्माण्ड, वेताल और यक्षोंके ताण्डवसे (उद्धत नृत्यसे) बड़ी भली लगती थी ॥ ३७–४० ॥

कूष्माण्डकोंके उद्धत नृत्यमें दण्डपादसे (पैरोंको इधर उधर नचानेके एक प्रकारसे) विक्षुब्ध रुधिरकी उठी हुई तरङ्गोंसे सींचें गये प्राणियोंसे उक्त सेनाने रुधिरके प्रवाहपर पुल बांध रक्खा था, उक्त पुलकी कान्ति संध्याकालके मेघकी प्रचुर लालिमासे भी करोड़ गुना अधिक था ॥ ४१ ॥

पचासवाँ सर्ग

[दो वैष्णवास्त्रोंका युद्ध, दोनों राजाओंका रथरहित होना तथा राजा विदूरथकी मृत्युका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, समयोचित प्रतिभा रखनेवाले लोगोंमें सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार और अधिक धैर्यशाली राजा सिन्धुने, उस समय जब कि वह भीषण संग्राम हो रहा था, शत्रुकी सम्पूर्ण सेनाके विनाशके लिए तथा अपनी सेनाकी पिशाचोंसे हुई पीड़ाकी शान्तिके लिए सब अस्त्रोंके राजा असाधारण श्रीवैष्णवास्त्रका, जो कालरुद्रके समान संहारकारी था, स्मरण किया ॥ १,२ ॥

अथ योऽसौ शरस्तेन वैष्णवास्त्राभिमन्त्रितः ।
मुक्तस्तस्य फलप्रान्तादुल्मुकादि विनिर्ययौ ॥ ३ ॥
पङ्क्तयः स्फारचक्राणां शतार्कीकृतदिक्तटाः ।
गदानामभियान्तीनां शतवंशीकृताम्बराः ॥ ४ ॥
वज्राणां शतधाराणां तृणराजीकृताम्बराः ।
पट्टिशानां सपद्मानां दीनवृक्षीकृताम्बराः ॥ ५ ॥
शराणां शितधाराणां पुष्पजालीकृताम्बराः ।
खड्गानां श्यामलाङ्गानां पत्रराशीकृताम्बराः ॥ ६ ॥
अथ राजा द्वितीयोऽपि वैष्णवास्त्रस्य शान्तये ।
ददौ वैष्णवमेवाऽस्त्रं शत्रुनिष्ठावपूरकम् ॥ ७ ॥
ततोऽपि निर्ययुर्नद्यो हेतीनां हतहेतयः ।
शरशक्तिगदाप्रासपट्टिशादिपयोमयाः ॥ ८ ॥

राजा सिन्धुने वैष्णव अस्त्रसे अभिमन्त्रित कर जो शर अपनी प्रत्यञ्चासे छोड़ा उसके फलके अग्रभागसे उल्मुक (उल्का) आदि निकलने लगे । उससे निकली हुई बड़े-बड़े चक्रोंकी पङ्क्तियोंने दिशाओंको सैकड़ों सूर्योंसे युक्त-सा बना दिया, अभिमुख आ रही गदाओंकी पङ्क्तियोंने आकाशको सैकड़ों गदाकार बाँसके नये अँखुओं (कल्लों) से युक्त कर दिया, सौ धारवाले वज्रोंकी पङ्क्तियोंने आकाशको तिनकोंके समूहसे व्याप्त बना दिया, कमलदलोंके कुड्मलोंके (कलियोंके) आकारकी अनेक शाखाओंसे युक्त पट्टिशोंकी पङ्क्तियोंने आकाशको कटे हुए वृक्षोंसे व्याप्त-सा कर दिया, चोखी धारवाले बाणोंकी पङ्क्तियोंने आकाशको फूलोंकी जालीसे युक्त-सा कर दिया और काली आकृतिवाले खड्गोंकी कतारोंने आकाशको पत्तोंकी राशिसे व्याप्त कर दिया ॥ ३—६ ॥

तदनन्तर दूसरे राजाने यानी विदूरथने भी वैष्णव अस्त्रकी शान्तिके लिए वैष्णव अस्त्रका ही, जो कि शत्रुकी पराक्रम स्थितिके अनुरूप था, प्रयोग किया ॥७॥

उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदिरूप जलवाली अस्त्रोंकी नदियाँ, जिन्होंने पहलेके वैष्णवास्त्रप्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रोंको छिन्न-भिन्न कर दिया था, निकलीं ॥ ८ ॥

शस्त्रास्त्रसरितां तासां व्योम्नि युद्धमवर्तत ।
रोदोरन्ध्रक्षयकरं कुलशैलेन्द्रदारणम् ॥ ९ ॥

शरापतितशूलासिखड्गकुट्टितपट्टिशम् ।
मुसलप्रतनाप्रासशूलशातितशक्तिकम् ॥ १० ॥

शराम्बुराशिमथनमत्तमुद्गरमन्दरम् ।
गदावदनतो युक्तं दुर्वारास्त्रिनिभासिनि ॥ ११ ॥

रिष्टारिष्टप्रशमनभ्रमत्कुन्तेन्दुमण्डलम् ।
प्रासप्रसरसंरब्धप्रोद्यतान्तकृतान्तकम् ॥ १२ ॥

चक्रावकुण्ठितोर्ध्वास्त्रं सर्वायुधक्षयंकरम् ।
शब्दस्फुटद्गिरिश्चाण्डं घातभग्नकुलाचलम् ॥ १३ ॥

आकाशमें उन शस्त्रास्त्रोंकी नदियोंका द्युलोक और पृथिवीके मध्यवर्ती अवकाशका भी विनाश करनेवाला तथा श्रेष्ठ कुलपर्वतोंको भी चूर-चूरकर देनेवाला युद्ध हुआ ॥ ९ ॥

उक्त शस्त्रास्त्रोंकी नदियोंके ही युद्धका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'शरा०' इत्यादिसे ।

उस युद्धमें शरसे (वैष्णवास्त्रसे अभिमन्त्रित बाणसे) निकले हुए शूल, तलवार और कटारसे पट्टिश (किर्चके आकारके एक प्रकारके लोहेके हथियार) चूर चूर हो गये थे, मूसलोंके विस्तार तथा प्रास और शूलसे शक्तियां (शक्तिनामका शस्त्र) काटकर टुकड़े टुकड़े की गईं थीं और बाणसमूहरूप जलनिधिके मथनमें समर्थ मुद्गर ही मन्दरका काम कर रहे थे । वहां गदाओंके मुखसदृश अग्रभागोंसे टक्कर लग रही थी तथा जिनके अस्त्रोंका निवारण करना महाकठिन था, उन प्रतिभटोंके अनुरूप प्रमाण और प्रभाववाली तलवारे थीं। उस युद्धमें अपनी-अपनी सेनाओंके विध्वंसरूप अशुभकी शान्तिके लिए भालेरूपी चन्द्रमण्डल घूम रहे थे, यम वहांपर प्रासोंके प्रसारसे कुपित थे, अतएव उन्होंने लोगोंका क्षय करना आरम्भ कर दिया था। उस युद्धमें चक्रोंसे ऊपरको खड़े किये अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित किये गये थे, सम्पूर्ण आयुधोंका क्षय हो रहा था, उसके शब्दसे ब्रह्माण्ड मानो फूटता था, प्रहारोंसे कुलाचल भी छिन्न-भिन्न हो रहे थे ॥ १०-१३ ॥

धारानिकृत्तशस्त्रौघमस्त्रयोर्युद्ध्यमानयोः ।
मदस्त्रवारणेनेव वज्राविजरपर्वतम् ॥ १४ ॥
शङ्कुशङ्कितसूत्कारकाशिशूलशिलाशतम् ।
भुशुण्डीनिर्जितोद्दण्डभिन्दिपालोग्रमण्डलम् ॥ १५ ॥
परशूलकराभैकपरशूलैककम्पितम् ।
वहदुच्छिन्नचञ्चूरचारणं शत्रुवारणम् ॥ १६ ॥
स्फुटच्चटचटास्फोटरुद्धत्रिपथगारयम् ।
हेत्यस्त्रीचूर्णसंभारमहाधूमवितानकम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यशस्त्रसङ्घट्टाद्भ्रमज्जालोल्लसत्तडित् ।
शब्दस्फुटद्विरिञ्चाण्डं घातभग्नकुलाचलम् ॥ १८ ॥
धारानिकृत्तशस्त्रौघमस्त्रयोर्युद्ध्यमानयोः ।
मदस्त्रवारणनेव कालोपायोऽचलात्मनः ॥ १९ ॥

जैसे मैंने विश्वामित्रके अस्त्रका निवारण किया था, वैसे ही परस्पर एक दूसरेके घात-प्रतिघातका निवारण करनेवाले लड़ रहे उन दो वैष्णवास्त्रोंकी बाणवृष्टिने सब प्रकारके शस्त्रोंके समूहको काट डाला, वज्रोंने अकाट्य पर्वतोंको काटकर जीर्ण-शीर्ण कर दिया ॥ १४ ॥

वहांपर शूल और पत्थर कीलोंकी नाईं चोखे थे, शत्रुभेदनरूप कार्यसे उनकी खूब प्रशंसा होती थी और वे तेज दौड़नेसे हुई फुफकारसे सुशोभित थे। वहां भुशुण्डियोंने (एक प्रकारके शस्त्रोंने) भीषण भिन्दिपालोंके घने ढेर पर विजय पाई थी। सबका संहार करनेमें समर्थ भगवान् शङ्करके तुल्य पराक्रमशाली शिवशूलको उसके तुल्य ही दूसरे शूलने कुण्ठित कर डाला था, निकलते ही तुरन्त काटे गये हथियारोंकी टेढ़ी-मेढ़ी गतियाँ हो रही थीं। फूट रहे चट-चट शब्दने गङ्गाजीके प्रवाहको रोक दिया था और अस्त्र-शस्त्रोंके चूरके ढेररूपी महान् धूमसे (धुँएसे) चँदवा तन गया था ॥ १५–१७ ॥

वहांपर परस्परके शस्त्रास्त्रोंके टकरानेसे घूम रहे जालकी नाईं बिजलियाँ प्रदीप्त होती थीं, कलकल शब्दसे ब्रह्माण्ड मानो फूटा जा रहा था, प्रहारसे बड़े-बड़े कुलपर्वत छिन्न-भिन्न हो गये थे, परस्पर जूझ रहे अस्त्रोंकी शरवृष्टिने शस्त्रास्त्रोंके ढेरको काटकर गिरा दिया था, पर्वतकी नाईं निश्चल राजा विदूरथ

अयं कियद्बल इति सिन्धौ तिष्ठति हेलया ।
विदूरथोऽस्त्रमाग्नेयं तत्याजाऽशनिशब्दवत् ॥ २० ॥
ज्वालयामास सरथं सन्धोः कक्षमिवाऽरसम् ।
एतस्मिन्नन्तरे व्योम्नि हेतिनिर्विवरोदरे ॥ २१ ॥
ससन्नाह इव प्रावृट् पयोदतटिनीव यः ।
अस्त्रे राज्ञोः क्षणं कृत्वा युद्धं परमदारुणम् ॥ २२ ॥
अन्योन्यं शममायाते सवीर्ये सुभटाविव ।
एतस्मिन्नन्तरे सोऽग्नी रथं कृत्वा तु भस्मसात् ॥ २३ ॥
प्राप दग्ध्वा वनं सिन्धुं मृगेन्द्रमिव कन्दरात् ।
सिन्धुरभ्यासतोऽग्न्यस्त्रं वारुणास्त्रेण शामयन् ॥ २४ ॥
रथं त्यक्त्वाऽवनिं प्राप्य खड्गास्फोटकवानभूत् ।
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण रथाश्वानां रिपोः खुरान् ॥ २५ ॥

मेरे द्वारा विश्वामित्रके अस्त्रोंके निवारणकी नाईं केवल अस्त्रनिवारणमात्रसे स्थित थे, उनकी ऐसी स्थिति केवल कालक्षेपका उपाय था ॥ १८, १९ ॥

मेरे सामने इसकी क्या हस्ती है, यों राजा विदूरथकी अवहेलनासे राजा सिन्धुके स्थित होनेपर राजा विदूरथने सिन्धुके ऊपर वज्र-निर्घोषयुक्त आग्नेय अस्त्र छोड़ा। उक्त आग्नेय अस्त्रने सूखी हुई घासके ढेरकी नाईं राजा सिन्धुके रथको जला दिया। इसी बीचमें जब कि अस्त्र-शस्त्रोंसे आकाश ऐसा पट गया था कि कहींपर भी सूराख दृष्टिगोचर नहीं होता था, जो राजा सन्नद्ध था वह तो वर्षा ऋतुकी नाईं बाणोंकी वर्षा करता था और जो दूसरा राजा था वह मेघसे बढ़ाई गई नदीकी नाईं बहता था। दोनों राजाओंके पहले प्रयुक्त दो बलवान् वैष्णवास्त्र क्षणभरके लिए परस्पर भीषणतम युद्ध कर दो बलवान् सुभटोंकी नाईं शान्त हो गये। इसी बीचमें जैसे वनाग्नि वनको जलाकर गुहासे निकले हुए सिंहको प्राप्त होती है, वैसे ही आग्नेयास्त्रकी अग्नि राजा सिन्धुके रथको जलाकर सिन्धुको प्राप्त हुई। राजा सिन्धुने हस्तलाघवसे आग्नेयास्त्रको वारुणास्त्रसे शान्त कर दिया और अपने जले हुए रथको छोड़कर पृथिवीपर आकर ढाल और तलवारसे लैस हो गया। राजा सिन्धुने नेत्रोंके पलक गिरने भरमें शत्रुके रथके

लुलाव करवालेन मृणालानीव लाघवात् ।
विदूरथोऽपि विरथो बभूवाऽऽस्फोटकासिमान् ॥ २६ ॥
समायुधौ समोत्साहौ चेरतुर्मण्डलानि तौ ।
खड्गौ क्रकचतां यातौ मिथः प्रहरतोस्तयोः ॥ २७ ॥
दन्तिमाले यमस्येव वले चर्वयतः प्रजाः ।
शक्तिमादाय चिक्षेप खड्गं त्यक्त्वा विदूरथः ॥ २८ ॥
सिन्ध्वम्बुघर्घरारावो महोत्पात इवाऽशनिः ।
अविच्छिन्ना समायाता पतिता साऽस्य वक्षसि ॥ २९ ॥
अप्रियस्य यथा भर्तुरनिच्छन्ती स्वकामिनी ।
तेन शक्तिप्रहारेण नाऽसौ मरणमाप्तवान् ॥ ३० ॥
केवलं रुधिरव्रातं नागो जलमिवाऽत्यजत् ।
तद्देशलीला तं दृष्ट्वा भग्नं तम इवेन्दुना ॥ ३१ ॥
सविकासघनानन्दा पूर्वलीलामुवाच ह ।
देवि पश्य नृसिंहेन हतो भर्त्राऽयमावयोः ॥ ३२ ॥

घोड़ेके खुरोंको कमलनालकी नाईं बड़ी फुर्तीसे काट दिया । अब तो राजा विदूरथ भी रथरहित हो गये, अतएव उन्होंने भी हाथमें ढाल-तलवार ली ॥२०-२६॥

अब तो दोनोंके हाथोंमें एकसे हथियार हो गये और उत्साह भी दोनोंका एक-सा था, वे दोनों अपने-अपने वारके लिए समय ढूढ़नेके लिए पैंतरे बदलने लगे । परस्पर प्रहार कर रहे उन दोनोंकी तलवारें वार करते-करते आरोंके तुल्य हो गईं थीं । दोनों सेनाओंमें तलवारें यमकी दन्तपङ्क्तियोंके सदृश प्रजाको (सैनिकोंको) चबा रही थीं । राजा विदूरथने उक्त तलवारका त्याग कर शक्ति ली और उसे शत्रुके ऊपर छोड़ा । वह शक्ति मथे जा रहे समुद्रके जलकी नाईं गम्भीर घर-घर शब्दसे युक्त प्रलय आदि बड़े-बड़े उत्पातोंको सूचित करनेवाले वज्रपातके समान समूची आई और राजा सिन्धुकी छातीपर गिरी, वह ऐसी गिरी जैसे कि अप्रिय पतिके वक्षस्थलपर उसे न चाहनेवाली भार्या गिरती है । उस शक्तिके प्रहारसे राजा सिन्धुके प्राण गये नहीं, किन्तु केवल उसकी छातीसे हाथीकी सूँडसे जलधाराकी नाईं खूनकी धारा बही । चन्द्रमासे नष्ट किये गये अन्धकारकी नाईं उसे (सिन्धुको) राजा विदूरथसे

शक्तिकोटिनखैर्दैत्यः सिन्धुरुद्धुरकन्धरः ।
सरःस्थलस्थनागेन्द्रकरफूत्कृतवारिवत् ॥ ३३ ॥
पिष्टोरसोऽस्य निर्याति रक्तं चुलचुलारवैः ।
हा कष्टं रथमानीतं सिन्धुरारोढुमुद्यतः ॥ ३४ ॥
सौवर्णं मैरवं शृङ्गं पुष्करावर्तको यथा ।
पश्य देवि रथोऽस्याऽसौ मुद्गरेण विचूर्णितः ॥ ३५ ॥
भ्रमत् पार्थनिपातेन सौवर्णं नगरं यथा ।
प्रवृत्तो रथमारोढुमानीतं पतिरेष मे ॥ ३६ ॥
कष्टं वज्रमिवेन्द्रेण मुसलं सिन्धुनेक्षितम् ।
जवात् पतिः प्रयातो मे सैन्धवं मुसलायुधम् ॥ ३७ ॥
वञ्चयित्वा विलासेन रथमारुह्य लाघवात् ।
हा धिकष्टमसौ सिन्धुरार्यपुत्ररथं रयात् ॥ ३८ ॥

भग्न किया हुआ देखकर उस देशकी लीला बड़ी प्रसन्न हुई उसके आनन्दका आरपार न रहा। उसने पूर्वलीलासे कहा—'हे देवि, देखो, नृसिंहरूप हमारे पतिने हिरणकशिपुरूपी महाबलवान् इस सिन्धुको शक्तिके शिखररूपी नखोंसे मार दिया है। जैसे तालाबके बीचमें खड़े हुए हाथीकी सूंडसे फुफकारपूर्वक जलधारा गिरती है, वैसे ही इसके चूर्ण-विचूर्ण वक्षस्थलसे 'चुल-चुल' शब्दके साथ खून निकल रहा है। हा बड़े दुःखकी बात है कि लाये गये रथपर चढ़नेके लिए वह ऐसा तयार हो गया है, जैसे कि सोनेके मेरुशिखरपर पुष्करावर्त मेघ चढ़ता है। हे देवि देखो, इसका यह रथ मुद्गरसे चूर चूर कर दिया गया है ॥ २७–३५ ॥

हे देवि, ये हमारे स्वामी लाये गये रथमें बैठनेके लिए उद्यत हैं। अर्जुनकी बाणवर्षासे निवातकवचनामक दानवोंकी सुवर्णनिर्मित नगरीकी नाईं घूम रहे उस रथको आप देखिये ॥ ३६ ॥

हा बड़े खेदकी बात है कि जैसे इन्द्र अपने शत्रुपर प्रहार करनेके लिए वज्रको देखता है यानी ग्रहण करता है, वैसे ही सिन्धुने हमारे स्वामीपर प्रहार करनेके लिए मूसलको देखा यानी ग्रहण किया। हमारे स्वामी मूसलरूप हथियारवाले राजा सिन्धुको चकमा देकर बड़ी फुर्तीसे रथपर सवार होकर वेगसे

हरिश्वभ्रमिवाऽऽरूढं प्लवेनोर्ध्वमिव द्रुमम् ।
पीडित्वा पीडयामास शरवर्षैर्विदूरथम् ॥ ३९ ॥
छिन्नध्वजं छिन्नरथं छिन्नाश्वं छिन्नसारथिम् ।
छिन्नकार्मुककवर्माणं भिन्नसर्वाङ्गमाकुलम् ॥ ४० ॥
हृदि स्फोटशिलापट्टदृढे पीवरमूर्द्धनि ।
भित्त्वा वज्रसमैर्बाणैः पातयत्येप भूतले ॥ ४१ ॥
अथाऽन्यं रथमानीतं कृच्छ्रेण प्राप्य चेतनाम् ।
खड्गेनाऽऽरोहतोऽस्यांसं छिन्नं भर्तुर्विलोकय ॥ ४२ ॥
पद्मरागगिरिद्योतमिवार्द्रासृग् विमुञ्चति ।
हा हा धिक्कष्टमेतेन सिन्धुना खड्गधारया ॥ ४३ ॥
जङ्घयोर्मे पतिश्छिन्नः क्रकचेनेव पादपः ।
हा हा हताऽस्मि दग्धाऽस्मि मृताऽस्म्युपहताऽस्मि च ॥ ४४ ॥

हट गए हैं। हाय बड़ा कष्ट उपस्थित हुआ। इस राजा सिन्धुने बड़े वेगसे हमारे स्वामीके रथको, जो कि सेवार आदिसे हरे रंगके तालाबकी नाईं हरा है और वृक्षकी नाईं ऊँचा है और पताकासे चिह्नित होनेके कारण प्लवसे (एक प्रकारके पक्षीसे) युक्त है, पीड़ित कर यानी बाणवृष्टिसे छिन्न-भिन्न कर बाणोंकी वृष्टियोंसे हमारे पति विदूरथको व्यथित कर दिया ॥ ३७–३९ ॥

यह हमारे पतिको, जिनके रथकी पताका कट गई है, रथ ध्वस्त हो गया है, घोड़े मर गये हैं, सारथि कट गया है, धनुष और कवच कट-फट गये हैं और सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं अतएव बड़े घबराये हुए हैं, शिला-फलकके समान दृढ़ (जिसका फटना संभव नहीं है) हृदयमें और स्थूल-तम मस्तकमें वज्रके समान कठोर बाणोंसे घायल कर पृथिवीपर गिरा रहा है ॥ ४०–४१ ॥

बड़े क्लेशसे होशमें आकर सारथि द्वारा लाये गये अन्य रथमें चढ़ रहे हमारे पतिके सिन्धु द्वारा तलवारसे काटे गये कन्धेको देखो। कन्धा कटनेके कारण हमारे पति, जैसे घनसे तोड़े गये पद्मरागमणिके पर्वतसे लाल कान्ति निकलती है वैसे ही, खूब रुधिर बहा रहे हैं। ओ हो, अब तो बड़ा भारी कष्ट आया, जैसे आरेसे वृक्ष काटा जाता है वैसे ही इस सिन्धुने तीखी तलवारकी

मृणाले इव पत्युर्मे लूने द्वे अपि जानुनी ।
इत्युक्त्वा सा तदालोक्य भर्तुर्भावभयातुरा ॥ ४५ ॥
लतापरशुकृत्तेव मूर्छिता भुवि साऽपतत् ।
विदूरथोऽपि निर्जानुः प्रहरन्नेव विद्विषि ॥ ४६ ॥
पपात स्यन्दनस्याऽधश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।
पतन्नेवैष सूतेन रथेनैवाऽपवाहितः ॥ ४७ ॥
यदा तदा हतिं तस्य कण्ठेऽदात् सिन्धुरुद्धतः ।
अर्द्धविच्छिन्नकण्ठोऽसावनुयातोऽथ सिन्धुना ॥ ४८ ॥

धारसे हमारे पतिकी पिण्डलियाँ काट डालीं । हा मैं मारी गई हूँ, जलाई गई हूँ, मर गई हूँ और लथेड़ी गई हूँ । मेरे पतिकी दोनों जंघाएँ कमलनालकी नाईं काट दी गई हैं ।' ऐसा कहकर पतिकी वह अवस्था देखकर दुःखी हुई और पतिके प्रति उसका जो अत्यन्त प्रेम था, उससे और भयसे कातर होकर वह कुल्हाड़ेसे काटी गई लताकी नाईं मूर्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ी । यद्यपि विदूरथकी दोनों जंघाएँ कट गई थीं, तथापि शत्रुपर प्रहार करता हुआ ही वह छिन्नमूल (जिसकी जड़ कट गई हो) वृक्षकी भाँति रथके नीचे गिरनेको तैयार हुआ । वह गिरना ही चाहता था कि सारथि उसे सँभालकर रथसे ही घरकी ओर भगा ले गया * ॥ ४२—४७ ॥

जब सारथि राजा विदूरथको भगा ले गया तब उद्दण्ड राजा सिन्धुने विदूरथके कण्ठमें तलवारसे वार किया । तलवारके वारसे उनका आधा कण्ठ

* सारथिकी राजाको भगा ले जानेमें जो प्रवृत्ति हुई, उसका कारण है । वह यह कि यदि राजा रणमें अभिमुख मरता तो 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः ॥' (इस लोकमें दो पुरुष सूर्यमण्डलभेदी हैं, कौन दो ? योगयुक्त परिव्राट् और रणमें शत्रुके सामने लड़ता हुआ मारा गया योधा) इस स्मृतिवचनसे रणमें अभिमुख मरे हुए सूर्यमण्डलभेदी विरक्त शूरकी मुक्ति होनेपर और सूर्यमण्डलभेदी अविरक्त शूरकी 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्याऽन्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' (प्रलय प्राप्त होनेपर वे सब ब्रह्माके साथ कृतार्थ होकर परमपदमें प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं) इस वचनके अनुसार क्रममुक्ति होनेपर 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (मनुष्यलोकरूप आवर्तमें नहीं लौटते) इस श्रुतिके अनुसार दूसरे कल्पमें उसकी पुनरावृत्ति न होनेपर पूर्वजन्ममें पद्मशरीरसे अवशिष्ट प्रारब्धके भोगकी सिद्धि नहीं होगी, इस कारण सरस्वतीके संकल्प और वरदानके बलसे ही सारथिकी राजाके यश और मोक्षके प्रतिबन्धकरूप भगानेमें प्रवृत्ति हुई ।

स्यन्दनेनाऽविशत्सद्म पद्मं रविकरो यथा ।
सरस्वत्याः प्रभावाढ्यं तत्प्रवेष्टुमसौ गृहम् ॥
नाऽशकन्मशको मत्तो महाज्वालोदरं यथा ॥ ४९ ॥
खड्गावकृत्तगलगर्तगलत्सवात-
रक्तच्छटाछुरितवस्त्रतनुत्रगात्रम् ।
तत्याज तं भगवतीमभितो गृहान्तः
सूतः प्रवेश्य मृतितल्पतले गतोऽरिः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथमरणवर्णनं नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

हतो राजा हतो राजा प्रतिराजेन संयुगे ।
इति शब्दे समुद्भूते राष्ट्रमासीद्भयाकुलम् ॥ १ ॥

कट गया तदनन्तर आधे कटे कण्ठवाले विदूरथका सिन्धुने पीछा किया । राजा विदूरथ जैसे सूर्यकी किरणें कमलमें प्रवेश करती हैं, वैसे ही अपने घरमें प्रविष्ट हुआ, लेकिन राजा सिन्धु सरस्वतीके प्रभावसे परिपूर्ण उस घरमें ऐसे प्रवेश नहीं कर सका जैसे कि मदोन्मत्त मच्छर महाज्वालाके भीतर नहीं घुस सकता ॥४८–४९॥

सारथिने राजा विदूरथको, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर तलवारसे काटे गये गलेके छेदसे बुदबुद ध्वनिके साथ निकल रही रक्तधाराओंसे सने थे, घरमें ले जाकर सरस्वतीके सामने सुखपूर्वक मरणके योग्य कोमल विस्तरमें छोड़ दिया और शत्रु भी घरमें प्रवेश न कर सकनेके कारण लौट गया ॥ ५० ॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

[राजा विदूरथके वधसे राष्ट्रविप्लव तथा सिन्धुके राज्यमें प्रतिष्ठित होनेपर फिर राज्यकी सुव्यवस्थाका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, युद्धमें प्रतिद्वन्द्वी राजा सिन्धुके हाथसे राजा विदूरथ मारे गये—राजा विदूरथ मारे गये, इस प्रकारका शोरगुल

भाण्डोपस्करभाराढ्यविद्रवच्छकटव्रजम् ।
साक्रन्दार्तकलत्राढ्यद्रवन्नागरदुर्गमम् ॥ २ ॥
पलायमानसाक्रन्दमार्गाहृतवधूगणम् ।
अन्योन्यलुण्ठनव्यग्रलोकलग्नमहाभयम् ॥ ३ ॥
परराष्ट्रजनानीकताण्डवोल्लाससारवम् ।
निरधिष्ठितमातङ्गहयवीरपतज्जनम् ॥ ४ ॥
कपाटपाटनोड्डीनकोशान्तरघर्घरम् ।
लुण्ठितासंख्यकौशेयप्रावृताभिभटोद्भटम् ॥ ५ ॥
क्षुरिकोत्पाटितार्द्रान्त्रमृतराजगृहाङ्गनम् ।
राजान्तःपुरविश्रान्तचण्डालश्वपचोत्करम् ॥ ६ ॥
गृहापहृतभोज्यान्नभोजनोन्मुखपामरम् ।
सहेमहारवीरौघपादाहतरुदच्छिशु ॥ ७ ॥

मचनेपर सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। वहां भांडे-बर्तन आदि सामग्रीसे लदी हुई गाड़ियोंपर गाड़ियां इधर उधर भाग रहीं थीं, रो रहे भूखे प्यासे स्त्री और बालबच्चोंको लेकर भाग रहे नागरिकोंकी अपार भीड़ लगी थी, राष्ट्रमें उत्पात मचनेके कारण भाग रहीं और रो रहीं अनेक युवतियाँ मार्गमें डाकुओं द्वारा हर ली गईं थीं, आपसमें एक दूसरेको लूटने खसोटनेमें व्यग्र हुए लोगोंको आपसका भी बड़ाभारी भय लगा रहता था, शत्रुके राष्ट्रकी असैनिक जनता और सैनिकोंके विजयप्रयुक्त ताण्डवकी वृद्धिसे सारा विदूरथ राष्ट्र कोलाहलयुक्त था, स्वामियोंके मर जानेके कारण निरंकुश हुए हाथी, घोड़े और वीरोंकी टक्करसे असैनिक जनता गिर रही थी, कोषगृहका (खजानेका) विनाश करते समय किवाड़ोंको तोड़नेसे उत्पन्न हुआ 'घर घर' शब्द आकाशमें फैला हुआ था, वहांपर प्रबल परपक्षी भटोंने लूटे गये असंख्य रेशमी वस्त्रोंको लपेटकर कोषगृहके रक्षक भटोंको तिरस्कृत कर दिया, मरी हुई राज-महिलाएँ चोरों द्वारा छूरोंसे काटी गई खूनसे लथपथ अपनी अँतड़ियोंसे उलझी हुई थीं, राजाके अन्तःपुरमें डोम-चाण्डालोंके झुण्डके झुण्ड विश्राम ले रहे थे, राजगृहसे लूटपाट द्वारा हस्तगत किये गये राजाके भोजनयोग्य स्वादु अन्नोंके भोजनमें गंवार लोग जुटे थे, सोनेकी सिकड़ियोंको पहनेहुए बालक भटोंकी लातें और ठोकरें खा कर रो रहे थे, अपरिचित युवक अन्तःपुरकी महिलाओंके केशपाशको खींच रहे थे, चोरोंके हाथोंसे मार्गमें गिरे हुए बहुमूल्य रत्नोंसे

अपूर्वतरुणाक्रान्तकेशान्तःपुरिकाङ्गनम् ।
चोरहस्तच्युतानर्घ्यरत्नदन्तुरमार्गगम् ॥ ८ ॥
हयेभरथसंघट्टव्यग्रसामन्तमण्डलम् ।
अभिषेकोद्यमादेशं परमन्त्रिपुरःसरम् ॥ ९ ॥
राजधानीविनिर्माणसारम्भस्थपतीश्वरम् ।
कृतवातायनश्वभ्रनिपतद्राजवल्लभम् ॥ १० ॥
जयशब्दशतोद्घोषसिन्धुराजन्यनिर्भरम् ।
असंख्यनिजराजौघभृतसिन्धुकृतास्थिति ॥ ११ ॥
ग्रामान्तरसमाक्रान्तविद्रवद्राजवल्लभम् ।
मण्डलान्तरसंजातनगरग्रामलुण्ठनम् ॥ १२ ॥
अनन्तचोरमोषार्थरुद्धमार्गगमागमम् ।
महानुभाववैधुर्यसनीहारदिनातपम् ॥ १३ ॥
मृतबन्धुजनाक्रन्दैर्मृततूर्यरवैरपि ।
हयेभरथशब्दैश्च पिण्डग्राह्यघनध्वनि ॥ १४ ॥

बटोही लोग दन्तुर-से (ऊंचे दांतवाले की नाईंसे) उज्ज्वल हो रहे थे। हाथी, घोड़े और रथोंको छीनकर लानेमें सामन्त लोग व्याकुल हो रहे थे, राजा सिन्धुके पुत्रके राज्याभिषेक कार्यका आदेश देनेमें मन्त्री आदि ऊँचे राजकर्मचारी बड़े तत्पर थे, राजधानीके निर्माणके लिए अच्छे अच्छे कारीगर सन्नद्ध थे, बनाये गये झरोखोंके छेदोंमें सिन्धुराजकी रानियाँ अपूर्व नगरकी सुन्दरता देखनेके लिए प्रवेश कर रहीं थीं, सैकड़ों 'जय जय' उद्घोषोंके साथ नगरमें प्रवेशित सिन्धुराजके पुत्रका, जिसका तुरन्त अभिषेक हुआ था, उस राष्ट्रमें बड़ा प्रभाव था, राजा सिन्धुने वहाँपर जो नई राज्यव्यवस्था चलाई थी, उसे सिन्धुपक्षके राजाओंने शिरोधार्य कर लिया था, अन्यान्य गाँवोंमें छिपकर रहनेवाले पूर्व राजाके पक्षपाती (प्रीतिपात्र) लोग शत्रुको पता लगनेपर वहांसे भी भाग रहे थे, चोरोंके बड़े भारी गिरोहने लूटपाट करनेके लिए मार्गोंमें लोगोंका आना-जाना रोक रक्खा था, महाप्रतापी राजा विदूरथके विरहसे दिनमें धूप तुषारसे सनी हुई-सी ठण्डी मालूम होती थी, मरे हुए बन्धु-बान्धवोंके लिए रोने-धोनेसे और मरे हुए जनोंके लिए किये गये तूरीके शब्दसे पिण्डके सदृश हाथसे पकड़ने योग्य शब्द वहां हो रहा था ॥ १–१४ ॥

सिन्धुदेवो जयत्येकच्छत्रभूमण्डलाधिपः ।
इत्यनन्तरमारेभे भेर्यः प्रतिपुरं तदा ॥ १५ ॥
राजधानीं विवेशाऽथ सिन्धुरुद्धुरकन्धरः ।
प्रजाः स्रष्टुं युगस्याऽन्ते मनुर्जगदिवाऽपरः ॥ १६ ॥
प्रवृत्ता दशदिग्भ्योऽथ प्रवेष्टुं सैन्धवं पुरम् ।
कराः करिहयाकारै रत्नपूरा इवाऽम्बुधिम् ॥ १७ ॥
निबन्धनानि चिह्नानि शासनानि दिशं प्रति ।
क्षणान्निवेशयामासुर्मण्डलं प्रति मन्त्रिणः ॥ १८ ॥
उदभूदचिरेणैव देशे देशे पुरे पुरे ।
जीविते मरणे माने नियमो यमतो यथा ॥ १९ ॥
अथ शेमुर्निमेषेण देशोपप्लवविभ्रमाः ।
प्रशान्तोत्पातपवनाः पदार्थावृत्तयो यथा ॥ २० ॥

तदुपरान्त वहांपर पृथ्वीके एकच्छत्र अधिपति राजा सिन्धुकी जय हो, ऐसी घोषणा करते हुए प्रत्येक नगरमें लोग भेरियां बजाने लगे ॥ १५ ॥

पुत्रके राज्याभिषकके बाद जैसे प्रलयके अन्तमें जगत्की सृष्टि करनेके लिए मनु भगवान जगत्में प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा सिन्धुने, जो कि विजयजनित गर्वसे उन्नतमस्तक था, दूसरे मनुकी नाईं राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

राजा सिन्धुके नगरमें प्रवेश करते ही सिन्धुके नगरमें दसों दिशाओंसे कर (भेंट) हाथी घोड़ेके रूपसे यों प्रवेश करने लगे (आने लगे) जैसे समुद्रमें रत्नोंकी राशियां प्रवेश करती हैं ॥ १७ ॥

मन्त्रियोंने प्रत्येक दिशामें और प्रत्येक सामन्त (अधीन राजा) के पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश तुरन्त भेज दिये ॥ १८ ॥

थोड़े ही समयमें देश देशमें नगर नगरमें जीवन, मरण और संमानके विषयमें यमके-से कठोर नियम बन गये ॥ १९ ॥

नियम बननेके उपरान्त पलक मारने भरमें, देशमें उपद्रवके बादलोंकी जो घटा छाई थी, वह उत्पात वायु (अंधड़-बवंडर) के समाप्त होनेपर जैसे वायुके जोरसे होनेवाले तृण, पत्ते और धूलका घूमना शान्त हो जाता है, वैसे ही सब शान्त हो गई ॥ २० ॥

सौम्यतामाजगामाऽऽशु देशो दशदिगन्वितः ।
क्षीरोदः क्षुभितावर्तो द्रागिवोद्धृतमन्दरः ॥ २१ ॥
वधुरलकचयान् विलोलयन्तो
मुखकमलालिकुलानि सैन्धवीनाम् ।
जललवलनाकुलाः समीरा
अशिवगुणानिव सर्वतः क्षणेन ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिन्धुराष्ट्रवर्णनं नाम एकपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५१॥

द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राम लीलोवाच सरस्वतीम् ।
श्वासावशेषमालोक्य मूढं भर्तारमग्रगम् ॥ १ ॥

महाप्रलयसे मथनेके समय भीषण जलभौरियोंसे भरा हुआ तरङ्गित क्षीरसागर मन्दराचलको निकाल देनेसे जैसे शान्त हो गया था वैसे ही अराजकताके समय उत्पातपूर्ण सारा देश दसों दिशाओंके साथ शान्त (विनयपूर्ण) हो गया ॥ २१ ॥

सिन्धुके देशकी सुन्दरियोंके मुखरूपी कमलकी भ्रमरपंक्तियोंके तुल्य अलकोंको धीरे धीरे हिला रहे वायु मुखकमलके मधुबिन्दुरूप स्वेदजलके कणोंको लेनेसे मत्त और मन्दगति होनेके कारण आकुल होकर उक्त सुन्दरियोंके मुखकमलोंकी शीतलता और सुगन्धि आदि मङ्गलमय गुणोंसे सम्पूर्ण देशसे सन्ताप, दुर्गन्धि आदि अशुभ गुणोंको नष्ट करते हुए बहने लगे ॥ २२ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

[राजा विदूरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और उस देशकी लीलाकी वासनारूपताका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, अपने सामने मृत्युशय्यापर लेटे हुए मूर्च्छित अपने पतिको श्वासमात्रशेष (जिसमें जीवितके

प्रवृत्तो देहमुत्स्रष्टुं मद्भर्त्ताऽयमिहाऽम्बिके ।
ज्ञप्तिरुवाच
एवंरूपमहारम्भे संग्रामे राष्ट्रसम्भ्रमे ॥ २ ॥
सम्पन्नेऽपि स्थितेऽप्युच्चैर्विचित्रारम्भमन्थरे ।
न किञ्चिदपि सम्पन्नं राष्ट्रं न च महीतलम् ॥ ३ ॥
न स्थितं क्वचनाऽप्येवं स्वप्नात्मकमिदं जगत् ।
तस्य तन्मण्डपस्याऽन्तः शवस्य निकटाम्बरे ॥ ४ ॥
इदं भूराष्ट्रमाभाति भर्तृजीवस्य तेऽनघे ।
अन्तःपुरगृहान्ते तदिदं राष्ट्रान्वितोदरम् ॥ ५ ॥
वसिष्ठविप्रगेहान्तर्विन्ध्याद्रिग्रामके स्थितम् ।
वसिष्ठविप्रगेहेऽन्तः शवगेहजगत् स्थितम् ॥ ६ ॥
शवगेहजगत्कुक्षाविदं गेहजगत् स्थितम् ।
एवमेष महारम्भो जगत्त्रयमयो भ्रमः ॥ ७ ॥
त्वया मयाऽनयाऽनेन संयुक्तः सार्णवावनिः ।
गिरिग्रामकदेहान्तर्मध्ये गगनकोशके ॥ ८ ॥

चिह्नोंमें केवल श्वास ही शेष रह गया था) देखकर देवी सरस्वतीसे कहा—माँ, यह मेरा पति यहांपर देहका त्याग करनेके लिए उद्यत है ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—भद्रे, इस प्रकारके महान् उद्योगसे परिपूर्ण, राष्ट्रमें उथल पुथल मचा देनेवाले, अत्यन्त अद्भुत व्यापारोंसे भरे हुए इस संग्रामके शुरू होने, चलने और समाप्त होनेपर कहींपर न तो राष्ट्र या महीतल कुछ भी रहा और न नष्ट हुआ । इस प्रकारका यह स्वप्नरूप जगत् है । पूर्वोक्त गिरिग्रामके ब्राह्मणगृहके मण्डपके अन्दर रक्खे हुए राजा पद्मके शवके निकटवर्ती मण्डपाकाशमें तुम्हारे पतिका यह पृथ्वीरूपी राष्ट्र प्रतीत होता है, अन्तःपुरके घरके अन्दर अनेक राष्ट्रोंसे युक्त यह ब्रह्माण्ड है ॥ १–५ ॥

विन्ध्याद्रिके ग्राममें वसिष्ठनामक ब्राह्मणके घरका मध्यभाग स्थित है, वसिष्ठनामक ब्राह्मणके घरमें शवयुक्त गृहरूप जगत् स्थित है, शवगृहरूप जगत्के पेटमें यह घररूपी ब्रह्माण्ड स्थित है । इस प्रकार यह त्रिजगत्, जिसमें अनेकानेक व्यापार होते रहते हैं, भ्रम ही है तथा विन्ध्याद्रिके छोटेसे

स्वात्मैव कचति व्यर्थो न कचत्येव वा क्वचित् ।
तत्पदं परमं विद्धि नाशोत्पादविवर्जितम् ॥ ९ ॥
स्वयं कचितमाभातं शान्तं परमनामयम् ।
किल मण्डपगेहेऽन्तः स्वस्वभावोदितात्मनि ॥ १० ॥
एवमारम्भघनयोरपि मण्डपयोस्तयोः ।
उदरे शून्यमाकाशमेवाऽस्ति न जगद्भ्रमः ॥ ११ ॥
भ्रमद्रष्टुरभावे हि कीदृशी भ्रमता भ्रमे ।
नाऽस्त्येव भ्रमसत्ताऽतो यदस्ति तदजं पदम् ॥ १२ ॥

ग्राममें घरके अन्दर आकाशकोशमें सागर और पृथ्वी दृष्टिगोचर होते हैं, तथा यह भ्रम तुमसे, मुझसे, इससे (दूसरी लीलासे) तथा तुम्हारे पतिसे युक्त है, एकके भीतर दूसरा उत्पन्न हुआ, यह भी कल्पना ही है, वस्तुतः चैतन्यमें ही यह विकासको प्राप्त हुआ है। अपना आत्मा ही इस जगत्रूपसे व्यर्थ विकासको प्राप्त होता है अथवा कहीं भी इस जगत्रूपसे विकासको प्राप्त नहीं होता। भाव यह कि विषयके मिथ्या होनेसे चैतन्यमें विषय-संवलित रूप भी नहीं ही है। ऐसी अवस्थामें निर्विषय चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है, वही मुख्य ज्ञातव्य है, इसलिए तुम नाश और उत्पत्तिसे शून्य उस परम पदको जानो ॥ ९ ॥

स्वयंप्रकाश, शान्त, निर्विकार वही (चैतन्य ही) मण्डपघरके अन्दर अपने चिन्मात्र स्वभावसे उदित अपनी आत्मामें जगत्-रूपसे प्रतीत हुआ है, उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसी विद्वानोंमें प्रसिद्धि है ॥ १० ॥

मण्डपके अन्तर्गत आकाशमें भी जब जगत् नहीं है, तब शुद्ध चिदाकाशमें जगत् नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं—एवम् इत्यादिसे।

इस प्रकार अनेक व्यापारोंसे पूर्ण प्रतीत होनेवाले उन मण्डपोंके भी अन्दर शून्य आकाश ही है, जगद्भ्रम नहीं है ॥ ११ ॥

अति क्षुद्र वस्तुके अन्दर विशाल वस्तुका समावेश नहीं हो सकता; अतएव अल्पवस्तुमें बृहत्पदार्थकी प्रतीति यदि भ्रम है, तो अत्यन्त बृहत् ब्रह्मका मण्डपके अन्दरके आकाशमें समावेश होना सम्भव नहीं है, फिर शास्त्र और

भ्रमो दृश्यमसत्तस्य द्रष्टृदृश्यदशा कुतः ।
द्रष्टृदृश्यक्रमाभावादद्वयं सहजं हि तत् ॥ १३ ॥
तत्पदं परमं विद्धि नाशोत्पादविवर्जितम् ।
स्वयं कचितमाभातं शान्तमाद्यमनामयम् ॥ १४ ॥
किल मण्डपगेहान्तः स्वस्वभावोदितात्मनि ।
विहरन्ति जनास्तत्र स्वगेहे स्वव्यवस्थया ॥ १५ ॥

आचार्यके उपदेशसे वहांपर ब्रह्मकी प्रतीति भ्रम क्यों नहीं होगी ? ऐसी शङ्का कर उपजीव्यविरोध होनेसे ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं— 'भ्रमदष्टु०' इत्यादिसे ।

जब भ्रमका कोई द्रष्टा ही नहीं है, तब भ्रममें भ्रमता ही कैसे होगी, इसलिए भ्रमकी सत्ता नहीं ही है और जो है, वह निर्विकार परम (चैतन्य) ही है ॥१२॥

भ्रमको देखनेवाला दूसरा नहीं है, तो भ्रम ही भ्रमको देखे ? इसपर कहते हैं—'भ्रमो' इत्यादिसे ।

भ्रम असत् दृश्य है । दृश्य द्रष्टा पुरुषके व्यापारके फलका आधार होता है यानी द्रष्टा जो कुछ व्यापार करता है उस व्यापारका फल जिसमें रहता है, वह दृश्य है । अपनेमें अपने आप कोई भी व्यापार नहीं कर सकता, क्योंकि एकमें कर्तृत्व भी रहे और कर्मत्व भी रहे, यह विरुद्ध है, इसलिए दृश्य भ्रमकी द्रष्टा और दृश्य दो दशाएँ नहीं हो सकती हैं । द्रष्टाके अभावमें दृश्यकी सत्ता और स्फूर्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती । यह द्रष्टा और दृश्यके क्रमका अभाव द्वैतदशामें दूषण है और अद्वैतदशामें तो वह भूषण है, ऐसा कहते हैं—'द्रष्टृ' इत्यादिसे । अद्वैतमें द्रष्टा और दृश्यके क्रमका अभाव होनेसे वह वहांपर स्वभावतः है ॥ १३ ॥

आप उस परम पदको, जो नाश और उत्पत्तिरहित, स्वयंप्रकाश, शान्त, आदि और निर्विकार है, जगत्-रूपसे प्रतीत जानो ॥ १४ ॥

अति अल्प स्थानमें बृहत्तर वस्तुका समावेश न हो सकना भी दृश्यका ही दूषण है । सर्वाधिष्ठान चैतन्यका दूषण नहीं है, इस आशयसे कहते हैं— 'किल' इत्यादिसे ।

मण्डप गृहके भीतर अपने स्वभावसे उदित आत्मारूप अपने घरमें लोग

न जगत्तत्र नो सर्गः कश्चिदप्यनुभूयते ।
तेनाऽहमजमाकाशं जगदित्येव वर्तते ॥ १६ ॥
सर्वं शून्यात्मविज्ञानं मेर्वादिगिरिजालकम् ।
नेदं कुड्यमयं किञ्चिद्यथा स्वप्ने महापुरम् ॥ १७ ॥
देशे प्रादेशमात्रेऽपि गिरिजालमयान्यपि ।
वज्रसाराणि खान्येव लक्षाणि जगतो विदुः ॥ १८ ॥
जगन्ति सुबहून्येव संभवन्त्यणुकेऽपि च ।
कदलीपल्लवानीव सन्निवेशेन भूरिशः ॥ १९ ॥
त्रिजगच्चिदणावन्तरस्ति स्वप्नपुरं यथा ।
तस्याऽप्यन्तश्चिदणवस्तेष्वप्येकैकशो जगत् ॥ २० ॥

अपने अपने व्यवहारके अनुकूल प्रशस्त प्रदेशकी व्यवस्था कर विहार करते हैं, संचार करते हैं, यह कम आश्चर्य नहीं ॥ १५ ॥

वहांपर तत्त्वज्ञ पुरुषोंको न तो जगत्की प्रतीति होती है और न किसी सृष्टिका ही अनुभव होता है, उक्त तत्त्वज्ञोंके अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाणसे यह निश्चित होता है कि अहङ्कारका साक्षीरूप अविनाशी चिदाकाश ही अज्ञानीकी दृष्टिसे जगत्-रूपसे स्थित है ॥ १६ ॥

अनुमान प्रमाणसे भी उक्त बातको सिद्ध करते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे।

मेरु आदि पर्वतोंके समुदायसे युक्त यह सम्पूर्ण दृश्य निराकार ज्ञानरूप ही है, यह जैसा दिखाई देता है, वैसा स्थूलरूप नहीं है, क्योंकि उसका जहांपर समावेश नहीं हो सकता, अत्यन्त अल्प प्रदेशमें तत्त्वज्ञोंको उसकी प्रतीति हुई है, जैसे देहके अन्दर स्वप्नमें देखा गया महा नगर ॥ १७ ॥

स्वप्नमें सबके अनुभवसे सिद्ध व्याप्तिको दिखलाते हैं—'देशे' इत्यादिसे ।

'स्वप्नः कण्ठे समाविशेत्' इस श्रुतिके अनुसार कण्ठसे लेकर हृदय तक बिलस्त भर स्थानमें आत्मचैतन्यको ही पर्वतसमुदायोंसे पूर्ण वज्रकी नाईं कठिन लाखों जगत्के रूपमें स्वप्नमें सभी देखते हैं ॥ १८ ॥

जैसे बहुतसे केलेके कोमल पत्ते तहके साथ अल्प स्थानमें संनिविष्ट रहते रहते हैं, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म चैतन्यमें अनन्त जगत् रह सकते हैं। जैसे

तेषां यस्मिन् जगत्येष पद्मो राजा शवः स्थितः ।
लीला तव सपत्नीयं प्राप्ता पूर्वतरा शुभे ॥ २१ ॥

यदैव मूर्छामायाता लीलेयं पुरतस्तव ।
तदैव भर्तुः पद्मस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ २२ ॥

लीलोवाच

कथमेषा पुरा देवि सम्पन्ना तत्र देहिनी ।
कथं च तत्सपत्नीकभावमाप्तवती स्थिता ॥ २३ ॥

ते चाऽस्या वद किं रूपं पश्यन्त्यथ वदन्ति किम् ।
तद्गेहवरवास्तव्याः समासेनेति मे वद ॥ २४ ॥

श्रीदेव्युवाच

शृणु सर्वं समासेन यथापृष्टं वदामि ते ।
लीले लीलास्ववृत्तान्तमन्तदं दृश्यदुर्दशम् ॥ २५ ॥

देहके अन्दर स्वप्नमहानगर दिखलाई देता है, वैसे ही चिदणुमें तीनों जगत हैं, उसके अन्दर भी चिदणु हैं, उनमें भी प्रत्येकमें जगत् है ॥ २० ॥

हे भद्रे, उनमें से जिस जगत्में यह पद्म राजा शवरूपमें स्थित है, वहाँ तुम्हारी सौत यह लीला उसके पहले ही चली गई है ॥ २१ ॥

यह लीला ज्योंही तुम्हारे सामने मूर्छाको प्राप्त हुई, त्योंही तुम्हारे पति राजा पद्मके शवके निकट जा पहुँची है ॥ २२ ॥

लीलाने कहा हे देवि, यह लीला वहांपर पहले देहधारिणी कैसे हो गई, जिस स्थितिमें यह मेरी सौत है, उस स्थितिको प्राप्त होकर यह कैसे स्थित है । राजा पद्मके राजमहलमें रहनेवाले लोग इसका कैसा रूप देखते हैं और इसको क्या कहते हैं, यह सब संक्षेपसे आप मुझसे कहिये ॥ २३, २४ ॥

श्री देवीजीने कहा—भद्रे, सुनो, जैसे तुमने मुझसे पूछा है, वह सब मैं संक्षेपसे तुमसे कहती हूँ, यह तुम्हारा ही, जो दूसरी लीला बनी हुई हो, वृत्तान्त है, इससे तुमको निश्चय हो जायगा और इससे मरण, परलोकगमन आदिको भी, जिनको देखना कठिन है, तुम देख सकोगी ॥ २५ ॥

पद्मस्तव स भर्तैष भ्रान्तिं तावत्ततामिमाम् ।
इयं जगन्मयी तस्मिन्नेव सद्मनि पश्यति ॥ २६ ॥
भ्रान्तियुद्धमिमं युद्धमेषा भ्रान्तिर्जनोऽजनः ।
भ्रान्त्यैवाऽस्तीह मरणमेष चैवं भ्रमात्मकः ॥ २७ ॥
भ्रमक्रमेणाऽनेनैव लीलाऽस्य दयिता स्थिता ।
त्वं चैषा च वरारोहे स्वप्नमात्रं वराङ्गने ॥ २८ ॥
यथा भवत्यावेतस्य स्वप्नमात्रं वराङ्गने ।
तथा भवत्योर्भर्तैष तथैवाऽहमपि स्वयम् ॥ २९ ॥
जगच्छोभैवेदृशीयं दृश्यमेतदिहोच्यते ।
एतदेव परिज्ञातं दृश्यशब्दार्थमुज्झति ॥ ३० ॥
एवमेषा त्वमेषा च संपन्नैवमसौ नृपः ।
अहञ्चाऽऽत्मनि सत्यत्वं गता सर्वतयाऽऽत्मनः ॥ ३१ ॥

तुम्हारा पति महाराजा पद्म नगर आदिके रूपसे दिखाई दे रही जो यह जगन्मय भ्रान्ति है, खूब विस्तारको प्राप्त हुई इस जगन्मय भ्रान्तिको ही उसी शवगृहमें देखता है ॥ २६ ॥

यह जो युद्ध तुमने देखा है, यह स्वप्नयुद्धके समान भ्रान्तियुद्ध ही था, यह लीला भी, जिसके बारेमें तुमने पूछा है, भ्रान्ति ही है, ये जो लोग हैं, वे जन्म आदि विकारसे रहित आत्मा ही हैं, यहां जो मरण होता है, वह भ्रम ही है और यह संसार भी इस प्रकार भ्रमात्मक ही है। इसी भ्रमसे राजा पद्मकी लीला भार्यारूपसे स्थित रही। तुम और वह दोनों सर्वाङ्ग सुन्दरी ललनाएँ स्वप्नमात्र ही हो। जैसे राजाकी आप दोनों सुन्दरियां स्वप्नमात्र हैं, वैसे ही आपका पति यह राजा पद्म और स्वयं मैं भी स्वप्नमात्र ही हूँ ॥ २७–२९ ॥

भद्रे, यह सम्पूर्ण जगत्की शोभा ही ऐसी ही (भ्रममात्र ही) है। यहांपर यह सब दृश्य भी भ्रान्तिमात्र ही कहा गया है। यदि यह जान लिया जाय, तो पुरुष दृश्य शब्दके अर्थका (दृश्यमें द्रष्टाके कर्मत्वका) त्याग कर देता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार यह (लीला), तुम, यह संसारस्थिति और यह राजा—

इमे वयमिहाऽन्योन्यं संपन्नाश्चोदिता इति ।
इत्थं सर्वात्मकतया महाचिद्घनसंस्थितेः ॥ ३२ ॥

एवमेषा स्थिता राज्ञी हारिहासविलासिनी ।
लीला विलोलवदना नव यौवनशालिनी ॥ ३३ ॥

पेशलाचारमधुरा मधुरोदारभाषिणी ।
कोकिलास्वरसंकाशा मदमन्मथमन्थरा ॥ ३४ ॥

असितोत्पलपत्राक्षी वृत्तपीनपयोधरा ।
कान्ता काञ्चनगौराङ्गी पक्वबिम्बफलाधरा ॥ ३५ ॥

त्वत्संकल्पात्मकस्यैषा यदा भर्तुर्मनःकला ।
तदा त्वत्सदृशाकारा स्थितैषा चिच्चमत्कृतौ ॥ ३६ ॥

त्वद्भर्तुर्मरणे क्षिप्रं समनन्तरमेव हि ।
त्वद्भर्त्रैषा पुरो दृष्टा त्वत्सङ्कल्पात्मनाऽमुना ॥ ३७ ॥

ये सब भ्रान्तिरूप ही हुए हैं, आत्माकी पूर्णता होनेसे केवल मैं आत्यामें सत्यताको प्राप्त हूँ ॥ ३१ ॥

ये राजा लोग और हम परस्पर अनुग्राह्य और अनुग्राहकरूपसे परिचालित होकर इस प्रकार महाचिद्घनकी मिथ्या कल्पनास्थितिसे बन गये हैं, वैसे ही यह लीलारूप रानी बन गई है, क्योंकि महाचिद्घन (परम चेतन) की स्थिति सर्वात्मक है। यह लीला, जो कि मनोहर हासरूपी विलाससे अलङ्कृत है, हावभावरूप लीलासे चञ्चल मुहसे युक्त है, नव यौवनसे सुशोभित है, बड़ी दक्ष, सुन्दर आचरणोंसे मनको लुभानेवाली, मीठे और अनमोल वचन बोलनेवाली, कोकिलके सुरके सदृश सुन्दर सुरवाली, यौवन मदसे मन्दगति, नीले कमलकी पांखुरियोंके तुल्य विशाल नेत्रवाली, गोल और विशाल छातीसे युक्त, सोनेके सदृश गोरे अंगोवाली, पके हुए बिम्बफलके सदृश लाल ओठवाली और बड़ी रमणीय है, तुम्हारे संकल्परूप पद्मकी जब मनोवृत्ति और उसकी वासना हुई, तब तुम्हारे सदृश आकारवाली यह चैतन्यरूप चमत्कारमें स्थित हो गई ॥ ३२—३६ ॥

तुम्हारे पतिके मरनेके अनन्तर ही तुरन्त तुम्हारे संकल्परूप तुम्हारे पतिने इसे अपने सामने देखा ॥ ३७ ॥

यदाऽऽधिभौतिकं भावं चेतोऽनुभवति स्वयम् ।
चेत्यं सन्मयमेवाऽत आतिवाहिककल्पनम् ॥ ३८ ॥
यदाऽऽधिभौतिकं भावं चेतो वेत्ति न सन्मयम् ।
आतिवाहिकसङ्कल्पस्तदा सत्योपजायते ॥ ३९ ॥
अथो मरणसंवित्त्या पुनर्जन्ममये भ्रमे ।
त्वं हि संविदितानेन त्वया च गत एव सः ॥ ४० ॥
इत्थं त्वां दृष्टवानेष दृष्टश्चैष त्वयेति च ।
त्वमप्यात्मनि संपन्ना सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ ४१ ॥
ब्रह्म सर्वगतं यस्माद्यथा यत्र यदोदितम् ।
भवत्याशु तथा तत्र स्वप्नशक्त्यैव पश्यति ॥ ४२ ॥

यदि यह वासनामयी थी, तो मेरे पतिने इसका सत्यरूपसे कैसे अनुभव किया, इसपर कहती हैं—'यदा०' इत्यादिसे ।

जब चित्त अभ्यासवश दृढ़वासनासे आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थका अनुभव करता है, तब अनुभवसे वह परमार्थ सत्य हो जाता है, परन्तु वस्तुतः दृश्य है प्रतिभासिक ही ॥ ३८ ॥

जब विवेकज्ञानाभ्याससे चित्त आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थोंको परमार्थ सत्य नहीं जानता, तब सत्य (दृढ़) उसकी वासनासे प्रपञ्चमें प्रातिभासिकताका निश्चय होता है ॥ ३९ ॥

मरणज्ञानसे पुनर्जन्मरूप भ्रम होनेपर तुमको इस राजाने पत्नीरूपसे जाना और वासनामय अन्य लीलारूपताको प्राप्त हुई तुमसे संगत हुआ ॥ ४० ॥

इस प्रकार इस राजाने तुमको अपनी वासनारूप ही देखा और तुमने राजाको अपना वासनामय ही देखा । तुम भी आत्मामें पहले जैसे तीन ब्रह्माण्डोंकी ब्रह्ममें स्थिति दर्शाई है, वैसे ही स्थित हो, क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है यानी सब वासनाओंमें व्याप्त है, इसलिए ब्रह्मका सर्वाकार विवर्त उपपन्न होता है ॥ ४१ ॥

चूँकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतएव जब जहाँपर जैसी वासना होती है, तब वहाँपर वह तुरन्त वैसा ही हो जाता है और विक्षेप शक्तिसे (वैसा ही) उसका अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

सर्वत्र सर्वशक्तित्वाद्यत्र याः शक्तीरुन्नयेत् ।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः ॥ ४३ ॥
मृतिमोहक्षणेनैव यदैतौ दम्पती स्थितौ ।
तदैवाऽऽभ्यामिदं बुद्धं प्रतिभासवशाद्धृदि ॥ ४४ ॥
आवयोः पितरावेताविमे वै चाऽपि मातरौ ।
देश एष धनं चेदं कर्मेदं पूर्वमीदृशम् ॥ ४५ ॥
आवां विवाहितावेवमेवं नामैकतां गतौ ।
एतयोः साऽपि जनता याता तत्रैव सत्यताम् ॥ ४६ ॥
तथैवाऽत्राऽस्ति दृष्टान्तः प्रत्यक्षं स्वप्नवेदनम् ।
इत्येवं भावया लीले लीलयाऽहमथाऽर्चिता ॥ ४७ ॥
नाऽहं स्यां विधवेत्येवं वरो दत्तो मयाऽप्यसौ ।
इत्यर्थेन मृता पूर्वमेवेह खलु बालिका ॥ ४८ ॥

ब्रह्म सर्वत्र सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त है, अतएव जहांपर जिस जिस रूपसे भोक्ताके अदृष्टवश जिस शक्तिका आविर्भाव कराता है, वहाँपर वह वैसा ही होता है और दृढ़ आग्रहरूप वासनाके कारण वैसी ही उसकी प्रतीति होती है ॥ ४३ ॥

जब इन दो दम्पतियोंका मरणानुकूल मूर्च्छाका क्षण आया, तभी इन्होंने सबका, जो आगे कहा जायगा वासनाके जाग्रत् होनेके कारण अपनी कल्पनासे अनुभव किया कि ये हमारे पिता हैं और ये हमारी माताएँ हैं, यह हमारा देश है, यह हमारी धनसम्पत्ति है, यह हमारा कर्म है और ऐसा कर्म हमने पूर्वजन्ममें किया था। इस प्रकार हम लोगोंका विवाह हुआ और इस प्रकार हम दोनों एकताको प्राप्त हुए। इनकी वह जनता भी, जो कि कल्पनात्मक ही है, भोगकर्ताके अदृष्टसे सत्यताको (अर्थक्रियाकारिताको) प्राप्त हुई है, वैसी ही स्वप्नप्रतीति यहाँपर प्रत्यक्ष दृष्टान्त है, स्वाप्निक पुरुष भी स्वप्नकालमें सत्यताको (अर्थक्रियाकारिताको) प्राप्त होते ही हैं। लीले, इस प्रकारके अभिप्रायसे युक्त लीलाने मेरी आराधना की थी कि मैं कभी विधवा न होऊँ और मैंने भी उसे वरदान दिया था। इस कारण वह बालिका यहाँपर पहले ही मर गई है ॥ ४४–४८ ॥

भवतां चेतनांशानामहं चेतनधर्मिणी ।
कुलदेवी सदा पूज्या स्वत एव करोम्यहम् ॥ ४९ ॥
अथाऽस्या जीवको देहात् प्राणमारुतरूपधृक् ।
मनसा चलतां प्राप्तो मुखाग्रत्यक्तदेहकः ॥ ५० ॥
ततो मरणमूर्छान्ते गृहेऽस्मिन्नेव चैतया ।
बुद्धौ भावित आकाशे दृष्टो जीवात्मना ततः ॥ ५१ ॥

इस वासनात्मक लीलाने और मैंने क्यों आपकी आराधना की और क्यों आप हमपर प्रसन्न हुई ? इसपर कहती हैं—'भवताम्' इत्यादिसे ।

मैं, व्यष्टिचेतन जो आप लोग हैं, आपकी समष्टिचेतना (हिरण्यगर्भचेतना) हूँ और आप लोगोंकी कुलदेवी होनेसे सदा पूजनीय हूँ, अतएव स्वतः ही सब कुछ करती हूँ ॥ ४९ ॥

पहले यह कैसे प्राप्त हुई इसका उत्तर देकर अब यह देहधारिणी कैसे हुई ? इस अंशका उत्तर देती हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

वासनामय इस लीलाके देहसे निकलनेकी इच्छावाले अङ्गुष्ठपरिमाणवाले जीवने प्राणवायुका रूप धारण किया * तदनन्तर मनसे तत् तत् पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए उत्सुक होकर नाडीमार्गसे देहका परित्याग किया यानी 'तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा' (उसके हृदयका अग्रभाग प्रद्योतित (प्रकाशित) होता है, उस आत्मज्योतिरूप प्रद्योतनसे यह आत्मा नेत्रोंसे, सिरसे अथवा अन्यान्य शरीरभागोंसे निकलता है) इस श्रुतिमें कहे गये क्रमसे नाडीमार्ग द्वारा देहका परित्याग किया ॥ ५० ॥

तदनन्तर वासनाके कारण पूर्वजन्मके स्मरणसे मरणमूर्छाके बाद जीवरूपसे स्थित इस लीलाने इसी (ब्रह्माकाश या भूताकाशरूप) घरमें बुद्धिमें सङ्कल्पित आगे कहे जानेवाले शरीरमें गमन और कुमारीरूप प्राप्ति आदि पदार्थ देखे ॥ ५१ ॥

* 'प्राणं तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नमति' (प्राण तेजसे युक्त होकर आत्माके साथ संकल्पानुसार तत्-तत् लोकको जाता है) इस श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि उत्क्रमण प्राणोंके अधीन है 'प्राणं तर्हि वागप्येति' (तब वाणीका प्राणमें लय होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे सब करणोंका प्राणमें लय होनेसे उसने प्राणवायुका रूप धारण किया ।

सम्पन्नैषा हरिणनयना चन्द्रबिम्बाननश्री-
मनोनद्धा दयितललिता कान्तमाभोक्तुकामा ।
पूर्वस्मृत्या सरभसमुखी संयुता मण्डलान्तः
स्वप्नान्ते वाऽप्रकृतिविभवा पद्मिनी चोदितेव ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणसमनन्तरदेहप्रतिभावर्णनं नाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ लब्धवरा देहेनाऽनेनैव महीपतिम् ।
पतिमाप्तुं प्रयात्येषा नभोमार्गेण विष्टपम् ॥ १ ॥
इति संचिन्त्य सानन्दमुद्दाममकरध्वजा ।
पुप्लुवे पेलवाकारा पक्षिणीव नभस्तले ॥ २ ॥

चन्द्रमण्डलके सदृश मुखकान्तिवाली और मृगके तुल्य विशाल नेत्रवाली यह लीला, जिसकी कि सूर्यकी किरणोंसे कमलिनीकी नाईं वासनारूपी कलियाँ खिल गईं थीं, जो लावण्यमयी होनेके कारण स्वयं पतिके लिए उपभोगकी वस्तु थी और स्वयं भी सुन्दर पतिका उपभोग करना चाहती थी, भावनावश पूर्वदेहकी स्मृतिसे, स्वप्नमें जैसे, पद्मब्रह्माण्डमण्डलके भीतर जाकर पतिसे संयुक्त हो गई ॥ ५२ ॥

बाँवनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

[लीलाके गमनमार्गका, स्वामी पद्मकी प्राप्तिका तथा आकाशमार्गमें अज्ञानियोंकी गतिके अभावका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त यह (लीला), जिसे सरस्वती देवीसे वरदान मिला था, पूर्व वर्णित वासनामय शरीरसे ही अपने स्वामी राजा पद्मको पानेके लिए आकाशमार्गसे आगे कहे जानेवाले भुवनोंमें जाती है, स्मरणसे देहादिभावको प्राप्त कर पतिमिलनकी सम्भावनासे प्रबलकामवेदनावाली तथा

कुमारीं तत्र सा प्राप ज्ञप्त्यैव प्रहितां हिताम् ।
स्वसङ्कल्पमहादर्शात् पुरतो निर्गतामिव ॥ ३ ॥

कुमार्युवाच

दुहिताऽस्मि सखि ज्ञप्तेः स्वागतं तेऽस्तु सुन्दरि ।
प्रतीक्षमाणा त्वामेव स्थिताऽस्मीह नभःपथि ॥ ४ ॥

लीलोवाच

देवि भर्तुः समीपं मां नय नीरजलोचने ।
महतां दर्शनं यस्मान्न कदाचन निष्फलम् ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एहि तत्रैव गच्छाव इत्युक्त्वा सा कुमारिका ।
पुरस्तस्याः स्थिता व्योम्नि मार्गदर्शनतत्परा ॥ ६ ॥
ततस्तदनुयाता सा प्राप कोटरमम्बरम् ।
निर्मलं करमालाग्रं यथा लक्षणलेखिका ॥ ७ ॥

छोटेसे आकारवाली वह आनन्दपूर्वक आकाशमें चिड़ियाकी नाईं उड़ी । वहाँपर उसको सरस्वती देवीके द्वारा भेजी गई उसकी कन्या ऐसे मिली, मानो वह उसके सङ्कल्परूपी महान् दर्पणसे उसके सामने निकल आई हो ॥ १—३ ॥

कुमारीने कहा—हे सरस्वती देवीकी सखी, मैं तुम्हारी कन्या हूँ, हे सुन्दरी, आपका स्वागत हो । मैं तुम्हारी प्रतीक्षामें ही यहां आकाशमार्गमें स्थित हूँ ॥ ४ ॥

लीलाने कहा—हे देवताके शरीरको प्राप्त हुई वत्से, हे कमललोचने, मुझे मेरे पतिके समीपमें ले जाओ । [यदि कुमारी कहे कि तुम्हें पतिकी चाह है, तो तुम भले ही मेरे पिताजीके पास जाओ मैं वहाँ क्यों जाऊँ ? इसपर लीला कहती है]—महान् लोगोंका दर्शन कभी भी निष्फल नहीं जाता, मेरी भलाईके लिए मैंने जो कहा उसे करो, यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, 'देवि ! आइए, वहींपर हम दोनों जाते हैं', यह कहकर वह कुमारी लीलाके आगे हो गई और आकाशमें मार्ग दिखलाने लगी ॥ ६ ॥

उस कुमारीके पीछे-पीछे चलती हुई लीला, जैसे होनेवाले शुभ और अशुभको सूचित करनेवाली ब्रह्माकी रची हुई हस्तरेखा प्राणियोंके हाथके तलवेको प्राप्त होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डके छिद्ररूप निर्मल आशाको प्राप्त हुई ॥ ७ ॥

मेघमार्गमथोल्लङ्घ्य वातस्कन्धान्तरे गता ।
सूर्यमार्गादभिगता तारामार्गमतीत्य च ॥ ८ ॥
वाय्विन्द्रसुरसिद्धानां लोकानुल्लङ्घ्य लाघवात् ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्राप ब्रह्माण्डखर्परम् ॥ ९ ॥
हिमशैत्यं यथान्तःस्थं कुम्भे भिन्ने बहिर्भवेत् ।
तथा सङ्कल्पसिद्धा सा ब्रह्माण्डान्निर्गता बहिः ॥ १० ॥
स्वचित्तमात्रदेहैषा स्वसङ्कल्पस्वभावजम् ।
अन्तरेवाऽनुभवति किलैवं नाम विभ्रमम् ॥ ११ ॥
ब्रह्मादिस्थानमाक्रम्य प्राप्य ब्रह्माण्डखर्परम् ।
ततो ब्रह्माण्डपारस्था ज़लाद्यावरणानि च ॥ १२ ॥
समुल्लङ्घ्य पुरः प्राप महाचिद्गगनान्तरम् ।
अदृष्टपारपर्यन्तमतिवेगेन धावता ।
सर्वतो गरुडेनाऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १३ ॥

तदनन्तर लीला पहले मेघमार्गको लांघकर प्रवह, आवह आदि वायु-समूहके मार्गमें पहुँची, तदुपरान्त सूर्यमार्गसे निकलकर, नक्षत्र मार्गको लांघकर और शीघ्रतासे वायु, इन्द्रदेव और सिद्धोंके लोकोंका तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवजीके लोकोंका भी अतिक्रमण कर वह ब्रह्माण्डकपालमें पहुँची ॥ ८, ९ ॥

जैसे घड़ेके भीतर रक्खे हुए हिमजलकी शीतलता घड़ेके फूटे बिना भी बाहर निकल आती है, वैसे ही वासनामयी वह लीला भी ब्रह्माण्डसे बाहर निकल गई ॥ १० ॥

लीलाका यह गमन केवल उसकी मनकी कल्पना ही थी, इसका स्मरण कराते हैं—'स्वचित्त०' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पमात्रदेहवाली लीला अपने सङ्कल्पके स्वभावसे उत्पन्न इस प्रकारके गमनरूप भ्रमका अपने अन्दर ही अनुभव करती है ॥ ११ ॥

ब्रह्मा आदिके लोकोंको लांघकर ब्रह्माण्डके कपालमें पहुँचकर तदुपरान्त ब्रह्माण्डके पार पहुँची हुई लीला जल आदिरूप आवरणोंको पारकर अपार माया-संवलित चिदाकाशके मध्यमें पहुँची । वह इतना विशाल है कि यदि गरुड़ अत्यन्त वेगसे सदा उड़ते रहें तो वे भी सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें उसके ओर-छोरका पता नहीं लगा सकते, औरोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १२, १३ ॥

तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः ।
तान्यन्योन्यमदृष्टानि फलानीव महावने ॥ १४ ॥
तत्रैकस्मिन् पुरःसंस्थे विततावरणान्विते ।
वेधयित्वा विवेशाऽन्तर्बदरं कृमिको यथा ॥ १५ ॥
पुनर्ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादिलोकानुल्लङ्घ्य भास्वरान् ।
तन्महीमण्डलं श्रीमत् प्राप तारापथादधः ॥ १६ ॥
तत्र तन्मण्डलं प्राप्य तत्पुरं तच्च मण्डपम् ।
प्रविश्य पुष्पगुप्तस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ १७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे सा च न ददर्श कुमारिकाम् ।
मायामिव परिज्ञातां क्वाऽपि यातां वरानना ॥ १८ ॥
मुखमालोक्य सा तस्य स्वभर्तुः शवरूपिणः ।
इदं बुद्धवती सत्यं प्रतिभावशतः स्वतः ॥ १९ ॥
अयं स भर्ता संग्रामे निहतो मम सिन्धुना ।
वीरलोकानिमान् प्राप्य क्षणं शेते यथासुखम् ॥ २० ॥

उसमें लाखों ब्रह्माण्ड, लाखों क्या असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे महान् वनमें असंख्य फल होते हैं, उन ब्रह्माण्डोंने भी आपसमें एक दूसरेको कभी नहीं देखा ॥ १४ ॥

उनमें से एकमें, जो कि उसके सामने था और था विस्तृत आवरणसे युक्त, जैसे छोटा कीड़ा बेरको छेदकर भीतर घुसता है, वैसे ही उसे छेदकर वह उसमें प्रविष्ट हुई ॥ १५ ॥

फिर ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदिके देदीप्यमान लोकोंको लाँघकर आकाशके नीचे राजा पद्मके समृद्ध भूमण्डलमें पहुँची ॥ १६ ॥

भूमण्डलमें राजा पद्मके राज्यमें और उसके नगरमें पहुँचकर तत्पश्चात् उस मण्डपमें प्रविष्ट होकर फूलोंसे ढके हुए शवके समीपमें बैठ गई ॥ १७ ॥

इतनेमें ही सुन्दरी लीलाने कुमारीको नहीं देखा, जैसे ज्ञान होनेपर माया कहीं चली जाती है, वैसे ही वह कहीं चली गई ॥ १८ ॥

शवरूपी अपने पतिका मुख देखकर लीलाने अपने तर्कसे उसे सत्य समझा ॥ १९ ॥

संग्राममें सिन्धुके हाथसे मारा गया यह मेरा स्वामी वीरोंको प्राप्त होनेवाले

अहं देव्याः प्रसादेन सशरीरैवमीदृशम् ।
इह प्राप्तवती धन्या मत्समा नाऽस्ति काचन ॥ २१ ॥
इति सञ्चिन्त्य सा हस्ते गृहीत्वा चारु चामरम् ।
वीजयामास चन्द्रेण द्यौरिवाऽवनिमण्डलम् ॥ २२ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

ते भृत्यास्ताश्च वै दास्यः स राजा च प्रबुद्धवान् ।
वक्ष्यन्ति वद तां देवि किं कयैव कथं धिया ॥ २३ ॥

श्रीदेव्युवाच

स राजा सा च ते भृत्याः सर्व एव परस्परम् ।
चिदाकाशैकतावेशादावयोश्च प्रभावतः ॥ २४ ॥

इन लोकोंमें पहुँचकर क्षण भरके लिए आरामसे सोता है ॥ २० ॥

मैं श्रीदेवीजीके वरदानरूप प्रसादसे सदेह ही (अपने प्राक्तन स्थूल देहसे युक्त ही) इस प्रकार यहाँपर प्राप्त हुई हूँ। मैं बड़ी धन्य हूँ, मेरे समान दूसरी कोई भी भाग्यशालिनी नहीं है, ऐसा विचारकर अपने हाथमें सुन्दर चँवर लेकर लीला जैसे द्युलोक चन्द्रमासे भूमिमण्डलको पंखा झलता है वैसे ही, झलने लगी यानी अपने पतिके ऊपर चँवर डुलाने लगी ॥ २१, २२ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवि, वे नौकर-चाकर, वे दासियां और वह राजा उसे कैसे जान पाये? वे उसे किस बुद्धिसे क्या कहते थे और वह बुद्धि कैसे उपपन्न हो सकती है यानी वे उसको किस नातेसे पुकारते थे और वह नाता कैसे सिद्ध हो सकता है? यह सब हमसे कहिये। भाव यह है कि राजाको यदि अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तका विस्मरण हो गया था तो राजा यह कौन है और किसकी है, इस शङ्कासे उसका ग्रहण नहीं कर सकते। यदि पूर्वजन्मके वृत्तान्तका विस्मरण न भी हुआ हो तो भी अविवाहित स्त्रीका ग्रहण शिष्ट पुरुषों द्वारा गर्हित होनेके कारण राजा उसका ग्रहण नहीं कर सकते, यह सब कथा मुझसे आप कहिये ॥ २३ ॥

यदि सभीको ऐसी प्रतीति हो कि यह कोई नई आई है तभी उक्त दोष आ सकता है। सत्यसङ्कल्पवाले हमारे प्रभावसे वैसी प्रतीति ही नहीं होगी, इस प्रकार देवी पूर्वोक्त शङ्काका समाधान करती हैं—'स राजा' इत्यादिसे।

महाचित्प्रतिभासत्वान्महानियतिनिश्चयात् ।
अन्योन्यमेव पश्यन्ति मिथः संप्रतिबिम्बितात् ॥ २५ ॥

इयं मे सहजा भार्या ममेयं सहजा सखी ।
ममेयं सहजा राज्ञी भृत्योऽयं सहजो मम ॥ २६ ॥

केवलं त्वमहं सा च यथावृत्तमखण्डितम् ।
ज्ञास्याम इदमाश्चर्यं न तु कश्चिदपीतरः ॥ २७ ॥

वह राजा, वासनामयी लीला और उनके नौकर-चाकर सभी आपसमें एक दूसरेको ऐकमत्यसे ही देखते हैं, यानी जैसे राजाकी रानीके प्रति यह मेरी पत्नी है, यह बुद्धि है, वैसे ही रानीकी राजाके प्रति यह मेरा स्वामी है, यह मति है और जैसे भृत्योंके प्रति उनकी ये हमारे भृत्य हैं, ऐसी मति है वैसे ही भृत्योंकी भी ये हमारे मालिक हैं, ऐसी मति है, क्योंकि उनकी ऐसी प्रतीति होनेमें चार हेतु हैं—पहला हेतु है—सत्यसङ्कल्पवाले हम दोनोंका प्रभाव, दूसरा हेतु है—साक्षीरूप चिदाकाशका ऐसा स्फुरण जिससे कि सबकी एकमति हो और जो कि प्रत्येककी बुद्धिके, जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान, भीतर पैठा है, तीसरा हेतु है—ब्रह्मचैतन्यका भोक्ताके अदृष्टके अनुसार तत् तत् रूपमें विवर्त होना और चौथा हेतु उनका महानियतिके (इसे ऐसा ही होना चाहिए, इस प्रकारके ईश्वरके सङ्कल्पके) अधीनमें रहना, यानी सत्य सङ्कल्पवाले हम लोगोंके प्रभावसे सबकी बुद्धिमें प्रतिबिम्बकी नाईं स्थित चिदाकाशके ऐकमत्यानुकूल स्फुरणसे, भोक्ताके अदृष्टानुसार ब्रह्मरूप महाचैतन्यका तादृश विवर्त होनेसे और 'इसको ऐसा ही होना चाहिए' इस प्रकारके भगवान्के सङ्कल्पके अधीन होनेसे उनकी परस्पर एक मति थी ॥ २४, २५ ॥

उसी एक मतिको दिखाते हैं—'इयं मे' इत्यादिसे ।

यह मेरी सहज (साथ उत्पन्न हुई) पत्नी है, यह मेरी सहज सखी है, यह मेरी सहज रानी है, यह मेरा सहज नौकर है । इस आश्चर्यमय वृत्तान्तको आदिसे लेकर अन्ततक पूरेका-पूरा तुम्हारे, मेरे और इसके (विदूरथकी पत्नी लीलाके) सिवा दूसरा कोई भी नहीं जान पायेगा ॥ २६, २७ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

अमुनैव शरीरेण किमर्थं न गता पतिम् ।
एषा वरेण संप्राप्ता लीला ललितवादिनी ॥ २८ ॥

श्रीदेव्युवाच

अप्रबुद्धधियः सिद्धलोकान् पुण्यवशोदितान् ।
न समर्थाः स्वदेहेन प्राप्तुं छाया इवाऽऽतपान् ॥ २९ ॥
आदिसर्गे च नियतिः स्थापितेति प्रबोधिभिः ।
यथा सत्यमलीकेन न मिलत्येव किञ्चन ॥ ३० ॥
यावद्वेतालसंकल्पो बालस्य किल विद्यते ।
निर्वेतालधियस्तावदुदयस्तस्य कः कथम् ॥ ३१ ॥
अविवेकज्वरोष्णत्वं विद्यते यावदात्मनि ।
तावद्विवेकशीतांशुशैत्यं कुत उदेत्यलम् ॥ ३२ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवी, यह मधुरभाषिणी लीला, जिसे आप पतिके पास पहुँच गई कहती हैं, आपके वरदानके प्रतापसे इस स्थूल शरीरसे ही पतिके पास क्यों नहीं गई ॥ २८ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, जैसे छाया घामको नहीं पा सकती, वैसे ही अज्ञानी (स्थूल आत्माके ज्ञानसे शून्य) लोग पुण्योंके प्रभावसे प्राप्त हुए शुभ लोकोंको नहीं पा सकते ॥ २९ ॥

प्रथम सृष्टिमें सत्यसङ्कल्पवाले ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदिने ऐसी मर्यादा कर छोड़ी है, जैसे कि सत्य वस्तु मिथ्या वस्तुसे तनिक भी नहीं मिलती है, जैसे कि भाष्य है—जहां (सत्य पदार्थमें) जिसका (मिथ्या पदार्थका) अध्यास है, वह (सत्य) अध्यस्त (मिथ्या पदार्थ) के गुण और दोषोंसे अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता ॥ ३० ॥

यदि लीला यह पूछे कि इसे आपके वरदानके बलसे अस्थूल आत्माका ज्ञान क्यों नही हुआ ? इसपर देवीजी कहती हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जबतक बालकके मनमें वेतालका निश्चय रहता है, तबतक उसमें बेतालके अभावकी बुद्धिका उदय कैसे हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

जबतक आत्मामें अज्ञानरूपी ज्वरकी गर्मी रहती है, तबतक विवेकरूपी चन्द्रमाकी शीतलता पूर्वरूपसे कैसे उदित हो सकती है ? ॥ ३२ ॥

अहं पृथ्व्यादिदेहः खे गतिर्नाऽस्ति ममोत्तमा ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः कथं स्यात् सोऽन्यनिश्चयः ॥ ३३ ॥
अतो ज्ञानविवेकेन पुण्येनाऽथ वरेण च ।
पुण्यदेहेन गच्छन्ति परं लोकमनेन तु ॥३४॥
शुष्कपर्णं किलाऽङ्गारे पतदेवाऽऽशु दह्यते ।
अयं देहमहं देहः प्राप्त एव विशीर्यते ॥३५॥
एतावदेव भवति वरशापविजृम्भितैः ।
यथा संचिन्त्य एवाऽहं तथा स्मृत इति स्मृतिः ॥३६॥

मेरा शरीर पृथिवी आदिसे निर्मित है, मेरी आकाशमें उत्तम गति नहीं हो सकती, जिसके अन्तःकरणमें ऐसे निश्चयकी जड़ जमी हुई है, उसमें अन्य प्रकारका (उक्त निश्चयसे विपरीत) निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

अतएव लोग विवेकज्ञानसे, प्रचुर पुण्यसे और वरदानसे इस (तुम्हारे सदृश) पुण्य शरीरसे परलोकमें जाते हैं ॥ ३४ ॥

आतिवाहिक देहके मिलनेपर स्थूलमें अहंभावकी निवृत्ति कैसे होती है ? इस शङ्कापर देवीजी कहती हैं—'शुष्कपर्णम्' इत्यादिसे ।

जैसे सूखा हुआ पत्ता जल रही अग्निमें गिरते गिरते तुरन्त ही जल जाता है, वैसे ही यह स्थूल देह अहङ्कारवासनामय आतिवाहिक देहको प्राप्त होते ही नष्ट हो जाता है ॥ ३५ ॥

वर और शाप भी पूर्वजन्मकी वासना और कर्मके अनुसार ही कर्म और वासनाके उद्बोधकरूपसे प्राणियोंको मिलते हैं, यह बात स्मृतिके दृष्टान्तसे श्रीदेवीजी कहती हैं—'एतावदेव' इत्यादिसे ।

जैसे पहिलेसे खूब अभ्यस्त होनेपर भी तुरन्त संस्कारका उद्बोध न होनेसे चिरकालतक जिसमें चिन्तन करनेकी आवश्यकता होती है, ऐसे अनुवाक आदिको जब कोई आदमी प्रतीकके कथन द्वारा स्मरण कराता है, तब जिसे स्मरण होता है वह पुरुष कहता है—जैसा आपने स्मरण कराया वैसा ही मैंने उसका स्मरण किया, यों जैसे स्मरण होता है वैसे ही वर और शापके अभ्युदयसे वासना और कर्मकी स्मृति होती है ॥ ३६ ॥

यः सर्पप्रत्ययो रज्ज्वां स कथं सर्पकार्यकृत् ।
आत्मन्येव हि यो नाऽस्ति तस्य का कार्यकारिता ॥३७॥
यस्त्वेतन्मृत इत्येवं मिथ्या समनुभूयते ।
प्रागभ्यासस्य पुष्टस्य नामैतत् प्रविजृम्भते ॥ ३८ ॥
स्वानुभूते जगज्जाले सुगमाः संस्मृतिभ्रमाः ।
नाऽन्यसङ्कल्पितो नाम सर्गाद्यभ्यास ईदृशः ॥ ३९ ॥
अन्तरनुभूयमानाः संसृतयो बाह्यभूतजालानाम् ।
अविदितवेद्यदशामपि दूरे पुंसामिवैन्दवं बिम्बम् ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने संसृतिविदितवेद्यं नाम त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि अर्थक्रियाकारी स्थूल देहका तत्त्वज्ञानसे कैसे बाध होता है ? इसपर तत्त्वदृष्टिसे स्थूलदेहमें अर्थक्रियाका ही अभाव है, ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं—'यः' इत्यादिसे ।

रस्सीमें जो सर्पकी भ्रमात्मक प्रतीति होती है, वह सर्पका कार्य कैसे कर सकती है ? जो पदार्थ स्वस्वरूपसे है ही नहीं, उसकी कार्यकारिता कैसे हो सकती है ॥ ३७ ॥

यदि स्थूल देह है ही नहीं, तो यह देह मर गई, ऐसा सबको क्यों अनुभव होता है ? इसपर कहती हैं—'यस्तु' इत्यादिसे ।

'यह मर गया' इत्याकारक मिथ्या पदार्थका जो सबको अनुभव होता है वह अनुभव खूब बढ़े हुए पूर्व जन्मके अभ्यासके संस्कारसे होता है ॥ ३८ ॥

जब यह जगत्-जाल खूब अनुभूत हो जाता है, तब भ्रमात्मक स्मरण बराबर अभ्याससे सुगम हो जाते हैं । इस प्रकारका यह सृष्टिका अभ्यास वर या शाप देनेवाले हिरण्यगर्भ या ईश्वर द्वारा हमारे वासना, कर्म आदिसे निरपेक्ष होकर नहीं बनाया गया है अर्थात् हमारी वासना और कर्मसे सापेक्ष होकर ही बनाया गया है ॥३९॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि संसार यदि आन्तर वासनामय है, तो वह बाह्य कैसे प्रतीत होता है, तो उसका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हैं—'अन्तः' इत्यादिसे ।

चतुष्पञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

तस्माद्ये वेद्यवेत्तारो ये वा धर्मं परं श्रिताः ।
आतिवाहिकलोकांस्ते प्राप्नुवन्तीह नेतरे ॥ १ ॥
आधिभौतिकदेहत्वं मिथ्याभ्रममयात्मकम् ।
कथं सत्ये स्थितिं याति छायाऽऽस्ते कथमातपे ॥२॥

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है यानी जो अज्ञानी हैं और जो बाहर भूतसमूहको देखते हैं, उनको संसारका भीतर ही अनुभव होता है, जैसे कि दूरमें प्रतीत हो रहा भी अध्यस्त दूसरा चन्द्रबिम्ब आन्तर अनुभूत होता है इसी युक्तिसे कल्पित ये संसृतियां भी आन्तर ही हैं, बाह्य नहीं हैं ॥ ४० ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

[सब पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आयुके मान का वर्णन]

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, इसलिए जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं अथवा जिन लोगोंने योगके अभ्याससे ज़न्य परम धर्मका आश्रय लिया है, वे ही आतिवाहिक लोकोंको प्राप्त होते हैं, अन्य लोग नहीं ॥ १ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि आतिवाहिक ब्रह्मादिके लोकोंमें भी यहांकी नाईं चिरकालके अभ्यास आदिसे भौतिक देहताका उदय क्यों नहीं होता ? तो इसपर कहती हैं—'आधिभौतिक०' इत्यादिसे ।

आधिभौतिकदेहता मिथ्या (भ्रमरूप) है, वह स्थूलकी अपेक्षा सत्य * यानी पुण्यके उत्कर्षसे प्राप्त आतिवाहिकरूप सत्यमें कैसे स्थितिको प्राप्त हो सकती है ? छाया आतप (घाम) में कैसे रह सकती है ? भाव यह कि जैसे आतपमें छायाकी

---

* 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्निसे अग्नित्व गया, शुक्ल, कृष्ण और लोहित ये तीन रूप ही सत्य हैं ।) 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यः' (प्राण सत्य हैं, प्राणोंका यह सत्य है) इत्यादि श्रुतियोंसे कहा गया है कि सूक्ष्ममें त्रिवृत्करण आदिसे स्थूल अध्यस्त है, अतः स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म सत्य है ।

लीला विदितवेद्या नो परमं धर्ममाश्रिता ।
केवलं तेन सा भर्तुः कल्पितं नगरं गता ॥ ३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

एवमेषा प्रयाताऽस्तु भर्ता पश्य ममाऽम्बिके ।
प्रवृत्तः प्राणसंत्यागे कर्तव्यं किमिहाऽधुना ॥ ४ ॥

भावाभावेषु भावानां कथं नियतिरागता ।
कथं भूयोऽप्यनियतिर्मृतिजन्मादिसूचिता ॥ ५ ॥

स्थिति नहीं हो सकती, वैसे ही आतिवाहिकरूप सत्यमें आधिभौतिक-देहता नहीं रह सकती ॥ २ ॥

यदि ऐसा है, तो लीलाका पद्मकी प्राप्तिके बाद आधिभौतिक शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? इस शङ्कापर कहती हैं—'लीला' इत्यादिसे ।

लीलाको न तो तत्त्वज्ञान ही हुआ था और न उसने योगाभ्याससे उत्पन्न परम धर्मका ही अवलम्बन किया था, इसलिए वह केवल पतिके कल्पित नगरमें गई ॥ ३ ॥

देवीके उक्त कथनको स्वीकार कर राजाकी मृत्यु देखनेसे सूचित जीवनके नियम और अनियमकी अनुपपत्ति देख रही लीलाने कहा—'एवम्' इत्यादिसे ।

प्रबुद्धलीलाने कहा—हे देवि, यह लीला राजा पद्मके पास चली गई, ऐसा जो आपने कहा, वह आपके कथनानुसार वैसा ही हो, इसमें मुझे कोई अनुपपत्ति नहीं दीखती । जरा अपनी आंखोंसे देखिये, यह मेरे पति प्राणोंका त्याग करने लगे हैं, इस विषयमें इस समय क्या करना चाहिए यानी इसकी उपपत्ति कैसे है ? यहांपर प्रश्नका 'इस समय मुझे क्या करना चाहिए' ऐसा अभिप्राय नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे एक तो अन्य प्रश्नोंसे असंगति आती है और दूसरा प्रश्नके उत्तरमें देवीजीने लीलाके कर्तव्य कार्यका उपदेश नहीं दिया है ॥ ४ ॥

देह आदि भाव पदार्थोंके जीवन, सौख्य आदि भावोंमें तथा दुःख, दौर्भाग्य आदि अभावोंमें पहले नियम कैसे आया और फिर मरण, जन्म आदिसे सूचित अनियम भी कैसे आ गया ॥ ५ ॥

कथं स्वभावसंसिद्धिः कथं सत्ता पदार्थगा ।
कथमग्न्यादिपूष्णत्वं पृथ्व्यादौ स्थिरता कथम् ॥ ६ ॥
हिमादिषु कथं शैत्यं का सत्ता कालखादिषु ।
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मदृशः कथम् ॥ ७ ॥
कथमत्यन्तमुच्छ्रायं तृणगुल्मनरादिकम् ।
वस्तु नाऽऽयात्यनिष्टेऽपि स्थिते स्वोच्छ्रायकारणे ॥ ८ ॥

श्रीदेव्युवाच

महाप्रलयसम्पत्तौ सर्वार्थास्तमये सति ।
अनन्ताकाशमाशान्तं सद्ब्रह्मैवाऽवतिष्ठते ॥ ९ ॥

यदि कोई कहे कि नियम न हो, अनियम ही रहे, तो इसपर कहते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

यदि अनियम मानोगे, तो जलका शैत्य ही स्वभाव, अग्निका उष्णत्व ही स्वभाव इत्यादिकी सिद्धि कैसे होगी ? घटादि पदार्थोंमें रहनेवाली सत्ता (भावरूपताका नियम) कैसे होगी, अग्नि आदिमें उष्णता और पृथिवी आदिमें स्थिरता कैसे होगी ? हिम आदिमें शीतलता कैसे होगी, काल, आकाश आदिकी नित्यता कैसे होगी, भावका (सत्य रजत आदिका) ग्रहण, अभावका (शुक्ति-रजत आदिका) त्याग कैसे होगा ? पृथिवी आदिकी स्थूलता और मन, इन्द्रिय आदिकी सूक्ष्मता ही है, इन नियमोंका दर्शन कैसे होगा ? अपनी ऊँचाईके कारणके रहते भी तिनका, झाड़ी, मनुष्य आदि वस्तुएँ शाल, तमाल आदि वृक्षोंके तुल्य अत्यन्त ऊँचाईको नहीं पाती, इष्ट, अनिष्ट सभी जगह नियम न होनेसे सर्वत्र अविश्वास ही क्यों न होगा ? ॥ ६–८ ॥

सभी जगह ऐसा ही नियम होता, यदि जगत् केवल सत्यस्वभाव होता और सभी जगह अनियम ही होता, यदि जगत् असत्य (मायामात्रस्वभाव) होता, किन्तु जगत्की सत्य और अनृतसे सम्मिलित माया प्रकृति है, इसलिए नियम भी सत्य और असत्यस्वभाव होकर भोगकर्ताके अदृष्टके अनुरूप चित्-विवर्तकी व्यवस्थासे रहते हैं, ऐसा समाधान करनेकी इच्छावाली देवीजी उसके लिए शुद्ध चित्के विवर्तका क्रम कहती हैं—'महाप्रलय०' इत्यादिसे ।

तच्चिद्रूपतया तेजःकणोऽहमिति चेतति ।
स्वप्ने संविद्यथाहित्वमाकाशगमनादि च ॥ १० ॥
तेजःकणोऽसौ स्थूलत्वमात्मनाऽऽत्मनि विन्दति ।
असत्यमेव सत्याभं ब्रह्माण्डं तदिदं स्मृतम् ॥ ११ ॥
तत्राऽन्तर्ब्रह्म तद्वेत्ति ब्रह्माऽयमहमित्यथ ।
मनोराज्यं स कुरुते स्वात्मैवं तदिदं जगत् ॥ १२ ॥
तस्मिन् प्रथमतः सर्गे या यथा यत्र संविदः ।
कचितास्तास्तथा तत्र स्थिता अद्याऽपि निश्चलाः ॥ १३ ॥
यद्यथा स्फुरितं चित्तं तत्तथा ह्यात्मचिद्भवेत् ।
स्वयमेवाऽनियमतस्तत्तस्यान्नेह किञ्चन ॥ १४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, महाप्रलय होनेपर, जब कि सब पदार्थोंका विनाश हो जाता है, अनन्त चिदाकाशरूपी शान्त सत् बुद्धरूप ब्रह्म ही केवल रहता है । वह जैसे स्वप्नमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य सर्पता तथा आकाशगमन आदिका अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप होनेके कारण मैं तेजका कण (शुद्ध चित्से व्याप्त होनेके कारण चमकदार सूक्ष्म भूत) हूँ, ऐसा समझता है ॥ ९,१० ॥

वह तेजका कणरूप ब्रह्म अपनेसे अपनेमें स्थूलताको प्राप्त करता है यानी अपनी कल्पनासे स्थूलताका लाभ करता है, वही स्थूल यह दृश्यमात्र ब्रह्म कहा गया है, जो असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

उक्त ब्रह्माण्डके भीतर स्थित हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस पूर्वोक्त स्मृतिके अनुसार अन्तर्मुखतारूप अंशसे यह मैं ब्रह्म हूँ, यह जानता है और बाह्यवासनारूप दूषित अंशसे प्राणियोंके कर्मके अनुरूप सृष्टिके संकल्परूपसे मनोराज्य करता है, वही सत्यसङ्कल्परूप मनोराज्य यह जगत् है ॥ १२ ॥

उस पहली सृष्टिमें जो संकल्पवृत्तियाँ जहाँपर जैसे (नियम-अनियमरूपसे) विकासको प्राप्त हुईं वे वहांपर वैसी ही आज भी ज्यों-की-त्यों निश्चल (बिना हेर-फेरके) स्थित हैं ॥ १३ ॥

भाँति-भाँतिकी वासनाओंसे भरे हुए मनमें, वैसा सङ्कल्पोदय होनेपर भी

न च नाम न किञ्चित्त्वं युज्यते विश्वरूपिणः ।
त्यक्त्वा समस्तसंस्थानं हेम तिष्ठति वै कथम् ॥ १५ ॥
सर्गादौ स्वयमेवान्तश्चिद्यथा कचिताऽऽत्मनि ।
हिमाग्न्यादितयाऽद्याऽपि सा तथाऽऽस्ते स्वसत्तया ॥ १६ ॥
तस्मात् स्वसत्तासंत्यागः सतः कर्तुं न युज्यते ।
यदा चिदास्ते तेनेयं नियतिर्न विनश्यति ॥ १७ ॥

आत्मचैतन्यका मनके सङ्कल्पानुसार विवर्त कैसे होता है ? इस शङ्कापर श्रीदेवीजी कहती हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

चित्त जिस जिस प्रकारसे स्फुरित होता है, चैतन्य भी स्वयं ही उस प्रकारसे स्फुरित होता है, क्योंकि आत्मचैतन्यका यह स्वभाव ही है कि वह स्वच्छ उपाधिमें प्रतिफलित होता है । इसलिए कुछ भी पदार्थ अनियत स्वभावरूपसे उत्पन्न नहीं होते ॥ १४ ॥

मायाशबल ब्रह्ममें अनादिकालसे नियतरूपसे स्थित विश्वके आविर्भावसे भी 'नियति' की सिद्धि होती है, इस आशयसे कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

प्रलयकालमें भी विश्वरूपी [विराट्] सम्पूर्ण वस्तुओंसे शून्य नहीं हो सकता ? यदि ऐसा हो जाय तो उसमें कारणता ही नहीं रहेगी, कारण कि सोना कटक, कङ्कण, कुण्डल, रुचक, पिण्डत्व आदि सब आकारोंका त्याग करके कैसे रह सकता है ? भाव यह है कि सब आकारोंका उसमें अन्तर्भाव है, अतः वह किसीका भी त्याग नहीं कर सकता ॥ १५ ॥

सृष्टिके आरम्भमें स्वयं ही आत्मचैतन्य जैसे अपनी सत्तासे [शीतलता, उष्णता आदिरूपसे] अपनेमें हिम, अग्नि आदिके आविर्भावको प्राप्त हुआ वह वैसे ही आजतक ज्यों-का-त्यों अविचलरूपसे स्थित है ॥ १६ ॥

यदि मायाशबल ब्रह्म अपनी अधिष्ठान-सत्ताका त्याग करेगा, तो मायान्तर्गत नियमोंकी असत्ता हो जायगी, लेकिन यह अशक्य है, ऐसा दिखलाती हुई देवीजी उपसंहार करती हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए मायाशबल ब्रह्म अपनी सत्ताका त्याग करे, यह संभव नहीं है, जब चिति है, तब उसीसे (चित्की सत्तासे ही) इस नियतिका अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ १७ ॥

यद्यथा कचितं यत्र व्योमरूप्यपि पार्थिवम् ।
सर्गादौ तस्य चलितुमद्य यावन्न युज्यते ॥ १८ ॥
या यथा चित्प्रकचिता प्रतिपक्षविदं विना ।
न सा ततः प्रचलति वेदनाभ्यासतः स्वयम् ॥ १९ ॥
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदमनुभूयते ।
तत्संविद्व्योमकचनं स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ॥ २० ॥
असत्यमेव सत्याभं प्रतिभानमिदं स्थितम् ।
इति स्वभावसंपत्तिरिति भूतानुभूतयः ॥ २१ ॥

नियतिके अविपर्यासमें [उलट फेर न होनेमें] पृथ्वी आदिकी स्थिति ही दृष्टान्त है, इस आशयसे कहती हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्य प्रपञ्च आकाशरूपी (शून्य) है, तथापि वह सृष्टिके आरम्भमें जहांपर जिस रूपसे आविर्भूत हुआ था, वह आज भी अपनी मर्यादासे तनिक विचलित नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

जीवननियतिका मरणनियतिसे जो विपर्यास है, उसके सभीको दिखाई देनेसे कहती हैं—'प्रतिपक्षविदम्' इत्यादिसे ।

जीवननियमका मरणनियमसे जो विपर्यास है, उसके सिवा जो चिति जहां जिस प्रकार आविर्भूत हुई है, वह अभ्यासवश दृढ़ प्रतीति होनेके कारण स्वयं विचलित नहीं होती यानी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है ॥ १९ ॥

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह मायिक दृष्टिका अवलम्बन करके कहा गया है परमार्थ दृष्टिसे तो जब जगत्की ही सत्ता नहीं है, तब नियतिकी क्या कथा है ? इस आशयसे कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जगत् पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ ।

शङ्का—यदि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो उसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान—जो कुछ यह अनुभवमें आ रहा है, वह चिदाकाशका ही तादृशरूपसे विकास है, स्वप्नमें स्त्रीसंगकी नाई यानी स्वप्नमें जैसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यका ही तादृश आकारसे कचन होता है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए ॥ २० ॥

इस प्रकार असत्य होता हुआ भी सत्यके तुल्य प्रतीत होनेवाला यह

सर्गादौ या यथाऽऽरूढा संवित्कचनसन्ततिः ।
साऽद्याऽप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते ॥ २२ ॥
गृहीतव्योमसंविति चिद्व्योम व्योमतां गतम् ।
गृहीतकालसंविति चिन्नभः कालतां गतम् ॥ २३ ॥
गृहीतजलसंविति चिद्व्योम वारिवत् स्थितम् ।
स्वप्ने यथा हि पुरुषः पश्यत्यात्मनि वारिताम् ॥ २४ ॥
स्वप्नचित्संविदाभाति भवत्येषा यथा स्थिता ।
चिच्चमत्कारचातुर्यादसदेतत् समूहते ॥ २५ ॥
खत्वं जलत्वमुर्वीत्वमग्निवायुत्वमप्यसत् ।
वेत्त्यन्तः स्वप्नसङ्कल्पध्यानेष्विव चितिः स्वयम् ॥ २६ ॥

प्रातिभासिक जगत् स्थित है, इस प्रकारका नियतिका स्वभाव है और ऐसे जीवन, मरण आदि पदार्थोंके अनुभव हैं ॥ २१ ॥

नियतिशब्दके अवयवार्थपर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है, ऐसा कहती हैं—'सर्गादौ' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें जो चेतनविकासपरम्परा जैसे आविर्भूत हुई (बद्धमूल हुई) उसे आज तक भी कोई दूसरा टससे-मस नहीं कर सका, अतएव वह नियति कही जाती है ॥ २२ ॥

उक्त अर्थको ही उदाहरण देकर दर्शाती हैं—'गृहीत०' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें चिदाकाश, जिसने आकाशरूपसे कचन (स्फुरण) को स्वीकार किया था, आकाशरूपताको प्राप्त हुआ, कालरूपसे कचनका स्वीकार कर चिदाकाश ही कालरूपताको प्राप्त हुआ, जलरूपसे कचनका स्वीकार कर चिदाकाश ही ऐसे जलके रूपमें स्थित हुआ जैसे कि स्वप्नमें पुरुष अपनेमें ही जलताको देखता है । स्वप्नकी नाईं चिति ही तत्-तत रूपको प्राप्त हुई है । तत्-तत् रूपको प्राप्त होनेपर भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है यानी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होती, क्योंकि चित्के चमत्कारके यानी मायाके चातुर्यसे यह प्रपञ्च असत्य होता हुआ ही अपनेमें सत्यताकी बुद्धि उत्पन्न कराता है ॥ २३–२५ ॥

जैसे स्वप्न, सङ्कल्प और ध्यानमें असत् वस्तुको ही अन्तःकरण अपनी

मरणानन्तरं कर्मफलानुभवनक्रमम् ।
सर्वसंदेहशान्त्यर्थं मृतिश्रेयस्करं शृणु ॥ २७ ॥
रूढाऽऽदिसर्गे नियतिर्यैकद्वित्रिचतुःशता ।
पूर्वादिष्वायुषः पुंसां तस्या मे नियतिं शृणु ॥२८॥
देशकालक्रियाद्रव्यशुद्ध्यशुद्धी स्वकर्मणाम् ।
न्यूनत्वे चाऽधिकत्वे च नृणां कारणमायुषः ॥ २९ ॥
स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत् समे ॥ ३० ॥

कल्पनासे जानता है, वैसे ही आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व भी असत् हैं, चिति स्वयं अपनी कल्पनासे इनका अनुभव करती है ॥२६॥

इस प्रकार अन्य नियमोंकी व्यवस्था करके जीवननियति भी कर्मोंके भेदसे नियत अवधिवाली ही ईश्वरके संकल्पसे रची गई है, इसलिए मरनेके पश्चात् उसका भङ्ग नहीं होता है, यह दिखलानेके लिए कर्मफलोंके अनुभव-क्रमका निरूपण करनेके लिए प्रतिज्ञा करती हैं—'मरणानन्तरम्' इत्यादिसे ।

मरणके बाद (मरने तक जिनका फल प्रारब्ध है, उन कर्मोंके प्रतिबन्धक होनेके कारण उस देहके संचित कर्म फल देनेमें समर्थ नहीं होते, मरनेपर प्रतिबन्धकके हट जानेसे वे फल उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं, यह सूचित करनेके लिए 'मरणानन्तर' कहा गया है) कर्मफलोंके अनुभवका क्रम सुनो, इसके सुननेसे तुम्हारे सब सन्देह मिट जायंगे और तुम्हारे मुंहसे लोकमें प्रसिद्ध होकर यह और लोगोंमें आस्तिकबुद्धि उत्पन्न करके मरनेपर उनके लिए भी कल्याणकारी सिद्ध होगा ॥ २७ ॥

पहली सृष्टिमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें पुरुषोंकी क्रमशः चार सौ, तीन सौ, दो सौ और एक सौ वर्षकी जो आयु स्थिर हुई थी, उसके न्यूनाधिक होनेमें भी अवान्तर नियम सुनो ॥ २८ ॥

आयुके निमित्तभूत अपने कर्मोंकी देश, काल, अनुष्ठान और द्रव्यकी अशुद्धि और शुद्धि तथा न्यूनता और अधिकता मनुष्योंकी आयुमें कारण है । आयुके हेतुभूत कर्मोंमें देश आदिकी अशुद्धिसे वैगुण्य आनेसे फलकी न्यूनता होती है और देश आदिकी अधिक शुद्धिसे अधिक फल होता है, यह भाव है ॥ २९ ॥

बालमृत्युप्रदैर्बालो युवा यौवनमृत्युदैः ।
वृद्धमृत्युप्रदैर्वृद्धः कर्मभिर्मृतिमृच्छति ॥ ३१ ॥
यो यथाशास्त्रमारब्धं स्वधर्ममनुतिष्ठति ।
भाजनं भवति श्रीमान् स यथाशास्त्रमायुषः ॥ ३२ ॥
एवं कर्मानुसारेण जन्तुरन्त्यां दशामितः ।
भवन्त्यन्तं गतवतो दृङ्मर्मच्छेदवेदनाः ॥ ३३ ॥
प्रबुद्धलीलोवाच
मरणं मे समासेन कथयेन्दुसमानने ।
किं सुखं मरणं किं वा दुःखं मृत्वा च किं भवेत् ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करना भी आयुके ह्रासका कारण है, ऐसा कहती हैं—'स्वकर्म०' इत्यादिसे ।

अपने कर्मरूप धर्मका ह्रास होनेपर मनुष्योंकी आयु क्षीण होती है, स्वकर्मधर्मकी वृद्धि होनेपर बढ़ती है, स्वकर्मधर्मका शास्त्रानुसार (जितना शास्त्रमें कहा गया है उतना ही) अनुष्ठान होनेपर उसमें कमी-बेशी न करनेपर सम ही (उस युगमें जितनी नियत है उतनी ही) रहती है ॥ ३० ॥

विहितका आचरण न करनेके समान निषिद्धका आचरण करना भी आयुके ह्रासका हेतु है, ऐसा कहती हैं—'बाल०' इत्यादि ।

बाल्यावस्थामें मृत्यु देनेवाले कर्मोंसे देही बालक ही (बाल्यावस्थामें ही) मर जाता है, युवावस्थामें मृत्यु देनेवाले कर्मोंसे युवा ही (युवावस्थामें ही) मर जाता है और वृद्धावस्थामें मृत्यु देनेवाले कर्मोंसे वृद्ध होकर मरता है ॥ ३१ ॥

जो पुरुष शास्त्रमें जैसा कहा गया है, उसका उल्लङ्घन किये बिना आरम्भ किये गये अपने धर्मका अनुष्ठान करता है, वह पुण्यात्मा शास्त्रमें वर्णित पूर्ण आयुका भाजन होता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अपने कर्मोंके अनुसार जीव अन्त्य दशाको प्राप्त होता है, आयुकी समाप्तिको प्राप्त हुए पुरुषको मर्मको पीड़ा पहुँचानेवाली वेदनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव होता हैं ॥ ३३ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे चन्द्रमण्डलाकारवदने देवि, मुझसे आप संक्षेपसे मरणका वृत्तान्त कहिये, क्या मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप है और

श्रीदेव्युवाच

त्रिविधाः पुरुषाः सन्ति देहस्याऽन्ते मुमूर्षवः ।
मूर्खोऽथ धारणाभ्यासी युक्तिमान् पुरुषस्तथा ॥ ३५ ॥
अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथासुखम् ।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च ॥ ३६ ॥
धारणा यस्य नाऽभ्यासं प्राप्ता नैव च युक्तिमान् ।
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः ॥३७॥
वासनावेशवैवश्यं भावयन्विषयाशयः ।
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाऽम्बुजम् ॥३८॥
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः ।
मृतावनुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः ॥३९॥

मरनेके बाद क्या होता है ? लीलाके पूछनेका मतलब यह है कि पूर्ववर्णित मरणदुःख सबको समान होता है या किसीको सुख भी होता है और मरनेके बाद क्या सबकी एकसी गति होती है या योगियोंकी विशिष्ट गति होती है ? ॥ ३४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, मुमूर्षु (मरनेके इच्छुक) पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—मूर्ख, धारणाका (नाभिमें, हृदयमें, कण्ठमें, भौंहोंके बीचमें और ब्रह्मरन्ध्रमें नियत अवधि तक प्राण और मनके निरोधका) अभ्यासवाला तथा युक्तिमान् यानी जिसे अपनी इच्छाके अनुसार उत्क्रमणमें (निर्गमनमें), परकायप्रवेशमें, अपने अभीष्ट (अभिलषित) लोककी प्राप्तिके मार्गभूत नाड़ी द्वारा विशेष प्रकारसे निकलने और प्रवेश करनेमें निपुणताका अभ्यास हो गया हो। उनमें बिचला धारणानिष्ठ पुरुष क्रमसे युक्तिका अभ्यास कर देहका त्याग कर देहके अन्तमें सुखपूर्वक जाता है, युक्तिमान् पुरुष वैसा ही रहकर सुखको प्राप्त होता है और जिस पुरुषको न तो धारणाका अभ्यास है और न युक्ति ही उसके पास है, ऐसा मूर्ख पुरुष विवश होकर दुःखको ही प्राप्त होता है ॥ ३५–३७ ॥

वासनाके आवेशवश पराधीनचित्त हुआ अतएव विषयोंका ही चिन्तन करनेवाला पुरुष कटे हुए कमलकी नाईं अत्यन्त दीनताको प्राप्त होता है, जिसकी बुद्धि शास्त्रोंसे संस्कृत नहीं है और जो असज्जनोंकी संगति करता है, वह मरनेपर अग्निमें गिरे हुए पुरुषकी नाईं अन्तर्दाहका अनुभव करता है। उस

यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्णजम् ।
गच्छत्ययेषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः ॥४०॥
परमान्ध्यमनालोको दिवाऽप्युदिततारकः ।
साभ्रदिङ्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः ॥४१॥
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद्दृष्टिमण्डलः ।
आकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः ॥४२॥
परिवृत्तककुप्चक्र उह्यमान इवाऽर्णवे ।
नीयमान इवाऽऽकाशे घननिद्रोन्मुखाशयः ॥४३॥
अन्धकूप इवाऽऽपन्नः शिलान्तरिव योजितः ।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाऽऽशये ॥४४॥
पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवाऽर्पितः ।
रथे द्रुत इवाऽऽरूढो हिमवद् गलनोन्मुखः ॥४५॥
व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवानस्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवाऽऽस्थितः ॥४६॥

अविवेकीका कण्ठ जब कफसे 'घर, घर' शब्द करता है और दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाते हैं, तब वह बड़ा दयनीय होता है ॥ ३८–४० ॥

वह परम अन्धकारको प्राप्त होकर प्रकाशसे वञ्चित रहता है, क्योंकि दिनमें उसके लिए तारे उगे रहते हैं, उसका आकाश अत्यन्त तिमिराच्छन्न रहता है, उसके चारों ओर दसों दिशाओंमें मेघ व्याप्त रहते हैं, मर्मपीड़ासे वह व्याप्त रहता है, उसकी दृष्टि चक्कर खाती रहती है, पृथिवी उसके लिए आकाश बन जाती है, आकाश पृथिवी बन जाता है, दिशाएँ उसे घूमती हुई प्रतीत होती हैं, समुद्रमें बहाया जाता हुआ-सा, आकाशमें ले जाया जाता हुआ-सा, अंधे कुएँमें गिरा हुआ-सा, शिलाके अन्दर घुसाया हुआ-सा, प्रबल निद्राको प्राप्त होता हुआ-सा पराधीन रहता है । अपने दुःखोंको कहनेकी इच्छा होनेपर भी वाणीका स्तम्भ हो जानेसे उसके मुँहसे अक्षर नहीं निकलते, वह हृदयमें काटा हुआ-सा, आकाशमार्गसे गिरता हुआ-सा, प्रबल आँधीमें डाला हुआ-सा, तेज दौड़नेवाले रथमें बैठा हुआ-सा, हिमशिलाकी नाईं गलता हुआ-सा, अपनेको उदाहरण बनाकर लोगोंमें संसार-दुःखका व्याख्यान करता हुआ-सा, पत्थरको

भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव जलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवाऽर्पितः ॥४७॥
प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चाऽर्णवे ॥४८॥
अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्धिरुर्वीविपर्यासदशामनुभवन् स्थितः ॥४९॥
पतन्निवाऽनवरतं प्रोत्पतन्निव चाऽभितः ।
सूत्काराकर्णनोद्भ्रान्तपूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥५०॥
क्रमात् श्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः ।
यथाऽस्तं गच्छति रवौ मन्दालोकतया दिशः ॥५१॥
पूर्वापरं न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ।
यथा पाश्चात्यसन्ध्यान्ते नष्टा दृष्टिर्दिगष्टके ॥५२॥

फेंकनेके यन्त्रसे घुमाया हुआ-सा, वायुयन्त्रमें रक्खा हुआ-सा, भ्रमियन्त्र (चर्खी आदिमें) घुमाया हुआ-सा, रस्सीसे खींचा हुआ-सा, जलकी भौंरीमें घूमता हुआ-सा, शस्त्रयन्त्र (आरे आदिमें या अन्य प्रकारकी काटनेकी मसीनमें) रखा हुआ-सा, तृणकी नाईं बहाया जाता हुआ-सा, बह रहे पर्जन्यवायुमें बैठकर जलप्रवाहके साथ समुद्रमें गिरता हुआ-सा, चक्रावर्तरूप असीम आकाशरूप छिद्रमें गिरता हुआ-सा, पृथिवीकी विपर्यास दशाका अनुभव करता हुआ-सा स्थित होता है । निरन्तर चारों ओरसे नीचे गिरते हुए और ऊपर उछलते हुए समुद्रकी नाईं अस्थिर रहता है, निःश्वासके शब्दके श्रवणसे उसके सब इन्द्रियरूपी व्रण उद्भ्रान्त हो जाते हैं ॥ ४१–५० ॥

जैसे सूर्यके अस्त होनेपर मन्द-मन्द प्रकाशवाली दिशाएँ काली हो जाती हैं, वैसे ही उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तियाँ धुंधूली पड़ जाती हैं यानी उनकी तत्-तत् विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति मन्द पड़ जाती है ॥ ५१ ॥

जैसे पश्चिम सन्ध्याके (सायंकालकी सन्ध्याके) बाद नष्ट हुई नेत्रशक्ति आठो दिशाओंमें पूर्वापरको नहीं जानती, वैसे ही क्षीणताको प्राप्त हुई उसकी स्मृति पूर्वापरको नहीं जानती ॥ ५२ ॥

मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनाऽसौ महामोहे निमज्जति ॥ ५३ ॥
यदैवाऽऽमोहमादत्ते नाऽऽदत्ते पवनस्तदा ।
न त्वादत्ते यदा प्राणान्मोहमायात्यलं तदा ॥ ५४ ॥
अन्योन्यपुष्टतां यातैर्मोहसंवेदनभ्रमैः ।
जन्तुः पाषाणतामेति स्थितमित्यादिसर्गतः ॥ ५५ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

व्यथां विमोहं मूर्छान्तं भ्रमं व्याधिमचेतनाम् ।
किमर्थमयमायाति देहो ह्यष्टाङ्गवानपि ॥ ५६ ॥

श्रीदेव्युवाच

एवं संविहितं कर्म सर्गादौ स्पन्दसंविदा ।
यद्यस्मिन् समये दुःखं कालेनैतावतेदृशम् ॥ ५७ ॥

उसका मन मोह होनेके कारण कल्पना शक्तिका त्याग करता है, इसलिए अविवेकवश महामोहमें गिरता है ॥ ५३ ॥

जब देही अल्प मूर्च्छाको प्राप्त होता है, तब उसके प्राण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको नहीं थामते जब वह प्राणोंको भी नहीं चला सकता तब वह गाढ़ मूर्छाको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मोह यानी अपने स्वरूपका परिचय न रहना, संवेदन यानी विषयवासनाएँ और भ्रम यानी अन्यथा ज्ञान ये जब एक दूसरेसे पुष्ट होते हैं, तब इनसे जीव पाषाणताको (पाषाणकी नाईं जड़ताको) प्राप्त होता है, यह नियम आदि सृष्टिसे चला आ रहा है ॥ ५५ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवि, सिर, हाथ, चरण, मलमूत्रके द्वार, नाभि और हृदय इन आठ अङ्गोंसे युक्त भी यह देह पीड़ा, मोह, मूर्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतनाको क्यों प्राप्त होता है ? ॥ ५६ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे ! ईश्वरने, जिनमें क्रियाशक्तिकी प्रधानता है, इस प्रकार सङ्कल्परूप कर्मका विधान किया है, वह यह कि इस समयमें (बाल्यावस्थामें, युवावस्थामें, और वृद्धावस्थामें) इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकारका दुःख मुझसे अभिन्न जीवको हो ॥ ५७ ॥

स्यान्मे इत्येव संविश्य 'गुल्मवत्तत्स्वभावजम् ।
वेत्ति चित्तविजृम्भोत्थं नाऽन्यदत्राऽस्ति कारणम् ।। ५८ ।।
यदा व्यथावशान्नाड्यः स्वसङ्कोचविकासनैः ।
गृह्णन्ति मारुतो देहे तदोज्झति निजां स्थितिम् ।। ५९ ।।
प्रविष्टा न विनिर्यान्ति गताः सम्प्रविशन्ति नो ।
यदा वाता विनाडीत्वात्तदाऽस्पन्दात्मृतिर्भवेत् ।। ६० ।।
न विशत्येव वातो न निर्याति पवनो यदा ।
शरीरनाडीवैधुर्यान्मृत इत्युच्यते तदा ।।६१।।
आगन्तव्यो मया नाशः कालेनैतावतेऽति या ।
पूर्वसंविदिता संविद्याति तच्चोदिता मृतिं ।।६२।।
ईदृशेन मयेहेत्थं भाव्यमित्यादिसर्गजा ।
संविद्बीजकलानाशं न कदाचन गच्छति ।।६३।।

'वह मुझे प्राप्त हो' इस अपने सङ्कल्पके स्वभावसे उत्पन्न दुःखको स्वयं ही जीवरूपसे देहादि उपाधिमें अपने चित्तके स्वभावसे कल्पित वृक्षोंके झुरमुटकी नाईं प्रवेशकर उसका भोग करता है। उसके दुःखभोगमें दूसरा कारण नहीं है ।।५८।।

जब नाडियाँ पीड़ावश हुए सङ्कोच-विकाससे खाये और पीये गये पदार्थोंके रसको विषमताके साथ ग्रहण करती हैं, तब समान नामका वायु खाये-पीये गये पदार्थोंके रसके समीकरणरूप अपने कामको छोड़ देता है ।। ५९ ।।

जब नाड़ियोंमें प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आते और बाहर निकले हुए वायु उनमें प्रवेश नहीं करते तब नाड़ियोंके व्यापारके रुकनेपर पुरुष नाड़ी शून्य हो जाता है अतएव चक्षु आदिका स्पन्दन न होनेसे स्मरण ही भीतर रहता है, इन्द्रियज्ञान नहीं रहता ।। ६० ।।

जब वायु न तो प्रवेश ही करता है और न बाहर ही निकलता है, तब शरीरकी नाड़ियोंसे शून्य हो जानेके कारण पुरुष मृतक कहलाता है ।। ६१ ।।

मुझे इतने कालमें नाशको प्राप्त होना चाहिये इस प्रकारकी पूर्वजन्मके सङ्कल्पसे युक्त और नियति द्वारा प्रेरित जो संवित् है, वह भी नाशको प्राप्त हो जाती है ।। ६२ ।।

यदि कोई कहे कि उक्त नियतिका नाश होनेपर जगत्के व्यवहारका ही भङ्ग हो जायगा, इसपर कहती हैं—'ईदृशेन' इत्यादिसे।

संविदो वेदनं नाम स्वभावोऽव्यतिरेकवान् ।
तस्मात् स्वभावसंवित्तेर्नाऽन्ये मरणजन्मनी ॥६४॥

क्वचिदावृतिमत्सौम्यं क्वचिन्नद्यां जलं यथा ।
क्वचित्सौम्यं क्वचिज्जीवधर्मेदं चेतनं तथा ॥ ६५ ॥

यथा लतायाः पर्वाणि दीर्घाया मध्यमध्यतः ।
तथा चेतनसत्ताया जन्मानि मरणानि च ॥ ६६ ॥

न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित् ।
स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत् पश्यति केवलम् ॥ ६७ ॥

इस प्रकारका जो मैं हूँ, मुझे इस स्थानमें इस प्रकार जन्म लेना होगा, इस आकारवाली आदि सृष्टिमें उत्पन्न हुई सत्यसंकल्पके संस्कारसे युक्त माया कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होती, मुक्ति होनेपर कालके साथ ही उसकी भी निवृत्ति होती है, उससे पूर्व नहीं, यह भाव है ॥ ६३ ॥

अविद्यायुक्त जीवचैतन्यके स्वरूपका विचार करनेपर भी यही प्रतीत होता है कि जबतक मोक्ष न हो जाय, तबतक जन्म, मरण आदि की निवृत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे ।

संवित्का वेदन यानी स्वभाव व्यतिरेकरहित (विश्लेषशून्य) है, इसलिए जन्म और मरण स्वभावसंवित्से पृथक् नहीं हैं यानी जबतक आविद्यिक जीव-चैतन्य रहेगा, तबतक जन्म और मरणसे उसका छुटकारा नहीं है, वे उसके स्वभावरूप ही हैं, हाँ, मुक्ति होनेपर कालके साथ ही उनसे छुटकारा होता है ॥६४॥

सांसारिक जीवके संवित्प्रवाहका वर्णन करते हैं—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

जैसे नदीमें जल कभी आवर्तयुक्त यानी अस्थिर अतएव मैला होता है और कभी स्थिर अतएव निर्मल हो जाता है, वैसे ही यह चेतन (सांसारिक जीव) भी कभी सौम्य (निर्मल) और कभी राग, द्वेष आदिसे कलुषित हो जाता है ॥६५॥

जैसे लम्बी दूब आदिकी लताओंके बीच-बीचमें गाँठे होती हैं, वैसे ही चेतन-सत्ताके मध्य-मध्यमें जन्म और मरण होते हैं ॥ ६६ ॥

ऊपर जिसका वर्णन किया है, वह सब भ्रान्तदृष्टिसे है, परमार्थदृष्टि तो यह है कि चेतन पुरुष न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है, क्योंकि श्रुतिने कहा है—'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (परमार्थदर्शी न तो जन्म लेता है और न मरता

पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति ।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदाऽन्यत्किं पुमान् भवेत् ॥ ६८ ॥
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम् ।
म्रियन्ते देहलक्षाणि चेतनं स्थितमक्षयम् ॥ ६९ ॥
अमरिष्यन्न वै चित्तमेकस्मिन्नेव तन्मृते ।
अभविष्यत् सर्वभावमृतिरेकमृताविह ॥ ७० ॥

है) भ्रान्त पुरुष ही स्वप्नकालके भ्रमके तुल्य इसे (जन्म, मरण आदिको) देखता है ॥ ६७ ॥

चेतनकी अमरणस्वभावताका युक्तिसे उपपादन करते हैं—'पुरुष०' इत्यादिसे ।

चेतनामात्र ही तो पुरुष है, वह कब और कहां नष्ट हो सकता है ? यदि पुरुषको चेतनसे अतिरिक्त मानो, तो बताओ क्या देह पुरुष होगा या प्राण पुरुष होगा या इन्द्रियां पुरुष होंगी अथवा मन पुरुष होगा या बुद्धि, अहङ्कार, चित्त पुरुष होंगे या उनके अधिष्ठाता देवता पुरुष होंगे अथवा अविद्या पुरुष होगी ? इन सभी पक्षोंमें पुरुषरूपसे माने गये देह आदि जड़ों द्वारा चेतनरूप पुरुषसे जन्य प्रकाशसे होनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार न हो सकेंगे । अतएव चेतनामात्र ही पुरुष है, यह पक्ष अटल रहा ॥ ६८ ॥

चेतनका मरण सिद्ध नहीं हो सकता, जिसने चेतनका मरण देखा हो, ऐसा कोई साक्षी ही नहीं है, फिर जिसका कोई साक्षी ही नहीं है, उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस आशयसे कहते हैं—'कोऽद्य' इत्यादि ।

इतना संसार बीत गया, आजतक चेतनको मरा हुआ किसने देखा ? जरा उसका नाम तो बतलाइये । क्या चेतनका मरण विनाश है या दूसरी देहकी प्राप्ति है । यदि उसका मरण विनाश है, तो वह अपने आप होता है या दूसरेसे ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि विनाश विरोधी करता है, अपनेमें अपना विरोध कैसे ? दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि असंग चेतनका दूसरेसे विनाश हो ही नहीं सकता । यदि चेतनका मरण अन्य देहकी प्राप्ति है, तो वह भी कोई मरण है ? देह तो लाखों मरते हैं और चेतन ज्यों-का-त्यों अविनाशी बना रहता है ॥ ६९ ॥

यदि चेतनकी मृत्यु हुई तो बड़ा भारी अनर्थ प्राप्त होगा, यों दर्शाते हुए चेतनकी मृत्युका खण्डन करते हैं—'अमरिष्यत्' इत्यादिसे ।

वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत् स्वयम् ।
तस्यैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते ॥ ७१ ॥
एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न च कश्चन ।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम् ॥ ७२ ॥
अत्यन्तासम्भवादेव दृश्यस्याऽसौ च वासना ।
नाऽस्त्येवेति विचारेण दृढ़ज्ञातैव नश्यति ॥ ७३ ॥
अनुदितमुदितं जगत्प्रबन्धं
भवभयतोऽभ्यसनैर्विलोक्य सम्यक् ।
अलमनुदितवासनो हि जीवो
भवति विमुक्त इतीह सत्यवस्तु ॥ ७४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणविचारो नाम चतुःपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५४ ॥

प्रत्येक देहमें भिन्न-भिन्न चेतन हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिरूप प्रमाणसे सब देहोंमें एक ही चेतन है, यह सिद्ध होता है। वह एक चेतन यदि मर जाय, तो समष्टि और व्यष्टिका चित्त, जिसकी सत्ता और स्फूर्ति उसीके अधीन है, कैसे नहीं मरेगा ? यानी अवश्य मर जायगा। समष्टि और व्यष्टिके चित्तके मर जानेपर चित्तमात्ररूप जगत्की उपादानशून्य सत्ता नहीं रह सकती। इसलिए एकके मरनेपर यहां सब भूतोंकी मृत्युरूप दोष अनिष्ट नहीं होगा क्या ? ॥ ७० ॥

यदि कोई पूछे तब जन्म-मरण, जिनका सबको अनुभव होता है, क्या हैं यानी उनका स्वरूप क्या है ? इसपर कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे।

जिसका यानी जन्म-मरणका जीव अनुभव करता है, वह केवल वासनाका चमत्कार है। उसीके (वासनाचमत्कारके ही) जीवन और मरण दो नाम रख दिये हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार न तो कोई मरता है और न कोई पैदा होता है। केवल जीव अपनी वासनारूपी जलभौंरीके गड्ढेमें गिरता है ॥ ७२ ॥

दृश्यका सर्वथा असंभव होनेसे यह वासना नहीं ही है, इस प्रकारके विचारसे दृढ़ (मजबूत) ज्ञाता (अन्तःकरण) अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ७३ ॥

वैराग्य आदि साधनोंसे सम्पन्न अधिकारी जीव गुरुमुखसे श्रवण आदिके

पञ्चपञ्चाशत्तमः सर्गः

प्रबुद्धलीलोवाच

यथैव जन्तुर्म्रियते जायते च यथा पुनः ।
तन्मे कथय देवेशि पुनर्बोधविवृद्धये ॥ १ ॥

श्रीदेव्युवाच

नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम् ।
जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवाऽस्य चेतना ॥ २ ॥
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति ।
स्थावरे जङ्गमे व्योम्नि शैलेऽग्नौ पवने स्थितम् ॥ ३ ॥

अभ्याससे भ्रमवश प्रतीत हो रहे जगत्-प्रपञ्चको यह परमार्थरूपसे उदित नहीं हुआ है, यों तत्त्वज्ञानसे देख कर मूलके (अज्ञानके) कटनेसे सर्वथा द्वैत-वासनासे शून्य होकर विमुक्त हो जाता है, यों विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहां परमार्थ वस्तु है, उससे अतिरिक्त सब असत् है ॥ ७४ ॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

[आदि सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र संसारगतियोंका तथा जीवकर्मानुसारी ईश्वरकी स्थितिका वर्णन]

प्रबुद्धलीलाने कहा—हे देवेशि, जैसे जन्तु (प्राणी) मरता है और जैसे फिर पैदा होता है, उसीको (पूर्वकथितको ही) फिर आप मुझसे विस्तारसे कहिये । उसका परिणाम यह होगा कि बारबार सुननेसे वैराग्य बढ़ेगा और उससे ज्ञानकी वृद्धि होगी ॥ १ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, नाडियोंकी गति रुक जानेपर जब कि प्राणी प्राण-वायुओंकी विसंस्थिति (चलनस्वभावसे विपरीत स्थिति) अर्थात् गत्यवरोधको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शक्ति, अन्तःकरणरूप उपाधिका लय हो जानेसे, शान्त-सी हो जाती है ॥ २ ॥

वस्तुतः चेतना कहीं शान्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—'शुद्धम्' इत्यादिसे ।

केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदाऽसौ जडनामकः ॥ ४ ॥
तस्मिन् देहे शवीभूते वाते चाऽनिलतां गते ।
चेतनं वासनामुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति ॥ ५ ॥
जीव इत्युच्यते तस्य नामाऽणोर्वासनावतः ।
तत्रैवाऽऽस्ते स च शवागारे गगनके तथा ॥ ६ ॥
ततोऽसौ प्रेतशब्देन प्रोच्यते व्यवहारिभिः ।
चेतनं वासनामिश्रमामोदानिलवत्स्थितम् ॥ ७ ॥

चेतन मलके सम्पर्कसे रहित तथा नित्य है, न तो उसका उदय होता है और न विनाश। वह चर-अचर सब जीवोंमें, आकाशमें, पर्वतमें, अग्निमें और वायुमें स्थित है। मतलब यह कि कोई पदार्थ या स्थान उससे शून्य नहीं है ॥३॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि मरण देहका धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं—'केवलम्' इत्यादिसे।

प्राणवायुकी गति रुकनेसे जब शरीरमें स्पन्द (चेष्टा) शान्त हो जाता है, तब यह देह, जिसका दूसरा नाम जड़ है, 'मृत' कहलाती है ॥ ४ ॥

जब यह देह मुर्दा बन जाती है, प्राणवायु अपने कारणरूप महावायुमें लीन हो जाता है, तब वासनारहित चेतन आत्मतत्त्वमें लीन हो जाता है यानी प्राण तेजके साथ प्राज्ञ आत्मामें लीन हो जाते हैं, उपाधिका विनाश होनेपर जीव भी वासनाओंके साथ परमात्मरूपसे स्थित हो जाता है ॥ ५ ॥

यदि जीव परमात्मरूपसे स्थित हो जाता है, तो वह मुक्त होकर ब्रह्म ही हो गया, फिर उसे जीव कैसे कहते हैं? इसपर कहते हैं—'जीव' इत्यादिसे।

पुनर्जन्ममें बीजभूत वासनासे युक्त सूक्ष्म (अणुपरिच्छिन्न) उसका जीव नाम कहा जाता है, वस्तुतः जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। अतएव वासनावश उसको अपने स्थानमें ही परलोक गमन आदिका भ्रम होता है। वास्तवमें उसका परलोकगमन आदि नहीं होता। इस आशयसे मण्डपाकाशन्यायका स्मरण कराते हैं—'तत्रैव' इत्यादिसे। वह वहींपर राजा पद्मके शवागारमें मण्डपाकाशमें ही रहता है ॥ ६ ॥

देहके मरणसे ही लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उसे प्रेत कहते हैं। चेतन वासनाओंसे युक्त होकर पुष्प आदिकी सुगन्धसे मिले हुए वायुके समान रहता है ॥७॥

इदं दृश्यं परित्यज्य यदाऽऽस्ते दर्शनान्तरे ।
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव नानाकृतिस्तदा ॥ ८ ॥
तस्मिन्नेव प्रदेशेऽन्तः पूर्ववत्स्मृतिमान् भवेत् ।
तदैव मृतिमूर्च्छान्ते पश्यत्यन्यशरीरकम् ॥ ९ ॥
आत्मन्यस्ति घटा पुष्टमन्यस्य व्योम केवलम् ।
आकाशभूतले साकं साकाशशशिवासरम् ॥ १० ॥

इस (पूर्वजन्मके) देह आदि दृश्यका त्याग कर अन्य देह आदिके दर्शनमें जब रहता है, तब वह जीव स्वप्नकी नाईं तथा मनोरथकी नाईं स्वयं ही परलोकगमन, परलोक, वहाँके भोग्य आदि वासनामय नाना आकारोंको धारण करता है ॥ ८ ॥

उसी भ्रमको नये सिरेसे क्रमशः कहना आरम्भ करते हैं—'तस्मिन्नेव' इत्यादिसे ।

उसी प्रदेशके अन्दर पूर्वजन्मकी नाईं जब उसे स्मृति होती है तभी (तुरन्त) मरणकालकी मूर्छाके बाद अन्य शरीरको देखता है ॥ ९ ॥

यदि कोई कहे कि छोटेसे मरण-प्रदेशमें यथाकथंचित् अन्य शरीरकी कल्पना हो सकनेपर भी दूरगमन, विस्तारयुक्त परलोक आदिका समावेश वहाँ कैसे हो सकता है ? तो उसपर कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

आत्मामें विपुल एक आकाश अथवा आकाश और पृथ्वी दोनों ही या करोड़ों लाख ब्रह्माण्ड एक साथ एक ही समय समा सकते हैं, फिर आत्मामें इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका सम्भव क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य है ही, क्योंकि आत्मा असीम है और माया अघटितघटनामें पटु है । ऐसी स्थितिमें आत्मस्वरूपका विचार कर अत्यल्प प्रदेशमें भी अन्य लोकका (परलोक आदिका) समावेश कहा गया है, केवल उसी प्रदेशके अभिप्रायसे नहीं कहा है * ॥

* इस श्लोकका द्वितीय अर्थ यों है—

यदि उस प्रदेशमें मार्ग, परलोक आदि हैं, तो उन्हें दूसरे लोग क्यों नहीं देखते, मृतक ही क्यों देखता है ? तो इसपर कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

आकाश और पृथ्वी दो, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदिसे युक्त सारा जगत् मृत पुरुषकी आत्मामें मेघघटाकी नाईं खूब पुष्ट हुआ है, अन्यकी दृष्टिसे तो केवल आकाश ही है, अतः अन्यको नहीं दिखाई देते हैं ।

भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषां भेदमिमं शृणु ।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥ ११ ॥
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान् ।
एतेषां कस्यचिद्भेदो द्वौ त्रयोऽप्यथ कस्यचित् ॥ १२ ॥
कश्चिन्महापातकवान् वत्सरं स्मृतिमूर्छनम् ।
विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥ १३ ॥
ततः कालेन संबुद्धो वासनाजठरोदितम् ।
अनुभूय चिरं कालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥ १४ ॥
भुक्त्वा योनिशतान्युच्चैर्दुःखाद्दुःखान्तरं गतः ।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥ १५ ॥
अथवा मृतिमोहान्ते जडदुःखशताकुलाम् ।
क्षणाद्वृक्षादितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥ १६ ॥

अब भिन्न-भिन्न गतिको कहनेके लिए देवीजी प्रेतोंका विभाग करती हैं—'भवन्ति' इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, प्रेत छः प्रकारके होते हैं, उनके आगे कहे जानेवाले भेदको सुनो—साधारण पापी, मध्यम पापी और बड़े भारी पापी, साधारण धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले तथा उत्तम धर्मवाले । इनमें से प्रत्येकमें किसी के दो भेद होते हैं और किसीके तीन भेद होते हैं ॥ ११, १२ ॥

उनमें से पहले और तीसरेकी गति कहते हैं—'कश्चित्' इत्यादिसे ।

कोई बड़ा भारी पातकी एक वर्ष तक मरणमूर्छाका अनुभव करता है, पत्थरके मध्यकी नाईं ठोस और मूढ रहता है ॥ १३ ॥

बहुत समयके बाद चेतनाको प्राप्त होकर चिरकाल तक वासनारूपी नायिकाके उदरसे उत्पन्न हुए कभी नष्ट न होनेवाले नारकीय दुःखका भोगकर एक दुःखके बाद दूसरे दुःखको प्राप्त होता हुआ वह महापापी सैकड़ों योनियोंका खूब भोगकर कभी संसाररूपी स्वप्नमें शान्तिको (महापापोंके फलकी समाप्तिको) प्राप्त होता है, यानी उसके पापफलोंका अन्त होता है ॥ १४, १५ ॥

अथवा वे मृत्यु-मोहके अन्तमें सैकड़ों जड़-दुःखोंसे व्याकुल वृक्ष आदि योनियोंका, जो कि उसके हृदयमें स्थित हैं, भोग करते हैं और फिर नरकमें

स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयाऽथ योनीषु जायन्ते भूतले चिरात् ॥ १७ ॥
अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
सशिलाजठरं जाड्यं कञ्चित्कालं प्रपश्यति ॥ १८ ॥
ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदैव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥ १९ ॥
मृत एवाऽनुभवति कश्चित्सामान्यपातकी ।
स्ववासनानुसारेण देहं संपन्नमक्षतम् ॥ २० ॥
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ॥ २१ ॥
ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्या स्वनुभवन्ति ते ॥ २२ ॥

अपनी-अपनी वासनाओंके अनुरूप विविध दुःखोंका अनुभव कर चिरकाल तक भूतलमें नाना योनियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १६, १७ ॥

मध्यम पापीकी गतिको कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

और जो मध्यम पापी है, वह मरणमूर्छाके पश्चात् पत्थरके उदरकी (मध्य भागकी) नाईं घनी मूर्छाका कुछ कालतक अनुभव करता है। तदुपरान्त जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ कालमें या उसी समय तिर्यग् आदि क्रमसे योनियोंका भोगकर संसारमें प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ १९ ॥

साधारण पापीकी गति बतलाते हैं—'मृत' इत्यादिसे ।

कोई साधारण पापी मरते ही अपनी वासनाओंके अनुसार प्राप्त हुए अविकल मनुष्य शरीरका अनुभव करता है, क्योंकि 'उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' (पुण्य और पापोंसे मनुष्यलोकको प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है ॥ २० ॥

वह स्वप्नकी नाईं और मनोरथकी नाईं, वैसा अनुभव करता है और उसी क्षणमें उसकी स्मृतियाँ (जैसा कि पहले कहा गया है) उदित होती हैं ॥ २१ ॥

सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्माओंकी गति कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

किन्तु जो सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्मा हैं, वे मरणजनित मूर्छाके बाद पुण्य वासनाके उदयसे स्वर्गलोक, विद्याधरलोकका सुख भोगते हैं। महापुण्यके फलके

ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥ २३ ॥
ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।
ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥ २४ ॥
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भे जातिक्रमोचिते ॥ २५ ॥
स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम् ।
मूर्छान्तेऽनुभवन्त्यन्तः क्रमेणैवाऽक्रमेण च ॥ २६ ॥
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात् ।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इति वेदिनः ॥ २७ ॥

उपभोगके बाद थोड़ा-बहुत पापकर्म यदि हो, तो उसके अनुरूप फलको इलावृत्त, किंपुरुष आदि खण्डोंमें भोगकर मनुष्यलोकमें सज्जनोंके धनवान् घरमें जन्म लेते हैं ॥ २२, २३ ॥

मध्यम धर्मात्माओंकी गति कहते हैं—'ये च' इत्यादिसे ।

जो मध्यम धर्मात्मा हैं, वे मरणमूर्छाके बाद आकाश-वायुसे वेष्टित होकर भाँति-भाँतिके वृक्ष, लता और पल्लवोंसे व्याप्त नन्दनवन, चैत्ररथ आदि दिव्य उद्यानोंमें किन्नर, किंपुरुष, यक्ष आदिके शरीरसे जाते हैं, वहांपर अपने पुण्यकर्मोंका सुन्दर फल भोगकर वायु, वृष्टि आदिसे पृथिवीमें धान, गेहूँ, जौ आदिमें प्रवेशपूर्वक अन्न बनकर ब्राह्मण आदिके हृदयमें प्रवेशकर वीर्यरूपसे स्त्रियोंके गर्भमें प्राप्त होते हैं ॥ २४, २५ ॥

इससे साधारण धर्मात्माकी भी गति प्रायः कही गई, ऐसा मानते हुए उपसंहार करते हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

प्रेत अपनी वासनाके अनुसार मरणमूर्छाके अन्तमें अपने हृदयमें इस व्यवस्थाका क्रमसे और क्रमके बिना भी अनुभव करता है ॥ २६ ॥

अब उनका मरण आदि अध्यारोपक्रम विशेषरूपसे दर्शाते हैं—'आदौ' इत्यादिसे ।

प्रेत पहले हम लोग मरे, तदनन्तर दाह, दशाहकृत्य आदिके क्रमसे हम लोगोंका शरीर बना, यह जानते हैं ॥ २७ ॥

ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति ।
नीयमानः प्रयाम्येभिः क्रमाद् यमपुरं त्विति ॥ २८ ॥
उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः ।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान् ॥ २९ ॥
हिमानीकण्टकश्वभ्रशस्त्रपत्रवनानि च ।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि संप्राप्तानीति पापवान् ॥ ३० ॥
इयं मे सौम्यसंपाता सरणिः शीतशाद्वला ।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरःसंस्थेति मध्यमः ॥ ३१ ॥
अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः ।
अयं कर्मविचारोऽत्र कृत इत्यनुभूतिमान् ॥ ३२ ॥
इति प्रत्येकमभ्येति पृथुः संसारखण्डकः ।
यथासंस्थितनिःशेषपदार्थाचारभासुरः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे जानते हैं कि हाथोंमें कालपाश लिए हुए ये यमदूत हैं, इन यमभटों द्वारा ले जाया जा रहा मैं, जो कि पाथेय श्राद्ध आदिसे तृप्त किया गया हूँ, एक वर्षमें यमपुरीको जाता हूँ ॥ २८ ॥

उनमें से जो महापुण्यवान् होते हैं, वे बड़े मनोहर देवलोकके विमान और उद्यानोंको ये हमारे कर्मोंसे बार-बार प्राप्त हैं, ऐसा जानते हैं ॥ २९ ॥

महापापी पुरुष बर्फकी चट्टानें, कांटे, गड्ढे और तलवारकी नाईं चोखे पत्तोंसे भरपूर बन, जो कि हमारे दुष्कर्मोंसे उत्पन्न हैं, हमें प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानते हैं ॥ ३० ॥

मध्यम पुण्यवाले पुरुष जानते हैं कि यह मार्ग, जिसमें बड़े आनन्दके साथ पैदल चला जा सकता है, ठण्डी और हरी-हरी दूब जमी है, मनभावनी छायासे युक्त है और स्थान-स्थान पर बावडियाँ बनी हैं, मेरे सामने स्थित हैं ॥ ३१ ॥

मध्यम पापी जनोंको यह अनुभव होता है कि यह मैं यमपुरीमें आ पहुँचा, ये सर्वलोकप्रसिद्ध यमराज हैं और यहां चित्रगुप्त आदिने मेरे कर्मोंका विचार किया ॥ ३२ ॥

यह अध्यारोपक्रम स्वप्नके समान प्रत्येक पुरुषका भिन्न भिन्न है, ऐसा कहते हैं—'इति' ।

आकाश इव निःशून्ये शून्यात्मैव विबोधवान् ।
देशकालक्रियादैर्घ्यभासुरोऽपि न किञ्चन ॥ ३४ ॥
इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने ।
गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ ३५ ॥
यः स्वर्गोऽयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा ।
इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः ॥ ३६ ॥
अयं शालिरहं जातः क्रमात् फलमहं स्थितः ।
इत्युदर्कप्रबोधेन बुध्यमानो भविष्यति ॥ ३७ ॥

जैसे प्रतीत होते हैं, वैसे ही स्थित यानी सत्य-से सब घट, पट आदि पदार्थ और उनकी तत्-तत् अर्थक्रिया (जलका आनयन आदि) से देदीप्यमान, विशाल संसारभाग प्रत्येकको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

परमार्थदृष्टिसे यदि देखा जाय, तो आत्मासे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—'आकाश इव' इत्यादिसे ।

आकाशकी नाईं स्वरूपरहितमें स्थित यह जगत्-प्रपञ्च, जिसमें लम्बे देश, लम्बे काल और लम्बी क्रियाओंकी प्रतीति होती है, कुछ भी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण अध्यारोपोंसे शून्य आत्मा ही है ॥ ३४ ॥

मुझे यमराजने अपने कर्मोंके फलोंका भोग करनेके लिए इस दिशामें जानेकी आज्ञा दी है, इसलिए यमसभासे मैं शीघ्र सुन्दर सुन्दर भोगोंसे युक्त स्वर्गमें जाता हूँ या नरकमें ही जाता हूँ ॥ ३५ ॥

यमराजने जिस स्वर्गका भोग करनेके लिए मुझे आज्ञा दी थी उस (स्वर्ग) का मैंने भोग कर लिया है अथवा यमराजने जिस नरकका भोग करनेके लिए मुझे आदेश दिया था उसका मैंने भोग कर लिया है । यमनिर्दिष्ट ये पशु आदि योनियां मैंने भोग ली हैं । इस समय मैं मनुष्यसंसारमें आविर्भूत होता हूँ ॥ ३६ ॥

यह मैं कभी धानका अङ्कुर हुआ, फिर बढ़कर पौधा हुआ, पत्ते लगे, गाभ हुआ, धानकी बाल हुआ, इस क्रमसे बीज बनकर रहा ।

शङ्का—स्वर्ग, नरक और विविध योनियोंके भोगकी नाईं व्रीह्यादिभाव (धानके अङ्कुर आदि होना) भी क्या उसका अनुभवसिद्ध है ?

समाधान—नहीं, भविष्यकालमें प्राप्त होनेवाले मनुष्यशरीरमें श्रुति, पुराण आदिसे उत्पन्न बोधसे उसे अपने व्रीह्यादिभावका परिज्ञान होता है ॥ ३७ ॥

संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे ।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि ॥ ३८ ॥
स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः ।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः ॥ ३९ ॥
ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम् ।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम् ॥ ४० ॥
ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्छनाम् ।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डैर्देहपरिग्रहम् ॥ ४१ ॥
याम्यं याति पुनर्लोकं पुनरेव भ्रमक्रमम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति नानायोन्यन्तरोदये ॥ ४२ ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि उस समय उसे अपने व्रीह्यादिभावका अनुभव क्यों नहीं होता ? उसपर कहते हैं—'संसुप्तकरणः' इत्यादिसे ।

उस अवस्थामें शरीर न होनेसे उसकी इन्द्रियां और अन्तःकरण मूर्च्छित रहता है । उसी अवस्थामें वह पिताके शरीरमें भुक्त अन्न द्वारा प्रवेश कर वीर्य बनता है । तदुपरान्त वह माताके उदरमें गर्भ बनता है । अपने पूर्वकर्मोंके अनुसार सुख, सौभाग्य, आरोग्य और सुन्दर स्वभावसे युक्त अथवा दुःख, दौर्भाग्य, रोग तथा विषम स्वभावसे युक्त मनोहर आकृतिवाला बालक होता है ॥ ३९ ॥

तदुपरान्त वह चन्द्रमाके समान घटने बढ़नेवाले चञ्चल और मनोहर तथा कामोन्मुख (नारीपरायण) यौवनका अनुभव करता है, फिर कमलके मुँहमें गिरे हुए तुषाररूपी वज्रकी नाईं बुढ़ापेका अनुभव करता है यानी जैसे कमलके ऊपर तुषाररूपी वज्र गिरकर उसे मुरझा देता है, वैसे ही बुढ़ापेसे जरजर हो जाता है ॥ ४० ॥

उसका इतनेमें छुटकारा नहीं होता, उसके बाद भी व्याधिरूपी मरणका अनुभव करता है फिर वह मरणजनित मूर्छाको प्राप्त होता है, तदनन्तर बन्धुओं द्वारा दिये गये पिण्डोंसे स्वप्नके समान प्राप्त देहग्रहणका अनुभव करता है ॥४१॥

फिर वह पूर्वोक्त रीतिके अनुसार यमलोक में जाता है, फिर वैसे ही नाना योनियोंकी प्राप्तिमें भ्रमक्रमका पुनः पुनः अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान् ॥ ४३ ॥
प्रबुद्धलीलोवाच
आदिसर्गे यथा देवि भ्रम एष प्रवर्तते ।
तथा कथय मे भूयः प्रसादाद्बोधवृद्धये ॥ ४४ ॥
श्रीदेव्युवाच
परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः ।
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः ॥ ४५ ॥
सर्वात्मकत्वात् स यतो यथोदेति चिदीश्वरः ।
परमाकाशशुद्धात्मा तत्र तत्र भवेत्तथा ॥ ४६ ॥

आकाशमें ही आकाशरूपी जीव इस प्रकारके वेगवान् परिवर्तनका मोक्ष होने तक पुनः पुनः अनुभव करता है ॥ ४३ ॥

त्वंपदार्थ जीवमें भ्रान्ति हो सकती है, इसलिए उसमें भले ही यह अध्यारोपक्रम हो, तत्पदार्थ ईश्वरमें तो भ्रान्ति हो नहीं सकती, अतः उसमें जगत्का अध्यारोपक्रम कैसे ? इस प्रकार तत्पदार्थ ईश्वरकी शुद्धिको जाननेके लिए लीला पूछती है—'आदिसर्गे' इत्यादिसे ।

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवि, आदि सृष्टिमें जैसे यह भ्रम होता है, वैसा मुझसे कृपापूर्वक पुनः कहिये, जिससे कि मेरे बोधकी वृद्धि हो ॥ ४४ ॥

ईश्वरकी भ्रान्तिसे जगत्का अध्यारोप नहीं होता, किन्तु परमार्थघन ईश्वरका ही मायाध्यारोपित रूपसे विवर्त होता है । अनावृत चैतन्यको जो अध्यस्तका भान होता है, वह भ्रम नहीं है, किन्तु असत्यकी सत्यरूपसे प्रतीति भ्रम है । सर्वज्ञ होनेके कारण ईश्वरको सदा सब पदार्थोंकी प्रतीति होनेपर भी उनमें सत्यताकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे ईश्वरके प्रति स्वस्वरूपके परिज्ञानरूप बोधसे बाधित रहते हैं । इस प्रकार तत्पदार्थमें अध्यारोप होनेसे कोई दोष नहीं है, इस आशयसे देवी तत्पदार्थमें अध्यारोपका उपपादन करती हैं—'परमार्थघनम्' इत्यादिसे ।

पर्वत परमार्थघन चैतन्य हैं, वृक्ष परमार्थघन हैं, पृथिवी परमार्थघन है और आकाश परमार्थघन है ॥ ४५ ॥

सर्वस्वरूप होनेके कारण उस चिदात्मा परमेश्वरका जहांपर जैसा

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनाऽऽदिप्रजापतिः ।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाऽद्याऽपि स्थिता स्थितिः ॥ ४७ ॥
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दः पदार्थानां हि बिम्बकम् ।
प्रतिबिम्बितमेतस्माद्यत्तदद्याऽपि संस्थितम् ॥ ४८ ॥
यन्नाम सुषिरं स्थानं देहानां तद्गतोऽनिलः ।
करोत्यङ्गपरिस्पन्दं जीवतीत्युच्यते ततः ॥ ४९ ॥
सर्गादावेवमेवैषा जङ्गमेषु स्थिता स्थितिः ।
चेतना अपि निःस्पन्दास्तेनैते पादपादयः ॥ ५० ॥
चिदाकाशोऽयमेवांशं कुरुते चेतनोदितम् ।
स एव संविद्भवति शेषं भवति नैव तत् ॥ ५१ ॥

विवर्त होता है, परमाकाश शुद्धस्वरूप वह ईश्वर ही वहां वहांपर हम लोगोंकी दृष्टिसे स्वप्नकी कल्पना करनेवाले पुरुषकी नाईं जीवसमष्टिरूप आदि प्रजापति बनकर सृष्टि करनेयोग्य पदार्थोंके संकल्परूपसे जैसे भू आदि लोकरूप विवर्तसे स्फुरित हुआ, वैसे ही आज भी व्यवस्था ज्योंकी-त्यों स्थित है ॥ ४७ ॥

यदि यह माना जाय कि संकल्पसे उत्पन्न हुई जगत्सत्तासे यह जगत्सत्ता भिन्न है, तो इस पक्षमें भी उसकी (संकल्पजनित जगत्-सत्ताकी) प्रतिबिम्ब-तुल्य होनेके कारण वह मिथ्या ही है, ऐसा कहती हैं—'**प्रथमः**' इत्यादिसे ।

संकल्पजनित स्फुरणरूप पदार्थोंका पहला विवर्त बिम्बरूप ठहरा, उससे जो प्रतिबिम्ब हुआ वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥ ४८ ॥

जगत्सृष्टिमें स्थावर-जंगम विभाग जैसे हुआ, उसमें निमित्त कहती हैं—'**यन्नाम**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

देहोंका जो छिद्र स्थान है, उसमें प्रविष्ट हुआ वायु शरीरोंमें चेष्टा उत्पन्न करता है, उससे यह जीता है, ऐसा कहा जाता है। सृष्टिके आदिमें ही जंगम प्राणियोंमें इस प्रकारकी यह स्थिति उत्पन्न हुई, इसी कारण चेतन होते हुए भी वृक्ष आदि चेष्टाशून्य हैं। भाव यह कि उनमें छिद्र नहीं है, अतएव वायु उनमें प्रविष्ट हो चेष्टा उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वे चेतन होते हुए भी निश्चेष्ट हैं ॥ ४९, ५० ॥

इसी प्रकार चेतन और अचेतनके विभागकी कल्पना करनेमें भी मिमित्त कहती हैं—'**चिदाकाशो**' इत्यादिसे ।

नरोपाधिपुरं प्राप्तं चेतत्यक्षिपुटं नयत् ।
तत्तस्या नाऽक्षि चिज्जीवं नो जीवत्येव सर्गतः ॥ ५२ ॥
तथा खं खं तथा भूमिर्भूमित्वेनाऽऽस्त्ववज्जलम् ।
यद्यथा चेतति स्वैरं तद्वेत्त्येव तथा वपुः ॥ ५३ ॥
इति सर्वशरीरेण जङ्गमत्वेन जङ्गमम् ।
स्थावरं स्थावरत्वेन सर्वात्मा भावयन् स्थितः ॥ ५४ ॥

यह चिदाकाश ही (ईश्वर ही) प्रतिबिम्बत होकर आविर्भूत औपाधिक जीव विभागको करता है, वही अंश संवित् (चेतन) होता है, शेष अध्यारोपित है, वह चेतन नहीं है, किन्तु अचेतन ही है ॥ ५१ ॥

उसका बुद्धिके द्वारा स्थूलमें प्रवेश और स्थूलमें चक्षु आदिकी प्राप्ति होनेसे बाह्य व्यवहारकी क्षमता आती है, ऐसा कहते हैं—'नर०' इत्यादिसे ।

बुद्धिमें प्रविष्ट हुआ चिदाकाश बुद्धिके लिए मनुष्यशरीररूप दूसरे उपाधिभूत नगरमें प्रविष्ट होकर अपनेमें अधिरूढ़ बुद्धिको चक्षु आदिके गोलकमें पहुँचाता हुआ चाक्षुष आदि बुद्धिवृत्तियों द्वारा बाह्य पदार्थोंका अनुभव करता है ।

शङ्का—चक्षु आदि ही साक्षात् चित्में अध्यस्त होनेसे चित् (चेतन) है, अतः वे जीवभूत शरीरमें रहकर व्यवहार करें, बुद्धिरूप उपाधिसे युक्त जीव माननेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वयं ही चेतन जीवभूत नहीं है, क्योंकि चैतन्यमें अध्यारोपमात्रसे ही कोई चेतन नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय, तो घट आदि पदार्थको भी चेतन मानना होगा ॥५२॥

बुद्धि ही जीवकी उपाधि है, अन्य नहीं है, इस नियममें तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी शक्तिकी व्यवस्थापक चित्का सङ्कल्प ही कारण है, इस आशयसे देवीजी कहती हैं—'तथा' इत्यादिसे ।

आकाश शून्यताशक्तिसे युक्त होकर स्थित है, पृथिवी सब पदार्थोंको धारण करनेकी शक्तिसे स्थित है, जल सब पदार्थोंको तर करनेकी शक्तिसे युक्त है । तात्पर्य यह कि चितिशक्ति स्वेच्छासे जिसका जैसा सङ्कल्प करती है, वह अपने शरीरको वैसा ही जानता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार सर्वात्मक चेतन ही जङ्गमरूपसे जङ्गमका (चरका) और स्थावर-रूपसे स्थावरका (अचरका) सङ्कल्प करता हुआ सबके स्वरूपसे स्थित है ॥५४॥

तस्माद्यज्जङ्गमं -नाम तत्स्वबोधनरूपवत् ।
तेन बुद्धं ततस्तद्वत्तदेवाऽद्याऽपि संस्थितम् ॥ ५५ ॥
यद्वृक्षाभिधमाबुद्धं स्थावरत्वेन वै पुनः ।
जडमद्यापि संसिद्धं शिलातरुतृणादि च ॥ ५६ ॥
न तु जाड्यं पृथक्किञ्चिदस्ति नाऽपि च चेतनम् ।
नाऽत्र भेदोऽस्ति सर्गादौ सत्तासामान्यके न च ॥ ५७ ॥
वृक्षाणामुपलानां या नामाऽन्तःस्थाः स्वसंविदः ।
बुद्ध्यादिविहितान्येव तानि तेषामिति स्थितिः ॥ ५८ ॥
विदोऽन्तःस्थावरादेर्यास्तस्या बुद्ध्यास्तथास्थितेः ।
अन्याभिधानास्थानार्थाः सङ्केतैरपरैः स्थिताः ॥ ५९ ॥

इसलिए जो जंगम जगत् है, उसको उसने अपने संकल्पके अनुसार जैसा जाना वैसा ही वह आज तक स्थित है ॥ ५५ ॥

जिन वृक्ष, शिला, पेड़-पौधों, तृण आदिको स्थावररूपसे जड़ जाना, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं। न तो जड़ कोई पृथक् है और न चेतन ही पृथक् है, इस प्रकार तत्पदार्थका भेद नहीं है, यह भाव है। इन पदार्थोंमें उत्पत्ति, स्थिति और नाशमें भेद नहीं है, क्योंकि जो वस्तु असत् है, उसमें भेद कैसा ?

शङ्का—जड़ वस्तुमें अनुगत जो सद्वस्तु है, उसमें भेद हो।

समाधान—सत्तासामान्यमें भी भेद नहीं है ॥ ५६,५७ ॥

यदि कोई कहे कि सब वस्तु केवल चिदेकरस ही है, फिर उसमें उससे विरुद्ध जाड्य, रूप, नाम आदि भेदोंका अनुभव सबको कैसे होता है ? तो इसपर कहती हैं—'वृक्षाणाम्' इत्यादिसे।

जो अन्तःकरणमें स्थित संवित् हैं, उन्हींने वृक्षोंके, पर्वतोंके जाड्य, नाम और रूप आदि भेदोंकी रचना की है, ऐसी यथार्थ स्थिति है। तत्-तत् पदार्थोंके भीतर स्थित प्रत्यक् चैतन्यमें अविद्याध्यस्त बुद्धिकी कल्पनासे ही यह स्थावर, जङ्गम आदि या जाड्य, नाम, रूप आदि भेद होते हैं, यह भाव है ॥ ५८ ॥

प्रत्यक् चैतन्य ही उक्त स्थावर आदि बुद्धिके 'मैं स्थावर हूँ' यों व्यवस्थित-रूपसे अन्दर रहनेके कारण 'हम जंगम पदार्थोंसे भिन्न यानी स्थावर हैं' इस कथन और अभिमानके विषय होकर अन्य (वृक्ष, पर्वत आदि) संकेतोंसे स्थित हैं।

कृमिकीटपतङ्गानां या नामाऽन्तःस्वसंविदः ।
तान्येव तेषां बुद्ध्यादीन्यभिधार्थानि कानिचित् ॥ ६० ॥
यथोत्तराब्धिजनता दक्षिणाब्धिजनं स्थितम् ।
न किञ्चिदपि जानाति निजसंवेदनादृते ॥ ६१ ॥
स्वसंज्ञानुभवे लीनास्तथा स्थावरजङ्गमाः ।
परस्परं यदा सर्वे स्वसंकेतपरायणाः ॥ ६२ ॥
यथा शिलान्तःसंस्थानां बहिष्ठानां च वेदनम् ।
असज्जडं च भेकानां मिथोऽन्तस्तस्थुषां तथा ॥ ६३ ॥

यानी प्रत्यक्-चैतन्य ही 'मैं स्थावर हूँ' इस वासनासे स्थावर नाम और अभिमानको प्राप्त है ॥ ५९ ॥

अपनी अपनी आन्तरिक संवित् (प्रत्यक्-चैतन्य) ही बुद्धिका रूप धारण करती है, वह बुद्धि ही तत्-तत् कृमि, कीट, पतङ्ग आदि विविध अर्थ और उनके वाचक शब्दोंकी कल्पनाके भेदरूपसे स्थित है ॥ ६० ॥

जैसे उत्तर सागरके तीरमें निवास करनेवाले लोग दक्षिण सागरके किनारेपर रहनेवाले लोगोंके विषयमें कुछ नहीं जान सकते, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्यके बिना किसी भी पदार्थमें सत्ता और स्फूर्ति नहीं आ सकती । ये सब संविद्रूप ही हैं उससे भिन्न नहीं हैं ॥ ६१ ॥

जैसे दक्षिण सागर और उत्तर सागरकी जनताका दृष्टान्त दिया गया है, वैसे ही सब स्थावर और जङ्गम पदार्थ अपने प्रत्यक्-साक्षिक अनुभवमें लीन हैं अतएव वे अन्यकी बुद्धिसे कल्पित पदार्थोंका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते । जब वे परस्पर एक दूसरेसे व्यवहार करते हैं, तब उन्हें आपसमें संकेतकी आवश्यकता पड़ती है ॥ ६२ ॥

इस प्रकार सच्चित्रूप ब्रह्ममें असत्त्व, जाड्य, वायु, आकाश आदिकी कल्पनाकी भी उपपत्ति हो सकती है, उसका होना असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे पत्थरके मध्यमें उत्पन्न हुए मेढक और पत्थरसे बाहर स्थित मेढक एक दूसरेकी कल्पनामें असत् और जड़ हैं, वैसे ही परस्पर स्थावर पदार्थोंमें भी समझना चाहिए ॥ ६३ ॥

सर्वं सर्वगतं चित्तं चिद्व्योम्ना यत्प्रचेतितम् ।
सर्गादौ चोपनं वायुः स इहाऽद्यापि संस्थितः ॥ ६४ ॥
चेतितं यत्तु सौषिर्यं तन्नभस्तत्र मारुतः ।
स्पन्दात्मेत्यादिसर्गेहा पदार्थेष्विव चोपनम् ॥ ६५ ॥
चित्तं तु परमार्थेन स्थावरे जङ्गमे स्थितम् ।
चोपनान्यनिलैरेव भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६६ ॥
एवं भ्रान्तिमये विश्वे पदार्थाः संविदंशवः ।
सर्गादिषु यथैवाऽऽसंस्तथैवाऽद्याऽपि संस्थिताः ॥ ६७ ॥
यथा विश्वपदार्थानां स्वभावस्य विजृम्भितम् ।
असत्यमेव सत्याभं तदेतत्कथितं तव ॥ ६८ ॥

जैसा यह दृष्टान्त है, वैसे ही प्रलयकालमें मायामें लीन सर्वात्मक और सर्वगत समष्टि चित्त, जो कि जगत्‌की सूक्ष्मावस्थाका रूप है, सर्वप्रत्यक्‌रूप चिदाकाशसे सृष्टिके आरम्भमें जिस प्रकार स्फुरित हुआ, वह आज भी जैसा-का-तैसा स्थित है। जो स्पन्दनरूपसे स्फुरित हुआ वह वायु है और वह आज भी यहांपर स्थित है। जो छिद्ररूपसे स्फुरित हुआ वह आकाश है, उसमें स्पन्दरूप सर्व-क्रियाशक्तिस्वरूप वायु स्थित है। उक्त वायुसे सब पदार्थोंकी चेष्टाएँ ऐसे होती हैं जैसे कि सूखे हुए तिनके, पत्ते आदि पदार्थोंमें वायुसे कम्पन होता है ॥६४,६५॥

वस्तुतः स्थावर और जङ्गम दोनों पदार्थोंमें चित्त समानरूपसे विद्यमान है, पर वायुके स्पन्दन और स्पन्दनके अभावसे उनमें विशेष है, ऐसा कहते हैं—'चित्तं तु' इत्यादिसे।

चित्त तो परमार्थरूपसे स्थावर और जंगम दोनोंमें स्थित है, पर जंगममें वायुसे स्पन्दन (चेष्टाएँ) होते हैं और स्थावरमें नहीं होते॥ ६६ ॥

इस नियममें भी पूर्वकथित नियति ही हेतु है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

भ्रान्तिमय विश्वमें इस प्रकारके चेष्टायुक्त या चेष्टाशून्य सब पदार्थ सृष्टिके आदिसे संवित्‌में किरणोंकी नाईं स्फुरित हुए थे, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं॥६७॥

प्रस्तुत विषयको कहनेके लिए पूर्वपृष्ट प्रसङ्गप्राप्त तत्त्वज्ञानका उपसंहार करते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

अयमस्तं गतः प्रायः पश्य राजा विदूरथः ।
मालाशवस्य पद्मस्य पत्युस्ते याति हृद्गतम् ॥ ६९ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

केन मार्गेण देवेशि यात्येष शवमण्डपम् ।
एनमेवाऽऽशु पश्यन्त्यावावां गच्छाव उत्तमे ॥ ७० ॥

श्रीदेव्युवाच

मनुष्यवासनान्तस्थं मार्गमाश्रित्य गच्छति ।
एषोऽहमपरं लोकं दूरं यामीति चिन्मयः ॥ ७१ ॥
मार्गेणैवमनेनैव यावस्ते येन सम्मतम् ।
परस्परेच्छाविच्छित्तिर्नहि सौहार्दबन्धनी ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति विहतकथागतक्रमायां परमदृशि प्रसृते विबोधभानौ ।
नृपतिवरसुतामनस्युदारे विगलितचित्तजडो विदूरथोऽभूत् ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने संसारमरणावस्थावर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५५ ॥

———*———

सम्पूर्ण पदार्थ स्वभावके विलास और असत्य होनेपर भी जैसे सत्य-से प्रतीत होते हैं, वह सब मैंने तुमसे कह दिया है ॥ ६८ ॥

देखो मैं समझती हूँ कि यह राजा विदूरथ मरकर फूलोंकी मालासे आच्छादित शवभूत राजा पद्मके हृदयमें स्थित पद्मकोशमें प्रवेश करनेकी इच्छासे जाता है ॥ ६९ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवेशि, किस मार्गसे यह शवमण्डपमें जाता है, इसको देखती हुई ही हम दोनों शीघ्र जावें ॥ ७० ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, पद्मशरीरमें 'अहम्' वासनारूप अन्तःकरणमें स्थित मार्गका अवलम्बन कर यह चिन्मय मैं दूसरे लोकमें जाता हूँ, ऐसी भावनासे जाता है ॥ ७१ ॥

जिस मार्गसे जाना तुम्हें सहमत हो, उसी इस मार्गसे हम दोनों जाती हैं, एक दूसरेकी इच्छाका विघात स्नेह-सम्बन्धका हेतु नहीं होता है ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, श्रेष्ठ राजाकी पुत्री लीलाके विशुद्ध

षट्पञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजा परिवृत्ताक्षितारकः ।
बभूवैकतनुप्राणशेषः शुष्कसिताधरः ॥ १ ॥
जीर्णपर्णसवर्णाभः क्षीणपाण्डुमुखच्छविः ।
भृङ्गध्वनितसच्छायश्वासकूजाविकूणितः ॥ २ ॥
महामरणमूर्छान्धकूपे निपतिताशयः ।
अन्तर्निलीननिःशेषनेत्रादीन्द्रियवृत्तिमान् ॥ ३ ॥
चित्रन्यस्त इवाऽऽकारमात्रदृश्यो विचेतनः ।
निःस्पन्दसर्वावयवः समुत्कीर्ण इवोपले ॥ ४ ॥

हृदयमें परमार्थदृष्टिरूप आत्मतत्त्वके पूर्वोक्त कथा द्वारा सब सन्तापोंके निवृत्त होनेपर विबोधरूप सूर्यके आविर्भूत होनेपर राजा विदूरथ चित्तके परमात्मामें विलीन होनेसे जड़ (अनुसन्धानरहित) यानी मरणके लिए मूर्छित हो गया ॥७३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

[राजा विदूरथका वासनामय यमपुरीमें गमन, लीला और सरस्वती देवीजी द्वारा उसका अनुगमन और पूर्व शरीरकी प्राप्तिका वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें राजा विदूरथके नेत्र स्पन्दशून्य हो गये थे, ओठ सूख गये और सफेद हो गये थे। तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके मूर्छित होनेपर केवल एक तनिक प्राण ही उसके शरीरमें अवशिष्ट रह गया था। उसकी कान्ति पुराने पत्तेके समान पीली पड़ गई थी और मुखकी छवि नष्ट हो गई थी तथा भँवरेकी ध्वनिके तुल्य श्वासध्वनिसे वह मुखरित था। मरणमूर्छारूपी महान् अन्धकारपूर्ण कुँएमें उसका मन डूब गया था, उसकी नेत्र आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अन्दर लीन हो गईं थीं, वह चेतनाशून्य था। चित्रलिखित पुरुषकी नाईं उसका केवल आकार ही शेष रह गया था। पत्थरमें खुदी हुई मूर्तिकी नाईं उसके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट थे। बहुत क्या कहें, जैसे

बहुनाऽत्र किमुक्तेन तनुदेशेन तं जहौ ।
प्राणः पिपतिपुं वृक्षं स्वं पक्षीवाऽन्तरिक्षगः ॥ ५ ॥
ते तं ददृशतुर्बाले दिव्यदृष्टी नभोगतम् ।
जीवं प्राणमयी संविद् गन्धलेशमिवाऽनिले ॥ ६ ॥
सा जीवसंविद् गगने वातेन मिलिता सती ।
खे दूरं गन्तुमारेभे वासनानुविधायिनी ॥ ७ ॥
तामेवाऽनुससाराऽथ स्त्रीद्वयं जीवसंविदम् ।
भ्रमरीयुगलं वातलग्नां गन्धकलामिव ॥ ८ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण शान्ते मरणमूर्छने ।
अम्बरे बुबुधे संविद् गन्धलेखेन वायुना ॥ ९ ॥
अपश्यत् पुरुषान् याम्यान्नीयमानं च तैर्वपुः ।
बन्धुपिण्डप्रदानेन शरीरं जातमात्मनः ॥ १० ॥

आकाशमें उड़नेवाला पक्षी गिरनेवाले अपने निवासभूत वृक्षको छोड़ देता है, वैसे ही प्राणने उत्क्रमण करनेके लिए अवलम्बित थोड़ेसे ही प्रदेशसे उस राजाके शरीरको छोड़ दिया ॥ १–५ ॥

जैसे प्राणवृत्तिसे उपहित संवित् वायुमें स्थित सूक्ष्म गन्धका अनुभव करती है, वैसे ही दिव्यदृष्टिवाली उन दोनों देवियोंने आकाशमें गये हुए उस जीवको देखा ॥ ६ ॥

वह जीवसंवित् गगनमण्डलमें आतिवाहिक प्राणवायुसे मिलकर वासनाके वशवर्ती होकर आकाशमें दूर जाने लगी ॥ ७ ॥

तदुपरान्त उन दोनों स्त्रियोंने जैसे भँवरियाँ वायुमें मिले हुए सुगन्धलेशका अनुगमन करती हैं, वैसे ही उसी जीवसंवित्का अनुगमन किया ॥ ८ ॥

तदनन्तर मुहूर्तभरमें मरणमूर्छाके शान्त होनेपर जैसे वासनामय शरीरसे स्वप्नका आविर्भाव होता है, वैसे ही आकाशमें वासनामय देहसे जीवचेतन प्रबुद्ध हुआ ॥ ९ ॥

उसने यमके भटोंको और उनसे ले जाये जा रहे अपने वासनामय शरीरको देखा तथा बन्धुओंके और्ध्वदैहिक पिण्डप्रदानसे उत्पन्न हुए-से अपने स्थूल शरीरको देखा ॥ १० ॥

मार्गे कर्मफलोल्लासमतिदूरतरे स्थितम् ।
वैवस्वतपुरं प्राप जन्तुभिः परिवेष्टितम् ॥ ११ ॥
प्राप्तं वैवस्वतपुरमादिदेश ततो यमः ।
अस्य कर्माण्यशुभ्राणि नैव सन्ति कदाचन ॥ १२ ॥
नित्यमेवाऽवदातानां कर्ताऽयं शुभकर्मणाम् ।
भगवत्याः सरस्वत्या वरेणाऽयं विवर्धितः ॥ १३ ॥
प्राक्तनोऽस्य शवीभूतो देहोऽस्ति कुसुमाम्बरे ।
प्रविशत्वेष तं गत्वा त्यज्यतामिति चेतसा ॥ १४ ॥
ततस्त्यक्तो नभोमार्गे यन्त्रोपल इव च्युतः ।
अथ जीवकला लीला ज्ञप्तिश्चेति त्रयं नभः ॥ १५ ॥
पुप्लुवे जीवलेखा तु रूपिण्यौ ते न पश्यति ।
तामेवाऽनुसरन्त्यौ ते समुल्लङ्घ्य नभस्तलम् ॥ १६ ॥
लोकान्तराण्यतीत्याऽऽशु विनिर्गत्य जगद् गृहात् ।
द्वितीयं जगदासाद्य भूमण्डलमुपेत्य च ॥ १७ ॥

तदनन्तर वह अतिदूर (जिसकी यात्रा एक वर्षमें पूरी होती है) दक्षिण-मार्गमें स्थित तथा प्राणियोंके कर्मफलोंको प्रकट करनेवाली यमपुरीमें, जो कि बहुतसे प्रणियोंसे घिरी थी, पहुँचा ॥ ११ ॥

उसके यमपुरीमें पहुँचनेके पश्चात् यमने उसके कर्मोंपर विचार कर आज्ञा दी कि इसने पापकर्म कभी किये ही नहीं यानी इसका एक भी पाप कर्म नहीं है । सदा लोभ आदि दोषोंके सम्पर्कसे रहित तथा पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला यह श्रीसरस्वती देवीजीके वरदानसे बढ़ाया गया है यानी इसके पुण्योंकी वृद्धि की गई है । इसका पूर्वजन्मका मुर्दा शरीर फूलोंसे वेष्टित मण्डपाकाशमें है, यह वहाँ जाकर उस शरीरमें प्रवेश करे और आप लोग मेरी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले चित्तसे इसे छोड़ दें ॥ १२–१४ ॥

तदनन्तर क्षेपणीयन्त्र (एक प्रकारके गुलेल) से गिरे हुए पत्थरके समान आकाशभागमें उसे छोड़ दिया । फिर तो जीवकला, लीला और श्रीसरस्वतीदेवी ये तीनों मूर्तिमती थीं, तथापि राजा विदूरथकी जीवकलाने उन्हें नहीं देख पाया, वे दोनों तो राजाकी जीवकलाको देखती ही थीं । उक्त जीवकलाका ही अनुगमन कर रहीं वे दोनों आकाशको लांघकर अन्यान्य लोकोंका अतिक्रमण कर जगद्रूपी

ते द्वे सङ्कल्परूपिण्यौ संगते जीवलेखया ।
पद्मराजपुरं प्राप्य लीलान्तःपुरमण्डपम् ॥ १८ ॥
क्षणाद्विविशतुः स्वैरं वातलेखा यथाऽम्बुजम् ।
सूर्यभासो यथाऽम्भोजं सुरभिः पवनं यथा ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् प्राप्तः कथमसौ शवस्य निकटं गृहम् ।
कथं तेन परिज्ञातो मार्गो मृतशरीरिणा ॥ २० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्य स्ववासनान्तस्थशवस्य किल राघव ।
तत्सर्वं हृद्गतं कस्मान्नाऽसौ प्राप्नोति तद्गृहम् ॥ २१ ॥

घरसे (ब्रह्माण्डसे) निकलकर दूसरे जगत्के (ब्रह्माण्डमें) पहुँचीं । दूसरे ब्रह्माण्डके भूलोकसे आकर अपने सत्यसङ्कल्पसे रूप धारण करनेवाली वे दोनों देवियां राजा विदूरथकी जीवकलाके साथ राजा पद्मके नगरमें पहुँचकर जैसे कमलमें वायु और सूर्यकी प्रभा प्रवेश करती है और सुगन्धि वायुमें प्रवेश करती है, वैसे ही एक क्षणमें स्वच्छन्दताके साथ लीलाके अन्तःपुरके मण्डपमें प्रविष्ट हुईं ॥ १५–१९ ॥

राजा विदूरथकी पत्नी द्वितीय लीलाके जीवको उसकी लड़कीने मार्गप्रदर्शन कराया यह पहले कहा गया है, राजा विदूरथके जीवको किसने मार्ग दर्शाया यह नहीं कहा । यदि कोई मार्गपरिदर्शक नहीं था, तो उसे मार्गका परिज्ञान कैसे हुआ ? यह सन्देह होनेपर श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, राजा विदूरथका जीव शवके निकट घरमें कैसे पहुँचा ? उस मृत शरीरवालेको मार्गका परिज्ञान कैसे हुआ ? ॥ २० ॥

पूर्व शरीरकी वासनाके पूर्ण होनेके पहले ही बीचमें बलवान् प्रारब्धसे अन्य जन्मकी सृष्टि हो गई, भोगसे उस प्रारब्धका क्षय होनेपर पूर्व वासनाके उद्भवसे जैसे आया था वैसे मार्गकी प्रतीति होती है, अतः मार्गदर्शककी अपेक्षा नहीं है, ऐसा उत्तर देते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राघव, उस जीवकी वासनाके अन्दर शवरूप पद्मशरीरमें अहंभाव था, अतएव उसके हृदयमें वह सब मार्ग आदि स्फुरित हो जाता है, इसलिए वह उस घरको कैसे प्राप्त नहीं होगा ? ॥ २१ ॥

भ्रान्तिमात्रमसंख्येयं जगज्जीवकणोदरे ।
वटधानातरुमिव स्थितं को वा न पश्यति ॥ २२ ॥
यथा जीवद्वपुर्बीजमङ्कुरं हृदि पश्यति ।
स्वभावभूतं चिदणुस्त्रैलोक्यनिचयं तथा ॥ २३ ॥
नरो यथैकदेशस्थो दूरदेशान्तरस्थितम् ।
संपश्यति निधानं स्वं मनसाऽनारतं सदा ॥ २४ ॥
तथा स्ववासनान्तस्थमभीष्टं परिपश्यति ।
जीवो जातिशताढ्योऽपि भ्रमे परिगतोऽपि सन् ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् पिण्डदानादिवासनारहिताकृतिः ।
कीदृक्संपद्यते जीवः पिण्डो यस्मै न दीयते ॥ २६ ॥

जैसे वटका बीज मिट्टी, जल आदि अङ्कुरोत्पत्तिकी सामग्री मिलनेपर स्वयं अङ्कुररूपसे उत्पन्न हो रहे वटवृक्षका अपने भीतर ही अनुभव करता है, वैसे ही सूक्ष्म जीवोपाधिभूत अन्तःकरणके अन्दर आविर्भूत वासनाओंके रूपसे स्थित भ्रान्तिरूप असंख्य जगत्‌को कौन नहीं देखेगा ? उसको दिखानेके लिए किसी परिदर्शककी आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥ २२ ॥

जैसे सजीव वटबीज अपने अन्दर अङ्कुरका अनुभव करता है, वैसे ही चित्कला जीव भी अपने स्वभावभूत त्रैलोक्यका (तीनो लोकोंका) अपने अन्दर अनुभव करता है ॥ २३ ॥

जैसे अन्य स्थानमें स्थित पुरुष दूर देशान्तरमें स्थित अपने निधानकी (भूमिमें गाढे हुए धनकी) निरन्तर सदा मनसे भावना करता हुआ भली भाँति देखता रहता है, वैसे ही सैकड़ों जातियोंसे युक्त भी और भ्रममें पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासनाके अन्दर अन्तर्हित अपने अभीष्टको देखता है ॥ २४–२५ ॥

पहले जो यह कहा था कि जीवने बन्धुओंके पिण्डप्रदानसे उत्पन्न हुए अपने शरीरको देखा, उसे सार्वत्रिक न समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, जिसे पिण्ड नहीं दिया जाता, उसमें पिण्ड-दानादिवासनाका हेतु नहीं है, अतएव पिण्डदानादिवासनासे रहित आकृतिवाला वह जीव कैसे सशरीर होता है ? ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

पिण्डोऽथ दीयते मा वा पिण्डो दत्तो मयेति चेत् ।
वासना हृदि संरूढा तत्पिण्डफलभाङ्नरः ॥ २७ ॥
यच्चित्तं तन्मयो जन्तुर्भवतीत्यनुभूतयः ।
सदेहेषु विदेहेषु न भवत्यन्यथा क्वचित् ॥ २८ ॥
सपिण्डोऽस्मीति संवित्त्याऽनिष्पिण्डोऽपि सपिण्डवान् ।
निष्पिण्डोऽस्मीति संवित्त्या सपिण्डोऽपि न पिण्डवान् ॥ २९ ॥
यथाभावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता ।
भावना च पदार्थेभ्यः कारणेभ्य उदेति हि ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बन्धुओं द्वारा पिण्ड चाहे दिया जाय अथवा न दिया जाय, परन्तु यदि प्रेतमें 'मुझे पिण्ड दिया गया' ऐसी वासना उदित हो जाय, तो उक्त वासनासे ही पुरुषको पिण्डप्रदानका फल शरीरलाभ हो जाता है । शास्त्रमें पिण्डप्रदानकी विधि पिण्डप्रदानको बन्धुओंका कर्तव्य कहती है यानी मृतकके बन्धुओंको अवश्य पिण्डप्रदान करना चाहिए, यह बतलाती है । वस्तुतः वह विधि बन्धुओंको फल देती है, पर मृतकको भी वासनारूप फल मिलता है, इस शास्त्रसंवादसे दोनोंको ही उसका फल प्राप्त होता है, यह प्रसिद्ध है ॥ २७ ॥

जैसा चित्त होता है, वैसा ही जन्तु होता है, इसमें 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' (जैसा चित्त होता है, तदनुरूप ही चित्तमय पुरुष होता है यह सनातन रहस्य है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा विद्वानोंके अनुभव प्रमाण हैं, जो विदेह और सदेह योगियोंमें प्रसिद्ध हैं अथवा जीवित और मृत जीवोंमें कहींपर भी इस नियममें उलट फेर नहीं होता, इसलिए चित्त ही संसार है, उसकी प्रयत्नपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए ॥ २८ ॥

मुझे मेरे बन्धुबान्धवोंने पिण्ड दिया, इस बुद्धिसे जिसे पिण्ड नहीं दिया गया, वह भी पिण्डप्रदानके फलका भागी होता है । मुझे बन्धुबान्धवोंने पिण्ड नहीं दिया, इस बुद्धिसे पिण्डप्रदान करनेपर भी पिण्डप्रदानका फल नहीं मिलता ॥२९॥

इन पदार्थोंकी सत्यता भावनाके अनुसार होती है और भावना भी अपने कारणभूत पदार्थोंसे उत्पन्न होती है । बन्धुओं द्वारा पिण्डप्रदान करनेपर अवश्य

यथा वासनया जन्तोर्विषमप्यमृतायते ।
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ ३१ ॥
कारणेन विनोदेति न कदाचन कस्यचित् ।
भावना काचिदपि नो इति निश्चयवान् भव ॥ ३२ ॥
कारणेन विना कार्यमा महाप्रलयं क्वचित् ।
न दृष्टं न श्रुतं किञ्चित् स्वयं त्वेकोदयादृते ॥ ३३ ॥

ही मृत पुरुषमें पिण्डदान किया, ऐसी भावना उदित होती है, यह बात शास्त्र बतलाते हैं ॥ ३० ॥

जैसे प्राणीकी वासनासे (गरुड़की उपासना करनेवाले पुरुषकी अपनेमें गरुडभावना करनेसे) सर्पका विष भी अमृत बन जाता है यानी पच जाता है, वैसे ही असत्य पदार्थ भी, सत्यरूपसे भावना करनेसे, सत्य हो जाता है, यानी कांटा चुभनेपर यदि यह भ्रम हो जाय कि मुझे साँपने काट लिया, तो असत्य भी सर्पदशन मरण आदि कार्य कर डालता है, यह भाव है ॥ ३१ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने मनमें यह अटल निश्चय कर लीजिये कि कारणभूत भावनाके बिना कभी भी किसी पदार्थकी प्रतीति नहीं होती, जिसको जब जो पदार्थप्रतीति होगी, वह किसी न किसी भावनासे होगी, कारण यदि सत्य हो, तो कार्यकी सत्यता हो सकती है पर भावना तो सत्य नहीं है, सत्य कारणके विना उत्पन्न हुआ कार्य भी नहीं ही है, अतएव शुद्ध ब्रह्म ही वस्तुतः है, ऐसे निश्चयवान् होओ ॥ ३२ ॥

कारणकी असत्तामें कार्य क्यों उत्पन्न नहीं होता, इस विषयमें कहते हैं—'कारणेन' इत्यादिसे ।

कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति महाप्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखी गई और न सुनी गई है । सर्वथा कार्यकी सत्ता कारणकी सत्ताके अधीन है, यही बात सब प्रमाणोंसे सिद्ध होती है, यह भाव है ।

शङ्का—तो क्या ब्रह्मसत्ता भी कारणाधीन है ?

समाधान—नहीं, जो स्वतः उदित यानी नित्य स्वप्रकाश ब्रह्म है, उसको छोड़कर अन्य सब वस्तुएँ कारणाधीन हैं । भाव यह है कि अनित्य सत्तामें ही कारणसत्ताकी अपेक्षा होती है, नित्य सत्तामें नहीं होती ॥ ३३ ॥

चिदेव वासना सैव धत्ते स्वप्न इवाऽर्थताम् ।
कार्यकारणतां याति सैवाऽगत्येव तिष्ठति ॥ ३४ ॥

श्रीराम उवाच

धर्मो नाऽस्ति ममेत्येव यः प्रेतो वासनान्वितः ।
तस्य चेत्सुहृदा भूरिधर्मः कृत्वा समर्पितः ॥ ३५ ॥
तत्तदाऽत्र स किं धर्मो नष्टः स्यादुत वा न वा ।
सत्यार्थो वाऽप्यसत्यार्था भावना किं बलाधिका ॥ ३६ ॥

इस प्रकार शुद्ध चिन्मात्र ही भ्रान्तिसे वासना और वासनाजन्य जगद्रूपसे भासित होता है, यह कहते हैं—'**चिदेव**' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र ही वासनाका रूप धारण करता है, चेतन जैसे स्वप्नमें पदार्थोंका रूप धारण कर लेता है, वैसे ही वह चित ही पदार्थोंके रूपको धारण करती है। वही कार्यकारणताको प्राप्त होती है, वही गमनरहित होकर स्थित होती है यानी स्थावररूपसे स्थिर होती है ॥ ३४ ॥

'सपिण्डोऽस्मीति संवित्त्या' (मैं सपिण्ड हूँ यानी पिण्डप्रदानसे युक्त हूँ, इस भावनासे) इत्यादिसे पहले जो यह कहा था कि प्रेतकी वासनाके अनुसार ही प्रेतको शरीर आदि फल प्राप्त होता है, उसमें आगे किये जानेवाले आक्षेपोंकी गुञ्जाइस होनेसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**धर्मः**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जो मैंने पुण्य कर्म नहीं किये, अतः मेरे पास धर्म नहीं है, इस भावनासे युक्त होकर मरा, उसके बन्धु-बान्धव यदि प्रचुर कर्म करके उसके अर्पण कर दें, तो वह धर्म, प्रेतवासनासे विरोध होनेके कारण, निष्फल हो जायगा अथवा बन्धुबान्धवोंकी वासनाके प्रबल होनेसे निष्फल नहीं होगा। उन दोनों वासनाओंमें सुहृद्-वासना, धर्म होनेसे, सत्य है और प्रेतकी वासना असत्य है, वासनाकी प्रबलतामें प्रयोजक क्या है? भोक्तृनिष्ठता या सत्यार्थता यानी भोक्तामें स्थित वासना बलवती है या सत्य वासना बलवती है। प्रथम पक्षमें यानी प्रेतकी वासनाको प्रबल मानो, तो कृतहानि दोष होगा यानी बान्धवों द्वारा किया गया धर्म निष्फल हो जायगा। यदि बन्धु-बान्धवोंकी वासना प्रबल है, तो अर्थकी सत्यता हुई और वासना कोई वस्तु नहीं रही। वासनासे ही सब कुछ होता है, यह जो पूर्वमें कहा था, उसका व्याघात होगा, इस प्रकार उभयतः-पाशा रज्जु है, यह आशय है ॥ ३६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यसंपत्त्योदेति भावना ।
यत्रैवाऽभ्युदिता सा स्यात् स द्वयोरधिको जयी ॥ ३७ ॥
धर्मदातुः प्रवृत्ता चेद् वासना तत्तया क्रमात् ।
आपूर्यते प्रेतमतिर्न चेत्प्रेतधियाऽशुभा ॥ ३८ ॥
एवं परस्परजयात् जयत्यत्राऽतिवीर्यवान् ।
तस्माच्छुभेन यत्नेन शुभाभ्यासमुदाहरेत् ॥ ३९ ॥

शास्त्रोक्त देश और कालमें शास्त्रोक्त अनुष्ठानसे शास्त्रानुसारिणी सुहृद्वासना शास्त्रप्रमाणसे प्रबल है। प्रेतवासना केवल लौकिक होनेसे दुर्बल है, इसलिए शास्त्र ही वासनाकी प्रबलतामें कारण है, अर्थसत्यता प्रबलतामें हेतु नहीं है, यों गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, देश, काल, कर्म और द्रव्यकी सम्पत्तिसे भावना उत्पन्न होती है, वह जिस फलरूप विषयमें उत्पन्न होती है, दोनोंमें से वही विषय विजयी होता है ॥ ३७ ॥

धर्म-दानके प्रतिपादक शास्त्रप्रमाणसे यह कल्पना होती है कि प्रेतके अन्तः-करणमें उसी समय (धर्मसमर्पणकालमें ही) 'मैं अमुक धर्मवान् हूँ' ऐसी वासना उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं—'धर्मदातुः' इत्यादिसे ।

धर्म देनेवालेकी वासना यदि हुई हो, तो उस भावनासे क्रमशः प्रेतकी मति पूर्ण होती है यानी शास्त्रवचनके प्रामाण्यसे ही दाताकी वासनाके अनुसार प्रेतको अवश्य फल मिलता है ॥ ३८ ॥

शङ्का—प्रेत यदि पाखण्डी हो और वेदके ऊपर द्वेष, नास्तिकता आदि अशुभवासनासे उसका अन्तःकरण दूषित हो, तो बन्धु-बान्धवों द्वारा धर्मसमर्पण करनेपर भी उसे फल मिलता है या नहीं ?

समाधान—नहीं मिल सकता, यदि प्रेतकी बुद्धि शुभ हो, तो तभी उसे बन्धुओं द्वारा समर्पित धर्मका फल मिल सकता है। यदि वासनाकी प्रबलतामें अर्थ-सत्यत्व हेतु हो, तो उसे भी धर्मफलकी प्राप्ति होगी, यह भाव है ॥ ३८ ॥

इसलिए पूर्व प्रकरणमें मैंने पुरुषकारकी प्रबलताको सिद्धकर शुभ कर्मोंका अभ्यास ही सदा करना चाहिए, यह कहा है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

श्रीराम उवाच

देशकालादिना ब्रह्मन् वासना समुदेति चेत् ।
तन्महाकल्पसर्गादौ देशकालादयः कुतः ॥ ४० ॥
कारणे समुदेतीदं तैस्तदा सहकारिभिः ।
सहकारिकारणानामभावे वासना कुतः ॥ ४१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतन्महाबाहो सत्यात्मन्न कदाचन ।
महाप्रलयसर्गादौ देशकालौ न कौचन ॥ ४२ ॥
सहकारिकारणानामभावे सति दृश्यधीः ।
नेयमस्ति न चोत्पन्ना न च स्फुरति काचन ॥ ४३ ॥

इस प्रकार परस्परके विजयसे अतिबलवान् पुरुषकार जीतता है, इसलिए शुभ प्रयत्न द्वारा शुभाभ्यास करना चाहिए ॥ ३९ ॥

यदि देश, काल आदि सहकारी कारणोंके बलसे धर्म और उसकी वासना आदिका उदय माना जाय, तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पहले एक और अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुतिसे आदि सृष्टिमें देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे ही नहीं, उनके अभावमें वासनाकी उत्पत्ति कैसे होगी ? वासनाकी उत्पत्ति न होनेसे वासनामय जगत्की उत्पत्ति ही नहीं होगी । ऐसी परिस्थितिमें 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने सङ्कल्प किया कि मैं प्रजारूपसे बहुत होऊँ) इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'देशकालादिना' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, देश, काल आदिसे यदि वासना उत्पन्न होती है, तो महाकल्पके अनन्तरकी सृष्टिमें देश, काल आदि कहाँ थे । सहकारी कारणोंसे वासनारूप कारणके रहनेपर ही यह जगत् उत्पन्न होता है । महाकल्पके बाद होनेवाली सृष्टिके आदिमें देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे नहीं, फिर वासना होगी कहांसे ॥ ४०, ४१ ॥

आपने जो मेरे प्रति कहा वह अभीष्ट ही है, विरुद्ध नहीं है । 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (न प्रलय है, न सृष्टि है, न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यही परमार्थता है) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर०' (कारणरहित, कार्यरहित, अस्थूल,

दृश्यस्याऽसंभवादेव किञ्चिद्यद् दृश्यते त्विदम् ।
तद्ब्रह्मैव स्वचिद्रूपं स्थितमित्थमनामयम् ॥ ४४ ॥
एतच्चाऽग्रे युक्तिशतैः कथयिष्याम एव ते ।
एतदर्थं प्रयत्नोऽयं वर्तमानकथां शृणु ॥ ४५ ॥
एवं ददृशतुः प्राप्ते मन्दिरं सुन्दरोदरम् ।
कीर्णं पुष्पोपहारेण वसन्तमिव शीतलम् ॥ ४६ ॥
प्रशान्ताचारसंरम्भराजधान्या समन्वितम् ।
मन्दारकुन्दमाल्यादिशवं तत्र समं स्थितम् ॥ ४७ ॥

अनणु और अह्रस्व ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंका जगत्की अनुत्पत्तिमें तात्पर्य दिखाई देता है, बड़े भारी प्रयत्नसे इसी अर्थका बोध कराना अभीष्ट भी है। 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियोंका भी प्रतीत हो रहे द्वैतकी असत्यताका उपपादनपूर्वक पहले उपक्रान्त मुक्तिरूप फल देनेवाले निष्प्रपञ्च आत्माका ज्ञान करानेमें ही तात्पर्य है। सृष्टि आदिमें तात्पर्य नहीं है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजीके कथनका अनुमोदन करते हुए श्रीवसिष्ठजीने कहा—'एवम्' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जो तुम यह कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है, महाप्रलयरूप सृष्टिके आदिभूत परमार्थ सत्य आत्मामें कोई भी देश, काल कभी नहीं थे। सहकारी कारणोंका अभाव होनेपर यह दृश्यप्रतीति नहीं है, न तो यह कभी उत्पन्न हुई, न कभी इसका स्फुरण होता है; यों दृश्यका सम्भव न होनेसे ही यह जो कुछ भी दिखाई देता है, वह स्वचिद्रूप निर्विकार ब्रह्म ही इस रूपमें है, ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस बातको हम आगे आपसे सैकड़ों युक्तियोंसे कहेंगे ही, इसीलिए यह हमारा प्रयास है। फिलहाल आप वर्तमान कथाको पूरी सुन लीजिये ॥ ४२—४५ ॥

पूर्ववर्णित प्रणालीसे राजा पद्मके नगरमें प्राप्त हुई लीला और सरस्वती देवीजीने राजा पद्मके महलको देखा। उसका भीतरका भाग अत्यन्त मनोरम था, चारों ओर फूलमालाएँ बिखरी थीं, अतएव वसन्तके समान शीतल था, राजधानीके लोगोंसे, जिनकी राजकार्य करनेकी फुर्ती ढीली पड़ गई थी, वह राजप्रासाद युक्त था। उस राजमहलमें उन राजकर्मचारियोंके साथ रक्खे हुए मन्दार, कुन्द आदिकी मालाओं और फूलोंसे ढँके हुए शवको भी उन्होंने देखा, उस महलमें

मन्दारकुन्दस्रग्दामवृताम्बरबृहच्छवम् ।
शवशय्याशिरःस्थाढ्यपूर्णकुम्भादिमङ्गलम् ॥ ४८ ॥
अनिवृत्तगृहद्वारगवाक्षकठिनार्गलम् ।
प्रशाम्यद्दीपकालोकश्यामलामलभित्तिकम् ॥
गृहैकदेशसंसुप्तमुखश्वाससमीकृतम् ॥ ४९ ॥
संपूर्णचन्द्रसकलोदयकान्तिकान्तं सौन्दर्यनिर्जितपुरन्दरमन्दिरर्द्धि ।
वैरिञ्चपद्ममुकुलान्तरचारुशोभं निःशब्दमन्दमिव निर्मलमिन्दुकान्तम् ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणशयनानन्तरप्रेतव्यवस्था नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

मन्दार और कुन्दके फूलोंकी मालाओंसे ढँका हुआ वस्त्रोंसे लपेटा हुआ शव रक्खा था, शवकी शय्याके सिरहानेपर सुन्दर पूर्ण कुम्भ आदि माङ्गलिक पदार्थ रक्खे थे, घरके दरवाजे और खिड़कियोंकी अर्गलाएँ बन्द थीं, दीपकोंका उजियाला मन्द पड़ रहा था, अतएव स्फटिककी भाँति साफ सुथरी गृहभित्तियाँ कुछ मैली हो गई थीं, घरके एक भागमें सोये हुए लोगोंके मुखके निःश्वाससे वह महल व्याप्त था ॥ ४६–४९ ॥

वह महल सम्पूर्ण चन्द्रमाके कलासहित उदयसे प्रकाशित होनेके कारण बाहर बड़ा सुन्दर था, उसने अपनी सुन्दरतासे इन्द्रभवनकी सौन्दर्यसमृद्धिको जीत लिया था और भीतर ब्रह्माके उत्पत्तिकमलके (भगवान्‌के नाभिकमलकी कौंढ़ीके) मध्यके समान सुन्दर था शब्दशून्य होनेके कारण मूक-सा (गूँगेसा) स्थित था और चन्द्रमाके समान रमणीय था ॥ ५० ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

ततो ददृशतुस्तत्र शवशय्यैकपार्श्वगाम् ।
लीलां विदूरथस्याऽग्रे मृतां ते प्रथमागताम् ॥ १ ॥
प्राग्वेषां प्राक्समाचारां प्राग्देहां प्राक्स्ववासनाम् ।
प्राक्तनाकारसदृशीं सर्वरूपाङ्गसुन्दरीम् ॥ २ ॥
प्राग्रूपावयवस्पन्दां प्रागम्बरपरीवृताम् ।
प्राग्भूषणभरच्छन्नां केवलं तत्र संस्थिताम् ॥ ३ ॥
गृहीतचामरां चारु वीजयन्तीं महीपतिम् ।
उद्यच्चन्द्रामिव दिवं भूषयन्तीं महीतलम् ॥ ४ ॥
मौनस्थां वामहस्तस्थवदनेन्दुतया नताम् ।
भूषणांशुलतापुष्पैः फुल्लामिव वनस्थलीम् ॥ ५ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

[दूसरी लीलाका दर्शन, लीलाके देहकी असत्यता और योगियोंके शरीरमें आतिवाहिकताके उदयका वर्णन)

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, श्रीरामजी, तदुपरान्त वहाँपर उन्होंने विदूरथकी शवशय्याके एक छोरपर स्थित लीलाको, जो पहले मरी थी और उनसे पहले आ गई थी, देखा, उसका हूबहू पहलेका-सा वेष, पहलेका-सा आचरण और पहलेका-सा ही शरीर था, क्योंकि पहले उसमें वैसी ही वासनाएँ थीं। उनकी आकृति भी पूर्वजन्मकी आकृतिसे सर्वथा मिलती थी, रूपवान् सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे वह युक्त थी, पहलेके जैसे उसके अवयव और चेष्टाएँ थीं, जैसे पूर्वजन्ममें उसने वस्त्र पहन रक्खे थे, वैसे ही वस्त्रोंसे उसका तन ढका था, पूर्वजन्मके ही सदृश आभरणोंसे वह विभूषित थी, केवल अन्तर इतना ही था कि पहले वह राजा विदूरथके घरमें थी, अब राजा पद्मके घरमें स्थित थी। वह चँवर लिए हुए थी और बड़ी सुरुचिसे राजाके ऊपर चँवर डुला रही थी, जिसमें चन्द्रमा उदित हो रहे हों, ऐसे द्युलोककी नाईं वह पृथिवीको जगमगा रही थी, वह मौन थी, उसने अपने चन्द्रवदनको बाये हाथकी हथेलीके सहारे लटका रक्खा था, अतएव वह एक ओरको कुछ नमी हुई थी, आभूषणोंके किरणरूपी

कुर्वाणां वीक्षितैर्दिक्षु मालत्युत्पलवर्षणम् ।
सृजन्तीमात्मलावण्यादिन्दुमिन्दुं नभोदितम् ॥ ६ ॥
नरपालात्मनो विष्णोर्लक्ष्मीमिव समागताम् ।
उदितां पुष्पसंभारादिव पुष्पाकरश्रियम् ॥ ७ ॥
भर्तुर्वदनके न्यस्तदृष्टिमिष्टविचेष्टिताम् ।
किञ्चित्प्रम्लानवदनां म्लानचन्द्रां निशामिव ॥ ८ ॥
ताभ्यां सा ललना दृष्टा तया ते तु न लक्षिते ।
यस्मात्ते सत्यसङ्कल्पे सा न तावत्तथोदिता ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

तस्मिन् प्रदेशे सा पूर्वलीला संस्थाप्य देहकम् ।
ध्यानेन ज्ञप्तिसहिता गताऽभूदिति वर्णितम् ॥ १० ॥
किमिदानीं स लीलाया देहस्तत्र न वर्णितः ।
किं संपन्नः क्व वा यात इति मे कथय प्रभो ॥ ११ ॥

पत्र, लता और पुष्पोंसे वनस्थली-सी थी, अपने दर्शनोंसे (दृष्टिपातोंसे) मानो मालतीके फूल और नीलकमलोंकी वृष्टि कर रही थी, अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके लावण्यसे आकाशमें उदित सब चन्द्रमाओंकी सृष्टि कर रही थी, राजा पद्मरूपी विष्णुकी लक्ष्मीके सदृश थी, पुष्पोंकी राशिसे उदित हुई वसन्त-शोभाके तुल्य थी, अपने पतिके मुखकमलको टकटकी लगाकर देख रही थी, उसकी सभी चेष्टाएँ रम्य थीं, मुखचन्द्र कुछ मलिन था, अतएव वह जिस रात्रिमें चन्द्रमा मलिन हो, उस रात्रिके तुल्य थी ॥ १–८ ॥

उन दोनोंने उस सुन्दरीको (द्वितीय लीलाको) देखा, पर उसने उनको नहीं देखा, क्योंकि वे दोनों सत्यसङ्कल्प थीं, पर वह सत्यसङ्कल्परूपसे आविर्भूत नहीं हुई थी ॥ ९ ॥

लीलाने पहले जिस स्वरूपको छोड़ा था, उसे उसीका अन्वेषण करना चाहिए था, क्योंकि वह आवश्यक था, उसे छोड़कर विदूरथ और लीलाके दर्शनका ही पहले वर्णन क्यों किया ? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्रीरामचन्द्रजी जिज्ञासा करते हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—प्रभो, पूर्वलीला उस राजमहलके एक भागमें अपनी स्थूलदेहको रखकर ज्ञप्तिके साथ ध्यानसे (समाधिसे) गई, ऐसा पहले वर्णन हो

श्रीवसिष्ठ उवाच

क्वाऽऽसील्लीलाशरीरं तत्कुतस्तस्याऽस्ति सत्यता ।
केवला भ्रान्तिरेवाऽभूज्जलबुद्धिर्मराविव ॥ १२ ॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं कुतो देहादिकल्पना ।
ब्रह्मैवाऽऽनन्दरूपं सद्यत् पश्यसि तदेव चित् ॥ १३ ॥
यथैव बोधे लीलाऽसौ परिणाममिता क्रमात् ।
परे तथैव तस्मात्तद्धिमवद् गलितं वपुः ॥ १४ ॥
(आतिवाहिकदेहस्य कालेनाऽभ्युदितो भ्रमः ।
आधिभौतिकदेहोऽहमिति रज्जुभुजङ्गवत् ॥ १ ॥)

चुका है। इस समय वहाँपर लीलाकी उस देहका वर्णन क्यों नहीं किया। उस देहका क्या हुआ अथवा वह कहाँ गई ? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥१०,११॥

आतिवाहिकताबुद्धिका उदय होनेसे एवं तत्त्वज्ञानसे उस देहके बाधित होनेके कारण ही लीला द्वारा अपनी देहके दर्शनका वर्णन नहीं किया। जिनकी (अज्ञानियोंकी) दृष्टिसे वह बाधित नहीं हुआ, उनकी दृष्टिसे अग्रिम सर्गमें उस देहके मरण, दाह आदिका वर्णन किया जायगा। इस प्रकार वक्ष्यमाण उस देहके मरण, दाह आदिको छिपाकर तत्त्वज्ञान करानेके लिए उसकी असत्यताका ही प्रतिपादन कर रहे श्रीवसिष्ठजीने उत्तर दिया—'क्वाऽऽसी०' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीलाका वह शरीर था ही कहाँ ? फिर उसकी सत्यताकी बात ही कैसे ? मरुभूमिमें जलबुद्धिके (जलकी भ्रान्तिके) तुल्य केवल वह भ्रान्ति ही थी। यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है, ऐसी दशामें देह आदिकी कल्पना कैसी ? जो कुछ आप देखते हैं, वह आनन्दरूप सद् ब्रह्म ही है, वही चित् है ॥ १२, १३ ॥

जैसे-जैसे यह पूर्वलीला क्रमशः बोधमें परिपक्वतारूप परिणामको प्राप्त हुई, वैसे वैसे बोधसे परब्रह्ममें उसका शरीर हिमकी नाईं गल गया यानी बाधित हो गया ॥ १४ ॥

(आतिवाहिकदेहवालेको समय पाकर रस्सीमें सर्पकी नाईं मैं आधिभौतिक-देहवाला हूँ, ऐसा भ्रम उदित हुआ है ॥ १ ॥)

---

१. कुछ पुस्तकोंमें यह पाठ अधिक है।

आतिवाहिकदेहेन दृश्यं यदवलोकितम् ।
भूम्यादि नाम तस्यैव कृतं तच्चाऽऽधिभौतिकम् ॥ १५ ॥
वास्तवेन तु रूपेण भूम्याद्यात्माऽऽधिभौतिकः ।
न शब्देन न चाऽर्थेन सत्यात्मा शशशृङ्गवत् ॥ १६ ॥
पुंसो हरिणकोऽस्मीति स्वप्ने यस्योदिता मतिः ।
स किमन्विष्यति मृगं स्वमृगत्वपरीक्षये ॥ १७ ॥
उदेत्यसत्यमेवाऽऽशु तथा सत्यं विलीयते ।
भ्रान्तिर्भ्रमवतो रज्ज्वामपि सर्पभ्रमे गते ॥ १८ ॥
समस्तस्याऽप्रबुद्धस्य मनोजातस्य कस्यचित् ।
बीजं विना मृषैवेयं मिथ्यारूढिमुपागता ॥ १९ ॥

केवल उसी देहकी आधिभौतिकता बाधित नहीं हुई, किन्तु भूमि आदि सम्पूर्ण वस्तुओंकी भी आधिभौतिकता नष्ट हो गई। 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्निकी अग्निता गई, शुक्ल, कृष्ण और रक्त—ये तीन रूप ही सत्य हैं, यानी इन तीन रूपोंसे अतिरिक्त अग्निमें जो अग्नित्वकी प्रतीति तुम्हें हुई थी, वह नहीं रही) इस श्रुतिसे उनकी स्थूलताका बाध होनेसे केवल आतिवाहिकता अवशिष्ट रहती है, इस आशयसे कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे।

आतिवाहिकताबुद्धिसे यानी सूक्ष्मतमसमष्टिमनोमात्रत्वबुद्धिसे तत्त्वदृष्टि द्वारा लीलाने जो दृश्य देखा, उसीका पहले भ्रान्तिसे पृथिवी आदि नाम रक्खा, वही आधिभौतिक है ॥ १५ ॥

भूमि आदि रूप आधिभौतिक प्रपञ्च शशके शृङ्गकी नाईं वास्तविक रूपसे न शब्दतः और न अर्थतः ही सत्यस्वरूप है ॥ १६ ॥

जिस मनुष्यको स्वप्नमें मैं हरिण हूँ, ऐसी बुद्धि हुई, वह क्या अपनी मृगताका विनाश होनेपर मृगको खोजता है। भाव यह है कि बाधित वस्तुके अन्वेषणमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ॥ १७ ॥

भ्रान्त पुरुषकी दृष्टिमें भ्रमवश असत्य वस्तुका तुरन्त आविर्भाव होता है और सत्य वस्तु तिरोहित होती है, परन्तु सर्पकी भ्रान्तिके मिट जानेपर भी क्या फिर रस्सीमें सर्पका भ्रम हो सकता है ? कदापि नहीं ॥ १८ ॥

यों अज्ञ मनकी समष्टिने ही इस आधिभौतिक प्रपञ्चकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं—'समस्तस्य' इत्यादिसे।

स्वप्नोपलम्भं सर्गाख्यं स सर्वोऽनुभवन् स्थितः ।
चिरमावृत्तदेहात्मा भूचक्रभ्रमणं यथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् लोकैः पुरस्थस्य गच्छतो योगिनो निजम् ।
आतिवाहिकतां देहः कीदृशोऽयं विलोक्यते ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देहाद् देहान्तरप्राप्तिः पूर्वदेहं विना सदा ।
आतिवाहिकदेहेऽस्मिन् स्वप्नेष्विव विनश्वरी ॥ २२ ॥

प्रत्येक ब्रह्माण्डके भिन्न-भिन्न असंख्य मनसमूहोंके मध्यमें किसी एक मन-समूहकी यह यानी इस ब्रह्माण्डकी स्थूलत्वभ्रान्ति वृथा प्रसिद्धिको प्राप्त हुई है और वह मिथ्या एवं निर्बीज है ॥ १९ ॥

सभी अज्ञ पुरुष, जो कि जन्म और मरणसे युक्त देहको ही आत्मा समझते हैं, स्वप्नके तुल्य प्राप्त होनेवाले इस सृष्टिका अनुभव करते रहते हैं, जैसे कि चक्कर काटता हुआ बालक भूमिके मण्डलके भ्रमणका अनुभव करता है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जीवितावस्थामें वर्तमान, अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त हो रहे अथवा मरे हुए योगीके आतिवाहिकताको प्राप्त शरीरको सब लोग देखते हैं यह कैसा व्यवहार है । श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका आशय यह है कि यदि योगीका शरीर आधिभौतिक नहीं है तो जब वह जीवित रहता है या आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है यानी मुक्तिको प्राप्त होता है अथवा मर जाता है, तो आतिवाहिकताको प्राप्त हुए उसके शरीरको लोग कैसे देखते हैं ? न तो आतिवाहिक शरीर लोगोंके दृष्टिगोचर होता है और न मुक्तिकालमें अवशिष्ट ही रहता है ॥ २१ ॥

योगियोंका मरना दो प्रकारका होता है एक तो प्रारब्धभोगके लिए अपने इच्छानुसार विविध शरीरोंकी कल्पना और दूसरा सम्पूर्ण प्रारब्धका विनाश होनेपर विदेहकैवल्यकी प्राप्ति। प्रथम मरणमें पूर्वशेष नहीं रहता, ऐसा कहते हैं—'देहाद्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसे स्वप्नोंमें, आतिवाहिक देहमें एक देहका (मृग भावका) त्यागकर अन्य देहकी (मनुष्यादिभावकी) कल्पना, जो कि अनित्य है, पूर्वदेहके

यथाऽऽतपे हिमकणः शरद्व्योम्नि सितोऽम्बुदः ।
दृश्यमानोऽप्यदृश्यत्वमित्येवं योगिदेहकः ॥ २३ ॥
द्रागित्येवाऽथवा कश्चिद् योगिदेहो न लक्ष्यते ।
योगिभिश्च पुरो वेगात् प्रोड्डीन इव खे खगः ॥ २४ ॥
स्ववासनाप्रसेणैव क्वचित् केचित् कदाचन ।
मृतोऽयमिति पश्यन्ति केचिद् योगिनमग्रगाः ॥ २५ ॥

परिशेषके बिना ही होती है वैसे योगियोंको भी प्रारब्ध भोगके लिए एक देहसे दूसरी देहकी प्राप्ति सदा पूर्वदेहके परिशेषके बिना ही होती है ॥ २२ ॥

दूसरेमें भी पूर्वदेहका परिशेष नहीं रहता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं— 'यथाऽऽतपे' इत्यादिसे ।

जैसे घाममें हिमकण, शरत्कालके आकाशमें सफेद मेघ यद्यपि दिखाई देता है तथापि धीरे-धीरे उसका क्षय होनेपर उसके परिशेषका भ्रम थोड़े समय तक रहता है वैसे ही योगीका शरीर भी दिखाई देता हुआ भी अदृश्यताको प्राप्त होता है यानी उसके भी परिशेषका भ्रम स्वल्पकालव्यापी होता है ॥ २३ ॥

धीरे-धीरे क्षयको प्राप्त होता है और अन्य लोग उसे देखते हैं, इसमें भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि किन्हीं योगियोंके 'इसका तुरन्त नाश हो' इस प्रकारके संकल्पसे उसका तुरन्त नाश होना भी असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—'द्राग्' इत्यादिसे ।

तुरन्त नष्ट हो जाय, ऐसे संकल्पसे किसी योगीका शरीर, आकाशमें अपने सामनेसे वेगके साथ उड़े हुए पक्षीके समान योगियोंको भी नहीं दिखाई देता साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? जीवनावस्थामें भी 'ये मुझे ऐसा देखें' ऐसे उसके (योगीके) सत्यसंकल्पवश ही लोग योगीकी देहको देखते हैं न कि उसकी देहके आधिभौतिक होनेके कारण देखते हैं, यह तात्पर्य है ॥ २४ ॥

अथवा इस विषयको यों हृदयंगम करना चाहिये कि यद्यपि योगी जनोंको अपनी दृष्टिसे अपने शरीरकी आतिवाहिकताका ही अनुभव होता है किन्तु उस शरीरके दर्शनसुखका उपभोग करानेवाले अदृष्टसे युक्त अज्ञानी लोगोंकी वासनासे उसकी भौतिकता, मृत्यु आदिकी कल्पना हो सकती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

भ्रान्तिमात्रं तु देहात्मा तेषां तदुपशाम्यति ।
सत्यबोधेन रज्जूनां सर्पबुद्धिरिवाऽऽत्मनि ॥ २६ ॥
को देहः कस्य वा सत्ता कस्य नाशः कथं कुतः ।
स्थितं तदेव यदभूदबोधः केवलं गतः ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

आतिवाहिकतामेति आधिभौतिक एव किम् ।
उताऽन्य इति मे ब्रूहि येनोह्य इव भोः प्रभो ॥ २८ ॥

कोई पुरोवर्ती पुरुष कभी कहींपर अपनी वासनासे उत्पन्न भ्रमसे 'यह मर गया' यों देखते हैं, कोई जीवित देखते हैं। अतएव विदेहमुक्त श्रीशुकदेवजीका परीक्षित्‌की सभामें दर्शन होना और भागवतकथाका उपदेश देना संगत होता है ॥ २५ ॥

दूसरी बात यह है कि योगियोंको जब ज्ञानप्राप्ति होती है, उसी समय उनकी देह आदिका बाध हो जाता है, इसलिए उनकी दृष्टिसे उनकी जीवित-दशामें भी उनका शरीर नहीं रहता है, ऐसा कहते हैं—'भ्रान्तिमात्रम्' इत्यादिसे।

देहमें आत्मबुद्धि केवल भ्रान्ति ही है, आत्मतत्वका ज्ञान होनेसे उनकी अपनेमें वह भ्रान्ति रस्सीका ज्ञान होनेसे रज्जुमें सर्पबुद्धिके समान नष्ट हो जाती है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा ध्यान देकर विचार तो कीजिये देह क्या थी, किसकी थी, किसकी सत्ता रही, किसका विनाश हुआ और कैसे हुआ ? जो वस्तु वास्तवमें थी, वही केवल रह गई, एकमात्र अज्ञान चला गया। भाव यह कि ज्ञान होनेपर जो वस्तु शेष रह गई वही वास्तविक है और जो चली गई, वह सब अज्ञान ही (भ्रम ही) था ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीके उक्त कथनसे श्रीरामचन्द्रजीको यह शङ्का हुई कि यदि योगियोंकी देह बाधित होती है तो बाधितका अन्य रूपमें परिणाम हो नहीं सकता, अतः कहना होगा प्रारब्ध भोगके लिए दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्थामें उसका दूसरा जन्म हो गया फिर वह जीवन्मुक्त कहाँ रहा ? इतना ही नहीं 'न स भूयोऽभिजायते' (वह फिर जन्म नहीं लेता) इत्यादि शास्त्रसे विरोध भी हुआ। उक्त शङ्काके समाधानके लिए वे गुरुजीसे पूछते हैं—'आतिवाहिकताम्' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठ उवाच

बहुशो ह्युक्तमेतत्ते न गृह्णासि किमुत्तम।
आतिवाहिक एवाऽस्ति नाऽस्त्येवेहाऽऽधिभौतिकः ॥ २९ ॥
तस्यैवाऽभ्यासतोऽप्येति साऽऽधिभौतिकतामतिः।
यदा शाम्यति सैवाऽस्य तदा पूर्वा प्रवर्तते ॥ ३० ॥
तदा गुरुत्वं काठिन्यमिति यश्च मुधा ग्रहः।
शाम्येत् स्वप्ननरस्येव बोद्धुर्बोधान्निरामयात् ॥ ३१ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, क्या योगीका आधिभौतिक शरीर ही आतिवाहिक बन जाता है, अथवा दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। यदि प्रथम पक्ष मानिये, तो बाधित शरीरका दूसरे शरीरमें परिणाम होना सभी प्रमाणोंसे विरुद्ध है। यदि दूसरा पक्ष मानिये तो ज्ञानका फल मुक्ति है, यह शास्त्रसिद्धान्त बाधित होता है। दोनों ही प्रकारोंसे अनुपपत्ति होनेके कारण मैं सन्देहरूपी तेज धारामें बह-सा रहा हूँ, कृपया मेरे संशयको दूर कीजिये ॥ २८ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सुनिये, जिसे आप आधिभौतिक शरीरका आतिवाहिक-रूपसे परिणाम कहते हैं, वह परिणाम नहीं है, किन्तु ज्ञानोत्पत्तिसे स्थूल देहके बाधित होनेपर पहलेसे सिद्ध स्थूल शरीरके अधिष्ठानभूत सूक्ष्म शरीरका अवशेष है। त्रिवृत्करण श्रुति सूक्ष्मदेहसे उपहित ब्रह्ममें स्थूल शरीरके अध्यासका बोध कराती है 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुतिसे स्थूलका बाध होनेपर सूक्ष्मका परिशेष कहा गया है, इसलिए जो दोष आपने दर्शाया उसके लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है! हमने बहुत बार पहले भी आपको यह विषय समझा दिया है, उसका भी जरा स्मरण कीजिये, यों उक्त शङ्काका समाधान करते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'बहुशः' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रेष्ठतम, यह बात मैं आपसे बहुत बार कह चुका हूँ, इसे आप क्यों हृदयंगम नहीं कर रहे हैं। केवल आतिवाहिक ही देह है, यहाँ आधिभौतिक देह है ही नहीं ॥ २९ ॥

आतिवाहिक देहके ही अभ्याससे वह आधिभौतिकता बुद्धि प्राप्त होती है। जब आधिभौतिकता बुद्धि शान्त हो जाती है तब पहले विद्यमान आतिवाहिकता ही रह जाती है ॥ ३० ॥

तब प्रबुद्ध पुरुषके निर्मल बोधसे गुरुता, कठिनता इत्यादिका जो असत् आग्रह

लघुतूलसमापत्तिस्ततः समुपजायते ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानादिव देहस्य योगिनः ॥ ३२ ॥
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानाद् यथा देहो लघुर्भवेत् ।
तथा बोधादयं देहः स्थूलवत् प्लुतिमान् भवेत् ॥ ३३ ॥
अनेकदिनसङ्कल्पदेहे परिणतात्मनाम् ।
अस्मिन् देहे शवे दग्धे तत्रैवाऽऽस्थितिमीयुषाम् ॥ ३४ ॥
लघुदेहानुभवनमवश्यं भावि वै तथा ।
प्रबोधातिशयादेति जीवतामपि योगिनाम् ॥ ३५ ॥
उदितायां स्मृतौ तत्र सङ्कल्पात्माऽहमित्यलम् ।
यादृशः स भवेद् देहस्तादृशोऽयं प्रबोधतः ॥ ३६ ॥

है वह भी, स्वप्न देखनेवाले मनुष्यके निर्मल बोधसे स्वप्नके नगरके गुरुत्व, कठिनत्व आदिके समान चला जाता है ॥ ३१ ॥

जैसे स्वप्नमें यह स्वप्न है, इस ज्ञानसे क्लेश आदिका भार हल्का हो जाता है वैसे ही तब योगीका शरीर हल्का रुईके फाहेके सदृश हो जाता है यानी वह सर्वत्र गमनमें समर्थ हो जाता है ॥ ३२ ॥

जैसे स्वप्नमें यह स्वप्न है, इस परिज्ञानसे शरीर हल्का हो जाता हैं वैसे ही बोध होनेसे स्थूलके सदृश प्रतीत हो रहा यह शरीर आकाशमें गमन-समर्थ हो जाता है ॥ ३३ ॥

जब दृढ़तर स्थूल वासनावाले अज्ञानी पुरुषोंको भी स्थूलशरीरके शव होकर दाह आदि द्वारा नष्ट होनेपर पूर्ववर्ती सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति होती है तब वासना-शून्य ज्ञानी जनोंको स्थूल शरीरका बाध होनेपर स्वाभाविक सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति होती है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—'अनेक०' इत्यादिसे ।

जैसे अनेक दिनोंके संकल्पसे प्राप्त देहको आत्मा समझनेवाले और उसी देहमें दृढ़ आत्माभिमान करनेवाले लोगोंको इस देहके शव होकर जलाये जाने पर अवश्य सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है वैसे ही योगियोंको जीवितावस्थामें ही अतिशय ज्ञान होनेसे सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है ॥ ३४,३५ ॥

स्वप्नमें मैं संकल्पात्मा ही हूँ स्थूलस्वरूप नहीं हूँ, ऐसी* स्मृतिके उदित

---

* ऐसी स्मृति स्वप्नमें योगियोंको ही होती है, उन्हींके अनुभवसे सिद्ध है । पामर पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध नहीं है ।

भ्रान्तिरेवमियं भाति रज्ज्वामिव भुजङ्गता ।
किं नष्टमस्यां नष्टायां जातायां किं प्रजायते ॥ ३७ ॥

श्रीराम उवाच

अनन्तरं ये वास्तव्या लीलां पश्यन्ति ते यदि ।
तत्सत्यसङ्कल्पतया बुध्यन्ते किमतः प्रभो ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं ज्ञास्यन्ति ते राज्ञी स्थितेयमिह दुःखिता ।
वयस्या काचिदन्येयं कुतोऽप्यस्या उपागता ॥ ३९ ॥

होनेपर जैसा (यानी अपनी इच्छाके अनुसार आकाशमें विहार करनेमें समर्थ) शरीर प्राप्त होता है वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी योगीको बोधसे प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि अपनी देह तो सबको परम प्रिय है, उसका नाश करनेवाला ज्ञान अनर्थ नहीं है, तो और क्या है ? उसपर करते हैं— 'भ्रान्तिरेव०' इत्यादिसे ।

जैसे रस्सीमें सर्पकी प्रतीति भ्रान्ति है, वैसे ही यह स्थूलदेहप्रतीति भ्रम ही है । उस भ्रमके नष्ट होनेपर अपना क्या नष्ट हुआ और उत्पन्न होनेपर अपना क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि शुक्तिरजतका विनाश होनेपर क्या कभी कोई शोक करता है ? ॥ ३७ ॥

इस प्रकार प्रासङ्गिक वस्तुका निर्णय होनेपर प्रस्तुत कथाके विषयमें ही श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, पूर्व लीला और नूतन लीलाका पद्मके घरमें समागम होनेके बाद पद्मके घरमें रहनेवाले लोग लीलाको, जो आतिवाहिक देह होनेके कारण दिखाई नहीं दे सकती थी, ये लोग मुझे देखें, इस सत्यसंकल्पके कारण यदि देखते हैं, तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ? क्या यह वही पूर्व पद्मपत्नी है, यह जानते हैं, अथवा कोई अपूर्व देवी आ गई है, यों ज्येष्ठशर्मा आदिके समान विस्मययुक्त हुए, यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वे लोग यह रानी यहाँ दुःखपूर्वक स्थित है, इसकी यह दूसरी सखी कहींसे आ गई है, ऐसा जानते हैं ॥३९॥

सन्देहः क इवाऽत्रैषां पशवो ह्यविवेकिनः ।
यथादृष्टं विचेष्टन्ते कुत एषां विचारणा ॥ ४० ॥
यथा लोष्टो लुठद्वृक्षं वञ्चयित्वाऽऽशु गच्छति ।
अज्ञानत्वेऽजपशवस्तथा ह्यस्ति पुरादिकम् ॥ ४१ ॥
यथा स्वप्नवपुर्बोधान्न जाने क्वेव गच्छति ।
असत्यमेव तद्यस्मात् तथैवेहाऽऽधिभौतिकम् ॥ ४२ ॥

यदि यह शङ्का हो कि दूसरी लीला पहले-पहल आई थी, अतः उसके विषयमें यह कौन है, कहां से आई है, यह सुचरित्र है या व्यभिचारिणी है, सत्य है या असत्य है, ऐसा सन्देह उन लोगोंको क्यों नहीं हुआ ? उसपर कहते हैं—'सन्देहः' इत्यादिसे ।

यहाँपर इनको सन्देह कौनसा होगा ? क्योंकि पशु तो अविवेकी होते ही हैं, जैसा देखा उसीके अनुसार व्यवहार करने लगते हैं। इनको विचार ही कहाँ ? ॥४०॥

उनके विचारके अनुदयमें हेतु क्या है, ऐसा यदि कोई कहे, तो स्थूलमें अभिनिवेश तथा सार, दार्ढ्य, सूक्ष्मता आदिसे शून्यता हेतु है, ऐसा दृष्टान्तसे सूचित करते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षको नष्ट करनेके लिए जोरसे फेंका गया ढेला वृक्षमें पहुँचकर स्वयं अपना ही नाश करता है बाणकी नाईं भीतर नहीं घुसता और न कीचड़के पिण्डकी नाईं वृक्षसे चिपट जाता है और न पत्थरके समान तनिक भी आघात पहुँचाकर स्वयं फिर उपघातके योग्य ही बना रहता है, किन्तु शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे लोग भी, ज्ञान न होनेके कारण, वस्तुतः पशु (अजारूप पशु) यानी विचार करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' (जो अन्य देवताकी उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार वह पशुकी भाँति अज्ञानी है) ऐसी श्रुति है । उनके विचारके अनुदयमें केवल अज्ञान ही कारण नहीं है, किन्तु शरीर, काम, कर्म, वासना आदि भी उनके पशुके तुल्य ही होते हैं, इसलिए उनमें विचारका उदय न होना ठीक ही है ॥ ४१ ॥

जो विचार करते हैं, उनमें क्रमशः आधिभौतिकताकी प्रतीति बोधसे बाधित हो जाती है, अतः उनमें आधिभौतिकताकी प्रतीति रहती नहीं फिर सन्देह आदिकी प्रसक्ति तो दूर रही, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

श्रीराम उवाच

भगवन् स्वप्नशिखरी प्रबोधे क्व गच्छति ।
इति मे संशयं छिन्धि शरदभ्रमिवाऽनिलः ॥ ४३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः ।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ ४४ ॥
अस्पन्दस्य यथा वायोः स स्पन्दोऽन्तर्विशत्यलम् ।
अनन्यात्मा तथैवाऽयं स्वप्नार्थः संविदो मलम् ॥ ४५ ॥
स्वप्नाद्यर्थावभासेन संविदेव स्फुरत्यलम् ।
अस्फुरन्ती तु तेनैव यात्येकत्वं तदात्मिका ॥ ४६ ॥

जैसे स्वप्नशरीर बोधसे (जागरणसे) न जाने कहाँ चला जाता है, अतः वह असत्य ही है वैसे ही आधिभौतिक भी बोध होनेपर कहीं चला जाता है यानी विलीन हो जाता है, अतः वह भी असत्य ही है ॥ ४२ ॥

दृष्टान्तके प्रसङ्गसे श्रीरामचन्द्रजी स्वाप्नविषयका मूलाज्ञानके बाधके बिना आत्यन्तिक बाध नहीं है, वह कहाँ छिपकर रहता है, वह स्थान कौन है, ऐसा पूछते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, वह स्वप्नरूपी पर्वत बोध होनेपर कहाँ रहता है, मेरे इस सन्देहको जैसे वायु शरत्कालके मेघको नष्ट कर देता है, वैसे ही आप दूर कीजिये ॥ ४३ ॥

स्वाप्न जगत् और मनोरथजन्य प्रपञ्च जाग्रत् वासनासे संचित अविद्यासे उपहित जीवकी संवित्से उत्पन्न है, इसलिए जिससे उसकी उत्पत्ति है, उसीमें उसका तिरोभाव होता है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'स्वप्नभ्रमे' इत्यादिसे ।

स्वप्नभ्रान्तिमें और मनोरथमें पर्वत आदि पदार्थ जैसे स्पन्दन (गति) वायुमें अन्तर्भूत होते हैं वैसे ही संवित्के अन्दर विलीन हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

जैसे स्पन्दरहित वायुके अन्दर वह स्पन्द विलीन हो जाता है वैसे ही अनन्यस्वरूप (अन्य तात्त्विक स्वरूपहीन) ये स्वाप्निक पदार्थ संवित्के मलकी नाईं आवरक अपने उपादानभूत अज्ञानमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४५ ॥

स्वप्न आदि पदार्थोंके अवभाससे संवित् ही खूब स्फुरणको प्राप्त होती है

संवित्स्वप्नार्थयोर्द्वित्वं न कदाचन लभ्यते ।
यथा द्रवत्वपयसोर्यथा वा स्पन्दवातयोः ॥ ४७ ॥

यस्तत्र स्यादिवाऽवोधस्तदज्ञानमनुत्तमम् ।
सैषा संसृतिरित्युक्ता मिथ्याज्ञानात्मिकोदिता ॥ ४८ ॥

सहकारिकारणानामभावे किल कीदृशी ।
संवित्स्वप्नपदार्थानां द्विता स्वप्ने निरर्थिका ॥ ४९ ॥

यथा स्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नाऽस्त्यत्र संशयः ।
स्वप्ने पुरमसद् भाति सर्गादौ भात्यसज्जगत् ॥ ५० ॥

स्फुरणको प्राप्त न होती हुई वह संवित्, जो कि स्वप्न पदार्थरूप है, पदार्थोंके साथ एकताको प्राप्त होती है ॥ ४६ ॥

जैसे द्रवत्व और जलमें भेद नहीं है और जैसे स्पन्द (चलन) और वायुमें भेद नहीं है वैसे ही संवित् और स्वाप्न पदार्थोंमें भेद कदापि नहीं पाया जाता है। भाव यह है कि संवित् ही अज्ञात होकर कर्मवश कभी स्वाप्निक पदार्थोंके रूपमें स्फुरित होती है, विवेक होनेपर स्वाप्न पदार्थ और संवित्में कोई अन्तर नहीं रहता ॥ ४७ ॥

जो उसमें अन्य-सा प्रतीत होता है, वह अविद्या ही है, वही संसार है, ऐसा कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो उसमें अन्य-सा प्रतीत होता है, वह सबसे बढ़कर अज्ञान है, वही 'संसार' कहा गया है, वह मिथ्याज्ञानरूप ही है ॥ ४८ ॥

सहकारी कारणोंका अभाव होनेसे स्वप्नमें संवित् और स्वप्नके पदार्थोंका भेद निरर्थक ही है। भाव यह कि स्वाप्निक पदार्थ लोकप्रसिद्ध दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारणोंसे उत्पन्न न होनेके कारण भी असत् है ॥ ४९ ॥

यदि ऐसी बात है तो सहकारी कारणवाले जगत् प्रपञ्चमें सत्यता प्राप्त हुई ? इस शङ्काका समाधान करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसा संवित्रूप स्वप्न है वैसा ही यह जाग्रत् भी संवित्रूप ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। स्वप्नमें असत्य नगरकी प्रतीति होती है और सृष्टिके आदिमें असत् जगत्का भान होता है। भाव यह है कि यद्यपि इस समय सहकारी आदि हैं

न चाऽर्थो भवितुं शक्यः सत्यत्वे स्वप्नतोदितः ।
संविदो नित्यसत्यत्वं स्वप्नार्थानामसत्यता ॥ ५१ ॥
झटित्येव यथाऽऽकाशं भवति स्वप्नपर्वतः ।
क्रमेण वा तथा बोधे खं भवत्याधिभौतिकम् ॥ ५२ ॥
उड्डीनोऽयं मृतो वेति पश्यन्ति निकटस्थिताः ।
ज्ञमातिवाहिकीभूतं स्वस्वभावहता यतः ॥ ५३ ॥

तथापि आदि सृष्टिमें अज्ञानोपहित हिरण्यगर्भकी संवित्से अतिरिक्त कुछ नहीं था, अतः जगत्की स्वप्नतुल्यता हो गई ॥ ५० ॥

प्रपञ्चको यदि सत्य मानो, तो उसमें भी संवित्के समान चित्त्व हो जायगा, ऐसी स्थितिमें उसमें चिद्विषयत्वका व्यांघात हो जायगा, ऐसा कहते हैं— 'न च' इत्यादिसे ।

स्वप्नता यानी स्वरूपके अज्ञानसे उदित हुए प्रपञ्चको यदि सत्य मानो, तो वह संविद्-भास्य नहीं होगा । और दूसरी बात यह भी है कि संवित्का सत्तासे व्यभिचार नहीं है और पदार्थोंका उससे व्यभिचार होता है, इसलिए वे सत्य नहीं हो सकते, ऐसा कहते हैं—'संविदः' इत्यादिसे। संवित्की नित्यसत्यता और स्वाप्न पदार्थोंकी असत्यता है, अतएव प्रपञ्च सत्य नहीं हो सकता है ॥ ५१ ॥

'तत्त्वज्ञानसे बाध्य होनेके कारण भी यह प्रपञ्च सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—'झटित्येव' इत्यादिसे ।

जैसे जागरण होनेपर स्वप्नका पर्वत तुरन्त शून्यताको प्राप्त हो जाता है, तनिक भी अवशिष्ट नहीं रहता, वैसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर आधिभौतिक (प्रपञ्च) बोधाभ्यास क्रमसे या सहसा ईश्वरके अनुग्रहसे असत् यानी शून्य हो जाता है ॥ ५२ ॥

ऐसी अवस्थामें श्रीशुकदेवजीका सूर्यमण्डलगमन और दधीचि आदि ऋषियोंके मृतक शरीरका दर्शन लोगोंको कैसे हुआ ? इस शङ्कापर कहते हैं— 'उड्डीनोऽयम्' इत्यादिसे ।

निकटस्थित लोग आतिवाहिकताको प्राप्त हुए (यानी जिसके आधिभौतिक शरीरका बाध हो चुका है, ऐसे) तत्त्वज्ञानीको 'यह उड़ गया अथवा यह मर गया' ऐसा देखते हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञानसे विनष्टप्राय हैं। भाव

मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः ॥ ५४ ॥
स्वप्नानुभूतय इमा मरणान्तबोधे
भ्रान्त्येतरभ्रमदृशः स्फुटसर्गभासः ।
भान्त्यातिवाहिकशरीरगताः समस्ता
मिथ्योदिता मृगनदीसरणक्रमेण ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्नार्थस्य विचारो नाम सप्तपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५७ ॥

———:॰:———

यह कि अपने अज्ञानसे कल्पित देहको ही वे देखते हैं, ज्ञानीकी देहको नहीं देखते ॥ ५३ ॥

उक्त अर्थको अनुमानप्रमाणसे भी दृढ़ कर रहे श्रीवसिष्ठजी दो श्लोकोंसे प्रकरणका उपसंहार करते हैं—'मिथ्यादृष्टयः' इत्यादिसे ।

ये द्वैतदृष्टिवाली (द्वैतदर्शनवाली) सृष्टियां मिथ्या दृष्टियाँ हैं, क्योंकि मोह-दृष्टियाँ हैं यानी अज्ञानसे उनका दर्शन होता है । ऐन्द्रजालिककी केवल मायाका दर्शन करनेवालेकी भ्रान्ति (उसमें सत्यत्वभ्रम) सबको होती है और स्वप्नमें जिनका अनुभव होता है, वे पदार्थ अर्थशून्य हैं, यह भी सबको प्रसिद्ध है ॥५४॥

पूर्व-पूर्व पदार्थोंके भेदरूपी भ्रमका दर्शन करनेवाले पुरुषमें दृढतर भेदसंस्कारका उदय होनेसे प्राणोंके उत्क्रमणके पूर्व क्षणमें उत्पन्न भावी भोगोंके अनुकूल पदार्थोंकी प्रतीति होनेपर बिलकुल स्पष्ट जो ये सृष्टिकी प्रतीतियाँ हैं, ये यद्यपि केवल मनोमात्रनिष्ठ हैं, तथापि मृगतृष्णाकी नदीके प्रवाहकी नाईं मिथ्या उदित हुई हैं और भ्रान्तिसे बाह्य-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तवमें मनके बाहर नहीं हैं ॥५५॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

———*———

अष्टपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे ज्ञप्तिर्जीवं वैदूरथं पुनः ।
सङ्कल्पेन रुरोधाऽऽशु मनसः स्पन्दनं यथा ॥ १ ॥

लीलोवाच

वद देवि कियान् कालो गतोऽस्यामिह मन्दिरे ।
समाधौ मयि लीनायां महीपाले शवे स्थिते ॥ २ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

इह मासस्त्वतिक्रान्त इह दास्याविमे तव ।
रक्षार्थं वासगृहके स्वपतोऽवहिते स्थिते ॥ ३ ॥
शृणु देहस्य किं वृत्तं तवेह वरवर्णिनि ।
शरीरं तव पक्षेण तत् क्लिन्नं बाष्पतां गतम् ॥ ४ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

[समय, समाधिमें स्थित लीलाकी देहका विनाश, लीलाके साथ सम्भाषण और राजा पद्मके पुनः जीनेका वर्णन]

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके प्रासङ्गिक प्रश्नोंका समाधान कर प्रकृत कथाके अवशिष्ट अंशका वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी सर्गकी समाप्ति तककी कथाके लिए भूमिका बाँधते हैं—'एतस्मिन्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीचमें श्रीसरस्वती देवीजीने अमूर्त मनकी चेष्टाके समान राजा विदूरथके जीवका अपने सत्यसङ्कल्पसे निरोध किया ॥ १ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, इस पाद्म सृष्टिमें इस मन्दिरमें मेरी समाधिमें और राजा पद्मकी शवावस्थामें कितना समय व्यतीत हुआ ॥ २ ॥

श्रीसरस्वती देवीजीने कहा—भद्रे, इस सृष्टिमें, इस राजमहलमें एक महीना व्यतीत हुआ । ये तुम्हारी दो दासियाँ, जो तुम्हारी देहकी रक्षाके लिए सावधान थीं, अब सोती हैं ॥ ३ ॥

लीलाके शरीरका, जो अज्ञानसे कल्पित तथा लीलाको स्वानुभवसिद्ध था,

निर्जीवं पतितं भूमौ संशुष्कमिव पल्लवम् ।
काष्ठकुड्योपमो जातः शवस्तु हिमशीतलः ॥ ५ ॥
ततो मन्त्रिभिरागत्य मृतैवेयमिति स्वयम् ।
क्रुदालोकाद् विनिर्णीय भूयो निष्कासितं गृहात् ॥ ६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन नीत्वा चन्दनदारुभिः ।
चितौ संक्षिप्य सघृतं सहसा भस्मसात् कृतम् ॥ ७ ॥
ततो राज्ञी मृतेत्युच्चैः कृत्वा रोदनमाकुलम् ।
परिवारस्तवाऽशेषं कृतवानौर्ध्वदेहिकम् ॥ ८ ॥
इदानीं त्वामिहाऽऽलोक्य सशरीरामुपागताम् ।
परलोकादागतेति महच्चित्रं भविष्तति ॥ ९ ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानसे बाध हो चुका था, फिर भी वह शेष प्रारब्धके भोगके लिए प्रतीत हो रहा था। पहले उसकी आतिवाहिकताका वर्णन किया गया, अब दूसरोंके अज्ञानसे कल्पित और दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध लीलाके शरीरका वृत्तान्त कहते हैं—'भृणु' इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, यहाँपर तुम्हारी देहका क्या वृत्तान्त हुआ ? इसे तुम सुनो । तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिनोंमें पसीनेसे तर होकर प्राणायामसे प्रदीप्त हुई जठराग्निसे तपकर भाप बन गया । तदनन्तर सूखे हुए पल्लवके समान निर्जीव होकर भूमिमें गिर पड़ा, फिर काष्ठ और दिवारके समान निर्जीव और बर्फके समान शीतल शव (मुर्दा) बन गया* । तब मन्त्रियोंने आकर शिथिल अङ्ग प्रत्यङ्ग और खुला मुँह देखनेसे 'यह स्वयं ही मर गई' ऐसा निश्चयकर उस शवको घरसे बाहर किया । बहुत क्या कहें, उसे श्मशानमें ले जाकर चन्दनके काष्ठोंसे बनी चितामें रखकर घृतके साथ उसे सहसा जला डाला ॥ ४–७ ॥

तदनन्तर तुम्हारे परिवारने महारानी मर गई, यों जोरसे रो-पीटकर सम्पूर्ण और्ध्वदेहिक क्रिया की । इस समय यहाँपर तुमको सशरीर आई हुई देखकर उन्हें यह परलोकसे लौट आई, ऐसा महान् आश्चर्य होगा ॥ ८,९ ॥

---

* राजाके शरीरमें विकार न आनेका कारण देवी सरस्वतीका 'यह ऐसा निर्विकार बना रहे' ऐसा सत्यसंकल्प और राजाका इस शरीरसे भोग्य अदृष्ट है, यह समझना चाहिए ।

त्वं तु तेन शरीरेण सत्यसङ्कल्पतः सुते ।
दृश्यसे स्ववदातेन चित्रं तत्र तवोपरि ॥ १० ॥
यद्वासना त्वमभवो देहं प्रति तदेव ते ।
रूपमभ्युदितं बाले तेन प्राक्सदृशं तव ॥ ११ ॥
स्ववासनानुसारेण सर्वः सर्वं हि पश्यति ।
दृष्टान्तोऽत्राऽविसंवादी बालवेतालदर्शनम् ॥ १२ ॥
आतिवाहिकदेहाऽसि संपन्ना सिद्धसुन्दरि ।
विस्मृतस्त्वेव देहोऽसौ प्राक्तनोऽनपवासनः ॥ १३ ॥
रूढातिवाहिकदृशः प्रशाम्यत्याधिभौतिकः ।
बुधस्य दृश्यमानोऽपि शरन्मेघ इवाऽम्बरे ॥ १४ ॥

हे पुत्री, तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त स्वच्छ आतिवाहिक शरीरसे, जिसे मनुष्य नहीं देख सकते, दिखाई देती हो, इसलिए तुम्हारे दर्शनसे लोगोंको और आश्चर्य होगा ॥ १० ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि दिव्य शरीर पूर्वदेहके आकारवाला नहीं होगा, तो लोगोंको उसमें 'यही वह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, इसलिए उसका पूर्व शरीरके सदृश आकार होना आवश्यक है, उसके पूर्व शरीरके आकारवाला होनेमें क्या बीज है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए उसके पूर्व शरीराकार होनेमें हेतु कहती हैं—'यत्'. इत्यादिसे ।

हे वत्से, अपने शरीरके प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, वही तुम्हें रूप प्राप्त हुआ, इसलिए तुम्हारा शरीर पूर्व शरीरके सदृश हुआ ॥ ११ ॥

यदि मुझे उस देहकी वासना थी, तो राजाकी नाईं मुझे वही देह क्यों नहीं मिला ? इसपर कहती हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

सब लोग अपनी वासनाके अनुसार ही सब पदार्थोंको देखते हैं, इस विषयमें बालकका वेतालदर्शन अनुरूप दृष्टान्त है, जैसे अपनी वासनाके अनुसार स्तम्भ आदिमें बालकको वेतालकी भ्रान्ति होती है, वैसे ही तुम्हें अपनी वासनाके अनुसार यह शरीर प्राप्त हुआ है और राजाको अपनी वासनाके अनुसार वही शरीर मिला । हे सिद्धसुन्दरी, इसमें कारण यह है कि तुम आतिवाहिक देहवाली हो गई हो । पूर्वजन्मके देहको तो तुम भूल चुकी हो, अतएव उसपर तुम्हारी

रूढातिवाहिकीभावः सर्वो भवति देहकः ।
निर्जलाम्भोदसदृशो निर्गन्धकुसुमोपमः ॥ १५ ॥
सद्वासनस्य रूढायामातिवाहिकसंविदि ।
देहो विस्मृतिमायाति गर्भसंस्थेव यौवने ॥ १६ ॥
एकत्रिंशेऽद्य दिवसे प्राप्ता वयमिहाऽम्बरे ।
प्रभाते मोहिते दास्यौ मयैते निद्रयाऽधुना ॥ १७ ॥
तदेहि यावल्लीलायै लीले सङ्कल्पलीलया ।
आत्मानं दर्शयावोऽस्यै व्यवहारः प्रवर्तताम् ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आवां तावदिमे लीला पश्यत्वित्येव चिन्तिते ।
ज्ञप्त्या देव्या ततस्तत्र दृश्ये दीप्ते बभूवतुः ॥ १९ ॥

वासना नहीं रही । जिस ज्ञानी पुरुषकी आतिवाहिक दृष्टि बद्धमूल हो जाती है, दूसरोंको आधिभौतिकरूपसे दिखाई देता हुआ भी उसका शरीर आकाशमें शरत्कालके मेघकी नाईं शान्त हो जाता है ॥ १२–१४ ॥

जिनमें आतिवाहिकता बद्धमूल है, ऐसे सभी शरीर जलरहित शरत्कालीन मेघके तुल्य और गन्धहीन पुष्पकी तरह होते हैं ॥ १५ ॥

वासनायुक्त* पुरुषमें आतिवाहिकभावके बद्धमूल होनेपर जैसे यौवनावस्थामें गर्भमें निवास विस्मृत हो जाता है, वैसे ही आधिभौतिक देहका विस्मरण हो जाता है ॥ १६ ॥

आज इकतीसवें दिन हम इस मण्डपाकाशमें प्राप्त हुई हैं। इस समय प्रभातकाल होनेपर मैंने ही इन दासियोंको निद्रासे मोहित कर दिया है ॥ १७ ॥

हे लीले, आओ, तबतक अपने सत्य संकल्पके विलाससे इस लीलाको अपना स्वरूप दिखावें और हमारा मानवोचित व्यवहार प्रवृत्त हो ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन हमको (लीला और सरस्वती देवीको) विदूरथकी पत्नी लीला देखे, यों सरस्वती देवीके चिन्तन करते ही वहांपर सरस्वती और लीला दृश्य हो गईं ॥ १९ ॥

---

* वासनाका अत्यन्त उच्छेद होनेपर आतिवाहिक देहकी कल्पना भी नहीं हो सकती है, यह सूचन करनेके लिए वासनायुक्त कहा है ।

सा विदूरथलीलाऽथ समाकुलविलोचना ।
गृहमालोकयामास तत्तेजःपुञ्जभास्वरम् ॥ २० ॥
चन्द्रबिम्बादिवोत्कीर्णं धौतं हेमद्रवैरिव ।
ज्वालाया द्रवशीतायास्तत्प्रभाद्रवभित्तिमत् ॥ २१ ॥
गृहमालोक्य पुरतो लीलाज्ञप्ती विलोक्य ते ।
उत्थाय संभ्रमवती तयोः पादेषु साऽपतत् ॥ २२ ॥
मज्जयायाऽऽगते देव्यौ जयतां जीवनप्रदे ।
इह पूर्वमहं प्राप्ता भवत्योर्मार्गशोधिनी ॥ २३ ॥
इत्युक्तवत्यां तस्यां ता मानिन्यो मत्तयौवनाः ।
उपाविशन् विष्टरेषु लतामेरुशिरःस्विव ॥ २४ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

सुते वद कथं प्राप्ता त्वमिमं देशमादितः ।
किं वृत्तं ते त्वया दृष्टं किमिवाऽध्वनि कुत्र वा ॥ २५ ॥

उनके दृश्य होनेके बाद विदूरथ-लीलाकी आँखोंमें चकाचौंध हो गई। उसने अपने घरको उनके तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान देखा ॥ २० ॥

द्रवसे शीतल दीप्तिके कारण चन्द्रमाके बिम्बसे निकाले गये–से और उनकी कान्तिरूपी द्रवसे युक्त भित्तिवाला होनेके कारण सोनेके द्रवसे (पानीसे) धोये गये-से घरको देखकर और आगे लीला और सरस्वती देवीजीको देखकर बड़े वेगसे उठकर वह उनके चरणोंपर गिर पड़ी ॥ २२ ॥

हे देवियो, आप मेरी विजयके लिए यानी कल्याणके लिए आई हैं और आप जीवन देनेवाली हैं, आपकी जय हो। आपकी सेविका मैं यहाँपर पहले प्राप्त हुई हूँ। उसके ऐसा कहनेपर पूर्ण यौवनवाली वे तीनों माननियाँ जैसे मेरुके शिखरोंमें लताएँ बैठती हैं, वैसे ही सोनेके आसनोंपर बैठ गई ॥२३, २४॥

श्रीसरस्वती देवीने कहा—हे पुत्रि, पहलेसे आरम्भ कर तुम यह बताओ कि तुम यहाँ कैसे आई, रास्तेमें कहांपर क्या आश्चर्यकारी घटना घटी और तुमने क्या देखा ? ॥ २५ ॥

विदूरथलीलोवाच

देवि तस्मिन् प्रदेशे सा जातमूर्छा तदाऽभवम् ।
द्वितीयेन्दोः कलेवाऽहं कल्पान्तज्वालया हता ॥ २६ ॥
न चेतितं मया किञ्चित् समं विषममेव च ।
ततस्तरलपक्ष्मान्ते विनिमील्य विलोचने ॥ २७ ॥
ततो मरणमूर्छान्ते पश्यामि परमेश्वरि ।
यावदभ्युदिताऽस्म्याशु प्लुता च गगनोदरे ॥ २८ ॥
भूताकाशोऽनिलरथं समारूढाऽस्म्यहं ततः ।
आनीता गन्धलेखेव तेनाऽहमिममालयम् ॥ २९ ॥
देवि पश्यामि सदनं नायकेनाऽभ्यलङ्कृतम् ।
दीप्तदीपं विविक्तं च महार्हशयनान्वितम् ॥ ३० ॥
पतिमालोकयामीमं यावदेष विदूरथः ।
शेते कुसुमगुप्ताङ्गो मधुः पुष्पवने यथा ॥ ३१ ॥
अथ संग्रामसंरम्भश्रमार्त्तोऽयं स्वपित्यलम् ।
इति निद्रा मया सेयं देवेश्वरि न वारिता ॥ ३२ ॥

विदूरथकी लीलाने कहा—हे देवि, उस समय विदूरथके गृहप्रदेशमें कल्पान्तकी ज्वालासे मूर्च्छित द्वितीया तिथिकी चन्द्रकलाके समान मैं मूर्च्छित हो गई । तदनन्तर चञ्चल नेत्रपक्ष्म-राजि (पलक) वाले नेत्रोंको बन्दकर मूर्च्छामें पड़ी हुई मुझको भला या बुरा कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ ॥ २६, २७ ॥

हे परमेश्वरी, तदनन्तर मरणमूर्छाके बाद मैं क्या देखती हूँ कि वासनासे परिकल्पित देहके तुल्य देहसे मैं अध्याससे आविर्भूत हुई हूँ, भूताकाशमें उड़ी हूँ, तदनन्तर भूताकाशमें वायुरूपी रथमें बैठी हूँ । तदनन्तर सुगन्धिके लेशकी नाईं वायुरूपी रथ मुझे यहां इस घरमें लाया ॥ २९ ॥

तदुपरान्त मैंने इस महलको देखा जो नायक (शवरूप राजा पद्मसे) अलङ्कृत था, इसमें दीपक जलते थे, बड़ा स्वच्छ और बहुमूल्य शयनसे युक्त था, जब मैं इस पतिको देखने लगी तो क्या देखती हूँ कि यह विदूरथ फूलोंसे आच्छादित होकर फूलोंके वनमें वसन्तके समान सोता है । मैंने सोचा अधिक संग्राम करनेसे उत्पन्न परिश्रमसे यह खिन्न है, अतः यह गाढ़ नीदमें सोता है,

अनन्तरमिमं देशं प्राप्ते देव्याविमे त्विति ।
यथाऽनुभूतं कथितं मदनुग्रहकारिणि ॥ ३३ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

हे हंसहारिगामिन्यौ लीले ललितलोचने ।
उत्थापयामो नृपतिं शवतल्पतलादिमम् ॥ ३४ ॥
इत्युक्त्वा मुमुचे जीवमामोदमिव पद्मिनी ।
स समीरलताकारस्तन्नासानिकटं ययौ ॥ ३५ ॥
घ्राणकोशं विवेशाऽन्तर्वंशे रन्ध्रमिवाऽनिलः ।
स्ववासनाक्षतान्यन्तदधदब्धिर्मणीनिव ॥ ३६ ॥
अन्तस्थजीवं वदनं तस्य तत्कान्तिमाययौ ।
पद्मस्याऽवग्रहे पद्मं सुवृष्ट इव वारिणि ॥ ३७ ॥
क्रमादङ्गानि सर्वाणि सरसानि चकाशिरे ।
तस्य पुष्पाकर इव लताजालानि भूभृतः ॥ ३८ ॥

इसलिए उसकी इस निद्रामें मैंने विघ्न नहीं डाला यानी इसे नहीं जगाया । इसके बाद ही इस भूमिमें आप दोनों देवियोंका शुभागमन हुआ इत्यादि जैसा मैंने अनुभव किया था, हे कृपाकारिणि, वैसा ही आपसे कह दिया है ॥३०–३३॥

श्रीसरस्वती देवीजीने कहा—हे हंसके समान मनोहर गमनवाली और सुन्दर लोचनवाली दोनों लीलाओ, हम शवशय्यासे इस राजाको उठावें, ऐसा कहकर सरस्वती देवीने जैसे कमलिनी सुगन्धि छोड़ती है वैसे ही पूर्व संकल्पसे रोके हुए राजाके जीवको छोड़ा । वायुके सदृश आकारवाला जीव उसकी नासिकाके निकट गया । जैसे वायु बांसके छेदमें प्रवेश करता है, वैसे ही उसने नासिकारन्ध्रमें प्रवेश किया । जैसे सागर अपने अन्दर अनन्त मणियोंको धारण करता है, वैसे ही अनन्त वासनाओंको वह धारण करता था ॥ ३४–३६ ॥

जैसे अनावृष्टि होनेपर मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होनेपर मनोहर कान्तिसे युक्त हो जाता है, वैसे ही जीवके अन्दर जानेपर पद्मका पहले मुरझाया हुआ मुख कान्तियुक्त हो गया ॥ ३७ ॥

उसके सब अङ्ग सरस (हरेभरे) होकर ऐसे शोभित होने लगे, जैसे कि पर्वतकी लताएँ वसन्त आनेपर शोभित होती हैं ॥ ३८ ॥

अथाऽऽबभौ कलापूर्णः स राकायामिवोडुराट् ।
भासयन् भुवनं भूरि वदनेन्दुमरीचिभिः ॥ ३९ ॥
स्फुरयामास सोऽङ्गानि रसवन्ति मृदूनि च ।
कनकोज्ज्वलकान्तीनि पल्लवानीव माधवः ॥ ४० ॥
उन्मीलयामास दृशौ विमलालोलतारके ।
हारिण्यौ सुभगाभोगे चन्द्रार्कौ भवनं यथा ॥ ४१ ॥
उत्तस्थौ प्रोल्लसत्कायो विन्ध्याद्रिर्वृद्धिमानिव ।
उवाच कः स्थित इति घनगम्भीरनिःस्वनम् ॥ ४२ ॥
लीलाद्वयमथाऽस्याऽग्रे प्रोवाचाऽऽदिश्यतामिति ।
स ददर्श पुरो नम्रं लीलाद्वयमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
समाचारं समाकारं समरूपं समस्थिति ।
समवाक्यं समोद्योगं समानन्दं समोदयम् ॥ ४४ ॥

राकामें (पूर्णचन्द्रमावाली पौर्णमासीकी रात्रिमें) सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाकी नाईं शोभित हुआ और मुखरूपी चन्द्रकिरणोंसे पृथिवीको खूब प्रकाशित करता था ॥ ३९ ॥

जैसे वसन्त सुवर्णके तुल्य उज्ज्वल कान्तिवाले अपने पल्लवोंको संचालित करता है, वैसे ही राजा पद्मने अपने हरे भरे (सजीव) कोमल अङ्गोंको संचालित किया ॥ ४० ॥

निर्मल चञ्चल तारिकावाले अपने सुन्दर नेत्रोंको उसने यों खोला जैसे भुवन (भुवनात्मा हिरण्यगर्भ विराट्) अपने नेत्ररूपी चन्द्रमा और सूर्यको उन्मीलित करता है ॥ ४१ ॥

राजा, जिसका शरीर शोभित हो रहा था, विन्ध्याचलके समान बुद्धिशील था, उठा और मेघके घोषके समान गम्भीर ध्वनिसे उसने कौन है कहा—दोनों लीलाओंने उसके आगे जाकर 'महाराज आज्ञा कीजिये' कहा ॥ ४२, ४३ ॥

उसने नम्र दो लीलाओंको अपने सामने उपस्थित देखा। उन दोनोंका एक-सा व्यवहार एक-सा आकार, एक-सी रूप रेखा, एक-सी मर्यादा, एक-से वचन, एक-सा उद्योग, एक-सा आनन्द और एक-सा अभ्युदय था ॥ ४४ ॥

का त्वं केयं कुतश्चेयमित्याह स विलोकयन् ।
तस्मै लीलाऽऽह हे देव श्रूयतां यद्वदाम्यहम् ॥ ४५ ॥
महिला तव लीलाऽहं प्राक्तनी सहधर्मिणी ।
वागर्थस्येव संपृक्ता स्थिता संश्लेषशालिनी ॥ ४६ ॥
इयं लीला द्वितीया ते महिला हेलया मया ।
उपार्जिता त्वदर्थेन प्रतिबिम्बमयी शुभा ॥ ४७ ॥
शिरोभागोपविष्टेयं पाहि हैममहासने ।
एषा सरस्वती देव त्रैलोक्यजननी शिवा ॥ ४८ ॥
अस्माकं पुण्यसंभारैरिह साक्षादुपागता ।
अनयेमे पराल्लोकादिहाऽऽनीते महीपते ॥ ४९ ॥
इत्याकर्ण्य समुत्थाय राजा राजीवलोचनः ।
लम्बमाल्याम्बरधरः पपात ज्ञप्तिपादयोः ॥ ५० ॥
सरस्वति नमस्तुभ्यं देवि सर्वहितप्रदे ।
प्रयच्छ वरदे मेधां दीर्घमायुर्धनानि च ॥ ५१ ॥

उसने देखते हुए तुम कौन हो और यह कौन है तथा यह कहांसे आई है, ऐसा पूछा, उससे पूर्व लीलाने कहा—हे देव, जो मैं कहती हूँ, उसे आप सुनें, मैं आपकी पूर्व जन्मकी सहधर्मिणी लीला हूँ जैसे शब्द अर्थका वाचक होनेसे अर्थसे मिलित है, वैसे ही मैं आपसे संबद्ध होकर स्थित हूँ ॥ ४५,४६ ॥

यह लीला तुम्हारी दूसरी पत्नी है, मैंने तुम्हारी कीड़ाके लिए (उपभोगके लिए) इसका उपार्जन किया है, यह सुन्दरी प्रतिबिम्बमयी है ॥ ४७ ॥

हे देव, यह स्वर्णसिंहासनके सिरहानेपर बैठी हुई है, इसकी आप रक्षा कीजिये । यह सरस्वती देवीजी हैं, जो तीनों लोकोंकी जननी और कल्याण-कारिणी हैं ॥ ४८ ॥

हम लोगोंके पुण्योंकी प्रचुरतासे यह साक्षात् यहांपर उपस्थित हैं हे राजन्, ये ही हम दोनोंको परलोकसे यहाँ लाई हैं ॥ ४९ ॥

कमलके तुल्य विशाल नेत्रवाला राजा यह सुनकर उठकर देवीके चरणोंमें गिर पड़ा । उसके वस्त्र और मालाएँ लटक रही थीं, हे देवि हे सबका कल्याण करनेवाली देवी, सरस्वतीजी आपके लिये नमस्कार है, हे वरदायिनी, बुद्धि

इत्युक्तवन्तं हस्तेन पस्पर्श ज्ञप्तिदेवता ।

सरस्वत्युवाच

त्वं पुत्राभिमतार्थाढ्यो भवेति भवनान्वितः ॥ ५२ ॥

सर्वापदः सकलदुष्कृतदृष्टयश्च
गच्छन्तु वः शममनन्तसुखानि सम्यक् ।
आयान्तु नित्यमुदिता जनता भवन्तु
राष्ट्रे स्थिराश्च विलसन्तु सदैव लक्ष्म्यः ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे पद्मजीवनं नाम अष्टपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५८ ॥

दीजिये, दीर्घ आयु दीजिये और धन दीजिये। राजाके यह कह चुकनेपर देवी सरस्वतीने अपने हाथसे उसका स्पर्श किया।

श्री सरस्वतीजीने कहा—हे पुत्र, दीर्घायु, धन आदि अभिलषित पदार्थोंसे खूब सम्पन्न होओ। तत्त्वबुद्धिसे प्राप्त अपने पारमार्थिक स्वरूप स्थितिसे युक्त होओ।

सम्पूर्ण आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनाशको प्राप्त हों, अनन्त सुख तुम्हें प्राप्त हों, तुम्हारे राज्यमें सम्पूर्ण जनता सदा आनन्दित रहे और सकल सम्पत्तियां स्थिर होकर सदा विलास करें ॥ ५०–५३ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

सरस्वती तथेत्युक्त्वा तत्रैवाऽन्तर्धिमाययौ ।
प्रभाते पङ्कजैः सार्द्धं बुबुधे सकलो जनः ॥ १ ॥
आलिलिङ्ग च तां लीलां लीला च दयितं क्रमात् ।
पुनः पुनर्महानन्दान्मृतं प्रोज्जीवितं पुनः ॥ २ ॥
तदासीद्राजसदनं मदमन्मथमन्थरम् ।
आनन्दमत्तजनतं वाद्यगेयरवाकुलम् ॥ ३ ॥
जयमङ्गलपुण्याहघोषघुंघुमघर्घरम् ।
तुष्टपुष्टजनापूर्णं राजलोकवृताङ्गणम् ॥ ४ ॥
सिद्धविद्याधरोन्मुक्तपुष्पवर्षसहस्रभृत् ।
ध्वनन्मृदङ्गमुरजकाहलाशङ्खदुन्दुभि ॥ ५ ॥

उनसठवाँ सर्ग

[राजाके जी उठनेके हर्षसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, जीवन्मुक्त राजा पद्म और दो लीलाओंका चिरकाल तक राज्यभोग और तदुपरान्त मुक्तिका प्रतिपादन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, देवी सरस्वती पूर्वोक्त प्रकारसे राजाने जो वर मांगा था, 'उसे ऐसा ही हो' यह कहकर यानी देकर वहींपर (राजमहलमें ही) अन्तर्धानको प्राप्त हो गईं तथा प्रातःकालमें कमलोंके साथ सब लोग जागे ॥ १ ॥

राजाने उस लीलाका बारबार आलिङ्गन किया और लीलाने भी मरकर फिर वापिस आये हुए राजाका बार-बार बड़े आनन्दसे आलिङ्गन किया। उस समय उस राजमहलका क्या कहना था। उसमें सभी लोग आनन्दमें मस्त थे, गाने और बाजोंकी ध्वनिसे वह गूँज रहा था, उसमें मद और कामने अपना सिक्का जमा रक्खा था। जय-जयकारकी ध्वनि और माङ्गलिक पुण्याहवाचनके घोषसे वह मुखरित था, सन्तुष्ट और हृष्टपुष्ट लोगोंसे भरा था, राजपुरुषोंसे उसका आँगन ठसाठस भरा रहता था, उसपर सिद्ध और विद्याधरोंसे छोड़ी गई हजारों पुष्प-वृष्टियाँ बरसती थीं, वहाँ ढोल, पखाउज, काहल (कार्णाल नामका एक प्रकारका बाजा यानी बड़ा ढोल) शङ्ख और नगारे बजते रहते थे, अपनी बड़ी-बड़ी सूँड़ोंको उठाये

ऊर्ध्वीकृतबृहद्धस्तहास्तिकस्तनितोत्कटम् ।
उत्तालताण्डवस्त्रैणपूर्णाङ्गणलसद्ध्वनि ॥ ६ ॥
मिथःसंघट्टनिपतज्जनोपायनदन्तुरम् ।
पुष्पशेखरसंभारमयसंसारसुन्दरम् ॥ ७ ॥
विकीर्णापादितक्षौमं मन्त्रिसामन्तनागरैः ।
स्थूलपद्ममयं व्योमरक्तैस्ताण्डविनीकरैः ॥ ८ ॥
मत्तस्त्रीकन्धरावृत्तलीलान्दोलितकुण्डलम् ।
प्रवृत्तपादसंपातप्रोल्लसत्पुष्पकर्दमम् ॥ ९ ॥
पट्टवासःशरन्मेघवितानकवितानकम् ।
वराङ्गनामुखैर्नृत्यच्चन्द्रलक्षगृहाजिरम् ॥ १० ॥
परलोकादुपानीता राज्ञी सा पतिरेव च ।
इति निर्वृत्तगाथाभिर्जगुर्देशान्तरे जनाः ॥ ११ ॥

हुए हाथियोंके झुण्डकी चिंघाड़से वह भीषण लगता था। उसका आंगन उद्धत नृत्य करनेवाली नर्तकियोंसे पूर्ण था अतएव उसमें विचित्र ध्वनि हो रही थी। परस्पर एकको दूसरेकी टक्कर लगनेसे राजाके लिए उपहार ला रहे लोगोंके उपहार वहांपर गिर रहे थे, गिर रहे उपहारोंसे वह नीचा ऊँचा हो गया था, फूलोंकी सिरकी मालाओं और उत्सवके साज बाजोंसे भरपूर विविध लोगोंके इधर उधर आने जानेसे वह बड़ा भला लगता था, मन्त्रियों, अधीन राजाओं और नगरवासियोंसे बखेरे गये फूलों, लावों और मोतियोंसे चारों ओर आच्छन्न होनेके कारण ऐसा लगता था, मानो उसे रेशमी वस्त्र पहनाये गये हों, नर्तकियोंके लाल लाल हाथोंसे, जो आकाशमें नाच रहे थे, बड़े-बड़े कमलोंवाले तालाबके सदृश प्रतीत होता था ॥ २-८ ॥

खूब प्रसन्न (सुखी) स्त्रियोंके कानोंके कुण्डल, उनके विशेषरूपसे गर्दन घुमानेसे, झूल रहे थे, इधर उधर चलने-फिरनेवाले लोगोंके पैर पड़नेसे फूलोंका कीचड़ बड़ा भला प्रतीत होता था ॥ ९ ॥

वहांपर शरत्कालके तुल्य सफेद रेशमी वस्त्रोंके चँदवे तने थे, रूपवती ललनाओंके मुखोंसे उक्त महलके आंगनोंमें लाखों चन्द्रमा नाच रहे थे यानी सुन्दरियोंके प्रतिबिम्बित मुखरूपी लाखों चन्द्रमा उसके आंगनमें नाच रहे थे। पूर्व लीला परलोकसे रानीको यानी दूसरी लीलाको और महाराज पद्मको लाई

पद्मो भूमिपतिः श्रुत्वा वृत्तान्तं कथितं मनाक्।
चक्रे स्नानं समानीतैश्चतुःसागरवारिभिः ॥ १२ ॥
ततोऽभिषिषिचुर्विप्रा मन्त्रिणो भूभुजश्च तम्।
लब्धोदयमनन्तेहममरेन्द्रमिवाऽमराः ॥ १३ ॥
लीला लीला च राजा च जीवन्मुक्तमहाधियः।
रेमिरे पूर्ववृत्तान्तकथनैः सुरतैरिव ॥ १४ ॥
सरस्वत्याः प्रसादेन स्वपौरुषकृतेन तत्।
प्राप्तं लोकत्रयश्रेयः पद्मनेति महीभुजा ॥ १५ ॥
स ज्ञप्तिज्ञानसंबुद्धो राजा लीलाद्वयान्वितः।
चक्रे वर्षायुतान्यष्टौ तत्र राज्यमनिन्दितः ॥ १६ ॥

इस प्रकारकी सैकड़ों प्रबन्धोंके रूपमें प्रस्तुत गाथाओंका देश-देशान्तरमें लोग गान करते थे ॥ १०,११ ॥

राजा पद्मने अपने मरण आदिकी कथाको, जो संक्षेपसे कही गई थी, सुनकर भृत्यों द्वारा लाये गये चार सागरोंके जलसे स्नान किया। तदुपरान्त राज्यप्राप्तिके लिए अनेक प्रयास करनेवाले अतएव नहुषको गिराकर जिसने फिर राज्य प्राप्त किया था, ऐसे देवराजका देवताओंने जैसे अभिषेक किया था, वैसे ही राजा पद्मका ब्राह्मणोंने, मन्त्रियोंने और राजाओंने अभिषेक किया* ॥१३॥

प्रथम लीला, द्वितीय लीला और राजा, जो जीवन्मुक्त और महाज्ञानी थे, सुरतोंकी नाईं पूर्ववृतान्तोंकी कथाओं द्वारा रमण करते थे। राजा पद्मको पूर्वोक्त रीतिसे सरस्वतीके प्रसादसे और अपने पौरुषसे वह तीनों लोकोंका कल्याण प्राप्त हुआ। राजाने जो सरस्वतीकी प्रसन्नता, पुनर्जीवन और राज्य प्राप्त किया, वह तो दैवसे ही वह मिला, अपने पौरुषसे मिला नहीं, ऐसी श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काको ताड़कर श्रीवसिष्ठजीकी यह उक्ति है। सरस्वतीकी आराधना आदिरूप अपने पौरुषसे सरस्वतीका प्रसाद प्राप्त हुआ। उसका प्रसाद काकतालीयके समान आकस्मिक नहीं है, यह भाव है ॥ १४,१५ ॥

दोनों लीलाओंसे युक्त श्लाघनीय राजा पद्मने, जिसे श्रीसरस्वती देवीजी द्वारा

---

* जैसे चिरकालके प्रवाससे आये हुए राजाका पुनः राज्याभिषेक मंगलके लिए होता है, वैसे ही परलोकसे लौटे हुए राजा पद्मका पुनः अभिषेक मङ्गलार्थ किया गया।

जीवन्मुक्तास्त इत्येवं राज्यं वर्षायुताष्टकम् ।
कृत्वा विदेहमुक्तत्वमासेदुः सिद्धसंविदः ॥ १७ ॥
यदुदयविशदं विदग्धमुग्धं समुचितमात्महितं च पेशलं च ।
तदखिलजनतोषदं स्वराज्यं चिरमनुपाल्य सुदम्पती विमुक्तौ ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने पद्मनिर्वाणं नामैकोनषष्ठितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं राम दृश्यदोषनिवृत्तये ।
लीलोपाख्यानमनघं घनतां जगतस्त्यज ॥ १ ॥

उपदिष्ट ज्ञानसे भली भाँति आत्मतत्त्वका ज्ञान हो चुका था, वहांपर अस्सी हजार वर्ष तक राज्य किया ॥ १६ ॥

वे जीवन्मुक्त, जिनका आत्मतत्त्वज्ञान खूब बद्धमूल हो गया था, इस प्रकार अस्सी हजार वर्ष तक राज्य करके विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए ॥१७॥

अपने राज्यका, जो प्रजाओंके नित्य अभ्युदयसे दोषरहित था, शास्त्रानुसारी होनेके कारण विद्वानोंके भी मनको हरनेवाला था, अपनी कुलपरम्पराकी मर्यादाके योग्य था, भोग, यश और धर्म देनेवाला होनेके कारण अपने लिए भी हित था, लोगोंके चित्तके अनुरञ्जनमें दक्ष था, अतएव सम्पूर्ण लोगोंको सन्तोष देनेवाला था, चिरकाल तक पालनकर वे सुन्दर दम्पती विमुक्त हो गये ॥ १८ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

—*—

साठवाँ सर्ग

[लीलोपाख्यानके प्रयोजनका विस्तारसे वर्णन और काल आदिकी समता और विषमताके कारणका निर्देश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह पवित्र लीलोपाख्यान, दृश्यरूप दोषकी निवृत्तिके लिए, मैंने आपसे कहा। यानी दृश्य नहीं है, इस प्रकारके ज्ञानसे यदि मनसे दृश्यका परिमार्जन हो गया, तो परम निर्वृति प्राप्त हो गई,

शान्तैव दृश्यसत्ताऽस्याः शमनं नोपयुज्यते ।
सतो हि मार्जनक्लेशो नाऽसतस्तु कदाचन ॥ २ ॥
ज्ञानेनाऽऽकाशरूपेण दृश्यं ज्ञेयस्वरूपकम् ।
इत्येकीभूतमालोक्य ज्ञस्तिष्ठत्यम्बरोपमः ॥ ३ ॥
पृथ्व्यादिरहितेनेदं चिद्भासैव स्वयंभुवा ।
साधितं यदि सिद्धेन ततः स्वात्मनि साधितम् ॥ ४ ॥
संविद्यथा या यतते तथा सैव व्यवस्थिता ।
विसृष्टा सृष्टिविन्नद्यां यावद्यत्नान्न रोधिता ॥ ५ ॥

ऐसी जो प्रकरणके आरम्भमें प्रतिज्ञा की गई थी, उसकी सिद्धि ही लीलोपाख्यानका मुख्य प्रयोजन है । अब आप जगत्की सत्यताका त्याग कीजिये ॥ १ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि जगत्में सत्यताके त्यागमात्रसे उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? तो उसपर कहते हैं—'शान्तैव' इत्यादिसे ।

दृश्यकी सत्ता शान्त ही है यानी है ही नहीं, जब दृश्यसत्ता है ही नहीं, तब उसके शमनका क्या उपयोग ? विद्यमानके मार्जनके लिए प्रयास किया जाता है, जो है ही नहीं, उसके परिमार्जनके लिए प्रयास कैसा ? ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष आकाशरूप ज्ञानसे ज्ञेयस्वरूप दृश्यको पूर्वोक्त रीतिसे अपवाद द्वारा अखण्ड ब्रह्ममें एकरसताको प्राप्त हुआ जानकर आकाशके सदृश निर्मल रहता है ॥ ३ ॥

दृश्य तो जड़ है, उसकी ज्ञानघन ब्रह्ममें एकरसता कैसे ? ऐसी आशङ्का कर आदि सृष्टिमें चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्माने अपनेमें ही दृश्यरूप विवर्तकी कल्पना की, इसलिए जैसे जलरूप ओलोंमें कठिनताका विरोध नहीं है, वैसे ही दृश्यकी चिद्रूपतामें विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—'पृथ्व्यादिरहितेन' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदिसे रहित प्रकाशरूप ब्रह्मने यदि इसकी कल्पना की तो अपनेमें ही की, उससे अतिरिक्त उसका दूसरा उपादान है नहीं, इसलिए इसके चिद्रूप होनेमें कोई विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

यदि कोई कहे कि जैसे ओलोंकी कठिनता प्रयत्नके बिना ही शान्त हो जाती है, वैसे ही प्रयत्नके बिना ही दृश्यका विनाश क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'संविद्' इत्यादिसे ।

चिदाकाशावभासोऽयं जगदित्यवबुध्यते ।
चिद्व्योम्न्येवाऽऽत्मनि स्वच्छे परमाणुकणं प्रति ॥ ६ ॥
एवमस्या मुधाभ्रान्तेः का सत्ता केव वासना ।
का वाऽऽस्था का च नियतिः काऽवश्यंभावितोच्यताम् ॥ ७ ॥
सर्वं चैतद्यथादृष्टं स्थितमित्थमखण्डितम् ।
मायैवेयमनन्तेयं न च मायाऽस्ति काचन ॥ ८ ॥

सृष्टिवेत्ता (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मचैतन्यरूप नदीमें उसकी एक भागरूप जो जीव संवित् है, वह जिस प्रकारकी प्रवृत्तिके प्रवाहसे जिस तरहके कार्यकरणफलभावके लिए प्रयत्न करती है, वैसे कार्यकरणकेफलभावसे छोड़ी गई वह अपने प्रयत्नके अनुसार वैसे ही व्यवस्थित होती है, जब तक उससे विरुद्ध निवृत्तिप्रयत्नसे वह रोकी नहीं जाती, तब तक निवृत्त नहीं होती है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि इस जगत्की रचना ब्रह्माजीने की है, जीवकी क्या ताकत कि इसे रोक दे, महाराजाधिराजने जिस कार्यके लिए आज्ञा दे दी हो, भला वह साधारण आदमीके यत्नसे रोकी जा सकती है ? इसपर कहते हैं—'चिदाकाशा०' इत्यादिसे ।

यद्यपि चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्ममें चिदाकाशका जो मायिक अवभास है, वही जगत्‌रूपसे प्रतीत होता है, इसलिए जगत् ब्रह्मसे रचा गया है, तथापि वह जगत् जिसका ब्रह्मभाव अपरिच्छिन्न है, उस पुरुषके प्रति वैसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु बुद्धि आदि परिच्छिन्न उपाधियोंके कारण अत्यन्त परिच्छिन्न जीवके प्रति ही वह वैसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके प्रयत्नोंसे उत्पन्न कर्मफलोंके भोगके लिए ही वह ब्रह्ममें कल्पित है और जब उसके प्रयत्नसे बोध होता है, तब दृश्यका परिमार्जन अवश्य होता ही है ॥ ६ ॥

ऐसी परिस्थितिमें सत्ता, नियति, वासना आदिसे भी जगत्की रक्षा नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार इस व्यर्थभ्रमरूप दृश्यकी क्या सत्ता है, कौन-सी वासना है, कौन आदर है, क्या नियति है और क्या अवश्यम्भाविता कही जाय । भ्रमके सत्ता आदिकी क्या संभावना है, यह भाव है ॥ ७ ॥

यह सब यद्यपि मायादृष्टिसे जैसा दिखाई देता है, वैसे ही ज्योंका त्यों

श्रीराम उवाच

अहो नु परमा दृष्टिर्दर्शिता भगवँस्त्वया।
दावाग्निदग्धकक्षाणां दाहशान्तौ कलैन्दवी ॥ ९ ॥
अहो नु सुचिरेणाऽद्य ज्ञातं ज्ञातव्यमक्षतम्।
मया यथेदं यच्चेदं यादृग् ज्ञेयं यतो यदा ॥ १० ॥
शाम्यामीव द्विजश्रेष्ठ निर्वामीव विकल्पयन्।
एतदाख्यानमाश्चर्यं व्याख्यानं शास्त्रदृष्टिषु ॥ ११ ॥
इमं मे भगवन् ब्रूहि संशयं सर्वकोविद।
तव पातुं न तृप्तोऽस्मि श्रोत्रपात्रैर्वचोमृतम् ॥ १२ ॥
स सर्गत्रितये कालो लीलाभर्तुर्हि यो गतः।
स क्वचित्किमहोरात्रः क्वचित् किं मासमात्रकः ॥ १३ ॥

स्थित है, तथापि परमार्थदृष्टिसे इसका संभव नहीं है, मायासे उत्पन्न होनेके कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि माया ही है और माया भी तो वास्तविक नहीं है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपने मुझे, जैसे वनाग्निसे जले हुए तृणोंकी दाहकी शान्ति होनेपर, फिर पनपनेके लिए चन्द्रमाकी कला उगती है वैसे ही, संसारतापसे सन्तप्त लोगोंको शान्तिविवेककी प्राप्तिके लिए यह दृष्टि दर्शाई है ॥ ९ ॥

हर्षकी बात है कि आज चिरकालमें अखण्ड ज्ञातव्य पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है, जैसा उसका स्वरूप है, जिस तरहका वह है, जिन प्रमाणोंसे ज्ञेय होता है, जब जाना जाता है, यह सब मुझे ज्ञात हुआ ॥ १० ॥

हे द्विजश्रेष्ठ, जगत्तत्त्वका विचार कर रहा मैं उपाधिके शान्त होनेसे शान्त-सा हो रहा हूँ, नित्य निर्वाणस्वरूपकी प्राप्तिसे आनन्दसागरमें डूब-सा रहा हूँ, यह आश्चर्यमय लीलोपाख्यान श्रुति द्वारा प्रदर्शित ज्ञानोंमें उपबृंहणरूप है यानी श्रुति द्वारा प्राप्त ज्ञानको बढ़ानेवाला है ॥ ११ ॥

भगवन्, कृपा करके आप मेरे इस सन्देहको निवृत्त कीजिये, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। आपके वचनरूपी अमृत कर्णरूपी पात्रोंसे पीनेके लिए मैं तृप्त नहीं होता यानी मुझे उसे पीनेकी इच्छा बनी रहती है ॥ १२ ॥

वह पूर्वोक्त काल, जो लीलाके पतिके तीन जन्मोंमें बीता, वह कहीं तो

क्वचित्किं बहुवर्षाणि कस्यचित्किमु पेलवः ।
कस्यचित्किं महादीर्घः कस्यचित्किं क्षणः स्थितः ॥ १४ ॥
इति मे भगवन् ब्रूहि त्वं यथावदनुग्रहात् ।
सकृच्छ्रुतं न विश्रान्तिमेति लोष्टे यथा जलम् ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

येन येन यथा यद्यद्यदा संवेद्यतेऽनघ ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥ १६ ॥

(गिरिग्राममें तो) आठदिनरात रूप कहा गया है, कहीं (पद्म-जन्ममें) एकमास-रूप कहा गया है, कहीं (विदूरथजन्ममें) बहुत वर्षवाला कहा गया है, इस प्रकार क्या विभिन्न ब्रह्माण्ड हैं या एक ही ब्रह्माण्डमें मनुष्योंका वर्ष, देवताओंका दिन (अति अल्पकाल) होता है, किसीको (क्षुद्र जन्तुओंको) वह बड़ा विशाल प्रतीत होता है, और किसीको (ब्रह्माको) क्षण प्रतीत होता है, यों क्या एक ही काल, देश, लोग आदिके भेदसे विरुद्धरूपसे (छोटे बड़े रूपसे) स्थित है क्या ? पदार्थ-सत्ताके एकरूप होनेपर प्रतीतिमें भेद कैसे आता है ? यह भाव है । हे भगवन्, यह सब आप अनुग्रहपूर्वक यथार्थरूपसे मुझसे कहें, जैसे ढेलेमें गिरा हुआ जलबिन्दु कहीं विलीन हो जाता है, वैसे ही 'देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथैव हि' इत्यादिसे आपके कह चुकनेपर भी एक बारके श्रवणसे वह स्थिरताको नहीं प्राप्त होता है ॥ १३–१५ ॥

यदि जैसी पदार्थोंकी सत्ता है, उसीके अनुसार प्रतीति हो, तो यह विरोध हो सकता है, अनिर्वचनीय पदार्थोंकी सत्ता ही प्रतीतिके अनुसारिणी होती है उसमें जितने द्रष्टा (देखने वाले) हैं, उनके प्रति पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, कालवैषम्यरूपभेद नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'येन येन' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जिस-जिस पुरुषको जिस समय जिस प्रकारसे जिस-जिस पदार्थकी प्रतीति होती है, वह-वह उस समय उस प्रकारसे उस-उस पदार्थका अनुभव करता है । सदा ही यह जीवनका साधन है, यह ज्ञात होनेसे विष भी अमृतताको प्राप्त होता है, देखिये न यह हमारे जीवनका साधन है, इस प्रकारकी दृढ़ प्रतीति होनेसे विषके कीड़े विषसे ही जीते हैं, यदि कहिये

अमृतत्वं विषं याति सदैवाऽमृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्तिवेदनात् ॥ १७ ॥
यथाभावितमेतेषां पदार्थानां निजं वपुः ।
तदेव हि चिराभ्यासान्नियतेर्वशमागतम् ॥ १८ ॥
कचनैकात्मिकैषा चिद्यथा कचति यादृशम् ।
तथा तथाऽऽशु भवति तत्स्वभावैककारणात् ॥ १९ ॥
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति ।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ २० ॥
कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः ।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ २१ ॥

कि प्रमादसे यह हमारा खाद्य है, यह सोचकर जो आदमी विष खा लेता है, वह क्यों मरता है । सुनिये, विषके कीड़ोंकी नाईं उसका विषमें यह हमारा जीवनका साधन है, ऐसा चिरकालसे दृढ विश्वास नहीं है, दूसरी बात यह भी है कि उसको ऐसा पक्का संस्कार रहता है कि विष खानेसे मृत्यु होती है । विषमें जीवनसाधनताके दृढ़ निश्चयका अभाव और मरणहेतुताका निश्चय होनेसे उसकी मृत्यु होती है । यह मित्र है, ऐसी दृढ़भावना करनेसे शत्रु भी मित्रताको प्राप्त हो जाता है ॥ १६, १७ ॥

इन पदार्थोंके स्वरूपकी जैसी भावना की, वही (भावित स्वरूप ही) चिरकालके अभ्याससे नियतिके वशमें आ गया है । चिरकालसे अभ्यस्त भावनाका अनुसरण करनेवाली पदार्थोंकी अर्थक्रियाकारिता नियति है ॥ १८ ॥

चितिका स्फुरण स्वभाव है, जैसे और जिस रूपमें उसका स्फुरण होता है, वह शीघ्र उसी रूपमें हो जाती है, क्योंकि वैसा होनेमें उसका स्फुरणस्वभाव होना ही एकमात्र कारण है । भाव यह कि चित् स्फुरणस्वभाव ही है, उसके पदार्थविशेषाकार होनेमें द्रष्टाका संस्कार कारण है । यों एक ही संवित्में किसीका संस्कारके अनुसार क्षणका आरोप होता है और किसीका कल्प आदिका आरोप होता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं है । यदि किसी पुरुषको एक क्षणमें सैकड़ों कल्पोंकी प्रतीति होती है, तो क्षण ही उसके लिए कल्प होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । यदि किसीको कल्पमें निमेषताका ज्ञान हो जाता है, तो कल्प ही

दुःखितस्य निशाकल्पः सुखितस्यैव च क्षणः ।
क्षणः स्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः ॥ २२ ॥
यथा च मृत्वा जातोऽहं तरुणो यौवनस्थितः ।
यातोऽस्मि योजनशतं स्वप्ने इत्यनुभूयते ॥ २३ ॥
रात्रिं द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रोऽनुभूतवान् ।
लवणो भुक्तवानायुरेकरात्र्या समाः शतम् ॥ २४ ॥
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः ।
जीवितं यद्विरिञ्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥ २५ ॥
विष्णोर्यज्जीवितं राम तद् वृषाङ्कस्य वासरः ।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥ २६ ॥
न पदार्था न च जगत्सत्यमात्मनि योगिनः ।
मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम् ॥ २७ ॥

उसके लिए निमेष बन जाता है, क्योंकि चित् स्फुरणरूपा है ॥ १९–२१ ॥

लोकमें भी यह प्रकार प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'दुःखितस्य' इत्यादिसे ।

दुःखी (वियोगी) पुरुषको जो रात्रि कल्प-सी लम्बी प्रतीत होती है, वही रात्रि सुखी पुरुषको क्षणके तुल्य हो जाती है । स्वप्नमें एक क्षण कल्प बन जाता है और कल्प क्षण बन जाता है । जरा ध्यान दीजिये एक क्षणके स्वप्नमें पुरुष देखता है—मैं मर कर पैदा हुआ, जवान हुआ, यौवनावस्थामें स्थित हुआ, मैं सौ कोश गया, ऐसा स्वप्नमें सबको अनुभव होता है ॥ २२, २३ ॥

राजा हरिश्चन्द्रको एक रात्रि बारह वर्षकी प्रतीत हुई थी, लवणासुरने एक रात्रिमें सौ वर्षकी आयुका भोग किया था । जो मनुकी आयु है, वह आत्माका मनन करनेवाले प्रजापतिका एक मुहूर्त है । जो ब्रह्माकी आयु है, वह आत्म-मननशील विष्णुका एक दिन है, विष्णुकी जो आयु है, वह शिवजीका एक दिन है, पर जिस पुरुषने ध्यानसे अपने चित्तपर विजय पा ली है यानी जो निर्विकल्पक समाधिमें स्थित है, उसके लिए न दिन हैं और न रात्रियाँ । आत्माके चिन्तनमें मग्न योगीकी दृष्टिमें न पदार्थ सत्य हैं और न जगत् ही सत्य है । मधुर पदार्थकी भी यदि यह तीता है, यह तीता है, ऐसी भावना की जाय, तो वह भी तीता हो जाता है, यदि तीतेकी यह मधुर है, यह मधुर है, इस

कटु चाऽऽयाति माधुर्यं मधुरत्वेन चिन्तितम् ।
मित्रबुद्ध्या द्विषन्मित्रं रिपुबुद्ध्या रिपुः सुहृत् ॥ २८ ॥
भवतीति महाबाहो यथासंवेदनं जगत् ।
अनभ्यस्ताः पदार्था ये शास्त्रपाठजपादयः ॥ २९ ॥
तेषां संवेदनाभ्यासान्नूनमभ्येति साम्यता ।
नौयायिनां भ्रमार्तानां वेदनाद्भूर्विवर्तते ॥ ३० ॥
अवेदनाभ्रमार्तानामपि नैषां विवर्तते ।
शून्यमाकीर्णतामेति वेदनात् स्वप्नदृक्ष्विव ॥ ३१ ॥
वेदनात् पीतमानीलं शुक्लं वाऽप्यनुभूयते ।
आपद्भवुत्सवः खेदं करोति परिमोहतः ॥ ३२ ॥
कुड्येऽपि ख इवाऽऽचारो दृष्टो नन्वविचारिणः ।
असद्यक्षो विमूढानां प्राणानप्यपकर्षति ॥ ३३ ॥

प्रकारकी भावना की जाय, तो वह मधुर हो जाता है। हे महाबाहो, शत्रु ही क्यों न हो यदि यह मित्र है, मित्र है, यों मित्रबुद्धिसे उसकी भावना की जाय, तो वह मित्र बन जाता है, मित्र ही क्यों न हो, यह रिपु है, ऐसी बुद्धिसे उसकी भावना की जाय तो रिपु बन जाता है। यह सारा जगत् भावनाका खेल है, जैसी भावना होती है, वैसा ही दिखाई देता है। शास्त्राध्ययन, जप आदि जिन पदार्थोंका पहले अभ्यास नहीं रहता, उनमें भावनाके अभ्याससे स्वाधीनता प्राप्त होती है। नौकासे यात्रा करनेवाले चक्कर आनेसे पीड़ित लोगोंकी भावनासे पृथिवी घूमती है। भावनाभ्रमजनित पीड़ासे रहित तटमें स्थित लोगोंकी दृष्टिसे तो वह नहीं घूमती, जैसे स्वप्न देखनेवालोंकी दृष्टिमें शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करनेसे भी शून्य स्थान लोगोंसे भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ २४–३१ ॥

भावनासे आकाश पीला, नीला या सफेद प्रतीत होता है, मोहवश उत्सव भी आपत्तिके सदृश दुःखदायी होता है। छोटे-छोटे बालक अपने खेल कूदके उत्सवोंमें कभी-कभी रोते दिखाई देते हैं ॥ ३२ ॥

अविचारी पुरुषका जहाँपर दीवार खड़ी है, वहाँपर भी शून्यका (दीवार-रहितका) सा व्यवहार देखा गया है, अविद्यमान भी यक्ष मूढ़ लोगोंके प्राणोंको

वेदनात् स्वप्नवनिता जाग्रतीव रतिप्रदा ।
यद्यथाऽऽभासमायातं तत्तथा स्थिरतां गतम् ॥ ३४ ॥
असदेव नभश्चैव नभ एव चिदात्मनि ।
शतहस्ताम्बुदच्छायानटनृत्तमिवाऽऽततम् ॥ ३५ ॥
गगने मानसं स्पन्दं जगद्विद्धि न वस्तु तत् ।
मिथ्याज्ञानपिशाचस्य स्पन्ददर्शनमाकृति ॥ ३६ ॥
मायामात्रकमेवेदमरोधकमभित्तिमत् ।
इदं भास्वरमाभातं स्वप्नसंदर्शनं स्थितम् ॥ ३७ ॥

हर लेता है । भाव यह कि जो पदार्थ असत्य हैं, उनमें कार्य करनेकी क्षमता लोकमें प्रसिद्ध है, वेताल वस्तुतः है नहीं, पर वह मूढ़ लोगोंके प्राणहरणरूप कार्यको कर ही लेता है ॥ ३३ ॥

देखिये न, स्वप्नमें देखी गई स्त्री भावनावश जागरणकालकी तरह आनन्द-दायिका होती है, जो पदार्थ जिस रूपमें आभासित हुआ, वह उसी रूपमें स्थिर होता गया । जगत् असत् ही है ।

शङ्का—यदि जगत् असत् ही है, तो उसे सरासर मिथ्या ही कहना चाहिए ।

समाधान—सरासर झूठा भी नहीं है, किन्तु अव्याकृत आकाशरूप है, क्योंकि कार्य कारणसे अतिरिक्त नहीं है । वह अव्याकृत आकाश ही अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मामें सौ हाथके मिथ्या नटके, जो मेघकी छायासे कल्पित है, नाचके (एक प्रकारके अभिनयके) सदृश जगत्की विलक्षणताके रूपसे विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३४, ३५ ॥

सम्पूर्ण मनकी समष्टि और व्यष्टिका कार्य होनेसे भी जगत् असत्य ही है, ऐसा कहते हैं—'गगने' इत्यादिसे ।

जिस बालकने अपने मिथ्याज्ञानसे पिशाचकी कल्पना कर रक्खी है, उसका जो स्पन्ददर्शन है, उसके तुल्य मनोमात्र आकृतिवाला यह जगत् आकाशमें मानस स्पन्द ही है, वास्तविक नहीं है ॥ ३६ ॥

यह जगत् वस्तुतः मूर्तिमान् नहीं है, अतः किसी दूसरेका अवरोध नहीं करता, जो इसका अवरोध करे, ऐसी दूसरी वस्तु भी इसमें नहीं है और माया-मात्र ही है, ऐसा होनेपर भी स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहा है, इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग इसे न सोये हुए पुरुषको हुआ अपूर्व स्वप्नदर्शन मानते हैं ॥ ३७ ॥

अपूर्वमेवाऽसुप्तस्य नरस्येवोदितं विदुः ।
अचेता चेतति स्तम्भो यादृशं शालभञ्जिकाम् ।
परमार्थमहास्तम्भः सृष्टिं चेतति तादृशम् ॥ ३८ ॥
यादृशो मे नरः पार्श्वे स्वप्ने क्षुब्धो महाभटैः ।
तादृशो ब्रह्मणः सर्गो बुद्ध एव सुषुप्तवत् ॥ ३९ ॥
तृणगुल्मलतायुक्तः शिशिरान्ते यथा रसः ।
वासन्तः संस्थितो भूमौ तथा सर्गः परे पदे ॥ ४० ॥
यथा द्रवत्वं कनके स्थितमन्तरनुन्मिषत् ।
तथा स्थितः परे सर्ग आत्मवर्गादणावणौ ॥ ४१ ॥
सन्निवेशो यथाऽङ्गानामङ्गिनोऽनन्य आत्मनः ।
जगदेवमनङ्गस्य स्वात्मनो ब्रह्मणस्तथा ॥ ४२ ॥

जैसे अपने स्फुरणके अनुकूल व्यापारसे रहित स्तम्भ अपने स्वरूपमें प्रतिमा-रूपको प्रकट करता है, वैसे ही परमार्थ महास्तम्भ (सर्वाधिष्ठान चैतन्य) भी वैसा होकर, वैसी ही सृष्टिको सृष्टिकालमें देखता है ॥ ३८ ॥

जैसे स्वप्नमें मेरे समीपमें महाभटोंसे छेड़ा गया पुरुष जागनेपर भी सुषुप्तके सदृश अज्ञानमात्रस्वभाव ही है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही ब्रह्माकी सृष्टि भी जाग्रत् होनेपर भी सुषुप्तके सदृश ही है ॥ ३९ ॥

जैसे शिशिर ऋतुके अन्तमें (वृक्ष आदिके पत्र गिरनेके समय) आगे वसन्तमें पत्र, पुष्प आदिके रूपमें होनेवाले तिनके, पत्ते, झाड़ी, लता आदिसे युक्त रस अपनी उपादानभूत भूमिमें स्थित होता है, वैसे ही परम पदमें यानी सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें यह सृष्टि स्थित है ॥ ४० ॥

जैसे सोनेके अन्दर द्रवत्व विद्यमान है, पर लोगोंके दृष्टिगोचर नहीं होता, अग्निका संयोग होनेपर प्रकट हो जाता है, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म परम पदमें यह सृष्टि स्थित है । प्राणियोंको उनके कर्मोंका फलभोग कराना ही उसका प्रयोजन है, जब प्राणियोंका भोगजनक अदृष्ट उदित होता है, तब यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है । जैसे अङ्गोंका (अवयवोंका) गठन आत्मरूप अङ्गीसे अभिन्न है यानी अङ्गोंकी अङ्गीसे पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही आत्मरूप अखण्ड ब्रह्मसे यह जगत् भी अनन्य (अभिन्न) है । जैसे स्वप्नमें किसी आदमीका किसी दूसरे

याहगेकनरः स्वप्ने युद्धमन्यं नरं प्रति ।
तादृशं सदसद्रूपं स्वात्मेदं व्योमगं जगत् ॥ ४३ ॥
महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं जगत् ।
कारणत्वं मिथः पश्चयादसदेति न वास्तवम् ॥ ४४ ॥
मुक्तेऽस्मिन् ब्रह्मणि यदि ब्रह्माऽन्यः स्मृतिजो भवेत् ।
तत्स्मृतिज्ञप्तिजे सर्गे स्थितैव ज्ञप्तिमात्रता ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

पौराणां मन्त्रिमुख्यानां विदूरथकुलक्रमः ।
सममेव कथं तत्र सर्वेषां प्रतिभासितः ॥ ४६ ॥

आदमीके साथ युद्ध हुआ। स्वप्न कालमें स्वप्न देखनेवालेके प्रति सद्रूप और अन्यके प्रति असद्रूप भी वह युद्ध स्वप्नद्रष्टाका आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही मायाकाशमें स्थित आत्मरूप यह जगत् भी मायिक दृष्टिसे सत् होता हुआ भी तात्त्विक दृष्टिसे असत् ही है ॥ ४१–४३ ॥

महाकल्प और सृष्टिके आदिमें यह जगत् चित्स्वभाव ही है, असत् पदार्थ ही पीछे कारणमें लीन होता है, वास्तविक नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् असत् है, उसका कारण चित् ही महाप्रलय और सृष्टिमें रहता है, उससे अतिरिक्त सत् कुछ नहीं है ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण जगत्के आकारमें परिणत पूर्व-पूर्व हिरण्यगर्भमें अहंबुद्धिकी कल्पना-रूप उपासनाके संस्कारसे उत्पन्न स्मृतिसे कल्पित होनेसे भी जगत् अधिष्ठानभूत सन्मात्रसे अतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—'मुक्ते' इत्यादिसे ।

इस ब्रह्माके मुक्त होनेपर यदि स्मृतिसे उत्पन्न हुआ अन्य ब्रह्मा हो, तो भी स्मृतिरूप ज्ञानसे उत्पन्न सृष्टिमें ज्ञप्तिमात्रता है ही ॥ ४५ ॥

जैसे अन्यान्य ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले प्राणियोंके अलग-अलग वासना, कर्म आदि हैं, वैसे ही एक नगरमें रहनेवालोंमें प्रत्येक प्राणीके भी वासना कर्म आदि विचित्र हैं, इसलिए स्वप्नके तुल्य जागरणमें भी क्रमकी विलक्षणताका आरोप क्यों नहीं होता? यानी सभीको भिन्न-भिन्न क्रमसे प्रतीति क्यों नहीं होती, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'पौराणाम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, नगरवासी, मन्त्री आदि सभीको विदूरथके कुलका क्रम एक-सा ही क्यों प्रतीत हुआ? इसमें क्या कारण है? ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

चितः समनुवर्तन्ते मुख्यायाः सर्वसंविदः ।
यथा विपुलवात्यायाः सामान्या वातलेखिकाः ॥ ४७ ॥
परस्परानुसारेण तथारूपेण संविदः ।
कचितास्ताः प्रजापालप्रजावास्तव्यमन्त्रिणः ॥ ४८ ॥
एवंरूपात् कुलाज्जातो राजाऽस्माकमयं त्वसौ ।
कचिता इव वास्तव्यविदो वैदूरथे पुरे ॥ ४९ ॥
कचनं चित्स्वभावस्य न च कारणमार्गणम् ।
युक्तं महामणेर्भासामिवाऽन्यत्र स्वभावतः ॥ ५० ॥

सृष्टिकर्ताके संकल्पसे विहित अन्य जीवोंकी प्रतीति प्रधान जीवकी प्रतीतिकी अनुवर्तनी हो, इत्याकारक जो नियति है, वही सबको विदूरथकुलक्रमके एक-सा प्रतीत होनेमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'चितः' इत्यादिसे ।

जैसे छोटे मोटे वायुके झोंके बड़े बवंडरका अनुसरण करते हैं, वैसे ही सब प्रतीतियाँ मुख्य चित्का ही अनुवर्तन करती हैं ॥ ४७ ॥

उसके अनुरूप फल देनेवाला भोक्ताके अदृष्टका संयोग भी उसमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'परस्परा०' इत्यादिसे ।

सबका एकरूपसे सम्पादन करनेवाले अदृष्टने इन सब संविदोंका राजा प्रजा, नगरवासी और मन्त्रियोंका परस्परके अनुसार स्फुरण किया है ॥ ४८ ॥

इस प्रकारके उच्च कुलसे उत्पन्न हुआ यह हमारा स्वामी है, राजा विदूरथके नगरके पदार्थ और उनका भोग करनेवाले लोग मानो इस प्रकार स्फुरित हुए थे ॥ ४९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि चित् तो उदासीन है । उसके अध्यस्तपदार्थ-प्रतीतिरूप स्फुरणमें क्या हेतु है, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें स्फुरण स्वाभाविक है, जिनका स्फुरण स्वाभाविक नहीं है, उन्हीं विषयोंके स्फुरणमें हेतुका अन्वेषण ठीक है । जैसे उदासीन चिन्तामणिके प्रकाशोंके प्रसारमें हेतुकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उससे विभिन्न पदार्थोंको उत्पन्न करनेमें ध्यान करनेवाले लोगोंके मनोरथकी विचित्रताकी अपेक्षा है, वैसे ही यहाँ भी है, ऐसा कहते हैं—'कचने' इत्यादिसे ।

अहमेवं कुलाचारे राजा स्यामेवमित्यपि ।
विदूरथविदो रत्नादुहिता प्रतिभा यथा ॥ ५१ ॥
यावन्तो जन्तवो यस्मिन् ये ये सर्गे यदा यदा ।
ते सर्वगत्वात् चिद्धातोरन्योन्यादर्शतां गताः ॥ ५२ ॥
तीव्रवेगवती या स्यात् तत्र संविदकम्पिता ।
सैवाऽऽयाति परं स्थैर्यमामोक्षं त्वेकरूपिणी ॥ ५३ ॥

चित्के स्फुरणके लिए हेतु खोजनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वभावतः होता है, जैसे महामणिसे (चिन्तामणिसे) कान्तियोंका प्रसार अपने आप होता है, वैसे ही चित्का स्फुरण भी स्वतः होता है । जिन वस्तुओंका स्फुरण स्वतः नहीं होता जैसे कि चिन्तामणिसे विविध विचित्र पदार्थोंकी प्राप्ति । उसमें प्रार्थी लोगोंके विचित्र मनोरथोंकी अपेक्षा होती है यानी चित्के स्फुरणमें कोई कारण नहीं है, किन्तु विचित्र पदार्थोंके रूपसे स्फुरणमें जीवोंका अदृष्ट कारण है ॥ ५० ॥

पहले तदनुकूल सङ्कल्पवैचित्र्यकी उत्पत्ति भी पूर्वोक्त रीतिसे ही होती है, ऐसा कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

मैं इस प्रकारके कुलाचारमें इस प्रकारका राजा होऊँ, यह जैसे चिन्तामणिसे कान्ति स्वतः निकलती है, वैसे ही विदूरथरूपी जीवचैतन्यसे मनोरथ उत्पन्न हुआ ॥५१॥

जिस जिस सृष्टिमें जब जब जो जो और जितने जीव हुए होंगे और हैं, वे सब चेतनके सर्वव्यापक होनेके कारण अन्योन्यके लिए दर्पणरूप हो गये । भाव यह है कि जैसे दर्पण एक दूसरेके अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्बोंको ग्रहण कर लेते हैं, वैसे ही अनेक जीवचैतन्योंमें समान विषयके आरोपक्रमसे परस्परके अन्तर्गत प्रतिबिम्बग्राहकता आ जाती है ॥ ५२ ॥

ऐसी अवस्थामें बिम्बके रहते प्रतिबिम्ब हटाया नहीं जा सकता, फिर निर्विषतारूप मोक्षकी प्राप्ति कैसे होगी, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'तीव्रवेगवती' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त जीवसंविदोंमें जो ही जीवसंवित्' यानी ब्रह्माकारवृत्ति तीव्र वेगवाली और विषयदोषसे अविचलित होकर मोक्षपर्यन्त एक रूपवाली होती है, वही सर्वोत्कृष्ट परमस्थिरतारूप (ब्रह्मरूपसे स्थिरत्वरूप) मोक्षको प्राप्त होती है अन्य नहीं ॥ ५३ ॥

बलवच्चिद्विलासानामनुवृत्त्या परस्परम् ।
स्वभावाः प्रतिबिम्बन्ति चिदादर्शे स्वभावतः ॥ ५४ ॥
तत्राऽतियत्नाज्जयति सत्याः संविद आत्मसात् ।
कुर्वन्ति सरिदम्भोधिगामिनी सरितो यथा ॥ ५५ ॥
ये समास्तत्र ते तावद्यतन्ते चित्स्वभावतः ।
यावदेको जयत्यत्र द्वितीयः स निमज्जति ॥ ५६ ॥

बलवान् चिद्-विलासोंकी परस्पर अनुवृत्तिसे स्वभाव चित्तरूपी आदर्शमें अपने आप प्रतिबिम्बित होते हैं। जगदाकार अथवा ब्रह्माकारके जीवचैतन्यप्रतिबिम्बित होनेमें तीव्रवेगवत्तारूप बलवान् तत्-तत् आकारके चिद्विलास ही नियामक हैं, यह भाव है ॥ ५४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि यदि ऐसी बात है, तो जगत्के प्रति आकर्षण चिरकालसे अभ्यस्त है, उसीमें तीव्र वेग होगा, ऐसी स्थितिमें मोक्षके प्रति आशा दुराशा ही हो जायगी, इसपर कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे।

यह व्यवहारमें सभीको अनुभूत है कि जो वेग किसी प्रकारके प्रयत्नके बिना उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला वेग प्रबल होता है, इसलिए प्रयत्नसे संपादित ब्रह्माकार वेग ही जगदाकार चिद्विलास-पर विजय पाता है। सत्यसंविद् और असत्यसंविद्—इन दोनोंमें सत्यसंवितोंमें ही प्रबलता दिखाई देती है, अतः ब्रह्माकार संवित् ही जगदाकार वेगको ग्रहण कर लेती है, जैसे सागरगामिनी महानदी अपनी सहायक छोटी-मोटी नदियोंको अपने अधीन कर लेती है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

यदि कोई कहे कि भले ही ब्रह्माकार संवित्की, अतिवेगवत्ता होनेसे, विजय हो, लेकिन जब मन्द अधिकार और मध्य अधिकारवश चित्त स्थिर न होनेसे बीच-बीचमें ब्रह्माकारता और विषयाकारताका उदय होगा, तब दोनोंके समबल होनेसे किसीकी भी जयपराजयकी आशा नहीं करनी चाहिए, इसपर कहते हैं—'ये' इत्यादिसे।

जो अधिकारी उक्त दोनों आकारोंमें समानवेगवाले हैं, वे भी दोनों आकारोंमें सदा समानवेगवाले नहीं रह सकते, किन्तु इन दोनों आकारोंमें

जायमानेषु नश्यत्सु वर्तमानेषु भूरिशः ।
एवं सर्गसहस्रेषु परमाणुकणं प्रति ॥ ५७ ॥
न किञ्चित् केनचिद् व्याप्तं न किञ्चित् केनचित्स्थितम् ।
चिदाकाशमिदं शान्तमतः सर्वमभित्तिमत् ॥ ५८ ॥
अयमाभासते स्वप्नो निर्निद्रो दृष्टिवर्जितः ।
अवश्यंभाविबोधस्तु स्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ ५९ ॥
पत्रपुष्पफलांशात्मा यथैकः स्वास्थितो द्रुमः ।
अनन्तसर्वशक्त्यात्मा ह्येक एव तथा विभुः ॥ ६० ॥

जब एक यानी ब्रह्माकार स्थिर होकर उत्कर्षको प्राप्त होता है और दूसरा बाह्याकार विलीन हो जाता है, तब वे लोग श्रवण आदिकी आवृत्तिरूप प्रयत्न करते हैं। तब उन्हें भी क्रमशः अभ्यास बढ़नेसे ब्रह्माकारमें तीव्र वेगका उदय होने एवं विषयाकारके विलीन होनेसे अन्यका विजय सिद्ध हो जाता है ॥ ५६ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गप्राप्त मोक्षाभावकी आशङ्काका निवारण कर जो विषय छिड़ा था उसीका यानी प्रत्येक जीवमें सम, विषम सकल विचित्रताओंका ही अवलम्बन कर कहते हैं—'जायमानेषु' इत्यादिसे।

उपाधिवश प्राप्त हुई परिच्छिन्नताका अपनेमें आरोप करनेसे परमाणुकणरूप जीवसमूहके प्रति पूर्वोक्त प्रकारकी सम, विषम हजारों सृष्टियोंके भ्रान्तिवश उत्पन्न होनेपर, स्थित होनेपर और विनष्ट होनेपर वास्तवमें किसी जीवरूपी कणको न तो दौड़ धूप करनेसे कुछ वस्तु प्राप्त हुई और न उदासीन होकर बैठे रहनेसे ही कुछ वस्तु अप्राप्त हुई। भाव यह कि जो वस्तु है ही नहीं, वह न तो प्राप्तिके योग्य है और अप्राप्तिके योग्य। अतः (जब कुछ वस्तु है ही नहीं तब) यह सब व्यवधानरहित (निरावरण) शान्त चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ५७, ५८ ॥

यह स्वप्न प्रतीत होता है, ऐसा स्वप्न कि जिसमें विवेकदृष्टिका अभाव है और निद्रा भी नहीं है, इसके अधिष्ठानरूप आत्माका साक्षात्कार होनेपर तो पहले भली भाँति अनुभूत होता हुआ भी यह असन्मय ही हो जाता है ॥ ५९ ॥

विवेकदृष्टिसे प्रपञ्चकी पृथक् सत्ताका अभाव कह कर मायिक दृष्टिसे भी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं—'पत्रपुष्प०' इत्यादिसे।

मातृमेयप्रमाणादिमायात्मकमजं पदम् ।
बुद्धं विस्मृतिमायाति न कदाचन कस्यचित् ॥ ६१ ॥
शून्योदयास्तमयतस्तु तमःप्रकाशं
दिक्कालरूप्यपि सदैकमनादिशुद्धम् ।
आद्यन्तमध्यरहितं स्थितमच्छमम्बु
सौम्यत्ववीचिवलनाढ्यमिवैकमेव ॥ ६२ ॥
अहन्त्वमित्यादिजगत्स्वरूपा
विशुद्धबोधैकविभा विभाति ।
आकाशकोशे निजशून्यतेव
द्वैतैक्यसङ्कल्पविकल्पनाच्च ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे प्रयोजनवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

——:*:——

जैसे पत्ते, फूल, फल, शाखा आदि अंशोंसे युक्त वृक्ष एकरूपसे ही स्थित हैं, वैसे ही अनन्त सर्वशक्तिरूप परमात्मा एकरूपसे ही स्थित है ॥ ६० ॥

जीवोंकी दृष्टिसे भी बोध होने तक ही वह भिन्नरूपवाला प्रतीत होता है, बोध होनेपर विस्मृतिके कारणभूत अज्ञानके हट जानेसे वह एकरूप ही रहता है, ऐसा कहते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे ।

बोध होनेतक ही प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि मायिक रूपवाला अविनाशी अज पर (परब्रह्म) जब जान लिया जाता है, तब विस्मृतिके हेतु अज्ञानके हट जानेसे फिर कभी किसीको भी विस्मृत नहीं होता, एक अद्वितीयरूपसे प्रतीत होता है ॥ ६१ ॥

भेदके मायासे अवभासित होनेपर भी शुद्धकी वास्तविक एकरूपतासे स्थितिका कोई विरोध नहीं है, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'शून्यो०' इत्यादिसे ।

जैसे निर्मल जल चाहे तरङ्गित हो चाहे निश्चल, दोनों अवस्थाओंमें जलके स्वरूपमें कोई भेद न आनेसे एकरूप ही है, वैसे ही साक्षीरूपसे अज्ञानको प्रकाशित करनेवाला, दिशा और कालरूपी होता हुआ भी परमार्थरूपसे सदा शुद्ध, जिसमें सम्पूर्ण विकारोंके उदय और नाश नहीं रह गये हैं ऐसा आत्मरूप पदार्थ आदि, अन्त और मध्यसे रहित होकर एकरूपसे स्थित है ॥६२॥

केवल विशुद्ध बोधमात्रस्वरूपवाले ब्रह्मकी स्वरूपभूत विभा (प्रकाश)

एकषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अहं जगदिति भ्रान्तिः परस्मात् कारणं विना ।
यथोदेति तथा ब्रह्मन् भूयः कथय साधु मे ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

समस्ताः समतैवाऽन्ताः संविदो बुध्यते यतः ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वात्मकमजस्ततः ॥ २ ॥

ही जैसे आकाशमें उसकी अपनी शून्यता (आकाशकी शून्यता) ही तलमलिनता, मोतियोंके समूहरूप, बालोंके वर्तुलाकर गोलेकी आकारता और बड़े-बड़े कड़ाहोंकी आकारतासे प्रतीत होती है, वैसे ही द्वैत और ऐक्यविषयक सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मनसे और उसके मूलभूत अविद्या, काम, कर्म, वासना आदि वश 'अहं मम त्वं तव' इत्यादि जगत्के रूपसे प्रतीत होती है ॥ ६३ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त ।

इकसठवाँ सर्ग

[तत्त्वज्ञानप्राप्तिरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिए एवं जगत्के पदार्थोंमें वैराग्य होनेके लिए सृष्टिकी असारता और असत्यताका अन्यान्य युक्तियों द्वारा वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, परब्रह्मको मैं देह हूँ, इत्याकारक अहंभावसे रहित देहमें अहंभावके कारणके बिना भी 'अहम्' ऐसी भ्रान्ति और परमाणु तथा क्षणके मध्यमें इस जगत्की, जो कि बड़ा विस्तृत और चिरकालव्यापी प्रतीत होता है, स्थितिका कोई कारण नहीं है, फिर भी उसमें 'जगत्' ऐसी भ्रान्ति जैसी कल्पना और युक्तिसे उदित होती है, उसे आप मुझसे फिर ऐसे ढंगसे कहिये कि मेरी समझमें आ जाय । यद्यपि 'महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं वपुः' इत्यादिसे इसे आप कह चुके हैं, तथापि जिन युक्तियोंके द्वारा ठीक ठीक समझमें आ जाय, उन युक्तियोंसे फिर मुझसे कहिये, यह भाव है ॥ १ ॥

जितनी भी भ्रान्तियाँ हैं, वे सब स्वरूपचैतन्यके मध्यमें सन्निविष्ट हैं, इसी मुख्य युक्तिको पहले श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'समस्ताः' इत्यादिसे ।

सर्वा हि शब्दार्थदशो ब्रह्मैवैताः पृथङ्न तत् ।
सर्वार्थशब्दार्थकलारूपमासां न विद्यते ॥ ३ ॥
कटकत्वं पृथग्घेम्नस्तरङ्गत्वं पृथग्जलात् ।
यथा न सम्भवत्येवं न जगत् पृथगीश्वरात् ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूंकि बोद्धा सब प्रकारकी सकल भ्रान्तियोंको स्वरूपचैतन्यके ही अन्दर स्थित सदा जानता है, कभी भी उससे अतिरिक्त कोई भी भ्रान्तियाँ नहीं हैं, अतः सब सर्वात्मक ही है। वह समता ही है। सबके सर्वात्मक होनेपर तनिक भी विषमता शेष नहीं रहती। जब विषमता नहीं है, तब जन्म आदि विकारोंकी उपपत्ति कहाँ ? इसलिए अज (परमात्मा) ही वस्तुतः है, इस कारण जगत्की भ्रान्ति बिना कारण हुई है, ऐसा जो कहा, वह ठीक ही कहा, यह भाव है ॥ २ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि चैतन्यके अन्दर प्रतीत होनेमात्रसे सब पदार्थोंकी सर्वात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है ? उसका उत्तर यह दिया जाय कि एकमात्र चित्के (चैतन्यके) तादात्म्यसे पदार्थोंका स्फुरण होता है, अतः सब पदार्थ सर्वात्मक (चैतन्यात्मक) हैं, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि घटज्ञान, पटज्ञान इस प्रकार विभिन्न विषयोंके तादात्म्यसे चैतन्यमें भी भेदज्ञान होता है, अतः वह भी भिन्न हो जायगा, इस आशङ्काके समाधानके लिए कहते हैं— 'सर्वा हि' इत्यादिसे ।

चित्का भेद नहीं है। सब बोध, चाहे वे अर्थोंके हों चाहे शब्दोंके, ब्रह्म ही हैं। चित् भी ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है। विषयनिष्ठ भेदके सम्बन्धसे चित्में भेद प्रतीत होता है, विषयका निस्सारण होनेपर चित्में भेद नहीं रहता।

शङ्का—उक्त अनुभवमें विषयाकारताकी प्रतीति होती है, अतः उसमें विषयके तुल्य भेद क्यों नहीं होता ?

समाधान—सम्पूर्ण विषयरूप शब्दार्थ और उनके अवयवरूप जो तत्-तत् आकार हैं, वे बोधोंके नहीं हैं, क्योंकि चित्में जड़ आकारके रहनेमें कोई युक्ति नहीं है। जो आकार अनुभवमें आता है, वह वृत्तिका ही है; बोधोंका नहीं, यह तात्पर्य है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चिद्में भेदका निरास होनेपर जड़के भेदका निरास करना

एष एव जगद्रूपं जगद्रूपं तु नेश्वरे ।
हेमैव कटकादित्वं कटकत्वं न हेमनि ॥ ५ ॥
यथाऽवयविनो रूपमनेकावयवात्मकम् ।
तथाऽनवयवायास्तु चितः सर्वात्मकं च यत् ॥ ६ ॥

भी कठिन नहीं है, क्योंकि जड़ भेदकी सत्ता और स्फूर्ति चित्से अतिरिक्त नहीं है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'कटकत्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे कटकता सुवर्णसे पृथक् नहीं है और जैसे तरङ्गता जलसे पृथक् नहीं है, वैसे ही जगत् भी ईश्वरसे पृथक् नहीं है ॥ ४ ॥

जगत्के चित्से अभिन्न होनेपर भी यदि कोई प्रश्न करे कि कारणके बिना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ उसके उत्तरमें यही कहना होगा कि जैसे कटक आदिका कनक कारण है, वैसे ही जगत्का कारण चित् है, इस शङ्कापर कहते हैं—'एष एव' इत्यादिसे ।

ईश्वर (चित्) ही जगद्-रूप हुआ है, यह जगत् ईश्वरका विवर्त है । यदि जगत्का ईश्वरसे भेद होता, तो जगत्के प्रति ईश्वर कारण होता । अत्यन्त अभेद होनेपर तो ईश्वर उसके प्रति कारण नहीं हो सकता, यह भाव है ।

शङ्का—तो क्या जगद्रूप ही ब्रह्म (चित्) है ।

समाधान—नहीं, ईश्वरमें जगद्रूप ही नहीं है । भाव यह कि विवर्तकी पृथक् सत्ता नहीं होती । इसी प्रकार कटक, कुण्डल आदि भी सुवर्णात्मक ब्रह्मके विवर्त ही हैं, सुवर्णमें कटक आदि पृथक् नहीं हैं, क्योंकि विवर्तकी पृथक् सत्ता नहीं होती, यह ऊपर कहा गया है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि एककी अनेकात्मतामें विरोध होगा, तो उसपर समानसत्तावाले अनेक अवयवोंके साथ एक अवयवीका समानसत्तावाला तादात्म्य लोकमें जब विरुद्ध नहीं है, तब कल्पित (न कि वास्तविक) अनेकोंसे वास्तविक ब्रह्मैक्य अविरुद्ध है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे अनेक अवयवोंका समुदायभूत अवयवीका रूप लोकमें अविरुद्ध है, वैसे ही अनवयवभूत यानी नित्य चित्की एकात्मता कल्पित अनेक रूपोंसे अविरुद्ध है । एकात्मा होनेपर सबको सर्वात्मताका लाभ होनेसे अनेकता हट जाती है, इससे भी विरोधाभाव ही है ॥ ६ ॥

यत्तुल्यकालमखिलं तन्मात्रावेदनं परे ।
अन्तस्थं तदिदं भाति जगदित्यहमित्यपि ॥ ७ ॥
लेखौघानां यथा भेदसन्निवेशः शिलोदरे ।
तथाऽनन्यज्जगदहं चेत्यन्तश्चिद्घने घनम् ॥ ८ ॥
स्थितास्तरङ्गाः सलिले यथान्तरतरङ्गिते ।
सृष्टिशब्दार्थरहितास्तथाऽन्तः सृष्टयः परे ॥ ९ ॥
न सर्गे तिष्ठति परं सर्गस्तिष्ठति नो परे ।
अवयव्यावयविवत् सत्ताऽनवयवैस्तयोः ॥ १० ॥

तो सबके अनुभवसे सिद्ध 'जगत्' और 'अहम्' ऐसी भेदप्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

सब प्राणियोंमें अन्दर स्थित समानकालिक जो ब्रह्मस्वरूपमात्रका अज्ञान है, वही परम ब्रह्ममें 'जगत्' और 'अहम्' इस प्रकार भेदसे प्रतीत होता है यानी यह भेदप्रतीति अज्ञानकल्पित है, वास्तविक नहीं है ॥ ७ ॥

जैसे स्फटिकशिलाके भीतर, भेद न होनेपर भी प्रतिबिम्बित वन-पङ्क्तियोंकी स्थिति विरुद्ध नहीं है, वैसे ही चिद्घन परब्रह्ममें उससे अभिन्न 'जगत्' और 'अहम्' भेदप्रतीति विरुद्ध नहीं है । भाव यह कि स्फटिकशिलामें प्रतिबिम्बरूप वनपंक्तियां स्फटिकशिलासे अतिरिक्त नहीं हैं, फिर भी भेदेन उनका सन्निवेश उनमें प्रतीत होता है, जिसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है, वैसे ही ब्रह्माभिन्न ही यह जगत् ब्रह्ममें भेदेन प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

जैसे तरङ्गशून्य जलके अन्दर तरङ्गें स्थित हैं, वैसे ही सृष्टिशब्दार्थसे शून्य परब्रह्मके अन्दर सृष्टियां स्थित हैं ॥ ९ ॥

यदि किसीको यह जिज्ञासा हो कि जैसे विलीन तरङ्गें महाजलमें अवयव-रूपसे रहती हैं अथवा अवयवी समवायसम्बन्धसे अवयवोंमें रहता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत्‌की स्थिति तो नहीं है ? इसपर कहते हैं—'न सर्गे' इत्यादिसे ।

न तो सृष्टिमें समवायसम्बन्धसे परब्रह्म रहता है और न सृष्टि ही अवयव-रूपसे परब्रह्ममें रहती है । वास्तवमें अवयव और अवयवीमें भी परस्परकी आधारता उपपन्न नहीं होती है । विचार कीजिए, अवयवोंमें समवायसम्बन्धसे रहता हुआ अवयवी प्रत्येक अवयवमें सर्वांशसे रहता है अथवा कतिपय अवयवोंको

चिद्रूपेण स्वसंविस्या स्वचिन्मात्रं विभाव्यते ।
स्वमेव रूपहृदयं वातेन स्पन्दनं यथा ॥ ११ ॥
तत्कालमेष शब्दाणुश्चिचमत्काररूपधृक् ।
चेतते खमिवैवान्तः सङ्कल्प इव चेतसा ॥ १२ ॥

लेकर ? प्रथम पक्षमें प्रत्येक अवयवमें अलग-अलग अनेक अवयवी हो जायँगे । ऐसी स्थितिमें गायके कानमें भी सम्पूर्ण गौ रहेगी, अतः उसके दोहन आदि कार्य होने लगेंगे और अवयवोंका विश्लेषण होनेपर भी अवयवीका जातिके समान नाश नहीं होगा । दूसरे पक्षमें अनवस्थासे अनन्त अवयव होनेके कारण मेरु और सरसोंमें साम्य हो जायगा । तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक अवयवमें कुछ अवयवोंको लेकर अवयवी रहता है, ऐसा यदि माना जाय, तो जिन अवयवोंको लेकर वह रहेगा, उन अवयवोंमें भी कतिपय अवयवोंके साथ अवयवीका सद्भाव मानना पड़ेगा, फिर उन उन अवयवोंमें भी मानना होगा, ऐसी स्थितिमें अनवस्थित अनन्त अवयव मानने होंगे, फलतः मेरु और सर्षपमें समान परिमाणकी प्रसक्ति होगी, क्योंकि दोनोंके अवयव अनन्त हैं । इसी प्रकार अवयव भी अवयवीमें क्या एक भागमें रहते हैं या सर्वांशमें ? पहले पक्षमें अनवस्था दोष होगा । द्वितीय पक्षमें अन्य अवयवोंका समावेश न होनेसे तथा अद्वितीय ब्रह्ममें अवयवोंका सम्बन्ध नहीं होनेसे सम्पूर्ण द्रव्योंकी निरवयवत्वापत्ति हो जायगी, इसलिए अवयव और अवयवीकी अनवयवोंसे ही यह सत्ता है, यह सिद्धान्त है ॥ १० ॥

दृष्टि-सृष्टिवादके उपपादनक्रमसे भी जगत्‌की चित्‌से अभिन्नताका अनुभव करा रहे श्रीवसिष्ठजी यद्यपि चैतन्य निष्क्रिय (व्यापारशून्य) है, तथापि अविद्यामें उसके प्रतिबिम्बित होनेसे वह अन्यथा अपनी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं—'चिद्रूपेण' इत्यादिसे ।

परमार्थ चिद्रूप ब्रह्म, दर्पणमें आंखोंका प्रतिघात होनेसे अपने मुँहकी नाईं, अविद्यामें प्रतिबिम्बित अपनी संवित्‌से अपने चिन्मात्रस्वरूप प्रपञ्चके रहस्यभूत अज्ञानावृत अपने स्वरूपकी ही ऐसी कल्पना करता है, जैसे कि वायु अपनेमें स्पन्दकी कल्पना करता है ॥ ११ ॥

उसी समय अपने कारणमें लीन हुए शब्दतन्मात्रका आकाशरूपसे आविर्भाव होता है, ऐसा कहते हैं—'तत्काल०' इत्यादिसे ।

तदेवाऽनिलतां वेत्ति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
अन्तर्गतस्पर्शरसां पवनः स्पन्दतामिव ॥ १३ ॥
तदेवाऽऽभासतामेति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
कोशस्थितालोकलवां तेजः प्रकटतामिव ॥ १४ ॥
तदेव जलतां याति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
अन्तःस्थितास्वादलवां सलिलं द्रवतामिव ॥ १५ ॥
तदेवाऽवनितां वेत्ति स्वचित्तैकात्मतामयीम् ।
अन्तःस्थगन्धतन्मात्रामुर्वी स्थैर्यकलामिव ॥ १६ ॥

यह शब्दतन्मात्र, जो पहले अपने क़ारणमें लीन था, सर्वशक्तिमती मायासे संवलित ब्रह्मरूपको धारण कर चित्तसे अन्तःकरणमें उसी क्षणमें संकल्पके समान चिद्रूप आकाशके तुल्य स्फुरित होता है, वही आकाशकी उत्पत्ति है ॥ १२ ॥

वही (आकाशताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपनेमें स्वसत्तात्मक वायुताका, जिसके अन्दर स्पर्शतन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध हो गया, ऐसे अनुभव करता है, जैसे कि पवन अपनेमें स्वयं स्पन्दताका (स्पन्दनक्रियाका) अनुभव करता है ॥ १३ ॥

पवनात्माको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनी सत्तात्मक तेजस्ताको, जिसके मध्यमें तेजस्तन्मात्रका उन्मेष हो चुका, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे कि तेज स्वयं प्रकटताको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

तेजस्ताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं निजसत्तात्मक जलताको, जिसके अन्दर रसतन्मात्र स्थित है, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे जल स्वयं द्रवताको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जिस क्षणमें नेत्रोंके पलक खोलते हैं, उसी क्षणमें तुरन्त ही जगत्‌का भान होता है। इस भानमें आरोपक्रमकी प्रतीति नहीं होती, ऐसी अवस्थामें दृष्टिसृष्टिकी उपपत्ति कैसे ? इसपर कहते हैं— 'तुल्यकाल०' इत्यादिसे ।

यह चित्‌का चमत्कार ऐसा है कि इसकी प्रतीति कांटेमें जोखे हुएकी नाईं कठिनाईसे लक्ष्य करनेयोग्य निमेषके लाखवें हिस्सेके तुल्य है, इस तरहका भी जो संवित्‌का जगदाकार स्फुरण है, वह करोड़ों कल्पोंतक रहनेवाली

तुल्यकालनिमेषांशलक्षभागप्रतीति यद् ।
निजं विदः प्रकचनं तत्सर्गौघपरम्परा ॥ १७ ॥
शुद्धं सकृत्प्रभातान्तर्दृश्यमध्यमनामयम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं ब्रह्म तिष्ठत्यनिष्ठितम् ॥ १८ ॥
बुद्धं सदपवर्गं तत् ससर्गमपि सत्समम् ।
अबुद्धं सर्गरूपात्मविसर्गमपि तत् सदा ॥ १९ ॥
चिद्‌ब्रह्म यद्यथा येन बुध्यते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तत्तत्तथा नु भवति सर्वं सर्वाङ्गशक्तिमत् ॥ २० ॥

सृष्टियोंकी परम्परा बन जाता है। चित्के स्फुरणमें कालसे अपरिच्छिन्न निमेषके लक्षतम (लाखवें) हिस्सेका आरोप अथवा करोड़ों कल्पोंका आरोप मायिक है, इसलिए वास्तविकमें उसमें कोई विरोध नहीं है, यों आरोपक्रमकी कल्पना हो सकती है, यह भाव है ॥ १७ ॥

जो अशुद्ध, जड़, देश और कालसे परिच्छिन्न, दोषयुक्त, उत्पत्तिविनाश-शील और कालमें स्थित है, वह कालसे परिच्छिन्न होता है, ब्रह्म तो ऐसा है नहीं, इसलिए कहते हैं—'शुद्धम्' इत्यादिसे ।

एक बार प्रकाशित न कि बीच बीचमें रुक रुककर प्रकाशित यानी नित्य स्वप्रकाश, सृष्टि और प्रलय जिसके अन्तर्गत हैं, जन्म और विनाशसे रहित तथा विक्रिया आदि दोषशून्य ब्रह्म निराधार स्थित है ॥ १८ ॥

यदि कोई कहे कि उसके मध्यमें यदि सृष्टि और प्रलय निहित हैं, तो अपवर्ग भी सृष्टियुक्त या प्रलययुक्त, यों विविध प्रकारका होना चाहिए, एक प्रकारका नहीं, इसपर कहते हैं—'बुद्धम्' इत्यादिसे ।

परमार्थ सत्य वस्तुके ज्ञात होनेपर अपवर्ग होता है। उक्त परमार्थ वस्तु सृष्टियुक्त होनेपर भी विषमतासे रहित ही है। यदि उसका परिज्ञान न हो, तो परमार्थतः सृष्टिशून्य भी वह सृष्टिरूप होती है ॥ १९ ॥

चैतन्यरूप जो ब्रह्म है, उसको बोद्धा लोग अपने आत्मरूपसे अपनेमें जैसा जैसा जानते हैं, वैसा-वैसा यानी उस-उस प्रकारका वह ब्रह्म आत्मामें होता है यानी मायासे तत्-तत् सब आकारोंको धारण करता है, क्योंकि वह सर्वानुगुण मायारूप शक्तिसे युक्त है ॥ २० ॥

तत् सत्यं चिद्विलासत्वात् नित्यानुभवरूपतः ।
तदसत्यं मनःषष्ठात् सर्वाख्या निगतं यतः ॥ २१ ॥
यथैतत् सरणं वायौ तथा सर्गः स्थितः परे ।
असत्कल्पेऽपि सत्कल्पः सत्येऽसत्य इवाऽपि च ॥ २२ ॥
अन्यरूपा यथाऽनन्या तेजस्यालोकतोदरे ।
तथा ब्रह्मणि विश्वश्रीः सत्यासत्यात्मिका चिति ॥ २३ ॥
अनुत्कीर्णा यथा पङ्के पुत्रिका चाऽथ दारुणि ।
यथा वर्णा मषीकल्के तथा सर्गाः स्थिताः परे ॥ २४ ॥

जगत् भी यदि शास्त्रीय चिद्विलासरूप दृष्टिसे देखा जाय, तो परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है । ब्रह्म भी यदि बहिर्मुख चक्षु आदि और मनसे उत्पन्न वृत्तिसे देखा जाय, तो असत्य जगत् ही है, ऐसा कहते हैं—'तत्सत्यम्' इत्यादिसे ।

यदि जगत् परमार्थदृष्टिसे देखा जाय, तो चिद्का विलास होनेसे तथा नित्यानुभवरूप होनेसे वह सत्य ही है । यदि ब्रह्म भी मनसे संयुक्त ज्ञानेन्द्रियोंसे देखा जाय, तो वह भी असत्य ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण नामोंको प्राप्त हुआ है । भाव यह है कि वाणीके अगोचर ब्रह्मका वाणीका गोचर वह रूप सत्य नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

जैसे वायुमें चलन चलनसे पहले असत्के तुल्य वायुमें आविर्भाव होनेसे सत्के तुल्य स्थित है, चलनके समय वायुकी सत्ताका परिज्ञान होनेसे सत्य वायुमें केवल स्थिरतासे रहनेके कारण असत्य-सा स्थित रहता है, वैसे ही यह सृष्टि भी असत्रूप मूलाज्ञानमें अधिष्ठानसत्तासे सत्कल्प तथा सत्य भी अधिष्ठानमें असत्य मायारूप होनेसे असत्य-सी स्थित है ॥ २२ ॥

जैसे तेजके अन्दर आलोकता (चमक) अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्ममें असत्यरूप विश्वकी शोभा सत्य प्रतीत होती है ॥ २३ ॥

जैसे खिलौना बनानेके लिए तयार की गई गीली मिट्टीमें न बनाये गये खिलौने रहते हैं, जैसे खिलौने बनानेके लिए प्रस्तुत काठमें खिलौने स्थित हैं और जैसे स्याहीके चूर्णमें अक्षर स्थित रहते हैं, वैसे ही परब्रह्ममें सृष्टियां स्थित हैं ॥ २४ ॥

अनन्याऽन्येव कचति ब्रह्मतत्त्वमरुस्थले ।
असत्यात्मनि सत्येव त्रिजगन्मृगतृष्णिका ॥ २५ ॥
ब्रह्मणा चिन्मयेनाऽऽत्मा सर्गात्मैव विभाव्यते ।
न भाव्यते चाऽनन्यत्वाद् बीजेनाऽन्तरिव द्रुमः ॥ २६ ॥
यथा क्षीरस्य माधुर्यं तीक्ष्णत्वं मरिचस्य च ।
द्रवत्वं पयसश्चैव स्पन्दनं पवनस्य च ॥ २७ ॥
स्थितोऽनन्यो यथाऽन्यः सन्नाऽस्ति तत्र तथाऽऽत्मनि ।
सर्गो निर्गलचिद्रूपः परमात्मात्मरूपभृत् ॥ २८ ॥
कचनं ब्रह्मरत्नस्य जगदित्येव यत्स्थितम् ।
तदकारणकं यस्मात्तेन न व्यतिरिच्यते ॥ २९ ॥
वासनाचित्तजीवादिवेदनं वेदनोदितम् ।
नोदेत्यवेदनादेव यतनादेव पौरुषात् ॥ ३० ॥

ब्रह्मतत्त्वरूपी मरुभूमिमें त्रिजगत्‌रूपी मृगतृष्णा यद्यपि असत्य है, फिर भी मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है यानी जैसे मरुभूमिमें मृगतृष्णा अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी अन्य-सी स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्मतत्त्वमें असत्य भी यह त्रिजगत् सत्य प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

भ्रमवश चिदाभासरूप जीव बना हुआ ब्रह्म सर्गको ही अपना आत्मा जानता है और तत्त्वदृष्टिसे परब्रह्मसे अनन्य (अभिन्न) होनेके कारण नहीं जानता है, जैसे कि बीज अपने अन्दर स्थित वृक्षको नहीं जानता ॥ २६ ॥

जैसे दूधमें मिठास, मिर्चेमें कड़ुवापन, पानीमें तरलता (द्रवता) और वायुमें चलन अभिन्नरूपसे रहता है, वैसे ही परमात्मामें यह असत् विनाशिस्वरूप सर्ग चिद्रूप होकर स्थित है । यद्यपि यह परमात्मासे भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भिन्न-सा लगता है ॥ २७, २८ ॥

परब्रह्मरूपी सर्गका जगत्‌के रूपसे जो स्फुरण हुआ है, वह अकारण है, इसलिए वह ब्रह्मरूपी मणिसे भिन्न नहीं है ॥ २९ ॥

यदि यह जगत् अकारण ही है, तब तो उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर उसका अनुभव कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'वासना' इत्यादिसे ।

वासना, चित्त, जीव आदिका अनुभव उत्पन्न हुआ है ।

शङ्का—उसके उदय न होनेका क्या उपाय है ?

नाऽस्तमेति न चोदेति क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तमजं ब्रह्म चिद्घनं सुशिलाघनम् ॥ ३१ ॥
पराणुं प्रति सर्गौघाश्चित्ताद् भ्रान्तिसहस्रशः ।
तेष्वप्यणावणावन्तः कैवाऽत्रावासना कथम् ॥ ३२ ॥
यथा जलान्त ऊर्म्याद्या गुप्तागुप्ताश्च शक्तयः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताद्यास्तथा जीवेऽन्तरा स्थिताः ॥ ३३ ॥
जाता चेदरतिर्जन्तोर्भोगान् प्रति मनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

समाधान—मनका नाश होनेसे वह उदित नहीं होता यानी मनोनाश ही उसके अनुदयका हेतु है ।

शङ्का—मनोनाश कैसे होता है ।

समाधान—मनोनाश ज्ञानयोगमें दृढ़ अभ्यासरूप पुरुषप्रयत्नसे होता है ॥३०॥

कोई भी वस्तु कहीं भी और कभी भी न तो पैदा होती है और न नष्ट होती है । सब शान्त अविनाशी चिद्घन शिलाके समान ठोस ब्रह्म ही है, इस श्लोकसे अभिनयपूर्वक ज्ञानयोगका आकार दर्शाया ॥ ३१ ॥

जब तक चित्त रहेगा, तब तक परमाणुके पेटमें भी सृष्टिकी परम्पराका निवारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं—'पराणुम्' इत्यादिसे ।

परमाणुमें चित्तसे भ्रान्तिमय हजारों सृष्टियोंके समूहके समूह उत्पन्न होते हैं, उनमें भी प्रत्येक परमाणुमें सृष्टियां होती हैं, पर परमाणुके अन्दर सृष्टियोंके समूहकी समावेशपूर्वक स्थिति कैसे हो सकती है? यानी परमाणुके अन्दर सृष्टियोंके समूहकी स्थिति असंभव है । वह कभी किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, अतः मिथ्या ही है, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

अनिर्वचनीय मायाशक्तिके रूपसे स्थिति तो तरङ्ग आदि दृष्टान्तमें भी समान है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जलके भीतर तरङ्ग आदि गुप्त और अगुप्त रहते हैं, वैसे ही जीवमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियां भीतर स्थित हैं ॥ ३३ ॥

यदि पुरुषकी भोगोंके प्रति तनिक भी अरुचि हो गई, तो वह उतनेसे ही ऊँचे पदको प्राप्त हो गया, ऐसा श्रुति कहती है ॥ ३४ ॥

यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ।
अतोऽहमित्यसंविदन्क एति जन्मसंविदम् ॥ ३५ ॥
चितिं परापरामजामरूपिकामनामिकाम् ।
चराचराधरामयीं विदन्ति ये जयन्ति ते ॥ ३६ ॥
परे चितिः स्वप्रकटाद्वितीया
स्वावर्तलेखेव जले द्रवाऽन्तः ।
साहं तयेमानि जगन्ति धत्ते
न सन्ति नाऽसन्ति परात्मकानि ॥ ३७ ॥
अहंमयी पद्मजभावना चित्
सङ्कल्पभेदाद्वितनोति विश्वम् ।
अन्तर्मुखैवानुभवत्यनन्त-
निमेषकोट्यंशविधौ युगान्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जगत्-
स्वरूपवर्णनं नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥



स्मृतिको भी उद्धृत करते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

पुरुष जैसे-जैसे विरक्त होता है वैसे-वैसे मुक्त होता है, इसलिए (ज्ञान-वैराग्यकी दृढ़तासे) 'अहम्' इस प्रकार देह आदिका ज्ञान न करता हुआ यानी उनको न देखता हुआ कौन जन्ममरण भ्रान्तिको प्राप्त होगा, कोई भी नहीं ॥ ३५ ॥

जो लोग परा (ईश्वरचैतन्यरूप) अपरा (जीवचैतन्यरूप) क्रमशः ईश्वरचैतन्यरूप परा चितिको नामरूपात्मक जगत्कल्पनारूप उपाधिसे रहित और जीवचैतन्यरूप अपरा चितिको चराचर देह आदिरूप निकृष्ट उपाधियोंसे शून्य और जन्म आदि विकारोंसे शून्य जानते हैं, वे संसारपर विजय पाते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

परब्रह्ममें व्यष्टि जीवरूप प्रकट अद्वितीय 'चिति' ऐसे रहती है, जैसे द्रवभूत जलके अन्दर आवर्तकी रेखा रहती है, वही अहंकारसे युक्त होकर इन जगतोंको धारण करती है, परमात्मामें न तो जगत् सद्रूप है और न असद्रूप है । व्यष्टिके

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमाणुनिमेषाणां लक्षांशकलनास्वपि ।
जगत्कल्पसहस्राणि सत्यानीव विभान्त्यलम् ॥ १ ॥
तेष्वप्यन्तस्तथैवाऽन्तः परमाणुकणं प्रति ।
भ्रान्तिरेवमनन्ताऽहो इयमित्यवभासते ॥ २ ॥

तुल्य समष्टिमें भी अहङ्कार और संकल्पसे—इन दोनोंके कारण ही—अपने भीतर संसारकी कल्पना होती है, ऐसा दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—'अहंमयी' इत्यादिसे ।

अहङ्कारमयी पद्मयोनिकी भावनारूपी चिति संकल्पके भेदसे जगत्की रचना करती है ।

शङ्का—समष्टि चितिमें व्यष्टि चितिकी अपेक्षा क्या विशेष है ?

समाधान—समष्टिचिति हम लोगोंके समान बहिर्मुख नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख ही है, अनन्त (विष्णु) भगवान्के निमेषके करोड़वें हिस्सेरूप कालमें युगान्तरूप (बहत्तर हजार यानी सात करोड़ बीस लाख दिव्य वर्षरूप) अपनी आयुका अनुभव करती है, अहो माया क्या नहीं कर सकती ॥ ३७ ॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त



बासठवाँ सर्ग

[पहले जगत्की भ्रान्तिमात्रताका वर्णन तदुपरान्त जीवन्मुक्ति आदिकी सिद्धिके लिए महानियतिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, परमाणुके लाखवें हिस्सेकी कल्पनामें हजारों ब्रह्माण्ड और निमेषके लाखवें हिस्सेकी कल्पनामें हजारों कल्प दिखाई दे रहे इस ब्रह्माण्डके समान ही सर्वथा सत्य-से प्रतीत होते हैं ॥ १ ॥

उनमें भी हर एकके अन्दर प्रत्येक परमाणुमें इसी प्रकारकी ब्रह्माण्डकल्पना और कल्प-कल्पना होती है, फिर उनके अन्दर इस प्रकार इस कल्पनाकी कहीं

वहन्तीमाः पराः सत्ताः शान्ता सर्गपरम्पराः ।
सलिलद्रवतेवाऽन्तः स्फुटावर्त्तविवर्तिका ॥ ३ ॥
मिथ्यात्मिकैव सर्गश्रीर्भवतीह महामरौ ।
तीरद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पालीव तरङ्गिणी ॥ ४ ॥
स्वप्नेन्द्रजालपुरवत् सङ्कथेहापुराद्रिवत् ।
सङ्कल्पवदसत्यैव भाति सर्गानुभूतिभूः ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

एकात्मैकतयैवं हि जाते सम्यग्विचारणात् ।
निर्विकल्पात्मविज्ञाने परे ज्ञानवतां वर ॥ ६ ॥

समाप्ति नहीं है, यह अनन्त है, अतएव यह भ्रान्ति ही है, वह भ्रान्ति ही जगद्रूपसे भासित हो रही है ॥ २ ॥

वर्तमान, आनेवाली और अतीत सृष्टि-परम्पराएँ, जैसे जलराशि अपने अन्दर आवर्तोंकी परम्पराओंको धारण करती है तथा बहती है वैसे ही प्रातिभासिक सत्ताको धारण करती हैं और बहती हैं ॥ ३ ॥

इस महामरुरूपी जगत्में जैसे मरुभूमिमें तटवर्ती वृक्षों और लताओंसे गिरे हुए फूलोंकी कतारसे भरी हुई मिथ्या नदी प्रतीत होती है, वैसे ही सृष्टि शोभा भी मिथ्या ही है यानी मरुभूमिमें पहले जलनदी ही मिथ्या है फिर उसके तटवर्ती वृक्ष और लताएँ एवं उनके द्वारा बरसाये गये फूलोंका समुदाय कहां ? सारीकी सारी परम्परा मिथ्या है, वैसे ही यह सृष्टिशोभा भी मिथ्या परम्पराओंसे पूर्ण है ॥ ४ ॥

स्वप्न और इन्द्रजालके नगरके तुल्य, औपन्यासिक नगर और पर्वतके तुल्य, मनोरथसे कल्पित पुर और पर्वतके सदृश अथवा संकल्पके तुल्य असत्य ही यह सृष्टियोंके अनुभवकी भूमि प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

तत्त्वज्ञान होनेसे सम्पूर्ण भ्रान्तियोंके निवृत्त होनेपर तत्त्वज्ञानियोंकी देह-स्थितिका संभव नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'एकात्मैकतया' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ, पूर्वोक्त प्रकारके सम्यग् विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके अभेदसे निर्विकल्पक आत्मज्ञान होनेपर तत्त्वज्ञानियोंके भी

किमर्थमिह तिष्ठन्ति देहास्तत्त्वविदामपि ।
दैवेनैव समाक्रान्ता दैवमत्र च किं भवेत् ॥ ७ ॥
श्रीवसिष्ठ उवाच
अस्तीह नियतिर्ब्राह्मी चिच्छक्तिः स्पन्दरूपिणी ।
अवश्यभवितव्यैकसत्ता सकलकल्पगा ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम् ॥ ९ ॥
महासत्तेति कथिता महाचितिरिति स्मृता ।
महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता ॥ १० ॥

शरीर यहांपर किसलिए रहते हैं। यदि कहिये दैवसे आक्रान्त राजा बलि आदिके समान वे यहां रहते हैं, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानियोंके ऊपर दैवकी क्या दाल गल सकती है, क्योंकि 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञानी पुरुषका अकल्याण करनेमें देवता समर्थ नहीं होते क्योंकि वह देवताओंका आत्मभूत ही है) यह श्रुति तत्त्वज्ञानीके विषयमें देवताओंकी असामर्थ्य कहती है। कृपया बतलाइए कि उनके शरीरोंकी स्थितिमें कौन प्रबल कारण है ? ॥ ६, ७ ॥

प्राणियोंकी अदृष्ट शक्तिको साथ लेकर ईश्वरसंकल्परूप महानियति ही जैसे सम्पूर्ण व्यवहारोंकी व्यवस्था करती है, वैसे ही वही विद्वानोंके शरीरकी भी स्थितिमें कारण होती है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अस्तीह' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, यहांपर सम्पूर्ण जगत्के सुव्यवस्थित व्यवहारसे रूपवती-सी ब्राह्मी चित्शक्ति है, जिसे नियति कहते हैं, वह अवश्यम्भाविनी और सम्पूर्ण कल्पोंमें रहनेवाली है ॥ ८ ॥

वह महानियति कबसे है और कैसा उसका रूप है ? इसपर कहते हैं—'आदिसर्गे' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आदिमें (अग्नि आदिको) इस प्रकारसे (ऊष्णता, ऊर्ध्वज्वलन आदि स्वभावसे) सदा रहना चाहिए यों परमात्मा ही स्वयं संकल्पात्मवृत्तिरूप पदार्थवैचित्र्यको अप्रतिहतरूपसे प्राप्त होता है, वही नियति है ॥ ९ ॥

वही नियति परमात्मासे अभिन्न होनेसे सम्पूर्ण जगतोंकी स्थिति, प्रकाश-

महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता।
महास्पन्द इति प्रौढ़ा महात्मैकतयोदिता ॥ ११ ॥
तृणानीव जगन्त्यैवमिति दैत्याः सुरा इति।
इति नागा इति नगा इत्याकल्पं कृतास्थितिः ॥ १२ ॥
कदाचिद् ब्रह्मसत्ताया व्यभिचारोऽनुमीयते।
चित्रमाकाशकोशे च नाऽन्यथा नियतेः स्थितिः ॥ १३ ॥
विरिञ्च्याद्यात्मभिर्बुद्धैर्बोधायाऽविदितात्मनाम्।
ब्रह्मात्मैव सा नियतिः सर्गोऽयमिति कथ्यते ॥ १४ ॥
अचलं चलवद्दृष्टं ब्रह्माऽऽपूर्य व्यवस्थितः।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्गो वृक्ष इवाऽम्बरे ॥ १५ ॥

सामर्थ्य, विवेक, क्रिया, जन्म, अर्थक्रिया आदिकी हेतु होनेसे क्रमशः महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द नामोंसे कही जाती है ॥ १०, ११ ॥

सब जगत् इस प्रकार तृणोंके समान परिवर्तित होते हैं, क्रूरस्वभाववाले दैत्य, सौम्य आकारवाले देवता, विशालाकार पर्वत, सर्प आदि यों उसने कल्पपर्यन्त व्यवस्था कर रक्खी है ॥ १२ ॥

परमार्थ दृष्टिसे ब्रह्मसत्ताके समान व्यवहारमें वह भी अव्यभिचरित है, ऐसा कहते हैं—'कदाचिद्' इत्यादिसे।

यद्यपि ब्रह्मसत्ताका व्यभिचार और आकाशमें चित्रलेखन अत्यन्त असंभावित है तथापि उसका कभी (अज्ञानावस्थामें) अनुमान हो सकता है, परन्तु नियतिकी स्थिति विपरीत हो, इसका तो अनुमान करना भी संभव नहीं है ॥ १३ ॥

यह बात व्यावहारिक दृष्टिसे कही गई है, तात्त्विक दृष्टिसे तो ब्रह्म, नियति और सर्गशब्दके अर्थमें कोई भेद नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'विरिञ्च्या०' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी विरञ्चि आदि अज्ञानियोंके बोधके लिए ब्रह्म ही वह नियति और यह सर्ग है, ऐसा कहते हैं ॥ १४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ब्रह्म अचल है और सृष्टि चञ्चल है, इसलिए उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है ? उसपर कहते हैं—'अचलम्' इत्यादिसे।

पाषाणोदरलेखौघन्यायेनाऽत्मनि तिष्ठता ।
ब्रह्मणा नियतिः सर्गो बुद्धोऽबोधवतेव खम् ॥ १६ ॥
देहे यथाऽङ्गिनोऽङ्गादि दृश्यते चित्स्वभावतः ।
ब्रह्मणा पद्मजत्वेन नियत्याद्यङ्गकं तथा ॥ १७ ॥
एषा दैवमिति प्रोक्ता सर्वं सकलकालगम् ।
पदार्थमलमाक्रम्य शुद्धा चिदिति संस्थिता ॥ १८ ॥
स्पन्दितव्यं पदार्थेन भाव्यं वा भोक्तृतापदम् ।
अनेनेत्थमनेनेत्थमवश्यमिति दैवधीः ॥ १९ ॥
एषैव पुरुषस्पन्दस्तृणगुल्मादि चाऽखिलम् ।
एषैव सर्वभूतादि जगत् कालक्रियादि वा ॥ २० ॥

जैसे आकाशमें वृक्ष आकाशको पूर्ण करके स्थित है, वैसे ही यह सृष्टि आदि, मध्य और अन्तरहित तथा अचल ब्रह्मको पूर्ण करके स्थित है, अज्ञकी दृष्टिसे चलके सदृश दिखाई देती है ॥ १५ ॥

यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भने इस नियतिको कैसे जाना, जिससे कि उन्होंने नियतिके अनुसार ही सृष्टि की ? इसपर कहते हैं—'पाषाणो०' इत्यादिसे ।

जैसे स्फटिकशिलाके अन्दर प्रतिबिम्बित वनपङ्क्तियां रहती हैं, वैसे ही मायाशबल ब्रह्ममें स्थित हिरण्यगर्भने जैसे सोया हुआ पुरुष अपनेमें स्वाप्नकल्पनाके आधार आकाशको देखता है, वैसे ही नियतिरूपी भावी सृष्टिको देखा ॥ १६ ॥

जैसे अङ्गी देहमें अङ्गोंको देखता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ चित्स्वभाव होनेके कारण नियति, आदिसृष्टि आदिरूप अङ्गोंको देखता है ॥ १७ ॥

दैव नामसे प्रख्यात यह (नियति) जो मोहसे अभिभूत न होनेसे शुद्ध ईश्वरसंकल्परूप है, जगत्‌की व्यवस्थारूपसे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान कालमें स्थित सम्पूर्ण पदार्थोंको खूब आक्रान्त कर स्थित रहती है ॥ १८ ॥

अमुक पदार्थमें इस प्रकार स्पन्द होना चाहिए, अमुकको भोक्तृता पद प्राप्त होना चाहिए, इसने इस प्रकार अवश्य होना चाहिए, इस प्रकार दैव ही नियति है ॥ १९ ॥

यही (महानियति ही) पुरुषचेष्टा, सम्पूर्ण तृण, पेड़, पौधे, झाड़ियां आदि है,

अनया पौरुषी सत्ता सत्ताऽस्याः पौरुषेण च ।
लक्ष्यते भुवनं यावत् द्वे एकात्मतयैव हि ॥ २१ ॥
नरेण पौरुषेणैव कार्ये सत्तात्मके उभे ।
ईदृश्येतेन नितिरेवं नियतिपौरुषे ॥ २२ ॥
प्रष्टव्योऽहं त्वया राम दैवपौरुषनिर्णयः ।
मदुक्तं पौरुषं पाल्यं त्वयेति नियतिः स्थिता ॥ २३ ॥
भोजयिष्यति मां दैवमिति दैवपरायणः ।
यत्तिष्ठत्यक्रियो मौनं नियतेरेष निश्चयः ॥ २४ ॥
न स्याद् बुद्धिर्न कर्माणि न विकारादि नाऽऽकृतिः ।
केवलं त्वितथमाकल्पं स्थित्या भाव्यमिति स्थिताः ॥ २५ ॥

यही सम्पूर्ण पृथिवी, जल, तेज वायु आकाश—पांच भूतस्वरूप जगत् है और यही काल, क्रिया आदि स्वरूप है ॥ २० ॥

इससे पुरुषकी अदृष्टसम्बन्धिनी सत्ता (फलावश्यम्भावरूप स्थिति) लक्षित होती है । जब तक तीन भुवन हैं, तबतक यह व्यवस्था है । प्रलय होनेके पश्चात् ये दो सत्ताएँ एकात्मतासे (अभेदसे) स्थित होती हैं ॥ २१ ॥

मनुष्यको अपने पौरुषसे ही नियतिसत्ता और पुरुषादृष्टसम्बन्धिनी सत्ता दोनों सत्ताओंको बनाना चाहिए । नियति और पौरुष भी इसी प्रकार प्राणीके अदृष्टसे निर्वाह्य हैं, इस क्रमसे इस प्रकारकी नियति स्थित है ॥ २२ ॥

बहुत क्या कहें, आपके शिष्यभावसे पूछनेमें मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थके अनुष्ठानमें भी नियति ही कारण है, ऐसा कहते हैं—'प्रष्टव्यो' इत्यादिसे ।

हे रामजी, आपने मुझसे पूछना चाहिए, इस विषयमें भी दैवपौरुषनिर्णय ही हेतु है । आपने मेरे द्वारा उक्त पौरुषका पालन करना चाहिए, यह भी नियति कृत ही है ॥ २३ ॥

जो मुझे दैव खिलायेगा, इस प्रकार कोई मनुष्य दैवका अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्नको न कर अजगरकी वृत्ति धारण कर चुपचाप बैठा रहता है, वह भी उसके अनुरूप पूर्व जन्मके कर्मोंसे उदबोधित नियतिके कारण ही होता है, यह निश्चय है ॥ २४ ॥

यदि पहले भी कोई पुरुष निर्व्यापार ही रहेगा, तो बुद्धि नहीं होगी, बुद्धिसे

अवश्यं भवितव्यैषा त्विदमित्थमिति स्थितिः ।
न शक्यते लङ्घयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः ॥ २६ ॥
पौरुषं न परित्याज्यमेतामाश्रित्य धीमता ।
पौरुषेणैव रूपेण नियतिर्हि नियामिका ॥ २७ ॥
अपौरुषं हि नियतिः पौरुषं सैव सर्गगा ।
निष्फलाऽपौरुषाकारा सफला पौरुषात्मिका ॥ २८ ॥
नियत्या मूकतामेत्य निष्पौरुषतयाऽक्रियम् ।
यस्तिष्ठति प्राणमरुत् स्पन्दस्तस्य क्व गच्छति ॥ २९ ॥

होनेवाले कार्य भी नहीं होंगे, कार्यसे होनेवाले विकार नहीं होंगे और विकारोंके गाय आदिके शरीरोंके आकार नहीं होंगे। इस विषयमें श्रुति भी प्रमाण है—'यद्येतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह' (यदि कर्म न करेगा तो क्षीण हो जायगा) इस प्रकार पुरुषकर्ममूलक ही कल्पपर्यन्त व्यवहारस्थिति होनी चाहिए, इस प्रकार नियतिके कारण ही सब पदार्थ स्थित हैं, यह अर्थ है ॥ २५ ॥

इसकी स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए इस प्रकारकी अवश्यभवितव्यतारूप नियतिका रुद्र आदिकी बुद्धि द्वारा भी उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ऐसा निश्चय कर पौरुषका कभी त्याग न करे, क्योंकि नियति पौरुषरूपसे ही नियामिका होती है, यानी पूर्वजन्मोंमें किया गया पौरुष ही वर्तमान जन्ममें नियतिरूप होकर 'इसे ऐसा ही होना चाहिए' ऐसा नियम करता है ॥ २७ ॥

यद्यपि नियति और पौरुष शब्दका एक ही अर्थ है, फिर भी उपाधिभेदसे उनमें भेदव्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं—'अपौरुषम्' इत्यादिसे ।

पुरुषके प्रयत्नरूपसे अविवक्षित केवल ईश्वरके सङ्कल्पमात्रसे नियति कही जाती है, वही पुरुषप्रयत्नसे सृष्टिफलसे उपहित होकर पौरुष कही जाती है, क्योंकि पुरुषके प्रयत्नके आकारमें परिणत न हुई नियति निष्फल है और पौरुषात्मिका सफल है। भाव यह है कि नियति पुरुषार्थरूप फलप्रदानमें असमर्थ है, अतः निष्फल है और पौरुष पुरुषार्थरूप फलप्रदानमें समर्थ है अतः सफल है ॥ २८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जो पुरुष पौरुषशून्य होकर अजगरवृत्तिसे

अथ प्राणक्रियारोधमपि कृत्वा विरामदम् ।
यदि तिष्ठति तत्साधुर्मुक्त एव किमुच्यते ॥ ३० ॥
पौरुषैकात्मता श्रेयो मोक्षोऽत्यन्तमकर्तृता ।
आभ्यां तु सबलः पक्षो निर्दुःखैव महात्मनाम् ॥ ३१ ॥
नियतिर्ब्रह्मसत्ताभा तस्यां चेत्परिणम्यते ।
नूनं परमशुद्धाख्यं तत्प्राप्तैव परा गतिः ॥ ३२ ॥
एतैर्नियत्यादिमहाविलासै-
र्ब्रह्मैव विस्फूर्जति सर्वगात्म ।

रहे, उसको भी तो तृप्ति आदि फललाभ होता है, ऐसा देखा गया है, इसपर कहते हैं—'नियत्या' इत्यादिसे ।

सचमुच देखा गया है, तथापि मुँहमें ग्रास डालने और निगलने आदि कर्मसे ही देखा गया है, जो नियतिसे मुझे तृप्ति हो जायगी, यों सोचकर मूक बनकर अकर्मण्य होकर पौरुषशून्य रहता है, वह कदापि तृप्त नहीं हो सकता । जो वह क्षुधासे व्याकुल होकर कुछ काल तक जीता है, वह प्राणचलन आदि पुरुष-प्रयत्नसे ही जीता है । पौरुषके बिना कदापि तृप्ति आदि नहीं हो सकते, यह भाव है ॥ २९ ॥

यदि निर्विकल्पकसमाधिमें चित्तको शान्तिप्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करता रहता है और उस प्रयत्नसे साधु (तत्त्वज्ञानी) होकर यदि मुक्ति पा जाता है, तो वह मुक्तिप्राप्ति भी प्राणनिरोध आदि पौरुषका ही फल है, इसलिए पौरुषके बिना किसी भी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

इसलिए शास्त्रीय पौरुषमें तत्पर होना श्रेयका कारण होनेसे साधनरूपसे श्रेयस्कर है और अत्यन्त अकर्मण्यतारूप मोक्ष फलरूपसे श्रेय है—इन फल और साधनरूप श्रेयोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका पक्ष सबल है, यानी कार्यसहित अविद्याके विनाशमें समर्थ है, इस तरह दुःखरहित ही उनकी नियति है ॥ ३१ ॥

जो यह दुःखरहित नियति है, वह यदि ब्रह्मसत्ताकी आभामें यानी स्फूर्तिमें प्रयत्नसे स्थिर की जाय, तो वही परम शुद्ध नामक परमगति जिसे श्रुति 'सा काष्ठा सा परा गतिः' कहती है, प्राप्त ही हो गई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३२॥

जैसे पृथिवीके अन्दर स्थित जलकी सत्ता (द्रवता) तृण, लता, वृक्ष, झाड़ियोंसे

तृणादिवल्लीतरुगुल्मजालैः
सत्तेव तोयस्य धरान्तरस्था ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे दैवशब्दार्थनिरूपणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

—:*:—

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

यदेतद् ब्रह्मतत्त्वं सर्वथा सर्वदैव सर्वत एव सर्वशक्ति सर्वाकारं सर्वेश्वरं सर्वगं सर्वमेवेति ॥ १ ॥

एष त्वात्मा सर्वशक्तित्वाच्च क्वचिच्चिच्छक्तिं प्रकटयति क्वचिच्छान्तिं क्वचिज्जडशक्तिं क्वचिदुल्लासं क्वचित्किञ्चिन्न किञ्चित् प्रकटयति ॥ २ ॥

स्फुरित होती हैं, वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म ही पूर्वोक्त नियतिके विलासोंसे जो कभी नष्ट नहीं होते, स्फुरित होता है ॥ ३२ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

——

तिरसठवाँ सर्ग

[ब्रह्म मायाशक्तिके विलाससे जिस प्रकार सर्वस्वरूपसे और सर्वतः स्फुरित होता है उसका प्रतिपादन]

'नित्यादिविलासैर्ब्रह्मैव विस्फूर्जति' ऐसा जो कहा, सो किसके कारण ? इस शङ्कापर कहते हैं—

श्रीवशिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, चूंकि यह मायाशबल ब्रह्म सम्पूर्ण वस्तुओंके रूपसे, सम्पूर्ण कालोंमें सम्पूर्ण देशोंमें सब पदार्थोंका रूप धारण करनेमें सामर्थ्ययुक्त है अतएव सर्वाकार सर्वज्ञ होनेके कारण सबका नियमन करनेमें समर्थ है अतएव सर्वेश्वर, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप है। दूरत्व और तटस्थताका वारण करनेके लिए 'सर्वगम् सर्वम्' ये दो विशेषण हैं ॥ १ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि उसमें विप्रकर्ष और तटस्थता क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—'एष त्वात्मा' इत्यादिसे।

यत्र यदा यदेवासौ यथा भावयति तत्र तदा तदेवाऽसौ प्रपश्यति ॥३॥
सर्वशक्तेर्हि या यैव यथोदेति तथैव सा ॥ ४ ॥
तदाऽस्ति शक्तिर्नाना रूपिणी सा स्वभावत इमाः शक्तयोऽयमात्मेति ॥५॥

यह आत्मा है और सर्वशक्तिशाली है यानी आत्मा होनेसे और सर्वशक्तिशाली होनेसे यह विप्रकर्ष और तटस्थतासे शून्य है।

शङ्का—यदि वह सबका आत्मा और सर्वशक्तिशाली है तो सबको सर्वत्र प्रकट क्यों नहीं करेगा ?

समाधान—सबको सर्वत्र प्रकट नहीं करता, क्योंकि सर्वशक्तिशाली होनेपर भी कहींपर यानी अन्तःकरणरूप उपाधिमें जीवरूपसे प्रवेश होनेपर चित्-शक्तिको प्रकट करता है, कहींपर (सात्त्विक उपाधिमें) प्रवेश करनेसे शान्तिको प्रकट करता है, कहींपर (तामस उपाधिमें) प्रवेश करनेसे जड़-शक्तिको प्रकट करता है, कहींपर (राजसोपाधिमें) राग, लोभ आदि वृत्तियोंका उल्लास प्रकरता है, कहींपर कुछ यानी मिश्रित गुणोंका कार्य होनेसे विशेष रूपसे कथनके अयोग्य प्रकट करता है और सुषुप्ति और प्रलयमें कुछ भी प्रकट नहीं करता ॥ २ ॥

विभिन्न स्थानोंमें उसके विभिन्नरूपसे प्रकट होनेमें उसकी सत्यसङ्कल्पता ही कारण है, ऐसा कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे।

जिस स्थानमें, जिस कालमें जिसकी जिस प्रकारसे यह भावना करता है, वहाँपर उस समय उसको वैसा ही देखता है ॥ ३ ॥

शक्तियोंके आविर्भावके अनुरूप ही इसकी विचित्ररूपसे स्थिति है, ऐसा कहते हैं—'सर्वशक्तेर्हि०' इत्यादिसे।

सर्वशक्तिमान् परमात्मासे जो जो शक्ति जैसे उदित होती है वह वैसे ही स्थित है ॥ ४ ॥

तब वह शक्ति स्वभावसे ही नाना प्रकारके रूपवाली होती है।

शङ्का—यह शक्ति और शक्तिमान्के भेदकी कल्पना व्यवहारदृष्टिसे ही है या परमार्थरूपसे भी है ?

समाधान—शक्ति और शक्तिमान्के भेदकी कल्पना व्यवहारदृष्टिसे ही है परमार्थदृष्टिसे नहीं। परमार्थदृष्टिसे तो ये शक्तियाँ आत्मरूप हैं ॥ ५ ॥

एवं विकल्पजालं व्यवहारार्थं धीमद्भिः परिकल्पितं लोके न त्वात्मनि विद्यते भेदः ॥ ६ ॥

यथोर्मितरङ्गपयसां सागरे कटकाङ्गदकेयूरैर्वा हेम्नः । अवयवावयविनोः संवित्काल्पनिकी द्विता न वास्तवी ॥ ७ ॥

यथा यच्चेत्यते हि तथैव तन्न बाह्यतो नाऽन्तरतश्चैतत् समुदेति हि ॥८॥

सर्वात्मत्वात् समाभासं क्वचित्किञ्चित् प्रपश्यति ॥ ९ ॥

सर्वाकारमयं ब्रह्मैवेदं ततं मिथ्याज्ञानवद्भिः शक्तिशक्तिमत्त्वे अवयवावयविरूपे कल्पिते न पारमार्थिके ॥ १० ॥

सद्वा भवत्वसद्वा चिद्यत्सङ्कल्पयत्यभिनिविशति तत्तत्पश्यति सकला तत्सद्ब्रह्मैव चिद् भाति ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो॰
चित्ताविकारो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥



बुद्धिमानोंने लौकिक व्यवहारकी सिद्धिके लिए इस प्रकार भेदकी कल्पना कर रक्खी है, आत्मामें तनिक भी भेद नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे सागरमें छोटी-बड़ी तरङ्ग और जलका, कंकण, बाजूबन्दसे सोनेका और अवयव तथा अवयवीका परस्पर भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही यह आत्म-भेद वास्तविक नहीं है, किन्तु व्युत्पादक पुरुषकी बुद्धिसे परिकल्पित है ॥ ७ ॥

क्योंकि जो रज्जु आदि पदार्थ जिस प्रकारसे यानी सर्पके आकारसे प्रतीत होता है, वह उसी प्रकारका विवर्तरूपसे होता है, न कि परमार्थरूपसे, क्योंकि यह सर्प आदि रज्जु आदिके न तो बाहर उदित होता है और न भीतर ॥ ८ ॥

सर्वसाधारणको प्रकाशित करनेवाला साक्षिचैतन्य भोक्ताके अदृष्टसे उद्बुद्ध होकर कहींपर कुछ ही वस्तुको भ्रान्तिसे देखता है, न तो सब ठौर उसीको देखता है और न स्वरूपको ही देखता है ॥ ९ ॥

यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय, तो विस्तृत यह प्रपञ्च ब्रह्म ही है । किन्तु मिथ्याज्ञानवाले व्यक्तियोंने शक्ति और शक्तिमान्, अवयव और अवयवी, इस प्रकारसे भेदकी कल्पना कर रक्खी है, यह भेद पारमार्थिक नहीं है ॥ १० ॥

इस प्रकार मिथ्याज्ञानसे उपहित चित्, चाहे शास्त्रानुकूल हो, चाहे शास्त्र-

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

योऽयं सर्वगतो देवः परमात्मा महेश्वरः ।
स्वच्छः स्वानुभवानन्दस्वरूपोऽन्तादिवर्जितः ।। १ ।।
एतस्मात् परमानन्दाच्छुद्धचिन्मात्ररूपिणः ।
जीवः संजायते पूर्वं स चित्तं चित्ततो जगत् ।। २ ।।

श्रीराम उवाच

स्वानुभूतिप्रमाणेऽस्मिन् ब्रह्मणि ब्रह्मबृंहिते ।
कथं सत्तामवाप्नोति जीवको द्वैतवर्जिते ।। ३ ।।

विरुद्ध, जिसका कर्तव्यत्वेन संकल्प करती है, उस विषयमें उद्युक्त होती है, अभिनिवेशसे तत्-तत् विहित या निषिद्ध कर्म करके उसके फलभोगकालमें उसको देखती है । प्रथम सृष्टिसंकल्पसे लेकर भूत-भौतिक देहोंसे भोग्य आदि सृष्टिसे पुरुषभोगपर्यन्त सकल प्रपञ्चरूप ब्रह्मचित् ही प्रतीत हो रही है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

——:*:——

चौसठवाँ सर्ग

[भोग्यकी विचित्र शक्तियोंके आविर्भावका निरूपण तथा भोक्ताकी जीवत्वप्राप्तिके क्रमका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह घट-घटव्यापी स्वयं-प्रकाश, कारणोंका भी कारण, महामहिमशाली, विशुद्ध, जन्म और विनाशसे रहित आत्मज्ञानानन्दरूप परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूपी इसी परमात्मानन्दसे 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिसे नामरूपविस्पष्ट-करणरूप जगत्-सृष्टिसे पहले जीवोपाधि लिङ्गसमष्टिकी उत्पत्तिसे जीव उत्पन्न होता है, वही उपाधिकी प्रधानतासे चित्त कहलाता है, उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ १, २ ॥

अखण्ड अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्ममें सखण्ड सद्वितीय जीवसत्ता कैसे उपपन्न हो सकती हैं, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'स्वानुभूति०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

असदाभासमच्छात्म ब्रह्माऽस्तीह प्रबृंहितम् ।
बृहच्चिद्भैरववपुरानन्दाभिधमव्ययम् ॥ ४ ॥
तस्य यत्सममापूर्णं शुद्धं सत्त्वमचिह्नितम् ।
तद्विदामप्यनिर्देश्यं तच्छान्तं परमं पदम् ॥ ५ ॥
तस्यैवोद्यदिवाऽऽशान्ति यत्सत्त्वं संविदात्मकम् ।
स्वभावात् स्पन्दनं तत्तु जीवशब्देन कथ्यते ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, ब्रह्म होनेके कारण अत्यन्त अपरिच्छिन्नतारूप वृद्धिको प्राप्त, स्वानुभवसे वेद्य अद्वितीय ब्रह्ममें छोटा-सा जीव पूर्वसिद्ध ब्रह्मतासे विरुद्ध पृथक्सत्ताको कैसे प्राप्त होता है ? ॥ ३ ॥

सत्यस्वरूप अविद्यासम्बन्धशून्य ब्रह्ममें परमार्थदृष्टिसे जीवसत्ताका सम्भव नहीं है, किन्तु अविद्यासंवलित ब्रह्ममें जीवसत्ता होनेमें कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार विभाग करके कहनेकी इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले ब्रह्मके साधारण स्वरूपको कहते हैं—'असत्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यहाँपर विशुद्ध व्यापक ब्रह्म है, जिसमें द्वैतप्रतीतियाँ असत् हैं, जो असीम चैतन्यस्वरूप, अविनाशी और आनन्दस्वरूप है । एवं जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए उसका स्वरूप बड़ा भयङ्कर है । जैसे कि वृद्ध पुरुषोंने कहा है—'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम् । योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः' (यह अस्पर्श योग सर्वयोगियोंके लिए दुर्दर्श है, भयशून्यमें भय देखनेवाले योगी इससे भयभीत होते हैं) ॥ ४ ॥

उनमें से पहलेको दर्शाते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

उसका जो सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्स्वरूप है, जिसका कि ज्ञानी भी निर्देश नहीं कर सकते, वह शान्त परम पद है ॥ ५ ॥

उसीका मोक्ष होनेतक, उद्भव बीजकी सत्ता होनेसे, उदित हुआ-सा उपाधिस्वभावसे जो चलनशक्त्यात्मक (प्राणधारणरूप) संविदात्मक सत्त्वरूप है, वह जीवशब्दसे कहा जाता है ॥ ६ ॥

तत्रेमाः परमादर्शे चिद्व्योम्न्यनुभवात्मिकाः ।
असंख्याः प्रतिबिम्बन्ति जगज्जालपरम्पराः ॥ ७ ॥
ब्रह्मणः स्फुरणं किञ्चिद्यदवाताम्बुधेरिव ।
दीपस्येवाऽप्यवातस्य तं जीवं विद्धि राघव ॥ ८ ॥
शान्तत्वापगमेच्छस्य मनाक्संवेदनात्मकम् ।
स्वाभाविकं यत्स्फुरणं चिद्व्योम्नः सोऽङ्ग जीवकः ॥ ९ ॥
यथा वातस्य चलनं कृशानोरुष्णता यथा ।
शीतता वा तुषारस्य तथा जीवत्वमात्मनः ॥ १० ॥
चिद्रूपस्याऽऽत्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम् ।
मनाक्संवेदनमिव यत्तज्जीव इति स्मृतम् ॥ ११ ॥

उसीमें सब नाम और रूपोंका व्याकरण होता है, ऐसा कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

परम आदर्शरूप चिदाकाशमें अनुभवरूप इन अनन्त जगज्जालपरम्पराओंका प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥ ७ ॥

जगत्की विचित्रताकी कल्पनाके अनुरूप क्रियाशक्तिप्रधान प्राण बनना ही चित्का जीवभाव है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वायुरहित सागरके कुछ-कुछ स्फुरणके समान तथा निर्वात स्थानमें जले दीपके किञ्चित् स्फुरणके समान ब्रह्मका जो तनिक स्फुरण है, उसे आप जीव समझिए ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजन्द्रजी, निर्मल चिदाकाशका प्राणाधीन चलनाध्यास होनेसे स्वाभाविक निष्क्रियताके छिप जानेपर जो अल्पसंवेदन यानी परिच्छेद भ्रान्ति (अहम्) उदित होता है, वही जीव है ॥ ९ ॥

जीवात्माका जीवत्व जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक स्वाभाविक है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वायुका चलन स्वाभाविक है, जैसे अग्निकी उष्णता स्वाभाविक है और हिमकी शीतलता स्वाभाविक है, वैसे ही आत्माकी जीवता भी स्वाभाविक है ॥१०॥

चिद्घन जो आत्मतत्त्व है, उसका स्वयं अपने स्वरूपके अपरिज्ञानके कारण जो अल्पज्ञान-सा (ज्ञानस्वरूपकी परिच्छिन्नता-सी) है, वही जीव नामसे पुकारा जाता है ॥ ११ ॥

तदेव घनसंवित्त्या यात्यहन्तामनुक्रमात् ।
वह्न्यणुः स्वेन्धनाधिक्यात् स्वां प्रकाशकतामिव ॥ १२ ॥
यथा स्वतारकामार्गे व्योम्नः स्फुरति नीलिमा ।
शून्यस्याऽप्यस्य जीवस्य तथाऽहंभावभावना ॥ १३ ॥
जीवोऽहंकृतिमादत्ते सङ्कल्पकलयेद्धया ।
स्वयैतया घनतया नीलिमानमिवाऽम्बरम् ॥ १४ ॥
अहंभावो हि दिक्कालव्यवच्छेदी कृताकृतिः ।
स्वयंसङ्कल्पवशतो वातस्पन्द इव स्फुरन् ॥ १५ ॥
सङ्कल्पोन्मुखतां यातस्त्वहङ्काराभिधः स्थितः ।
चित्तं जीवो मनो माया प्रकृतिश्चेति नामभिः ॥ १६ ॥

जैसे अग्निकी चिनगारी अपनेको उद्दीप्त करनेवाले घी, तेल आदिकी अधिकतासे अपनी स्वाभाविक प्रकाशकताको प्राप्त होती है, वैसे ही वही जीव क्रमशः वासनाकी दृढ़तासे अहङ्कारताको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

जैसे दर्शक पुरुष द्वारा अपने नेत्रोंके गोचर न होनेवाले आकाशभागमें दौड़ाया गया नेत्र जहाँतक पहुँच सकता है, वहाँतक नीलिमा नहीं देखता जहाँपर पहुँच कर आगे बढ़नेमें असमर्थ होता है, वहाँसे आगे उसका मार्ग नीला न होनेपर भी उसे नीला दिखाई देता है, वैसे ही अहन्तासे रहित भी जीवकी अपने अगोचर अपनी आत्मामें अहंभावना होती है ॥ १३ ॥

जैसे आकाश अपनी निबिड़तासे (घनतासे) नीलिमाको प्राप्त होता है, वैसे ही अपने पूर्व सङ्कल्पके संस्कारसे जाग्रत् हुई अपनेमें अध्यस्त इस इन्द्रनील शिलाके सदृश निबिड़तासे जीव अहङ्कारको ग्रहण करता है ॥ १४ ॥

वायुके स्पन्दके समान स्फुरित हुआ अहंभाव आत्माका देशिक और कालिक परिच्छेद करता है, तथा स्वयं सङ्कल्पवश उसने देह आदिका आकार धारण कर रक्खा है ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त चित्त आदि भेद अहंभावाध्यासमूलक है, ऐसा कहते हैं— 'सङ्कल्पोन्मुखताम्' इत्यादिसे ।

वही अहङ्कार सङ्कल्पोन्मुख होकर अहङ्काररूपसे रुद्र, चित्तरूपसे विष्णु और जीवरूपसे ब्रह्मा नामसे प्रसिद्ध है तथा क्रमशः उनके (रुद्र आदिके) ही मन, माया, प्रकृति—ये क्रियानाम हैं ॥ १६ ॥

तत्सङ्कल्पात्मकं चेतो भूततन्मात्रकल्पनम् ।
कुर्वंस्ततो व्रजत्येव सङ्कल्पाद्याति पञ्चताम् ॥ १७ ॥
तन्मात्रपञ्चकाकारं चित्तं तेजःकणो भवेत् ।
अजातजगति व्योम्नि तारका पेलवा यथा ॥ १८ ॥
तेजःकणत्वमादत्ते चित्तं तन्मात्रकल्पनात् ।
शनैः स्वस्मात् परिस्पन्दाद्बीजमङ्कुरतामिव ॥ १९ ॥
असौ तेजःकणोऽण्डाख्यः कल्पनात् कश्चिदण्डताम् ।
प्रयात्यन्तःस्फुरद्ब्रह्मा जलमापिण्डतामिव ॥ २० ॥
कश्चिद् द्रागिति देहादिकलनाद्याति देहताम् ।
भ्रान्तित्वं तदतद्रूपं गन्धर्वैश्च वसत्पुरम् ॥ २१ ॥

उनमें सङ्कल्पात्मक चित्त (ब्रह्मा) सङ्कल्पसे भूततन्मात्राओंकी कल्पना करता हुआ चेतनात्मक पूर्व अवस्थासे अवश्य च्युत होता है और जड़ प्रपञ्च-रूप होता है ॥ १७ ॥

पञ्चभूततन्मात्रताको प्राप्त हुआ वह चित्त (ब्रह्मा) तेजःकण बन जाता है । ब्रह्मभावसे अत्यल्प होनेके कारण उसे कण कहा है । जिसमें अभी जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसे आकाशमें वह तेजःकण मन्द प्रकाशवाले तारेके सदृश प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

जैसे बीज अपने स्पन्दनसे धीरे-धीरे अङ्कुरित होता है, वैसे ही अपने स्पन्दनसे धीरे-धीरे पञ्चतन्मात्राओंकी कल्पना करनेके बाद चित्त तेजःकणताको धारण करता है ॥ १९ ॥

पूर्वकल्पमें विराड्में आत्मोपासना करनेसे संस्कृत हुए जीवको स्थूल-समष्टिरूप हिरण्यगर्भता प्राप्त होती है, उससे अन्यको, व्यष्टि देहमें अहम्भावका संस्कार होनेसे, व्यष्टि स्थूल देहमें अहंभाव प्राप्त होता है, इस प्रकार अन्तर कहते हैं—'असौ' इत्यादिसे ।

जैसे जल जमनेके कारण हिमरूपसे तथा ओलेके रूपसे घनता (कठिनता) को प्राप्त होता है, वैसे ही अण्डनामको प्राप्त हुआ वह तेजःकण, जिसके अन्दर श्रीब्रह्मा विराजमान रहते हैं, पूर्व जन्ममें मैं अण्ड हूँ, यों अण्डरूपसे आत्मभावना करनेसे अण्डताको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

कोई (जो उपासक नहीं है) और पुण्यात्मा है, इस प्रकार दिव्य देह

कश्चित्स्थावरतामेति कश्चिज्जङ्गमतामपि ।
कश्चिद्याति खचार्यादिरूपं सङ्कल्पतः स्वतः ॥ २२ ॥
सर्गादावादिजो देहो जीवः सङ्कल्पसम्भवः ।
क्रमेण पदमासाद्य वैरिञ्चं कुरुते जगत् ॥ २३ ॥
आत्मभूकलनात्माऽसौ यत्सङ्कल्पयति क्षणात् ।
तत्स्वभाववशादेव जातमेव प्रपश्यति ॥ २४ ॥
चित्स्वभावात् समायातं ब्रह्मत्वं सर्वकारणम् ।
संसृतौ कारणं पश्चात् कर्म निर्माय संस्थितम् ॥ २५ ॥

आदिकी भावनासे झटपट देव आदिकी देहको प्राप्त होता है, देवादि देह, जो 'अहम्' नहीं है, उसमें अहंभावरूप भ्रान्तिको प्राप्त होता है, तथा गन्धर्वोंसे या अन्य देवताओंसे सुरक्षित अमरावती आदि नगरोंमें निवास करता है ॥ २१ ॥

कोई पापी पुरुष अपने सङ्कल्पसे स्वयं वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई पशु-पक्षी आदि जङ्गम योनियोंमें प्राप्त होता है, कोई राक्षस, पिशाच आदि खेचर योनियोंमें जाता है, अपने सङ्कल्पानुसार सबको स्वतः ही तत्-तत् योनियाँ प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

सृष्टिके आदिमें प्रथम उत्पन्न ही ब्रह्मारूपी जीव, जिसकी सूक्ष्म देह-समष्टिरूप उपाधि है और अपने सङ्कल्पसे ही जिसकी उत्पत्ति हुई है, क्रमशः विरञ्चिका पद प्राप्त कर अपने सङ्कल्पसे अण्डके भीतर जगत्की सृष्टि करता है ॥ २३ ॥

ब्रह्माकी सत्यसङ्कल्पतामें पूर्व कल्पके सत्यसङ्कल्प ब्रह्माकी तादात्म्योपासना यानी 'सत्यसङ्कल्प ब्रह्मा ही मैं हूँ' यह उपासना हेतु है, ऐसा कहते हैं—'आत्मभू०' इत्यादिसे ।

पूर्वकल्पके सत्यसङ्कल्प ब्रह्माकी तादात्म्योपासनासे उत्पन्न हुए ये ब्रह्मा जिस पदार्थका सङ्कल्प करते हैं, उसे तुरन्त अपने सत्यसङ्कल्पतारूप स्वभावके कारण उत्पन्न हुआ ही देखते हैं ॥ २४ ॥

पहले चिदात्मा नामरूपात्मक दो धर्मवाले जगत्की प्रख्यातिमें कारण होता है, चलन (क्रिया), विकार आदिमें पश्चात्-भावी कर्म कारण होता है, ऐसा कहते हैं—'चित्स्वभावात्' इत्यादिसे ।

वे यानी ब्रह्म चैतन्यस्वभावसे सर्वकारणत्व और ब्रह्मत्वको प्राप्त हुआ है, पीछे संसारके कारण होकर कर्मके निर्माणमें होते हैं ॥ २५ ॥

चित्तं स्वभावात् स्फुरति चितः फेन इवाऽम्भसः ।
कर्मभिर्बध्यते पश्चाड्डिण्डीरमिव रज्जुभिः ॥ २६ ॥
सङ्कल्पः कलनाबीजं तदात्मैव हि जीवकः ।
कर्म पश्चात्तनोत्युच्चैरुत्थायाऽकर्मतः क्रमात् ॥ २७ ॥
क्रोडीकृताङ्कुरं पूर्वं जीवो धत्ते स्वजीवितम् ।
पश्चान्नानात्वमायाति पत्राङ्कुरफलक्रमैः ॥ २८ ॥
अन्ये स्व एव ये जीवा एवमेवाऽऽकृतिं गताः ।
पूर्वोत्पन्ने जगति ते यान्ति भूताश्रयां स्थितिम् ॥ २९ ॥

जैसे जलसे फेन [गाज] निकलता है, वैसे ही चिदात्मासे स्वभावतः चित्त (जीव) आविर्भूत होता है, जैसे नाव आदिकी रस्सियोंसे जलसे निकला हुआ गाज पीछे बँधता है, जल नहीं बंधता है, वैसे ही पीछे जीव ही देहबन्धक कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त होता है, चिदात्मा बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ २६ ॥

लोकमें देखा जाता है कि जो कोई कर्म करता है, वह पहले संकल्प करता है, तदुपरान्त व्यापारसे घट आदिकी रचना करता है, इससे पूर्वोक्त क्रमकी सिद्धिमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'संकल्पः' इत्यादिसे ।

किसी कल्पना (रचना) का संकल्प मूल कारण है, संकल्पके बिना रचना हो ही नहीं सकती, इसलिए आत्मा ही जीव बनकर निष्क्रिय (निर्व्यापार) आत्मासे क्रमशः पृथक् होकर कर्म करता है ॥ २७ ॥

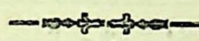
पीछे होनेवाले कर्म पहले जीवमें बीजमें अङ्कुरके तुल्य वासनारूपसे स्थितका ही आविष्कार करते हैं, किसी अपूर्वका आविष्कार नहीं करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'क्रोडीकृताङ्कुरम्' इत्यादिसे ।

जैसे बीजमें स्थित जीव अपने जीवितको, जिसने सूक्ष्मरूपसे पहले अपने अन्दर अङ्कुरको धारण कर रक्खा है, धारण करता है, पीछे अङ्कुर, पत्ते, तना, शाखा, टहनियाँ, पल्लव, पुष्प और फलके क्रमसे नानात्वको प्राप्त होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ जीव अनेकताको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

जो अन्य व्यष्टि-जीव हैं, वे भी इसी प्रकार अपनेमें वासनारूपसे स्थित ही आकृतिको (देह आदिके आकारको) प्राप्त हुए हैं। उनमें अन्तर इतना ही

स्वकर्मभिस्ततो जन्ममृतिकारणतां गतैः ।
प्रयान्त्यूर्ध्वमधस्ताद्वा कर्म चित्स्पन्द उच्यते ॥ ३० ॥
चित्स्पन्दनं भवति कर्म तदेव दैवं
चित्तं तदेव भवतीह शुभाशुभादि ।
तस्माज्जगन्ति भुवनानि भवन्ति पूर्वं
भूत्वा निजाङ्गकुसुमानि तरोरिवाऽऽद्यात् ॥ ३१ ॥

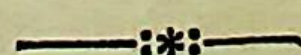
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० बीजाङ्कुरयोगनिर्णयो नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥



है कि वे हिरण्यगर्भ जीवके संकल्पके पहले उत्पन्न हुए ब्रह्माण्डमें देहको, जिसके माता-पितादिरूप भूत आश्रय हैं, प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

तदनन्तर जन्म और मृत्युके कारण बने हुए अपने कर्मोंसे ऊपर (ऊँच योनियोंमें) या नीचे (नीच योनियोंमें) प्राप्त होते हैं। चित्‌का जो स्पन्दन है, वह कर्म कहलाता है। सारांश यह कि इस लोकमें चित्‌का जो स्पन्दन (स्फुरण) है, वही शुभाशुभरूप कर्म है, वही दैव भी कहलाता है और वही चित्त है। जैसे वृक्षसे उसके अवयवरूप शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि पहले उत्पन्न होकर फिर फिर होते हैं, वैसे ही कारणभूत ब्रह्मसे चित्स्पन्दरूप शुभाशुभकर्मवश भोक्तारूप प्राणियोंका समुदाय तथा उनके आधार और भोग्य भुवनोंकी फिर-फिर उत्पत्ति होती है ॥ ३०, ३१ ॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त



पञ्चषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

परस्मात् कारणादेव मनः प्रथममुत्थितम् ।
मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १ ॥
भावाभावलसद्दोलं तेनाऽयमवलोक्यते ।
सर्गः सदसदाभासः पूर्वगन्ध इवेच्छया ॥ २ ॥
न कश्चिद्विद्यते भेदो द्वैतैक्यकलनात्मकः ।
ब्रह्मजीवमनोमायाकर्तृकर्मजगद्दृशाम् ॥ ३ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

[मनका, भोग्यसमुदायका और भोक्ताके मूलका तत्त्व चिन्मात्रशेष है, यह प्रदर्शन]

सम्पूर्ण कल्पनाएँ चित्से अतिरिक्त नहीं हैं, यह कहनेके लिए मूलभूत मनकी उत्पत्ति और स्थिति कारणसत्तारूप होनेसे कारणमात्ररूप ही है, ऐसा कहते हैं—'परस्मात्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, परमकारणसे ही मन पहले उत्पन्न हुआ है, वह मननस्वभाववाला है । जो कुछ भोग्य पदार्थ हैं, वे सब तदात्मक यानी मनोमय हैं। जो कोई दृश्य पदार्थ हैं, वे मनमें ही स्थित हैं, वह मन भी परमकारणमें स्थित है, यह इस पकार होता है और यह इस प्रकार नहीं होता, इस प्रकारके भाव और अभावके विषयमें वह दोलाके समान दायें और बायें घूमता है । जैसे पहले अनुभवमें आई हुई सुगन्ध स्मरण करनेपर वहांपर विद्यमान न होनेपर भी मनोरथसे देखी जाती है, वैसे ही उस मनसे सत् और असत्के तुल्य प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है ॥ १, २ ॥

मन ही जब भेददर्शनको कराता है तब मनके हट जानेपर केवल एक आत्माके प्रतिष्ठित रहनेसे मनसे कल्पित भेद भी हट जाता है, ऐसा कहते हैं—'न कश्चित्' इत्यादिसे ।

मनके हट जानेपर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म, और जगत्की प्रतीतियोंका कोई भेद नहीं रहता, केवल सब द्वैतोंके एकमात्र आश्रय परमात्मा स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

अपारावारविस्तारसंवित्सलिलवल्गनैः ।
चिदेकार्णव एवाऽयं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥ ४ ॥
असत्यमस्थैर्यवशात् सत्यं संप्रतिभासतः ।
यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम् ॥ ५ ॥
न सन्नाऽसन्न संजातश्चेतसो जगतो भ्रमः ।
अथ धीसमवायानामिन्द्रजालमिवोत्थितः ॥ ६ ॥

भेदके नष्ट हो जानेपर अवशिष्ट आत्मस्वरूपको दिखलाते हैं—'अपारा०' इत्यादिसे ।

जिसके विस्तारका आर-पार नहीं है, इस प्रकारके संवित्‌रूपी जलके असीम प्रसारोंसे चिदेकार्णव यह आत्मा स्वयं विजृम्भित होता है ॥ ४ ॥

चित्त और जगत्‌का बाध होनेपर कैसे सत्‌का परिशेष होता है ? ऐसी शङ्का कर जगत् स्थिर और अस्थिर इन दो अंशोंसे संयुक्त होनेके कारण सत् और असद्‌रूप है, अस्थिर अंशका बाध होनेपर स्थिर अंशके परिशेष रहनेमें कौन अनुपपत्ति है, इस आशयसे कहते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे ।

अस्थिर होनेके कारण असत्य तथा अवभासित होनेके कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्नके समान सत् और असद्रूप है । जैसे स्वप्नके अस्थिर विषयांशका बाध होनेपर स्थिर जो स्वप्नद्रष्टा है, उसका परिशेष दिखाई देता है, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए ॥ ५ ॥

यद्यपि जगत् अत्यन्त असत् है, तथापि उसका कभी बाध नहीं दिखाई दिया, ऐसी आशङ्का कर उसकी बाधयोग्य अनिर्वचनीयता कहते हैं—'न सत्' इत्यादिसे।

जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न हुआ है, केवल चित्तका भ्रम है यानी मिथ्या है ।

शङ्का—यदि वह मिथ्या है, तो उसमें बहुतोंको एकाकारता कैसे प्रतीत होती है ?

समाधान—सामाजिकोंको विविध बुद्धियोंकी एकाकारताभ्रम वैसे ही होता है, जैसे ऐन्द्रजालिककी मायासे क्षुब्ध हुए अनेक लोगोंको इन्द्रजालसे बनी वस्तुमें एकाकारताप्रतीति होती है ॥ ६ ॥

दीर्घः स्वप्नः स्थितिं यातः संसाराख्यो मनोबलात् ।
असम्यग्दर्शनात् स्थाणाविव पुंस्प्रत्ययो मुधा ॥ ७ ॥
अनात्मालोकनाच्चित्तं चित्तत्वं नाऽनुशोचति ।
वेतालकल्पनाद् बाल इव सङ्कल्पिते भये ॥ ८ ॥
अनाख्यस्य स्वरूपस्य सर्वाशातिगतात्मनः ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चित्ताज्जीवत्वकल्पनम् ॥ ९ ॥
जीवत्वादप्यहंभावस्त्वहंभावाच्च चित्तता ।
चित्तत्वादिन्द्रियादित्वं ततो देहादिविभ्रमः ॥ १० ॥
देहादिमोहतः स्वर्गनरकौ मोक्षबन्धने ।
बीजाङ्कुरवदारम्भसंरूढे देहकर्मणीः ॥ ११ ॥

तब यह चिरकाल तक कैसे स्थिर रहता है ? इसपर कहते हैं—'दीर्घः' इत्यादिसे ।

जैसे भली भाँति न देखनेसे स्थाणुमें (ठूँठमें) व्यर्थ ही पुरुषप्रतीति होती है, वैसे ही मन द्वारा की गई आसक्तिके बलसे संसारनामका यह लम्बा स्वप्न अज्ञोंको प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि आत्मा अपने परिपूर्णानन्दस्वभावसे च्युत करनेवाले तथा सम्पूर्ण दुःखोंके निदानभूत अपने मनोभावका ही क्यों शोक नहीं करता ? इसपर कहते हैं—'अनात्मा०' इत्यादिसे ।

जैसे बालक स्वयं वेतालकी कल्पना कर उससे होनेवाले भयके भली भाँति मनमें जम जानेपर भयसे परिपूर्णचित्त होनेके कारण भयकी हेतुभूत वेतालकी कल्पनापर शोक नहीं करता, वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान तथा अनात्माओंके दर्शनसे चित्तभावको प्राप्त हुआ भी आत्मा चित्तभावसे प्राप्त हुए अनर्थोंके लिए शोक नहीं करता ॥ ८ ॥

चिदात्माका विषयोन्मुखतारूप स्वभाव ही विविध अनर्थोंकी जड़ है, ऐसा कहते हैं—'अनाख्यस्य' इत्यादिसे ।

नामरहित, सम्पूर्ण दिशाओंको अतिक्रान्त करनेवाला यानी सर्वव्यापक आत्माका विषयोन्मुखतारूप स्वभाव होनेसे उससे चित्तकी उत्पत्ति होती है, चित्तसे जीवत्वकी उत्पत्ति होती है, जीवत्वसे अहंभावकी उत्पत्ति होती है, अहंभावसे चित्तता होती है, चित्तकी विषय तन्मात्रासे इन्द्रियाँ, उनसे देह आदिका भ्रम, देह

द्वैतं यथा नाऽस्ति चिदात्मजीवयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न देहकर्मणोः ॥ १२ ॥
कर्मैव देहो ननु देह एव
चित्तं तदेवाऽहमितीह जीवः ।
स जीव एवेश्वरचित् स आत्मा
सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत् ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० जीवविचारो नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥



आदिमें (आत्मत्वभ्रमसे) 'अहं मम' इस अभिमानसे बीजाङ्कुरके समान नानाकार्य-पटु देह, कर्म; उनसे स्वर्ग और नरक तथा बन्ध और मोक्ष होते हैं ॥ ९–११॥

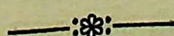
यह सारी-की सारी अनर्थपरम्परा जीव और ब्रह्ममें भेदभ्रमसे उत्पन्न हुई है, उन दोनोंकी एकताके बोधसे उक्त भ्रमके बाधित होनेपर बाधित हो जाती है, इस अभिप्रायसे भेदका निषेध करते हैं—'द्वैतम्' इत्यादिसे ।

चिदात्मा (ब्रह्म) और जीवमें जैसे भेद नहीं है, वैसे ही जीव और चित्तमें भी भेद नहीं है, जैसे ही जीव और चित्तमें भेद नहीं है, वैसे ही देह और कर्ममें भी भेद नहीं है ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंके विचाररहस्यको एक उक्तिसे संक्षेपतः कहते हैं—'कर्मैव' इत्यादिसे ।

वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्मसे भिन्नसत्ताविशिष्ट देह नहीं है, और देह ही चित्त है, वह चित्त ही अहङ्कारविशिष्ट जीव है, वह जीव ही ईश्वरचैतन्य है, वह आत्मा मङ्गल और सर्वात्मक है, यह सब एक पदसे कहा गया है ॥ १३॥

पैंसठवां सर्ग समाप्त



षट्षष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेकं परं वस्तु राम नानात्वमेत्यलम् ।
नानात्वमिव संजातं दीपाद्दीपशतं यथा ॥ १ ॥
यथाभूतमसद्रूपमात्मानं यदि पश्यति ।
विचार्यतेऽन्तस्तदनुभावहीनं न शोचति ॥ २ ॥
चित्तमात्रं नरस्तस्मिन् गते शान्तमिदं जगत् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥ ३ ॥

छासठवाँ सर्गः

[द्वैतकी केवल मनोमात्रता तथा इष्ट वस्तुके त्यागसे और ज्ञानसे अज्ञानसहित मनके क्षयका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसे दीपकसे नानात्वको प्राप्त हुए सौ दीपक होते हैं, वैसे ही अद्वितीय परम वस्तु (चिदात्मा) ही नानात्वको प्राप्त होता है । अथवा केवल चेत्य (विषय) ही नाना नहीं हुआ है, किन्तु पूर्वोक्त रीतिसे चित्में प्रत्येक उपाधिके भेदसे नानात्व-सा हो गया है ॥ १ ॥

जैसे चित्का चित्तके अधीन जीवत्वकी कल्पनासे बन्ध होता है, वैसे ही चित्तके अधीन विचार और तत्त्वज्ञानसे मुक्ति भी होती है, इस गूढ़ आशयसे कहते हैं—'यथाभूतम्' इत्यादिसे ।

यदि पुरुष अपने अन्तःकरणमें द्वैतके आग्रहसे रहित, यथास्थित (अनारोपितरूप) तथा नामरूपसे शून्य आत्माका विचार करता है, तो वह वैसा ही उसे देखता है, तब वह शोक नहीं करता ॥ २ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि विचारसे चित्तकी शान्ति होनेपर कैसे सब द्वैतकी शान्ति होती है ? इसपर कहते हैं—'चित्तमात्रम्' इत्यादिसे ।

जीव चित्तमात्र ही है, चित्तसे अतिरिक्त नहीं है, चित्तके हट जानेपर यह जगत् शान्त (विनष्ट) हो जाता है, जैसे जिस पुरुषके चरण जूतेसे आवृत्त रहते हैं, वह समझता है कि सारी पृथिवी चमड़ेसे आच्छन्न है वैसे ही जिसका चित्तसे छुटकारा हो जाता है उसकी दृष्टिमें जगत असत है ॥ ३ ॥

पत्रमात्रादृते नाऽन्यत् कदल्या विद्यते यथा ।
भ्रममात्रादृते नाऽन्यज्जगतो विद्यते तथा ॥ ४ ॥
जायते बालतामेति यौवनं वार्द्धकं ततः ।
मृतिं स्वर्गं च नरकं भ्रमाच्चेतो हि नृत्यति ॥ ५ ॥
विचित्रबुद्बुदोल्लासे स्वात्मनो व्यतिरेकिणि ।
यथा सुरायाः सामर्थ्यं तथा चित्तस्य संसृतौ ॥ ६ ॥
यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षि मलाविलम् ।
चिच्चेत्नकलाक्रान्ता तथैव परमात्मनि ॥ ७ ॥
यथा मदवशाद् भ्रान्तान् क्षीबः पश्यति पादपान् ।
तथा चेतनविक्षुब्धान् संसारांश्चित् प्रपश्यति ॥ ८ ॥
यथा लीलाभ्रमाद्बालाः कुम्भकृच्चक्रवज्जगत् ।
भ्रान्तं पश्यन्ति चित्तात्तु विद्धि दृश्यं तथैव हि ॥ ९ ॥

जैसे केलेके वृक्षमें पत्तोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही जगत्‌में भी केवल भ्रमको छोड़कर और कुछ नहीं रहता ॥ ४ ॥

पैदा होता है, बालक बनता है, जवान होता है, फिर बुढ़ापेको प्राप्त होता है, मरण, स्वर्ग और नरकको प्राप्त होता है, यह सब भ्रमवश चित्तका नाच है ॥ ५ ॥

जैसे आकाशमें अनेक हजार बुद्‌बुद्‌के आकारकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेमें मद्यकी सामर्थ्य है, वैसे ही ब्रह्माण्डरूपी अनन्त बुद्‌बुद्‌रूप तथा आत्मासे अभिन्न संसारको उत्पन्न करनेमें चित्तकी सामर्थ्य है ॥ ६ ॥

जैसे मलसे कलुषित नेत्र एक चन्द्रमें द्वित्व देखता है, वैसे ही चित्तकी कला यानी भ्रान्तिजननशक्तिसे आक्रान्त यानी पराधीनकी गई जीवचित् परमात्मामें द्वित्वको देखती है ॥ ७ ॥

जैसे मद्य आदिके नशेमें मस्त हुआ पुरुष नशेके कारण वृक्षोंको घूमते हुए देखता है, वैसे ही जीवचित् चित्तसे विक्षुब्ध (कल्पित) संसारोंको देखती है ॥ ८ ॥

जैसे बालक खेलकूदमें भ्रमणसे जगत्‌को कुलालके चाकके समान घूमता हुआ देखते हैं, वैसे ही जीव चित्तसे इस दृश्यको देखते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

यदा चिच्चेतति द्वित्वं तदा द्वैतैक्यविभ्रमः ।
यदा न चेतति द्वैतं तदा द्वैतैक्ययोः क्षयः ॥ १० ॥
यच्चेत्यते तदितरद्व्यतिरिक्तं चितोऽस्ति न ।
किञ्चिन्नाऽस्तीति संशान्त्या चितः शाम्यति चेतनम् ॥ ११ ॥
चिद्घनेनैकतामेत्य यदा तिष्ठति निश्चलः ।
शाम्यन् व्यवहरन् वाऽपि तदा संशान्त उच्यते ॥ १२ ॥
तन्वी चेतयते चेत्यं घना चिन्नाऽङ्ग चेतति ।
अल्पक्षीबः क्षोभमेति घनक्षीबो हि शाम्यति ॥ १३ ॥

जब जीवचित् द्वित्वका अनुभव करती है, तब द्वैत और ऐक्यका भ्रम होता है । जब चित द्वैतका अनुभव नहीं करती तब द्वैत और ऐक्यका विनाश हो जाता है ॥ १० ॥

जिसका अनुभव होता है, वह चित्से अतिरिक्त जड़रूप नहीं है, यानी प्रतीतिकालमें भी द्वैतसत्ता नहीं है ।

शङ्का—तब चित्तकी शान्ति कैसे होती है ?

समाधान—चित्से अतिरिक्त जड़रूप कुछ नहीं है, यों दृश्यकी शान्ति होनेपर विषय न रहनेपर निरिन्धन (काष्ठशून्य) अग्निके समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

पुरुष जीवन्मुक्त कब होता है, इस शङ्कापर कहते हैं—'चिद्घने०' इत्यादिसे ।

जब पुरुष चिद्घन परमात्मासे एकताको प्राप्त होकर निश्चल रहता है, चाहे वह समाधिमें लीन हो चाहे व्यवहार करता हो तब संशान्त कहा जाता है ॥१२॥

अल्पज्ञ जीवकी चिद्घनके साथ एकता होनेपर सर्वज्ञता ही होगी निर्विषयता-रूप संशान्ति नहीं होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—'तन्वी' इत्यादिसे ।

अत्यल्प चित् विषयका अनुभव करती है, घन चित् विषयका अनुभव नहीं करती है, जैसे कि थोड़ा पागल पुरुषका चित्त चमक उठता है, लेकिन अत्यन्त पागल व्यापारशून्य होकर रहता है । भाव यह है कि चित्की सविषयता केवल चित्त्वसे नहीं होती किन्तु अविद्याविक्षेपयुक्त चित्त्ववश होती है ।

चिद्घनैकप्रपातस्य रूढस्य परमे पदे ।
नैरात्म्यशून्यवेद्याद्यैः पर्यायैः कथनं भवेत् ॥ १४ ॥
चिच्चेतनेन चेत्यत्वमेत्येवं पश्यति भ्रमम् ।
जातो जीवामि पश्यामि संसरामीत्यसन्मयम् ॥ १५ ॥
स्वभावाद्व्यतिरिक्तं तु न चित्तस्याऽस्ति चेतनम् ।
स्पन्दादृते यथा वायोरन्तः किन्नाम चेत्यते ॥ १६ ॥
चेत्यत्वं सम्भवत्येवं किञ्चिद्यच्चेत्यते चिता ।
रज्जुसर्पभ्रमाभासं तमविद्याभ्रमं विदुः ॥ १७ ॥

उक्त सविषयता ज्ञान तथा समाधिकी दृढ़तासे उद्बुद्ध हुई चिद्घनकी एकतासे अविद्याविक्षेपके हट जानेपर दूर हो जाती है । जो ईश्वर आदिकी सर्वज्ञता है, वह भी मायिकी ही है, वास्तविकी नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है ॥ १३ ॥

जिसका ध्यान निरन्तर चिद्घनके सिवा अन्य विषयमें नहीं रहता है, अतएव चिद्घनरूप परमपदमें आरूढ़ यानी निर्विकल्पक समाधि तथा आत्मसाक्षात्कारसे युक्त चित्तका नैरात्म्य (स्वरूपशून्यता), शून्यवेद्य (निर्विषयता) आदि पर्याय-शब्दोंसे प्रतिपादन होता है ॥ १४ ॥

चित्में चेत्यता, जड़ता, संसारिता आदिकी कल्पना भी चित्तके कारण ही होती है, चित्तके शान्त होनेपर चित्में उक्त चेत्यता, जड़ता आदि दूर हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं—'चिद्' इत्यादिसे ।

चित् चित्तके व्यापार द्वारा ही चेत्यताको प्राप्त होती है और मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखती हूँ, संसारको प्राप्त होती हूँ इस प्रकारके असत्य भ्रमको देखती है ॥ १५ ॥

चेतन चित्तके व्यापारस्वभावसे अतिरिक्त नहीं है, वह समाधि तथा ज्ञानके अभ्याससे भले ही उपरत हो जाय, किन्तु चित्त कहाँ उपरत हुआ ? यानी अनुपरत ही रहा, ऐसी शङ्कापर कहते हैं—'स्वभावात्' इत्यादिसे ।

चेतन चित्तके स्वभावसे अतिरिक्त नहीं है, जैसे कि स्पन्दको छोड़कर वायुका दूसरा स्वभाव नहीं है । जैसे उष्णताके हट जानेपर वह्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही व्यापारके नष्ट हो जानेपर चित्त अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि चेतनव्यापारके सिवा चित्तके अन्दर किसी दूसरे स्वरूपका कोई अनुभव नहीं करता ॥१६॥

इस प्रकार चित्तके हट जानेपर चित्में चैत्यका प्रथन (प्रकाश) न होनेसे

संविन्मात्रचिकित्स्येऽस्मिन्व्याधौ संसारनामनि ।
चित्तमात्रपरिस्पन्दे संरम्भो न च किञ्चन ॥ १८ ॥

यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः ।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः ॥ १९ ॥

यथा रज्ज्वां भुजङ्गाभा विनश्यत्येव वीक्षणात् ।
संविन्मात्रविवर्तेन नश्यत्येव हि संसृतिः ॥ २० ॥

यत्राऽभिलाषस्तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि ।
प्राप्त एवाऽङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम् ॥ २१ ॥

अपि प्राणांस्तृणमिव त्यजन्तीह महाशयाः ।
यत्राऽभिलाषस्तन्मात्रत्यागे कृपणता कथम् ॥ २२ ॥

और जो वस्तु प्रकाशमान नहीं है, उसका साधक कोई दूसरा न होनेके कारण उसकी असिद्धि होनेसे वह सुतरां अपगत ही है, ऐसा कहते हैं—'चेत्यत्वम्' इत्यादिसे ।

चित्‌से जिस किसीका अनुभव होता है, वह चेत्य है, रज्जुमें सर्पभ्रमके तुल्य प्रतीत होनेवाले उसे अविद्याभ्रम कहते हैं ॥ १७ ॥

इस संसारनामक व्याधिका केवल ज्ञानमात्रसे प्रतीकार हो सकता है, यह चित्तका एक व्यापारमात्र है, इसमें किसी प्रकारका आयास नहीं है । यदि आप सबका परित्याग कर वासनामय चित्तसे रहित होकर स्थित हों, तो एक ही पलकमें मुक्त हो जायँगे, उसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥ १८, १९ ॥

जैसे सम्यग्-दर्शनसे रज्जुमें सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रत्यङ्मुख होकर स्वतत्त्वदर्शनसे यह संसार नष्ट हो ही जाता है ॥ २० ॥

जिस वस्तुमें अभिलाषा हो, उसका सर्वथा त्याग कर यदि पुरुषसे रहा जा सके, तो मोक्ष उसे प्राप्त ही है, केवल इतनेमें कौन-सी दुष्करता यानी कठिनाई है ॥ २१ ॥

जब इस संसारमें महामहिमशाली पुरुष अपने प्राणोंका भी तृणके समान परित्याग कर देते हैं, तब जिस वस्तुकी केवल अभिलाषा है, उस वस्तुका परित्याग करनेमें कृपणता कैसी ? ॥ २२ ॥

यत्राऽभिलाषस्तत्त्यक्त्वा चेतसा निरवग्रहम् ।
प्राप्तं कर्मेन्द्रियैर्गृह्णँस्त्यजन्नष्टं च तिष्ठ भोः ॥ २३ ॥
यथा करतले बिल्वं यथा वा पर्वतः पुरः ।
प्रत्यक्षमेव तस्याऽलमजत्वं परमात्मनः ॥ २४ ॥
आत्मैव भाति जगदित्युदितस्तरङ्गैः
कल्पान्त एक इव वारिधिरप्रमेयः ।
ज्ञातः स एव हि ददाति विमोक्षसिद्धिं
त्वज्ञात एव मनसे चिरबन्धनाय ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० संस्मृतिपरमयोगो नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥



जिस वस्तुमें अभिलाषा हो, उस वस्तुका अपने चित्तसे परित्याग कर प्राप्त वस्तुका कर्मेन्द्रियोंसे आसक्तिरहित होकर ग्रहण करते हुए और नष्ट वस्तुका शोक न करते हुए आप स्थित रहिए ॥ २३ ॥

जैसे हाथमें रक्खा हुआ बिल्वफल अथवा सामने स्थित पर्वत सबके प्रत्यक्ष ही रहते हैं, तिरोहित नहीं रहते, वैसे ही उक्तलक्षण तत्त्वविद्की अजता (जन्मादि-विकारशून्यब्रह्मता) अत्यन्त प्रत्यक्ष ही है, किसीसे तिरोहित नहीं है ॥ २४ ॥

जैसे प्रलयकालीन एक असीम समुद्र तरङ्गोंसे अनेक प्रकारका प्रतीत होता है, वैसे ही अप्रमेय आत्मा ही जगद्रूपसे आविर्भूत होकर अज्ञ लोगोंकी दृष्टिसे प्रतीत हो रहा है, वही ज्ञानसे अभिव्यक्त होकर मोक्षरूप पुरुषार्थको देता है और अज्ञात होकर पहले तो सम्पूर्ण अनर्थोंके कारणभूत चित्तता (मनोभाव) के लिए होता है, तदनन्तर चित्तनिबन्धन चिरबन्धनके लिए होता है ॥ २५ ॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त



सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

मनस्त्वयोग्यो जीवोऽयं को भवेत् परमात्मनः ।
कथं वाऽस्मिन् समुत्पन्नः को वाऽयं वद मे पुनः ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा ।
यथैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥ २ ॥

सड़सठवाँ सर्ग

[भोक्ता जीवके स्वरूपका प्रतिपादन]

समष्टिकी प्रधानतासे उक्त जीवको व्यष्टिकी प्रधानता द्वारा स्पष्टरूपसे जाननेकी इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं—'**मनस्त्व०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! मनकी सृष्टि करके 'मैं मन हूँ' यों मनके तादात्म्यका अपनेमें अध्यास करनेसे मनस्ताके योग्य यह जीव परमात्माका क्या है ? क्या परमात्माका अंश है ? अथवा कार्य है ? किंवा वह (परमात्मरूप) ही है ? यदि परमात्मा ही है, तो अपनेमें वह कैसे उत्पन्न हुआ ? यानी क्या परिणामसे उत्पन्न हुआ या विवर्तसे ? यदि अपनेमें परिणामसे उत्पन्न हुआ है तो अनित्य हो जायगा । यदि विवर्तसे उत्पन्न हुआ है, तो वह बाध्य हो जायगा । यदि अपनेमें उत्पन्न नहीं हुआ है, तो भोक्ताकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि परमात्मासे अतिरिक्त द्वितीय कोई है नहीं और परमात्मामें अशना आदिका अभाव श्रुति स्वयं कहती है, इसलिए परमात्माको भोक्ता कह नहीं सकते । यदि भोक्ता कोई अन्य है, तो वह कौन है ? क्या परमात्माका सजातीय है या विजातीय है ? यों एक भी पक्ष सङ्गत नहीं होता, इसलिए मेरे सन्देहको हटानेके लिए आप पुनः कहिए ॥ १ ॥

जिसकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, ऐसी मायाशक्तिसे युक्त ब्रह्म, जो कि परमार्थरूपसे अविकृत और अद्वितीय है, मायावश द्वितीयताको (भेदको) प्राप्त हुए-से अपनेमें विविध औपाधिक विकारोंका आरोप कर असंख्य जीवोंके वेशसे और सर्वज्ञ ईश्वररूपसे क्रीड़ा करनेमें समर्थ है, इसलिए

स्वयं यां वेत्ति सर्वात्मा चिरं चेतनरूपिणीम् ।
सा प्रोक्ता जीवशब्देन सैव सङ्कल्पकारिणी ॥ ३ ॥
स्वभावात् कारणं द्वित्वं पूर्वसङ्कल्पचित्स्वयम् ।
नानाकारणतां पश्चाद्याति जन्ममृतिस्थितेः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते मुनिश्रेष्ठ दैवं नाम किमुच्यते ।
किमुच्यते तथा कर्मकारणं च किमुच्यते ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त कोई भी दोष प्राप्त नहीं होता इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधानके लिए भूमिका बाँधते हैं—'समस्त०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, सदा सब शक्तियोंसे परिपूर्ण ब्रह्म सब कुछ करनेके लिए समर्थ है । वह जहाँपर जिस शक्तिसे प्रस्फुरित होता है, वहाँपर वह अपनेको उसी शक्तिसे सम्पन्न देखता है ॥ २ ॥

सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकालसे जिस चेतनरूपिणीको यानी चित्तके संस्कारसे उपहित (उपाधियुक्त) चैतन्यको (जीवशक्तिको) स्वयं जानता है, वह इस समय 'जीव' नामसे पुकारी जाती है और वही सङ्कल्परूपिणी है ॥ ३ ॥

अपनेमें स्वाभाविक द्वितीयता (भेद) ही आगे होनेवाले संसारकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण है, पहले-पहलेके सङ्कल्पोंकी वासनाओंसे युक्त जीवचैतन्य तो केवल पीछे होनेवाली विचित्रताका कारण है, ऐसा कहते हैं—'स्वभावात्' इत्यादिसे ।

आत्मामें स्वभाविक द्वितीयता संसारका मुख्य कारण है, पूर्व पूर्व सङ्कल्पोंकी वासनाओंसे वासित जीवचित् तो पीछे जन्म, मरण आदि नाना भावोंकी कारण होती है ॥ ४ ॥

इसीसे मेरे प्रश्नके अवशिष्ट अंशका भी उत्तर हो चुका, यों सोच रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त जीवके जन्म-मृत्यु आदिके हेतु दैव, कर्म आदिको वस्तुतः जाननेके लिए पूछते हैं—'एवं स्थिते' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, आपके कथनानुसार जीवके स्वरूपके हृदयमें प्रतिष्ठित होनेपर मैं आपसे पूछता हूँ कि दैव किसको कहते हैं, कर्म किसे कहते हैं तथा कारण क्या कहा जाता है ? ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्पन्दास्पन्दस्वभावं हि चिन्मात्रमिह विद्यते ।
खे वात इव तत्स्पन्दात् सोल्लासं शान्तमन्यथा ॥ ६ ॥
चित्त्वं चित्तं भावितं सत्स्पन्द इत्युच्यते ।
दृश्यत्वाभावितं च तदस्पन्दनमिति स्मृतम् ॥ ७ ॥
स्पन्दात् स्फुरति चित्सर्गो निःस्पन्दाद् ब्रह्म शाश्वतम् ।
जीवकारणकर्माद्या चित्स्पन्दस्याऽभिधा स्मृता ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आकाशमें स्पन्दस्वभाववाला और अस्पन्दस्वभाववाला वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही इस संसारमें स्पन्दस्वभाववाला (रजोगुणप्रधान मायासे उपहित) तथा अस्पन्दस्वभाववाला (शुद्ध) चिन्मात्र ही है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वह चेतन स्पन्दसे उल्लासयुक्त (सृष्टिमें तत्पर) होता है और स्पन्द न होनेसे शान्त ही रहता है ॥ ६ ॥

उक्त दो प्रकारके चिन्मात्रोंमें से प्रथम यानी स्पन्दस्वभाव (रजोगुणप्रधान मायासे उपहित) चित्का विवरण करते हैं—'चित्त्वम्' इत्यादिसे ।

चित् द्वारा अपने स्वाभाविक चित्त्वकी ही अविद्यावश यदि विषयके आकारमें कल्पना (भावना) की जाय, तो चित्ताकार (विषयाकार) बना हुआ अपना स्वाभाविक चित्त्व ही विद्वानों द्वारा स्पन्द कहलाता है, यदि चित् अपने स्वाभाविक चित्त्वकी दृश्यत्वरूपसे भावना नहीं करती है, तो उक्त स्वाभाविक चित्त्व अस्पन्द कहलाता है ॥ ७ ॥

स्पन्दसे चित्की प्रपञ्चरूपता और अस्पन्दसे निष्प्रपञ्चरूपता ऐसा निष्कर्ष होनेपर स्पन्दका ही जीव, कारण, कर्म, दैव आदि नामसे निर्देश होता है, ऐसा तात्पर्यार्थ कहते हैं—'स्पन्दात्' इत्यादिसे ।

चित् स्पन्दसे सृष्टिरूपमें स्फुरित होती है और स्पन्दाभावसे अविनाशी ब्रह्मरूप है । जीव, कारण, कर्म आदि चित्के स्पन्दके ही नाम हैं । भाव यह कि वह चैतन्य ही प्राणस्पन्दकी विवक्षासे जीव कहलाता है, अपने भीतर स्थित कार्योंके आविर्भावरूप स्पन्दकी विवक्षासे कारण कहा जाता है, शरीर आदिके स्पन्दकी विवक्षासे कर्म कहलाता है । कर्म ही, जो कि सूक्ष्म

य एवाऽनुभवात्माऽयं चित्स्पन्दोऽस्ति स एव हि ।
जीवकारणकर्माख्यो बीजमेतद्धि संसृतेः ॥ ९ ॥
कृतद्वित्वचिदाभासवशाद् देहमुपस्थितम् ।
सङ्कल्पाद्विविधार्थत्वं चित्स्पन्दो याति सृष्टिषु ॥ १० ॥
नानाकारणतां यातश्चित्स्पन्दो मुच्यते चिरात् ।
कश्चिज्जन्मसहस्रेण कश्चिदेकेन जन्मना ॥ ११ ॥

अवस्थावाला, चिरकालसे स्थित और फलके आरम्भमें तत्पर होता है, दैव कहा जाता है ॥ ८ ॥

जीव, कारण, कर्म और दैवकी ज्ञानरूप ब्रह्मकी सत्ताके अवलम्बनसे ही सत्ता और अपना कार्य करनेकी क्षमता है, ऐसा कहते हैं—'य' इत्यादिसे ।

फलतः जो ही ज्ञानरूप है, वही उक्तरूपसे चित्का स्पन्द (स्फुरण) है और वही जीव, कारण और कर्म नामवाला है एवं वह संसारका बीज है ॥ ९ ॥

जो यह पूछा था कि यदि जीव परमात्मा ही है, तो वह परमात्मामें कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका उत्तर कहते हैं—'कृतद्वित्व०' इत्यादिसे ।

जिसने भेदकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसे चिदाभासके कारण (बुद्धिमें आत्माके प्रतिबिम्बके कारण) चित्स्पन्द सृष्टिकालमें तत् तत् विविध कर्मोंके अनुसार पहले मरनेके समय बुद्धिमें प्राप्त हुए देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीरोंको और पूर्वके संकल्पोंके अनुसार विविध भोग्य पदार्थरूपताको प्राप्त होता है। चित्का आभास यानी स्वीय अविद्यामें प्रतिबिम्ब स्फुरित होकर जो द्वैत होता है, उसी द्वैतसे अर्थात् उक्त द्वित्वभावसे शास्त्रमें उक्त क्रमसे शरीरकी उत्पत्ति होती है, इसलिए चित्स्पन्द ही अपने संकल्पके अनुसार सृष्टिके आदिमें विविध भोग्य आकारोंको प्राप्त होता है, यह भाव है ॥ १० ॥

विविध हजारों योनियोंको देनेवाले कर्म, कारण और दैवको प्राप्त हुआ कोई चित्स्पन्द, जिसकी शास्त्रीय प्रवृत्ति मन्द है, चिरकालमें मुक्ति पा जाता है, किसीको मुक्ति पानेमें हजारों जन्म बीत जाते हैं और कोई, जिसे ज्ञानाधिकार प्राप्त हो गया है, एक ही जन्ममें मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

स्वभावात् कारणाद् द्वित्वं चित्समेत्याऽधिगच्छति ।
स्वर्गापवर्गनरकबन्धकारणतां शनैः ॥ १२ ॥
हेम्नीव कटकादित्वं काष्ठलोष्टसमस्थितौ ।
देहे तिष्ठति नानात्वं जडे भावविकारजम् ॥ १३ ॥
अजातमप्यसद्रूपं पश्यतीदं मनोभ्रमः ।
जातः स्थितो मृतोऽस्मीति भ्रमार्तः पत्तनं यथा ॥ १४ ॥
अहं ममेत्यसद्रूपमेव चेतः प्रपश्यति ।
अदृष्टपरमार्थत्वादाशाविवशसंस्थिति ॥ १५ ॥

जिस प्रकारकी उपाधिसे मिल जाय उस रूपसे स्फुरण कि स्वभाव है जैसे कि प्रकाश नीले कपड़ेमें नीला, लालमें लाल पीलेमें पीला होता है। उक्त स्वभावके कारण ही चित् देहके ज कारण अन्नरसोंसे, उनके द्वारा पिता-माताके शरीरोंसे ऐक्यको प्राप्त होकर धीरे स्वर्ग मोक्ष, नरक, वध, बन्ध आदिके कारणभूत देहभावको प्राप्त होती है ॥

सुवर्णमें कटकत्व, केयूरत्व आदिके समान काठ और ढेलेके समान देहमें जन्म, वृद्धि आदि छः भावविकारोंसे उत्पन्न भेद रहता है। देह उपाधियां पञ्चमहाभूतोंकी विकार हैं, पञ्चभूतोंमें भी पीछे-पीछेके पञ्चम पूर्व पूर्व महाभूतोंके विकार हैं, यों उनके अखण्डाकाशमात्र होनेपर भेदका अवकाश नहीं है, इस आशयसे सुवर्ण-कटक दृष्टान्त दिया गया है ॥

इस प्रकार भेदके मिथ्या होनेपर भी जो जन्म आदि भेदज्ञान है, वह मनका भ्रम ही है, ऐसा कहते हैं—'अजातमपि' इत्यादिसे ।

न तो यह नानात्व (भेद) अभी उत्पन्न हुआ है और न स्वरूप ही सत् है तथापि मनका भ्रम इसे देखता है, जैसे भ्रमसे पीड़ित घूमते हुए नगरका पतनका अनुभव करता है, वैसे ही मनोभ्रममें भी मैं हुआ, स्थित रहा, मरा इस प्रकार अनुभव करता हैं ॥ १४ ॥

जितने भेदज्ञान हैं, उनका मूल 'अहम् , मम' यह भेदकल्पना है उसके भी परमात्माके स्वरूपका अज्ञान और भोगकी आशाका संस्कार मूल हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

परमार्थ वस्तुका दर्शन न होनेके कारण विवश हुआ चित्त ' मम' इत्यादिरूप संसारको, जो असद्रूप ही है, देखता है ॥ १५ ॥